शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

४—६ अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता * वृन्दावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

(४-६ अध्यायात्मको भागः)

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

सम्पादको भाष्यनिष्कर्षलेखकश्च

प. व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

भाष्यसार-निबन्धकः

श्री श्रीकिशोरमिश्रो वेदाचार्यः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे उपाचार्यः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता ■ वृन्दावन

प्रथमसंस्करणम्

प्रकाशक—

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता □ वृन्दावन

■

मूल्यम् ९०.०० रूप्यकाणि

■

■

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. **श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
११३ पार्क स्ट्रीट, पोद्दार पाइन्ट, कलकत्ता-७०००१६

२. **श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
ब्रह्मकुटीर, डी. २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ.प्र.)

३. **राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
धर्मसंघ विद्यालय, रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ.प्र.)

४. **श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई-४०००२१

५. **श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान**
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई.४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली-८

मुद्रक—

अध्याय ४-५ — **तारा प्रिंटिग वर्क्स, वाराणसी।**

अध्याय ६ — **आनन्द मुद्रणालय, जगतगंज, वाराणसी।**

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के ४-६ अध्यायों के भाष्य को मन्त्रार्थ और भाष्यसार के साथ प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व तीन अध्यायों का और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का भाष्य अनुवाद सहित और ११-१५ अध्यायों का भाष्य भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित हो चुका है, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण प्रकाशन का कार्य त्वरित गति से नहीं हो पा रहा था। अब १६-२० अध्याय वाला भाग और २१-३९ अध्याय तक का भाग अलग-अलग प्रेसों में छप चुका है। जिल्दबन्दी का कार्य बस बचा है। इसी तरह से ७-१० अध्यायों का भाग भी प्रेस में दे दिया गया है। प्रगति समुचित है। यथाशीघ्र आप लोगों को ये सभी भाग प्राप्त हो सकेंगे। हम इस प्रयत्न में है कि आगामी दो चार महीनों में पूरा भाष्य विज्ञ पाठकों के करकमलों तक पहुँचा दिया जाय।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों, उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भाष्यभूमिका के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वालों के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं—

(१) अन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरी पीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज
(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज
(३) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारी जी
(४) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी
(५) पण्डित श्री जनार्दन पाण्डेयजी
(६) पण्डित श्री जनार्दन चतुर्वेदी जी
(७) पण्डित श्री राजवंशी द्विवेदी जी
(८) पण्डित श्री श्रीकिशोर मिश्र जी

• तारा प्रेस और आनन्द मुद्रणालय के सुयोग्य प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के सौजन्य भरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर हम इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

वृन्दावन धाम
अक्षय तृतीया
२०४९ वि. सं.

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष

परब्रह्मस्वरूप

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

विषय-सूची

कण्डिकासंख्या | **प्रतिपाद्य विषय** | **पृष्ठसंख्या**

चतुर्थ अध्याय

(भाष्य में सोमयाग का संक्षिप्त निरूपण) १-३

१. देवयजन स्थान में यजमान का प्रवेश, कुशतरुण और क्षुर के अधिष्ठात्री देवताओं से यजमान को पीडा न पहुँचाने की प्रार्थना ३-६

२. केशवपन के बाद यजमान का स्नान एवं नूतन वस्त्रधारण ७-१०

३. यजमान के मस्तक पर नवनीत का लेपन तथा आँखों में अंजन १०-१२

४. सात कुशाओं के बनाये पवित्र से अध्वर्यु द्वारा यजमान का शोधन १३-१४

५. अर्ध्वयु-प्रेरित यजमान द्वारा इस मन्त्र का वाचन १५-१६

६. मन्त्रोच्चार के साथ यजमान का मुट्ठी बांध कर स्वाहाकार करना और मौन होकर मुट्ठी को खोलना १६-१८

७. यजमान द्वारा यज्ञारंभसूचक आहुतियों का प्रदान १८-२२

८. ध्रुवा स्थित घृत का जुहू में ग्रहण कर औदग्रभण होम करना २२-२३

९. कृष्ण मृगचर्म के सन्धिस्थल का स्पर्श तथा उस पर आरोहण २४-२७

१०. यजमान द्वारा मेखला-बन्धन और उष्णीष, दण्ड आदि का धारण २७-३३

११. यजमान द्वारा वाग् विसर्जन कर ऋत्विजों को यज्ञारंभ के लिये कहना ३३-३७

१२. यजमान द्वारा अपनी नाभि का स्पर्श ३७-३९

१३. यजमान द्वारा मृग के शृंग से मिट्टी या तृण के खोद कर अपवित्र भूमि पर डालना ३९-४०

१४. यजमान का आहवनीय अग्नि के दक्षिण में उत्तर या पूर्व की तरफ सिर करके अग्नि की अपेक्षा नीची भूमि पर शयन ४१-४२

१५. जागने के बाद पुनः न सोने की स्थिति में यजमान द्वारा मन्त्रपाठ ४२-४४

१६. यजमान के क्रोधाभिभूत होने या अश्लील आचरण करने पर प्रायश्चित्तस्वरूप मन्त्र का पाठ, यज्ञ के निमित्त लाये गये द्रव्यों का स्पर्श ४४-४६

१७. ध्रुवा से जुहू में लिये गये घृत में सुवर्ण खण्ड का प्रक्षेप तथा उसकी आहवनीय अग्नि में आहुति ४६-४९

१८. घृत से सुवर्ण खण्ड को निकाल कर तृणबद्ध सुवर्ण को वेदि पर रखना ४९-५१

१९-२०. सोमक्रयणी गौ की वाणी के रूप में स्तुति ५२-५६

२१. अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता द्वारा सोमक्रयणी गौ का अनुगमन ५६-६०

२२. सोमक्रयणी गौ के सातवें पादप्रक्षेप पर हवन, रेखाकरण, पदधूलिग्रहण, यजमान और यजमान-पत्नी को उसका प्रदान ६१-६३

२३. सोमक्रयणी गौ को देखती हुई यजमानपत्नी का मन्त्रवाचन ६३-६६

२४. यजमान का सोम की तरफ जाते हुए मन्त्रवाचन, सोमस्पर्श ६६-७१

२५. कपड़े को दुहरा-तिहरा कर उसमें सोम को बाँधना ७१-७६

२६. स्वर्ण तथा गौ, अजा आदि से सोमविक्रेता को प्रलोभित करना ७६-८१

२७. बांये हाथ से सोमविक्रेता को आज्ञा देकर दाहिने हाथ से सोम का ग्रहण, यजमान की गोद में उसको रखना तथा रक्षा के लिये प्रार्थना ८१-८४

२८. क्रीत सोम को लेकर मन्त्रोच्चार के साथ उठ कर यजमान का शकट की ओर प्रस्थान का उद्यम ८४-८६

२९. गृहीत सोम को सिर पर रख कर उस पर हाथ धरे हुए यजमान का शकट की तरफ गमन ८६-८८
३०. शकट पर मृगचर्म बिछा कर यजमान द्वारा उस पर सोम का स्थापन और स्पर्श ८८-९१
३१. यजमान का सोम को वस्त्र में बाँध कर रखना ९१-९३
३२. आसन के लिये बिछाये गये दो मृगचर्मों में से एक को शकट पर ध्वजा की भांति लगाना, मृगचर्म के एक होने पर उसके ग्रीवा की ओर के भाग को शकट पर लगाना ९३-९५
३३. शकट में बैलों को जोत कर उनको हांकना ९५-९७
३४. सोम को लेकर यज्ञशाला की तरफ जाते हुए यजमान का मन्त्रोच्चार ९७-१००
३५. प्रतिप्रस्थाता द्वारा यज्ञशाला के पूर्व भाग में कृष्ण अथवा लोहित सारंग का आलभन १००-१०३
३६. यज्ञशाला के समीप शकट को खड़ा कर बैलों को जुए से अगल करना, मृगचर्म बिछाकर उस पर सोमवल्ली की गांठ को रखना १०३-१०७
३७. अध्वर्यु आदि ऋत्विक् गणों का यजमान को यज्ञशाला में ले जाना, यजमान द्वारा मन्त्रोच्चार १०७-१०९

पंचम अध्याय

१. हविर्द्रव्य का निर्वाप (ग्रहण) ११०-११५
२. वेदि पर काष्ठखण्ड और दो कुशाओं की स्थापना, अधरारणि और उत्तरारणि की स्थापना तथा अग्निमन्थन ११५-११८
३. अरणि-मन्थन से उत्पन्न अग्नि को आहवनीय अग्नि से संयोजित कर यज्ञ और यज्ञपति के कल्याण की प्रार्थना ११८-१२०
४. अध्वर्यु का आज्यस्थाली में घृत लेकर स्रुवे से इस संयोजित अग्नि में आहुति देना १२०-१२३
५. तानूनप्त्र आज्य का स्रुवे से दो बार ग्रहण, वेदि के नैर्ऋत्य कोण पर आज्यपात्र का स्थापन, ऋत्विक् और यजमान द्वारा पात्र का स्पर्श १२३-१२९
६. आहवनीय अग्नि में समिधा की आहुति १२९-१३१
७. पांचों ऋत्विजों और यजमान द्वारा जल से सोम का सिंचन एवं रक्षा के लिये हाथ उठा कर सोम की प्रार्थना १३१-१३६
८. जुहू आदि में प्रस्तर को लगा कर परिधि-स्थापन पूर्वक स्रुवे से उपसद् अग्नि में आहुति देना १३६-१३९
९. चारों दिशाओं में शम्या गाड़ कर स्फ्य से चौकोर रेखाएं खींचना और उन पर चात्वाल बनाना, देवताओं की प्रार्थना १३९-१४३
१०. वेदि को शम्या से ठोक कर चारों ओर तथा मध्य भाग में समान करना, मन्त्रोच्चार के साथ प्रोक्षण कर वेदि के कंकड़ आदि को दूर करना १४३-१४५
११. वेदि की चारों दिशाओं का मन्त्रोच्चार के साथ जल से मार्जन, बचे हुए जल का बाहर प्रक्षेप १४५-१४७
१२. वेदि की दोनों श्रोणियों, दोनों आँखों तथा नाभि में कुछ सुवर्ण रख कर अध्वर्यु का जुहू में आज्य लेकर पाँच आहुतियां देना १४७-१४९
१३. परिधियों का परिधान तथा गुग्गुलु आदि का वेदि के नाभिदेश में निधान १४९-१५१
१४. हविर्धान मण्डप बना कर अध्वर्यु का शाला में प्रवेश, आज्य का संस्कार कर चार बार ग्रहण और परिस्तरण-समिदाधान पूर्वक अग्नि में आहुति १५१-१५४
१५. चतुर्गृहीत आज्य की दक्षिण शकट के दक्षिण चक्र के मार्ग में हिरण्यनिधान पूर्वक आहुति १५४-१५५
१६. आहवनीय अग्नि के ईशान कोण में रक्षित उत्तर हविर्धान (शकट) के दक्षिण चक्र मार्ग सुवर्ण रख कर यजमान का आहुति देना १५५-१५७
१७. यजमानपत्नी द्वारा आज्य से अक्षधुरा का अंजन और शकट के चलने के साथ यजमान द्वारा मन्त्र का वाचन १५७-१६०
१८. दक्षिण शकट का प्रतिष्ठापन तथा स्थूणास्तम्भ का निखनन १६०-१६२
१९. प्रतिप्रस्थाता द्वारा उत्तर शकट का प्रतिष्ठापन तथा स्थूणास्तम्भ का निखनन १६२-१६४
२०. हविर्धान मण्डप की मध्यम छदि का स्पर्श १६४-१६५

२१. हविर्धान मण्डप के पूर्व द्वार के स्तंभों के बीच गूंथी गई दर्भ की माला और तृणनिर्मित छदियों का स्पर्श, काठ की सुई से रज्जु के द्वारा द्वार-शाखाओं का बन्धन तथा सुनिर्मित हविर्धान मण्डप का स्पर्श १६५-१६७
२२. अभ्रि से दक्षिण हविर्धान शकट के नीचे की भूमि को नियमानुसार विभक्त कर उपरव नाम के चार गर्तों का खनन १६८-१७०
२३. उपरव से मिट्टी निकाल कर उसे बाहर फेंकना १७०-१७३
२४. प्रस्तुत कण्डिका के चार मन्त्रों से उक्त गर्तों का यजमान द्वारा स्पर्श १७३-१७५
२५. इन गर्तों का जल से प्रोक्षण, शेष जल का प्रक्षेप, कुशाओं को बिछाना, अधिषवण फलक की स्थापना, मृत्तिका द्वारा दृढीकरण, चर्मास्तरण और उस पर सोम को कूटने के लिये पांच पाषाणों की स्थापना १७५-१७७
२६. गूलर की शाखा को गाड़ने के लिये अभ्रि का उपादान, जलपात्र में यवप्रक्षेप, जल से प्रोक्षण, शेष जल का गर्त में प्रक्षेप तथा कुशाओं का आस्तरण १७८-१८१
२७. गूलर की डाल को गड्ढे में डाल कर, उसे जल और मिट्टी से भर कर मैत्रावरुण दण्ड से कूट कर दृढ करना १८१-१८३
२८. गूलर की शाखा का स्पर्श करते हुए मन्त्रवाचन, शाखा के मूल में घृत की आहुति, मण्डप बना कर उसका तृण व चटाई से छादन १८३-१८६
२९. सदोमण्डप का आच्छादन कर हविर्धान मण्डप की विधि से ग्रन्थिस्पर्श आदि विधियों का अनुष्ठान १८६-१८७
३०. मण्डप के चारों तरफ रस्सी बाँधना, सभा को संबोधित करना और हविर्धान मण्डप के वायव्य कोण के उत्तर भाग में अग्नीध्र नामक अग्नि का स्थान बना कर उसका स्पर्श १८७-१८९
३१. अध्वर्यु द्वारा धिष्ण्य नामक स्थण्डिलों का निर्माण १८९-१९१
३२. आठ धिष्ण्यों के निर्माण के बाद उन पर अधिष्ठित अग्नियों का अवलोकन १९२-१९४
३३. विभिन्न अग्न्यालयों को संबोधित करने के बाद सदोमण्डप के द्वारास्तंभों का स्पर्श तथा अभिमन्त्रण १९४-१९६
३४. यजमान द्वारा ऋत्विजों का अभिमन्त्रण तथा अध्वर्यु द्वारा आठों धिष्ण्यों की प्रार्थना १९६-१९७
३५. प्रज्वलित समिधा के ऊपर दधिमिश्रित घृत की आहुति तथा सोम से प्रार्थना १९७-१९९
३६. आग्नीध्र के प्रति जाते हुए यजमान के लिये अध्वर्युकृत प्रार्थना २००-२०१
३७. आग्नीध्रीय धिष्ण्य में अग्निस्थापन के अनन्तर प्रचरणी स्रुक् से घृत की आहुति २०२-२०३
३८. उत्तरवेदि के आहवनीय अग्नि के कुण्ड में वैसर्जन होम के निमित्त आहुति २०३-२०४
३९. कृष्णाजिन पर सोम की स्थापना, उपस्थान तथा निष्क्रमण २०५-२०७
४०. आहवनीय अग्नि में समिदाधान करने के बाद यजमान के द्वारा मुष्टिविसर्जन २०७-२०९
४१. यूपनिर्माण के लिये वृक्षछेदन हेतु वन में जाते हुए यजमान द्वारा आहवनीय अग्नि में घृत की आहुति २०९
४२. यजमान का हुतशेष घृत को लेकर बढई के साथ वन में जाना, यूपयोग्य वृक्ष का अभिमर्शन, हुतशेष घृत को वृक्ष पर लगाना, वहाँ कुशतरुण को रख कुठार चलाना २१०-२१२
४३. छेदन से गिरने पर यूपवृक्ष का अभिमन्त्रण तथा शोधन, आज्यस्थाली से जुहू में घृत लेकर काटने के स्थान पर आहुति देना २१२-२१५

षष्ठ अध्याय

१. अभ्रि हाथ में लेकर आहवनीय के पूर्व भाग में यूप गाड़ने के लिये स्थान का खोदना, उसमें जल भरना तथा कुशाप्रक्षेप १-२
२. गर्त में शकलप्रक्षेप, प्रथम शकल की स्थापना, चषाल का रखना, यूप पर घृतलेपन तथा यूप का उच्छ्रयण २-६
३. यूप के पंचमांश को भूमि में गाड़ना, घृतलिप्त भाग का आहवनीय के समक्ष निधान, यूप के गर्त को मिट्टी से भरना तथा मैत्रारुणदण्ड से मिट्टी को दबाना ६-८
४. यूप के गर्त को समतल कर उसमें जलसेचन, यूप का स्पर्श करते समय अध्वर्यु-प्रेरित यजमान का मन्त्रवाचन ९-१०
५. अध्वर्यु-प्रेरित यजमान द्वारा प्रस्तुत द्वितीय मन्त्र का भी वाचन १०-११

६.यूप में लपेटने के लिये त्रिगुणित तीन व्याम परिमाण वाली कुशा की बनी रस्सी का ग्रहण ११-१५
७.दर्भतृण से पशु का स्पर्श १६-१८
८.कुशा की रस्सी से पशु के दाहिने पैर को बांधना १८-२०
९.पशु का यूप में नियोजन तथा प्रोक्षणीजल से उसका प्रोक्षण २०-२१
१०.पशु को जल पिलाने के बाद उसका प्रोक्षण तथा लेपन आदि २१-२३
११.पशु के ललाट का स्पर्श,यजमान द्वारा मन्त्रवाचन तथा आहुति २३-२७
१२.पशु को बाँधने वाली रस्सी का अग्नि में प्रक्षेप तथा पत्नी द्वारा मन्त्रवाचन २७-२८
१३.पशु के प्रोक्षण के लिये जल का संस्कार २८-२९
१४.यजमानपत्नी द्वारा पशु के मुख,नासिका आदि अंगों को जल से शुद्ध करना २९-३१
१५.यजमान द्वारा पशु के अंगों का प्रोक्षण ३१-३३
१६.कुशा के मूल और अग्र भाग का छेदन कर उसका उत्कर में प्रक्षेप ३३-३७
१७.सपत्नीक यजमान तथा ऋत्विक्गण द्वारा अपने-अपने शरीर का जल से प्रोक्षण ३७-३८
१८.हविर्द्रव्य का अभिघारण तथा हविर्ग्रहण ३८-४१
१९.हविः प्रदान पूर्वक दिशाओं का व्याघारण ४१-४२
२०.अवदानीय द्रव्य का स्पर्श ४२-४५
२१.प्रतिप्रस्थाता द्वारा आहुति प्रदान,मुखस्पर्श तथा स्वरु होम ४५-४८
२२.जलाशय के किनारे अध्वर्यु द्वारा शूल को गाड़ कर छिपाना तथा यजमान एवं ऋत्विग्गण का जलस्पर्श ४९-५१
२३.वसतीवरी नामक जल का ग्रहण ५१-५३
२४.वसतीवरी जल की विविध स्थानों में स्थापना ५४-५६
२५.तृतीय सवन के लिये सोमलता को प्रस्तरखण्ड पर रखना ५६-५८
२६.सोम का उपस्थान कर घृत की आहुति देना ५८-६०
२७.प्रैषपूर्वक जल के पास जाकर जल में आज्याहुति देना ६१-६३
२८ .हुत आज्य का दूरीकरण,मैत्रावरुण चमस से जलग्रहण और वसतीवरी जल के साथ उसको मिलाना ६३-६६
२९.अग्निष्टोम संस्था वाले यज्ञ में घृत की आहुति,उक्थ्यसंस्थ यज्ञ में प्रथम परिधि का स्पर्श,षोडशी में रराटी का स्पर्श और अतिरात्र में छदि का स्पर्श ६६-६८
३०.अध्वर्यु का मौन धारण कर सोमाभिषव के लिये पाषाण का ग्रहण तथा यजमान का मन्त्रवाचन ६८-७०
३१.निग्राभ्या नामक जल से अधिष्ठातृ देवताओं की प्रार्थना ७०-७१
३२.प्रस्तुत कण्डिका के पांच मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा उपांशुसवन पर पांच बार सोमलता को मुष्टि से नाम पर रखना ७२-७४
३३.रखे गये सोम का अध्वर्यु द्वारा स्पर्श ७४-७५
३४.अध्वर्यु द्वारा निग्राभ्या जल से सोम का उपसेचन ७५-७७
३५.सोम का रस निकालने के लिये सोमलता को कूटना ७७-७९
३६-३७.निग्राभ नामक प्रस्तुत दो कण्डिकाओं का अध्वर्यु-प्रेरित यजमान द्वारा पाठ ७९-८२

चतुर्थोऽध्यायः

सोमयागनिरूपणम्

अत्र कल्पद्वयम्— यदा सोमेन यियक्षति तदा वसन्तेऽग्नीनाधाय समनन्तरमेव सोमेनेष्ट्वा दर्शपूर्णमासादिकमनुतिष्ठेदित्येकः पक्षः। आधानानन्तरं दर्शपूर्णमासादिकमिष्ट्वैव सोमेन यजेदित्यपरः। साम्प्रतं सोमलतानुपलम्भात् पूतिकालतायामेव सर्वे सोमसंस्काराः क्रियन्ते। यद्यप्येकदिनसाध्योऽयं यज्ञस्तथापि स्वाङ्गैः सहितः पञ्चभिर्दिनैरनुष्ठीयते। तत्र षोडशसंख्याका ऋत्विजो भवन्ति। अध्वर्युः, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेतेत्यध्वर्युगणः। ब्रह्म, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्रः, पोतेति ब्रह्मगणः। होता, मैत्रावरुणः, अच्छावाकः, ग्रावस्तुद् इति होतृगणः। उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य इत्युद्गातृगणः। यावत्यो गोरूपा दक्षिणा देयत्वेनोक्तास्ताः समशश्चतुर्धा विभज्य एकैकस्मै गणाय एकैकं भागं दद्यात्। तत्राप्येकैकभागस्य विषमशो विभज्य दानम्, यथा—अध्वर्योरर्धं प्रतिप्रस्थातुस्तृतीयो नेष्टुश्चतुर्थो भाग उन्नेतुश्चतुर्थो भागः। अत एवैषामर्धिनस्तृतीयिनः पादिन इत्यपि संज्ञा।

'यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैः' (आप. श्रौ. २४.१.१.२)। वेदत्रयसाध्योऽयं यज्ञः। अग्निहोत्रं तु युजर्वेदेनैव साध्यते। दर्शपूर्णमासाद्या इष्टयः कैश्चिदृग्वेदयजुर्वेदाभ्यां कैश्चिद्यजुर्वेदेनैवानुष्ठीयन्ते। पशुयाग ऋग्वेदयजुर्वेदाभ्यां सर्वैरेव क्रियते। सोमयागात्प्रभृत्येव वेदत्रयसम्बन्धः। तत्र याजुषकर्मण्यध्वर्युगणः, हौत्रानुष्ठानाय होतृगणः, सामानुष्ठानाय उद्गातृगणः, गणत्रयेणानुष्ठीयमानकर्मावेक्षणाय ब्रह्मगण उपयुज्यते। तत्र सोमयागस्य येन साम्ना समाप्तिर्भवति तन्नाम्ना व्यवहारः। अग्निष्टोमसाम्ना यस्य समाप्तिस्तस्याग्निष्टोमेति संज्ञा। उक्थ्येन समाप्यमानत्वाद् उक्थ्यः। षोडशिसामस्तोत्रेण समाप्यमानत्वात् षोडशी। अतिरात्रसामस्तोत्रेण समाप्यमानत्वाद् अतिरात्रसंज्ञो यागो भवति। संख्याचतुष्टयविशिष्टस्य क्रतोर्ज्योतिष्टोमेति संज्ञा भवति। त्रिवृत्, पञ्चदशः, सप्तदशः, एकविंश इति चत्वारः स्तोमा ज्योतिःपदेनाभिधीयन्ते। ज्योतींषि स्तोमा यस्य स ज्योतिष्टोमः। तत्राप्यग्निष्टोमादिवत् षोडशी न स्वतन्त्रः, किन्तु पृष्ठ्यषडहचतुर्थेऽहनि प्रयुज्यते। एतासामेव चतसृणां संस्थानां क्वचिदावापोद्वापादिना अपरास्तिस्रः संस्था अत्यग्निष्टोमः, वाजपेयः, आप्तोर्यामश्च सम्पद्यन्ते।

तत्र सोमयागः सर्वसोमयागप्रकृतिभूतः। स च वसन्ते प्रायशः शुक्लैकादश्यां प्रारभ्य पूर्णिमायां समाप्यते। आभ्युदयिकानन्तरमृत्विग्वरणम्। तत्र प्रवाकनामानमृत्विजं प्रथमं वृणुयात्। स वृतोऽध्वर्य्वादीनां गृहं गत्वा तान्

भाष्यसार— चतुर्थ अध्याय से सोमयाग का निरूपण है। यद्यपि यह एक-दिन-साध्य यज्ञ है, तथापि समस्त अंगों के साथ पांच दिनों में अनुष्ठित होता है। इसमें सोलह ऋत्विक् होते हैं। 'यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैः' (आप. श्रौ. २४.१.१.२) इस

यथाविधि निमन्त्र्य यजमानगृहमानयेत्। तान् वृणीते। वृतेभ्यस्तेभ्यो मधुपर्कदानम्। ततोऽग्नीन् समारोप्य देवयजनं गत्वा शालां निर्मायारणीं मथित्वा खरेषु स्थापयेत्। अपराह्णे दम्पत्योरभीष्टभोजनम्। ततश्चतुर्षु दिवसेषूपवास एव प्रायः। अवभृथानन्तरं पुनरभीष्टभोजनम्। मध्ये तु व्रतप्राशनम्। यजमानस्य वपनं स्नानं ततो दीक्षणीयेष्टिः। नवनीतेन दम्पत्योः शिरस आरभ्य पादपर्यन्तमभ्यञ्जनम्। ततस्तयोर्मुष्टिबन्धनं हस्तद्वयेऽपि। वस्त्रादिना सर्वा अङ्गुलीर्बध्वा अङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ विसृजेत्। माध्यन्दिनसवनं यावद् बद्धमुष्टिभ्यामेव दम्पतीभ्यां कार्याणि सम्पादनीयानि। तत औद्ग्रभणहोमाः। ततः कृष्णाजिनदीक्षा। तत्र कृष्णाजिनमारुह्य मेखलां बध्वा उष्णीषेण शिरसः प्रावरणं पत्न्याः कृष्णाजिनाभावः। कण्डूयनार्थं कृष्णमृगशृङ्गं रक्षेत्। ततो दण्डग्रहणं यजमानस्य। ततः सायं दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इति प्रतिप्रस्थातोच्चैर्निवेदयेत्। ततः प्रभृति यावदवभृथं दन्तधावनस्नानाग्निहोत्रहोमदर्शपूर्णमासादिवैश्वदेवार्थपाकस्मार्तोपासनानुष्ठानदानशूद्रसम्भाषणप्रत्युत्थानाभिवादनजलावगाहनानि न कर्तव्यानि।

ततः प्रवर्ग्यार्थं महावीरसम्भरणं ततोऽस्तमिते व्रतभक्षणम्। व्रतपदेन पय उच्यते। प्रथमदिने गामेकां शालासमीपमानीय तस्या एकमेव स्तनं दुह्यात्। तदेव द्विधा कृत्वा गार्हपत्ये यजमानार्थं दक्षिणाग्नौ पत्न्यर्थं श्रपयित्वा प्रयच्छेत्। द्वितीयतृतीयदिवसयोर्मध्याह्ने रात्रौ च वारद्वयं व्रतप्राशनम्। द्वितीयदिने स्तनद्वयं तृतीये स्तनत्रयं दुह्यात्। चतुर्थपञ्चमयोस्तु केवलं हविःशेषभक्षः। ततो भूमौ दक्षिणतोऽग्निमुखः शयीत। द्वितीयेऽह्नि प्रायणीयेष्टिः। तत्र अदितिः, पथ्या, स्वस्तिः, अग्निः, सोमः, सविता च देवताः। अदित्यै चरुः, शिष्टेभ्य आज्यम्। इष्ट्यन्ते चरुस्थालीं मेक्षणं चोदयनीयार्थं निदध्यात्। ततः सोमक्रयः। क्रीतं तमध्वर्युः शकटे निधायानडुद्भ्यामूढं शकटं शालायामानाय्य तं सोममौदुम्बर्यामासन्द्यां निधाय शालायां स्थापयेत्। तत आतिथ्येष्टिः। तत्र विष्णुर्देवता नवकपालः पुरोडाशो द्रव्यम्। ततः परं मदन्तीसंज्ञकाभिस्तप्ताभिरद्भिरेव सर्वाण्युदककार्याणि दम्पतीभ्यां कर्तव्यानि, न शीतोदकस्पर्शः। ततः सर्वेषामृत्विजां यजमानस्य च तानूनप्त्रसंज्ञकाज्यस्पर्शो यावदवभृथं परस्परमद्रोहार्थं शपथरूपः।

ततः प्रवर्ग्यानुष्ठानम्। तत्पत्न्याऽवेक्षणीयम्। अत्र गार्हपत्याहवनीयौ उत्तरेण द्वौ खरौ हस्तमात्रावङ्गुलोत्सेधौ दक्षिणतस्तृतीयं तावन्मात्रं सिकताभिः कृत्वा सम्राडासन्दीमाहवनीयपूर्वेण संस्थाप्य द्वौ महावीरावासादयेत्। ततो मुञ्जनिर्मितानिण्ड्वानादीप्य तान् खरे संस्थाप्य तत्राज्यपूर्णं महावीरं निधाय होत्रा मन्त्रगणे पठ्यमाने प्रतिप्रणवं स्रौवमाज्यमासिञ्चेत्। ततो रौहिणपुरोडाशयोः प्रचारः। तत्रादौ दक्षिणं पुरोडाशं हुत्वा गां दुग्ध्वा महावीरमादाय तत्राऽजापयः प्रक्षिप्य शान्ते पयसि गोपयः प्रक्षिपेत्। अयं घर्म उच्यते। तत उत्तरं रौहिणं जुहुयात्। एवमपराह्णेऽपि प्रवर्ग्यानुष्ठानम्। तत्र उपसदिष्टिः। तत्राज्यं द्रव्यम्। अग्निः सोमो विष्णुश्च देवताः। ततः प्रातरुपसद्धोमः। एवं सायमपि। एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु दिवसेषु षडुपसदः क्रियन्ते। प्रवर्ग्यश्च तृतीयदिने। प्रातः प्रवर्ग्यमुपसदं च हुत्वा सौमिकीं महावेदिं निर्माय आपराह्णिक्यौ प्रवर्ग्योपसदौ कुर्यात्। चतुर्थे दिनेऽग्नीषोमीयः पशुः। अनेनैव पशुना सार्धं दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्त्यर्थः पशुरपि समानतन्त्रेणाधुनैव संस्कर्तव्यः। ततस्तद्देवत्यं पशुपुरोडाशमन्यानि च पश्वङ्गानि यथावदनुष्ठाय तद्वपामार्जनान्ते वसतीवरीग्रहणार्थं बहिर्गत्वा यत्रापः स्यन्दन्ते ता वसतीवरीः पात्रे गृह्णीयादस्तमयात् पूर्वम्। सोमाभिषवकाले रसवृद्ध्यर्थं या आपः प्रक्षिप्यन्ते ता वसतीवर्य इत्युच्यन्ते। ता गृहीत्वा येन पथा तदानयनं विहितं तेनैव ता आनीयाग्नीध्रे ता निदध्यात्।

आपस्तम्ब परिभाषा के अनुसार यह तीन वेदों द्वारा अनुष्ठेय यज्ञ है। अग्निहोत्र तो केवल यजुर्वेद द्वारा ही साध्य है। दर्शपूर्णमास आदि इष्टियां कुछ लोगों द्वारा ऋग्वेद एवं यजुर्वेद दोनों से अथवा केवल यजुर्वेद से ही अनुष्ठित की जाती हैं। पशुयाग सभी

पञ्चमे सुत्यादिवसे सोमाभिषवग्रहग्रहणतद्धोमादीनामनुष्ठानम्। चतुर्थदिनस्यापरान्ते एवावबुद्ध्य स्नाता ऋत्विज आज्यासनान्तं कृत्वा सोमं द्वेधा विभज्य ग्राव्णां मुखे निदध्युः। ततः प्रातरनुवाकस्य शस्त्रं होता पठति। तच्च पक्षिणां वागुत्थानात् पूर्वमेवारब्धव्यम्। तत्काले जाग्रदेवाध्वर्युर्होतृसमीपे आसीत। ततः प्रातःसवनीयपुरोडाशानां निर्वापोऽग्नीत्कर्तृकः। तत्र पञ्च हवींषि पञ्चदेवताः, ऐन्द्र एकादशकपालः। इन्द्राय हरिवते धानाः, इन्द्राय पूषण्वते करम्भः, इन्द्राय सरस्वतिमते दधि, इन्द्राय वरुणवते पयस्येति। एवं पुरोडाशादिनिर्वापान् पयस्यां च प्रातरनुवाकशस्त्रकाल एवाग्नीद् यथावत् सम्पाद्य तत उन्नेता ऐन्द्रवायवादीनि पात्राणि योजयेत्। योजितेषु चत्वार ऋत्विजः सोमाभिषवार्थमधिषवणफलकयोः सर्वत उपविशेयुः। तत्रोत्तरतोऽध्वर्युयजमानौ, दक्षिणतो ब्रह्मप्रतिप्रस्थात्रुन्नेतृनेष्टारश्च। अभिषवार्थानां पदार्थानामीषान्तरेणैवानयनम्। ततोऽध्वर्युरधिषवणफलके उपांशुसवनाख्यं पाषाणं निधाय तदुपरि पञ्चकृत्वः सोममभिषुणुयात्।

महाभिषवेऽध्वर्युप्रतिप्रस्थातृनेष्ट्रुन्नेतारः कर्तारः। तेऽभिषवसोमं चतुर्धा विभज्य चत्वारः प्रहरेयुः। प्रहारश्चामितकृत्वः। यावता रसप्रच्युतिस्तावत्पर्यन्तं निग्राभ्या आसिच्याभिषुणुयुरिति महाभिषवः। अथ क्षुल्लकाभिषवः। तत्राध्वर्युरिकः कर्ता। स एवोपांश्वभिषवः। तत्र क्षुल्लकाभिषवणार्थं पूर्वमितात् सोमादल्पांशूनपकृष्य पात्रान्तरे स्थापिता निग्राभ्याश्च होतृचमसे कृत्वा सोमोपरि आसिच्य अष्टकृत्वः प्रहरणम्। अभिषवान्ते प्रतिप्रस्थाता उपांशुग्रहपात्रं स्वहस्ते धारयेत्। अध्वर्युर्मुष्टिनाभिषुतं सोमं निष्पीड्य उपांशुग्रहं गृह्णीयात्। एवमादिरीत्या क्षुल्लकाभिषवः। अथ माध्यन्दिनसवनम्। अथ तृतीयसवनम्। ततोऽवभृथः।

शतपथे तृतीयकाण्डस्य प्रथमाध्याये शालानिर्माणप्रभृतिदीक्षाहुतिपर्यन्तमुक्तम्। शालानिर्माणार्थं देवयजनपरिग्रहो विहितः — देवयजनं जोषयन्त इत्यादिना। 'स वै न सर्वेणेव संवदेत। देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते हि यज्ञियास्तस्माद्यद्येनꣳ शूद्रेण संवादो विन्देदेतेषामेवैकं ब्रूयादिममिति विचक्ष्वेममिति विचक्ष्वेत्येष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः' (श. ३.१.१.१०), 'अथारणी पाणौ कृत्वा। शालामध्यवस्यति स पूर्वार्ध्यꣳ स्थूणाराजमभिपद्यैतद्यजुराहेदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्व इति तदस्य विश्वैश्च देवैर्जुष्टं भवति ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचाना यदहास्य तेऽक्षिभ्यामीक्षन्ते ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसस्तदहास्य तैर्जुष्टं भवति' (श. ३.१.१.११)। समन्त्रकं शालाप्रवेशं विधत्ते—अथारणीति। अरणी पाणौ कृत्वा शालां प्रविश्य मन्त्रेणैतद्देवयजनं निश्चिनुयात्। अध्यवसानप्रकारमाह—स पूर्वार्ध्यमिति। स्थूणाराजो मध्ये स्थितः, महती स्थूणा स्थूणाराज उन्नतस्तम्भः, तस्य पूर्वार्ध्यमभिपद्य गृहीत्वा एदमगन्मेति यजुर्ब्रूयात्। तथा च कात्यायनः — 'समारोप्याग्नी शालास्तम्भं पूर्वार्ध्यं गृहीत्वाऽरणिपाणिराहेदगन्मेति' (का. श्रौ. ७.१.३०)। गृहे अग्नी अरण्योरारोप्य देवयजनमागत्य शालां प्रविश्य शालायाः पूर्वो भागः पूर्वार्धस्तत्र भवः पूर्वार्ध्यस्तं शालास्तम्भं गृहीत्वा अरणिपाणिर्यजमान एदमगन्मेति मन्त्रं पठेत्—

लोगों द्वारा ऋग्वेद एवं यजुर्वेद दोनों से किये जाते हैं। सोमयाग से प्रारम्भ करके अन्य यागों में तीन वेदों का संबन्ध है।

शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के प्रथम अध्याय में सोमयाग की शालानिर्माण से लेकर दीक्षाहुतिपर्यन्त की विधि कही गई है। तदनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र (७.१.३०) में शाला के पूर्व भाग में स्थित स्तम्भ का ग्रहण करते हुए, अरणि हाथ में लिये

एदम॑गन्म देव॒यज॑नं पृथि॒व्या यत्र॑ दे॒वासो॒ अजु॑षन्त॒ विश्वे॑। ऋ॒क्सा॒माभ्या॒ᳪ सन्तर॑न्तो यजु॑र्भी रा॒यस्पोषे॑ण॒ सम्रि॒षा म॑देम। इ॒मा आप॒ः शमु॑ मे सन्तु दे॒वीरोष॑धे॒ त्राय॑स्व॒ स्वधि॑ते॒ मैनं॑ᳪ हिᳪसीः ॥१ ॥

चतुर्थाध्यायमारभ्याष्टमाध्यायस्य द्वात्रिंशत्कण्डिकापर्यन्तमग्निष्टोममन्त्राः। तेषां प्रजापतिर् ऋषिः। तत्र चतुर्थे यजमानसंस्कारपूर्वकं सोमक्रयमन्त्राः प्राधान्येनोच्यन्ते। तत्र द्वे अत्यष्टी त्र्यवसाने। तयोः कण्डिकयोः सप्त मन्त्राः। आद्यावध्यर्चौ देवयजनदेवत्यौ। वयं सयजमाना ऋत्विजः, आ इदं पृथिव्याः सम्बन्धि इदमुत्कृष्टं देवयजनम्, देवा इज्यन्ते यस्मिंस्तद् देवयजनं स्थानं यष्टुकामा आ अगन्म आगताः स्मः, गच्छतेर्लटि उत्तमबहुवचने व्यत्ययेन शपो लुकि, 'व्यवहिताश्च' (पा. सू. १.४.८२) इत्युपसर्गक्रियापदयोर्व्यवधानम्। यत्र यस्मिन् देवयजने विश्वेदेवासः सर्वे देवा अजुषन्ताऽप्रीयन्त। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः'। प्रीत्या स्थिताः कामान् वा सेवितवन्तः। मन्त्रेऽस्मिन् ब्राह्मणा अनूचानाः शुश्रुवांसो देवा इति ज्ञेयम्, तथैव श्रुत्या व्याख्यातत्वात्। वयं रायो धनस्य पोषेण पुष्ट्या संवृद्ध्या इषा इष्यमाणेनान्नेन च संमदेम हृष्टा भवेम धनैरन्नैश्च तृप्येम। किं कुर्वन्तः? ऋक्सामाभ्यां ऋक् च साम च ऋक्सामे 'अचतुरविचतुरसुचतुर' (पा. सू. ५.४.७७) इति सूत्रेणाजन्तो निपातः। ताभ्यां यजुर्भिश्च वेदत्रयगतैर्मन्त्रैः सन्तरन्तः समुद्रवद्गम्भीरं सोमयागं समापयन्तः। 'दक्षिणं गोदानं वितार्योनत्तीमा आप इति' (का. श्रौ. ७.२.७)। शिरसो दक्षिणं प्रदेशं कङ्कतादिना विविच्य तत्स्थान् केशान् विजटान् कृत्वा आर्द्रीकरोतीति सूत्रार्थः।

मन्त्रार्थस्तु—इमा आपो देवताः शिरःक्लेदाय सिच्यमाना एता आपो यजमानस्य शमु शं सुखार्थम् उ एव सुखकारिण्य एव सन्तु। किंभूता आपः? देव्यः, दीव्यन्तीति देव्यो द्योतनाः, निर्मला इति यावत्। 'यूपवत्कुशतरुणं क्षुरेण चाभिनिधाय छित्वोदपात्रे प्रास्यति' (का. श्रौ. ७.२.८-११)। केशमध्ये कुशपत्रं दध्यात्। यूपवदोषध इति मन्त्रेण। चशब्दाद् यूपवदेव क्षुरधारनिहिततृणस्योपरि निदध्यात्। 'स्वधिते' इति सतृणान् केशान् छित्वोदपात्रे क्षिपेत्। यथा पश्वर्थयूपस्य छेदे मन्त्रः, एवमत्रापि तृणान्तर्धानं क्षुरस्थापनं च मन्त्रद्वयेन कर्तव्यमित्यर्थः। कुशतरुणं देवता। हे ओषधे कुशतरुण, त्वं यजमानं त्रायस्व क्षुराद्रक्ष। कुशतरुणं सूक्ष्मं कुशाग्रं दर्भतरुणमिति हरिस्वामिनः। क्षुरो देवता। हे क्षुर स्वधिते, एनं यजमानं मा हिंसीः। 'मो नो धातोः' (पा. सू. ८.२.६४) इति मकारस्य नकारः, अडागमश्च। वज्रकर्म कुर्वन्नवज्रोऽपि वज्र उच्यते। मन्त्रस्य द्वितीयं पादं देवतात्पर्याभिधानेन व्याचष्टे श्रुतिः—'तदस्य विश्वैर्देवैर्जुष्टं भवति। ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवाᳪसोऽनूचाना यदहास्य ते अक्षिभ्यामीक्षन्ते ब्राह्मणाः शुश्रुवाᳪसस्तदहास्य तैर्जुष्टं भवति'। अत्र मन्त्रे देवा अजुषन्त इति यदुक्तम्, तस्येदमेव तात्पर्यं यदत्र शुश्रुवांसोऽनूचाना ब्राह्मणा यदेनद्देवयजनमक्षिभ्यामीक्षन्ते, तदेव तैर्देवैर्देवयजनं जुष्टं भवति। 'यद्वाह। यत्र देवासो अजुषन्त विश्व इति तदस्य विश्वैर्देवैर्जुष्टं भवत्यृक्सामाभ्याᳪ

हुए यजमान 'एदमगन्म' इस मन्त्र का पाठ करे। यह याज्ञिक विनियोग है। 'इमा आपः' इत्यादि मन्त्रों से सिर के केशों को आर्द्र कर वपन किया जाता है। तदनुसार याज्ञिक पक्ष में मन्त्रों का अर्थ कहा गया है।

मन्त्रार्थ— हम इस पृथ्वी संबन्धी देवयजन स्थान में आये हैं, जहां सब देवता प्रीतिपूर्वक स्थित हैं। हम ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्रों से समुद्र के समान गम्भीर सोम याग को करते हुए धन से पुष्ट और इच्छित अन्न से हृष्ट और तृप्त हों। प्रकाशयुक्त, निर्मल, सिर पर लगाये हुए जल मुझ यजमान के निमित्त सुखदायक हों। हे कुशतरुण! ओषधि के देवता! यजमान की छुरे से रक्षा करो। हे क्षुर के अधिष्ठात्री देवता! इस यजमान को पीड़ा मत दो।

तीसरे अध्याय में आधान, अग्निहोत्र, उपस्थान और चातुर्मास्य के मन्त्र कहे गये हैं। अब चौथे अध्याय में ३२ वीं कण्डिका तक अग्निष्टोम के मन्त्र कहे जायेंगे। प्रथम मन्त्र में क्षुर से यजमान को पीड़ा न पहुंचाने की प्रार्थना की गई है ॥१ ॥

सन्तरन्तो यजुर्भिरित्यृक्सामाभ्यां वै यजुर्भिर्यज्ञस्योदृचं गच्छन्ति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह रायस्पोषेण समिषा मदेमेति भूमा वै रायस्पोषः श्रीर्वै भूमाशिषमेवैतदाशास्ते समिषा मदेमेतीषं मदतीति वै तमाहुर्यः श्रियमश्नुते यः परमतां गच्छति तस्मादाह समिषा मदेमेति' (श. ३.१.१.१२)।

मन्त्रस्य तृतीयं पादं व्याचष्टे—ऋक्सामाभ्यामिति। यजुर्भिः क्रियमाणं यज्ञस्वरूपमृक्सामाभ्यां स्तोत्रशस्त्राभ्यां सन्तरन्तः पारं प्रापयन्त इति सन्तरन्त इत्यंशस्यार्थः। यजुषा ऋक्सामाभ्यां ये तरन्ति ते यज्ञस्योदृचमेव परिसमाप्तिं गच्छन्ति। अत एतेन यज्ञस्य उदृचं परिसमाप्तिं प्राप्नोमीत्युक्तवान् भवति। चतुर्थपादस्य प्रथमभागं व्याचष्टे—रायस्पोषेणेति। भूमा बहुभाव एव। रायस्पोषो धनपुष्टिः। स च भूमा साक्षात् श्रीरेव, तस्मादेतद्भागपाठेन आशिषमेवाशास्ते। चतुर्थपादस्य द्वितीयभागस्य तात्पर्यमाह—समिषेति। लोके यः श्रियः परमतां गच्छति तमिषमन्नमदति मोदत इत्याहुः। अतो मन्त्रे समिषेति भागमाहेत्यर्थः।

'अपराह्णे दीक्षेत' (श. ३.१.२.१) इत्यपराह्णेऽह्नस्तृतीये भागे दीक्षाविधानम्। अथ दीक्षिताशनविषये सर्वान्नमभ्यनुजानाति—'यत्कामयेत' इत्यादिना। यतोऽतः परं व्रतं केवलं पयःपानमेव, अतः क्षौरकर्मणः प्राग् यथेष्टं भोक्तुं शक्यते। यद्यु नाशिषेदपि कामं नाश्नीयादिति तत्रैव यथेष्टानशनपक्षोऽप्युक्तः। ततः शालाया उत्तरभागे क्षौरार्थं परिश्रयणं तदत्रोदकुम्भपरिवृते देशे नापितः केशश्मश्रुवपनं नखनिकृन्तनं च कुर्यात्। अमेध्यानां केशनखानां निरवशेषेण सुखच्छेदनाय उदकुम्भसन्निधानमावश्यकम्। तदुक्तं कात्यायनेन—'उत्तरे परिवृत उदकुम्भवत्यप्सु दीक्षा। नापित उत्तरत उपतिष्ठते' (का. श्रौ. ७.२.५-६)। यजमानः क्रतुसाधनभूतं धान्यघृतहिरण्यादि वा क्रत्वर्थं मे गोपाय यथाकालं सम्पादयेत्येवमन्यस्मा उक्त्वा ततस्तेनाप्सु दीक्षा कार्या। अप्सु दीक्षेति वक्ष्यमाणस्य केशश्मश्रुवपनस्नानादिसंस्कारस्य नामधेयम्। परिवृतमध्ये हस्तमितं गर्तं कृत्वा तत्रोदकुम्भनिधानम्। 'नापित उत्तरत उपतिष्ठते नखानि निकृन्तत्यङ्गुष्ठप्रभृतीनि दक्षिणहस्तस्य प्रथमम्' (का. श्रौ. ७.२.६)।

सर्वाङ्गवपनपक्षमुपन्यस्य निराकृत्य केशश्मश्रुवपनमुक्तम्। तत्रापि मानुषत्वव्यावृत्त्युपन्यासमुखेन नखानामेव, तत्रापि याम्यपाणिपादस्यैव, तत्राप्यङ्गुष्ठयोरेवेति त्रयाणां प्राथम्यमुक्तम्। 'स वै नखान्येवाग्रे निकृन्तते। दक्षिणस्यैवाग्रे सव्यस्य वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्राङ्गुष्ठयोरेवाग्रे कनिष्ठिकयोर्वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा' (श. ३.१.२.४)। 'स दक्षिणमेवाग्रे गोदानं विस्तारयति। सव्यं वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा' (श. ३.१.२.५)। वपनेऽपि दक्षिणस्य भागस्य प्राथम्यमाह—गोदानमिति। गोदानं नाम कर्णस्योपरि प्रदेशः। स्वपद्भिर्गवि पृथिव्यां दीयत इति गोदानं कर्णः, तं विस्तारयति विभजेत्। यस्य चाग्रे वपनं तस्यैव चोन्दनप्राथम्यं युक्तम्। 'स दक्षिणमेवाग्रे गोदानमभ्युनत्ति। इमा आपः शमु मे सन्तु देवीरिति स यदाहेमा आपः शमु मे सन्तु देवीरिति वज्रो हि वा आपो वज्रो वा आपस्तस्माद्येनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति तत्तदेतमेवैतद्वज्रꣳ शमयति तथो हैनमेष वज्रः शान्तो न हिनस्ति तस्मादाहेमा आपः शमु मे सन्तु देवीरिति' (श. ३.१.२.६)। आपः शं सन्त्विति शान्तिप्रार्थनायाः क्रौर्यप्रसङ्गं दर्शयति—वज्रो वा आप इति। 'अथ दर्भतरुणकमन्तर्दधाति। ओषधे त्रायस्वेति वज्रो वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्त्यथ क्षुरेणाभिनिदधाति स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीरिति वज्रो वै क्षुरस्तथो हैनमेष वज्रः क्षुरो न हिनस्ति' (श. ३.१.२.७)। क्षुरकृतविदारणपरिहाराय केशानामुपरि दर्भस्थापनं समन्त्रकमाह—अथेति। क्षुरस्य हिंसकत्वात् ततः पालनप्रार्थना। समन्त्रकं क्षुरनिधानमाह—स्वधित इति। स्पष्टमन्यत्। 'प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति। तूष्णीमेवोत्तरं गोदानमभ्युनत्ति तूष्णीं दर्भतरुणकमन्तर्दधाति तूष्णीं क्षुरेणाभिनिधाय प्रच्छिद्योदपात्रे प्रास्यति' (श. ३.१.२.८)। अत्र मन्त्रमन्तरैव तूष्णीमुत्तरगोदानोन्दनादिकम्। 'अथ नापिताय क्षुरं प्रयच्छति। स केशश्मश्रु वपति' (श. ३.१.२.९)।

अध्यात्मपक्षे तु—इदं मानवशरीरं देवयजनं देवा इज्यन्ते येन तद् देवयजनं देवादिपूजनसाधनं पूर्वसुकृतैः परमेश्वरानुग्रहेण पृथिव्याः पृथिव्युपलक्षितानां पञ्चभूतानां सम्बन्धि उत्कृष्टं परिणामभूतम् अगन्म प्राप्तवन्तो वयम्। यत्र यस्मिन् निमित्ते सति विश्वे सर्वे देवासो देवा अजुषन्त प्रीतिमन्तः सन्तोऽभीष्टान् कामान् हविर्भागान् वा अजुषन्त सेवितवन्तः। यत्र स्थिता वयम् ऋक्सामाभ्यां यजुर्भिश्च रायस्पोषेण ब्रह्मविद्यारूपाया लक्ष्म्याः पोषेण पुष्ट्या स्वाभाविककामकर्माज्ञानरूपं मृत्युं तरन्तः, इषा ब्रह्मरूपेणान्नेन संमदेम हृष्येमहि तुष्येमहि, 'अहमन्नमहमन्न-महमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' (तै. उ. ३.१०.६) इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणोऽन्नान्नादत्वोक्तेः। इमा आपो व्यापन-शीला जलादिरूपेण परिणताः परमात्मदेवता देवीः द्योतमानाः स्वप्रकाशाः। पूजायां बहुवचनम्। मह्यं शम् उ सुखकारिण्य एव सन्तु। हे ओषधे संसाररोगनिवर्तक, एनं प्रत्यगात्मानं मा हिंसीः स्वात्मवैमुख्यापादनेन हननं मा कार्षीः। किन्तु त्रायस्व प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मात्मस्वरूपप्रकाशेन जननमरणाविच्छेदलक्षणायाः संसृते रक्ष।

दयानन्दस्तु— 'हे विद्वन्! यथा पृथिव्या मध्ये मनुष्यजन्मा इदं देवयजनं च प्राप्य यत्र ऋक्सामाभ्यां यजुर्भी रायस्पोषेण दुःखानि समिषा सन्तरन्तो विश्वेदेवा अगन्मा अजुषन्त मदेम सुखयेम। उ इति वितर्के। मे मम विद्यासुशिक्षाभ्यां सेविता इमा देवीर् देव्य आपः सुखकारिकाः सन्ति, तथैव तत्र त्वं ता जुषस्व। तवैताः सन्तु सुखकारिका भवन्तु। यथौषधे सोमलताद्योषधिगणो रोगेभ्यस्त्रायते, तथा त्वं नस्त्रायस्वैनं स्वधितिर्वज्रस्त्वमेनं जीवं मा हिंसीर्हननं मा कुर्याः' इति, तच्च विसंगतमेव, पृथिव्या इदं देवयजनमिति सम्बन्धसम्भवे 'पृथिव्या मध्ये' इत्यध्याहारस्याप्रामाणिकत्वात्। एवं 'सन्तरन्तो दुःखस्यान्तं प्राप्नुवन्तः' इत्यपि तथाविधमेव, निर्मूलत्वात्। एवमेव 'ओषधे' 'स्वधिते' इति श्रुतां संबोधनविभक्तिमपहायार्थान्तरकल्पनमपि निर्मूलम्। शतपथविरुद्धं चैतत्। तत्र तु—'ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचाना यदहास्य तेऽक्षिभ्यामीक्षन्ते . . . . तदहास्य तैर्जुष्टं भवति' (श. ३.१.१.११) इत्युक्तम्। दक्षिणगोदानवितारण उन्दने च इमा आप इति मन्त्रो विनियुक्तः, 'ओषधे त्रायस्व' इत्यस्य च तत्र दर्भतरुणकस्य केशानामुपरि धारणे विनियोग उक्तः। स्वधितिपदेन तत्र क्षुर एव सम्बोध्यत्वेनोक्तः। 'अथ स्नाति। अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वा आपो मेध्यो भूत्वा दीक्षा इति पवित्रं वा आपः पवित्रपूतो दीक्षा इति तस्माद्वै स्नाति' (श. ३.१.२.१०)। अनृतवदनेनान्तःपूतिः पुरुषोऽमेध्यो भवति, आपश्च मेध्या भवन्ति, तस्मात् स्नाति ॥१॥

अध्यात्मपक्ष में तो यह अर्थ है—देवताओं का यजन इससे किया जाता है, अतः यह मानव शरीर देवयजन है। इस देवादिपूजन के साधन पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों से संबद्ध शरीर को हमनें परमेश्वर के अनुग्रह से प्राप्त किया है। जिसके निमित्त होने पर ही समस्त देवगण अभीष्ट कामों अथवा हविर्द्रव्यों का सेवन करते हैं। इस शरीर में स्थित हम लोग ऋक्, साम एवं यजुर्मन्त्रों से ब्रह्मविद्यारूप लक्ष्मी की पुष्टि के द्वारा मृत्यु को पार कर ब्रह्मरूप अन्न से तुष्ट रहें। ये व्यापनशील जलादिरूप से परिणत स्वप्रकाशरूपिणी परमात्मदेवताएं मेरे लिये सुखकारिणी हों। हे संसाररोगनिवर्तक ओषधि, इस प्रत्यगात्मा को अपने से विमुख करते हुए विनष्ट मत होने दो, अपितु सृष्टिप्रपंच से इसकी रक्षा करो।

स्वामी दयानन्द का अर्थ तो असंगत है, क्योंकि 'यह पृथिवी का देवयजन है' इस प्रकार संबन्धकारक होजाने पर 'पृथिवी के मध्य में' इस तरह का अध्याहार अप्रामाणिक है। 'सन्तरन्तः' का 'दुःख का अन्त प्राप्त करते हुए' यह अर्थ भी निर्मूल है। 'ओषधे, स्वधिते' इन पदों में मन्त्रोक्त संबोधन विभक्तियों को छोड़कर अन्य अर्थ की कल्पना अनुचित है। यह शतपथ ब्राह्मण के भी विरुद्ध है ॥१॥

आपो॑ अ॒स्मान्मा॒तरः॑ शुन्धयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्वः॒ पुनन्तु। विश्व॒ꣳहि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदिदा॑भ्य॒ः शुचि॒रा पू॒त ए॑मि। दी॒क्षा॒त॒पसो॑स्त॒नूर॑सि॒ तां त्वा॑ शि॒वाꣳ श॒ग्मां परि॑दधे भ॒द्रं वर्णं॒ पुष्य॑न्॥२॥

'स स्नाति' इति शतपथश्रुत्या, 'आपो अस्मानिति स्नात्वोदिदाभ्य इत्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्धम्' (का. श्रौ. ७.२.१५) इति मन्त्रः स्नाने विनियुक्तः। या एता आपो मातर ओषधिवनस्पत्यादिसकलजगन्निर्मात्र्यः, ता अस्मान् शुन्धयन्तु शोधयन्तु। मिमत इति मातरः, मातृवत् पालयित्र्यो वा एता आपः कृतक्षौरानस्मान् यजमानान् शुन्धयन्तु पुनन्तु क्षौर-कर्मनिमित्तामपहितिमशुद्धिं निवारयन्तु। 'घृ क्षरणदीप्त्योः'। जिघर्ति क्षरतीति घृतं तेन क्षरणोपेतेन जलेन पुनन्तीति घृतप्वः। जलदेवताश्च नोऽस्मान् क्षरणयुक्तेन जलेन पुनन्तु शुद्धान् कुर्वन्तु। देवीर् द्योतमाना आपः, विश्वं हि सर्वमेव रिप्रं पापम् अस्मद्यजमानेभ्यः प्रवहन्तु प्रकर्षेण अपनयन्तु। 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (निरु. ४.२१)।

यद्वा घृतेन पुनन्तीति घृतप्वः। घृतम् अपां परमं तेजः पवित्रं च। 'तद्वै सुपूतं यं घृतेन पुनन्' (श. ३.१.२.११) इति श्रुतिः। 'सुवर्णप्राशो घृतप्राश इति मेध्यानि' इति गोतमः। हीति यस्मादर्थे। यस्मात् स्वभावत एव सर्वे पापं प्रकर्षेण वहन्ति देव्यस्तस्मात् पुनन्तु। 'उदिदाभ्य इत्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्धम्' (का. श्रौ. ७.२.१५)। पूर्वं परिवृतेन निहितेन उदकुम्भोदकेन स्नात्वा उदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमीति मन्त्रेण उत्तरपूर्वार्धे निगच्छेत्। शुचिः पूत इति शब्दद्वयेन स्नानाचमनाभ्यां बहिरन्तश्च शुद्धिद्वयमभिधीयते। इच्छब्दः समुच्चयार्थकः। तथाविधशुद्धिद्वयोपेतोऽहम् आभ्योऽद्भ्य उत्सह्य उद्गम्य एमि भूमिमागच्छामि। शुचिः शुद्धः स्नानेन तथा आपूत आसमन्ताद् भावेनान्तरेणाप्याचमनेन शुचिर्ज-लान्निर्गच्छामीति। 'क्षौमं वस्ते निष्पेष्टवै ब्रूयादहतं चेदद्भिरभ्युक्ष्य, स्नातवस्यं वाऽमौत्रधौतं विचितकेशं प्रसारितदशं दीक्षातपसोरिति' (का. श्रौ. ७.२.१६-१८)। स्नानानन्तरं क्षौमं वासः परिदधीत यजमानः। अहतं यन्त्रनिर्मुक्तमधौतं वासो निष्पेष्टवै ब्रूयात्। प्रतिप्रस्थात्रे प्रैषं दत्त्वा तेन च प्रक्षालितं परिदध्यात्। चेदद्भिरभ्युक्ष्य चेच्छब्दो वाशब्दार्थे। अथवा अभ्युक्षणमात्रं कृत्वा परिधत्ते। यद्वा हस्ताभ्यां सम्पेष्टव्यमिति प्रैषार्थः। ततश्च ब्राह्मणहस्तसम्पर्काद् मेध्यता भवति। अहतं चेदद्भिरभ्युक्ष्य वा परिधत्ते। अत्र ब्राह्मणहस्तस्पर्शाऽभ्युक्षणयोर्विकल्पः। अथवा प्रत्यहं कृतस्नानेन सदा परिधीयमानं यद् वासस्तत्परिधत्ते। कीदृशं तत्? अमौत्रधौतम् अरजकप्रक्षालितं विचिता निष्काशिताः केशाः सूत्राणि यस्माद् तद् विचितकेशम्, प्रसारिता दशा अग्रभागो यस्य तत् प्रसारितदशम्, तादृशं वासः परिदधीत।

मन्त्रार्थस्तु—अत्र वासो देवता। हे क्षौमवस्त्र, त्वं दीक्षातपसोस्तनूरसि। दीक्षा दीक्षणीयेष्टिः, तप उपसदिष्टिः। दीक्षाभिमानिदेवतायास्तपोऽभिमानिदेवतायाश्च त्वं शरीरवत् प्रियमसि। तां दीक्षातपसोस्तनूं तद्देवताद्वयशरीरभूतां त्वामहं

मन्त्रार्थ— माता के समान पालन करने वाले हे जलदेवता! तुम हमें शुद्ध करो। निश्चय ही दीप्तिमान् निर्मल जल सम्पूर्ण पापों को धो डालते हैं। इस जल में स्नान कर बाहर-भीतर से शुद्ध हुआ मैं जल से बाहर आता हूँ। हे क्षौम वस्त्र! तुम दीक्षाभिमानी और तपोभिमानी देवता के शरीर के समान प्रिय हो। तुमको धारण कर मैं कल्याण रूप कान्ति से पुष्ट होता हूँ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान तालाब आदि में स्नान करता है और रेशमी वस्त्र धारण करता है॥२॥

भाष्यसार— शतपथश्रुति के अनुसार 'आपो अस्मान्' इस मन्त्र से स्नान करना चाहिये, यह कात्यायन श्रौतसूत्र (७.२.१५) में कहा गया है। तदनन्तर 'दीक्षातपसोः' इत्यादि मन्त्र से वस्त्रधारण करे। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन (७.२.१५-१८) ने बताया है। याज्ञिक प्रक्रिया में विनियोग के अनुसार इस कण्डिका का अर्थ किया गया है।

परिदधे। कीदृशीं त्वाम्? शिवां शग्मां द्वयोरपि शब्दयोः सुखार्थकत्वाद् अत्यन्तसुखरूपां कोमलत्वादिना। भद्रं वर्णं पुष्यन् त्वत्परिधाने कल्याणीं कान्तिं बिभ्रत्। यद्वा शिवां शान्तां शग्मां ससुखां साध्वीं वा त्वां परिदध इति सायणादिसम्मतोऽर्थः।

शतपथे च— 'स स्नाति। आपोऽस्मान् मातरः शुन्धयन्त्विति. . .घृतेन नो घृतप्वः पुनन्त्विति. . . . विश्वꣳ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति यद्वै विश्वꣳ सर्वं यद्यदमेध्यꣳ रिप्रं तत्सर्वꣳ ह्यस्मादमेध्यं प्रवहन्ति तस्मादाह विश्वꣳ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरिति' (श. ३.१.२.११)। मन्त्रो व्याख्यात एव। तृतीयपादस्य तात्पर्यमाह—विश्वं हीति। यद् विश्वं तत्सर्वमुच्यते, यदमेध्यं तद् रिप्रम्, अतो देहगतं मालिन्यमात्मगतं पातकं सर्वं द्योतमाना आपोऽस्माद् यजमानादपगमयन्ति यतोऽत एवाह मन्त्रः। 'अथ प्राङिवोदङ्ङुत्क्रामति। उदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमीत्युद्ध्याभ्यः शुचिः पूत एति' (श. ३.१.२.१२)। 'अथ वासः परिधत्ते। सर्वत्वायैव स्वामेवास्मिन्नेतत्त्वचं दधाति या ह वा इयं गोस्त्वक् पुरुषे हैषाग्र आस' (श. ३.१.२.१३)। 'ते देवा अब्रुवन्। गौर्वा इदꣳ सर्वं बिभर्ति हन्त येयं पुरुषे त्वग् गव्येतां दधाम तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षिष्यत इति' (श. ३.१.२.१४)। 'तेऽवच्छाय पुरुषम्। गव्येतां त्वचमदधुस्तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षते' (श. ३.१.२.१५)। 'अवच्छिन्नो हि वै पुरुषः। तस्मादस्य यत्रैव क्व च कुशो वा यद्वा विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति तस्मिन्नेतां त्वचमदधुर्वास एव तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्त्येताꣳ ह्यस्मिन्स्त्वचमदधुस्तस्मादु सुवासा एव बुभूषेत् स्वया त्वचा समृद्ध्या इति तस्मादप्यश्लीलꣳ सुवाससं दिदृक्षन्ते स्वया हि त्वचा समृद्धो भवति' (श. ३.१.२.१६)। 'नो हान्ते गोर्नग्नः स्यात्। वेद ह गौरहमस्य त्वचं बिभर्मीति सा बिभ्यती त्रसति त्वचं म आदास्यत इति तस्मादु गावः सुवाससमुपैव निश्रयन्ते' (श. ३.१.२.१७)। 'तस्य वा एतस्य वाससः। अग्नेः पर्य्यासो भवति वायोरनुच्छादो नीविः पितॄणाꣳ सर्पाणां प्रघातो विश्वेषां देवानां तन्तव आरोका नक्षत्राणामेवꣳ हि वा एतत्सर्वे देवा अन्वायत्तास्तस्माद्दीक्षितवसनं भवति' (श. ३.१.२.१८)।

मन्त्रगतस्य उदिदाभ्य इति चरमपादस्य पृथग्विनियोगमाह—शुचिः पूत इति। आभ्योऽद्भ्यः सकाशात् शुद्ध एव सन् उद्गच्छामीति तस्यार्थः। वासःपरिधानं विधाय प्रशंसति—सर्वत्वायेति। सर्वस्यैव दीक्षितस्य सर्वत्वाय वस्त्रपरिधानम्। वासोधारणेन त्वचमेव धारितवान् भवति। तत एतद्धारणवतः सर्वत्वं सम्पद्यते। इदानीं गव्याश्रिता त्वग् अग्रे पुरा पुरुषे आस। ते देवाः किमर्थमियं त्वक् पुरुषे वर्तते? गौस्तु बहूपकारवती, अतस्तां त्वचं तत आदाय गवि स्थापयामः, वृष्टिहिमादिकमेतया गौः परिहरत्विति गव्यधारयन्। पुरुषादपगमे लिङ्गमाह—तस्मादिति। अस्य कुशाद्युपघाते रक्तस्रावदर्शनाद् देवैस्त्वचो विकर्तनं सिद्ध्यति। तदा पुरुषाणां निस्त्वक्त्वपरिहाराय वस्त्रमकल्पयन्। तस्मात्तत् तेषामेवासाधारणमभूत्। भृतेन च सम्भूषितो भवति। तथा च लौकिका आहुः—वस्त्रं पुरुषस्यालङ्कार इति। लोके निन्दितमपि सुवाससं समाजादौ सम्यक् पश्यन्ति। पुरुषस्य त्वचो गवि स्थापनं यदस्ति तत्किमर्थमिति प्रसङ्गात् कश्चित् पुरुषार्थनियममाह—कदाचिदपि गोः समीपे विवासा न भवेत्। यस्मात्तु सा अस्य त्वचं धारयामीति जानीत इत्यतो न नग्नः स्यात्। सा बिभ्यती पुनस्त्वगपच्छेदभयात् त्रसति। विहितवस्त्रं सर्वदेवतात्मकत्वेन प्रशंसति—तस्य वा एतस्येति। वस्त्रस्य परितस्तिर्यगस्यत इति विपर्यासस्तिर्यक्तन्तुसन्दर्भः सोऽग्नेर्भवति, अग्निदेवताको भवतीत्यर्थः। अनुच्छादोऽनुलोमाच्छाद्यत इति स वायोर्भवति। नीविराद्यन्तप्रदेशः पितॄणां प्रघातः सर्वहननस्थानम्, निबिडीभूतप्रदेशः सर्पाणाम्, तन्तवः स्वरूपेण विश्वेषां देवानाम्, आरोका मध्यच्छिद्राणि नक्षत्राणाम्। तस्मात् सकलदेवत्यत्वाद् दीक्षितवसनेनावश्यं भवितव्यम्।

'तद्वा अहतꣳ स्यात्। अयातयामतायै तद्वै निष्पेष्टवै ब्रूयाद्यदेवाऽस्यात्राऽमेध्यमा कृणत्ति वा वयति वा तदस्य मेध्यमसदिति यद्यु अहतꣳ स्यादद्भिरभ्युक्षेन्मेध्यमसदित्यथो यदिदꣳ स्नातवस्यं निहितमपल्यूलनकृतं भवति तेनो ह्यापि दीक्षेत' (३.१.२.१९)। तस्य वस्त्रस्य नूतनत्वं विधत्ते—तद्वा अहतं स्यादिति। अयातयामतायै अशिथिलत्वाय तद् अहतं वस्त्रं निष्पेष्टवै क्षालयितुमन्यं ब्रूयात्। अस्य वस्त्रस्य यदमेध्यम् आकृणत्ति आकृणोति आश्लिष्टं करोति निर्माणकाले, सहैव वपति च। अहतं चेदभ्युक्षणमेव कर्तव्यमिति तत्प्रयोजनम्। मेध्यमसद् मेध्यार्हं भवेदिति क्षालनमिति सायणः। देवयाज्ञिकरीत्या वासस उपघातः परिधानेन रागेण वा भवति, अतोऽहत-मपरिहितमरक्तं च निष्पेष्टवै, 'पिष्लृ सञ्चूर्णने' इति धातुः। तेन हस्ताभ्यां संपेष्टव्यमिति पेषणार्थः। ततश्च ब्राह्मणहस्तसम्पर्काद् मेध्यता भवतीत्यभिप्रायः। अहतं चेदद्भिरभ्युक्ष्य वा परिधत्त इति वासोधावनाद्भिरभ्युक्षणयो-र्विकल्पः। उत्तरीयं च वासः काण्वश्रुतेः। तस्मादेतद्दीक्षणीयं तदहतꣳ स्यादित्याहुस्तदुभयं निष्पेष्टवै ब्रूयात्। हरिस्वामिनस्तु एकमेव वासः परिधानीयमाहुः। तथाहि—'तदेकमेव, सर्वत्रैकत्वदर्शनात्, उपादेयगतस्यैकत्वस्यावि-वक्षाकारणाभावात्। 'तस्य वा एतस्य वाससः' (श. ३.१.२.१८), 'नेदिदं दीक्षितवसनं परिधाय' (श. ३.१.३.६), 'अन्तरं दीक्षितवसनात्' (श. ५.२.१.१८), 'अथैनं पुनर्दीक्षितवसनं परिधापयन्ति' (श. ५.३.५.२५) इति सर्वत्रैकमेव दृश्यते। 'तावन्ये वाससी परिधाय' (श. ४.४.५.२३), 'अथैनं वासाꣳसि परिधापयन्ति' (श. ५.३.५.२०) इति बहुषु बहुवचनदर्शनात्। तेनाविवक्षितमेवैकत्वम्। यद्वा अधोवसनसम्बन्ध एवैकत्वं विवक्षितम्, परिदधातेस्तत्रैव रूढ-त्वात्। कर्करीत्या तु उत्तरीयं सामर्थ्यप्रापितमेवेति सूत्रकृता नोपनिबद्धम्। तथा च—'कृष्णविषाणां त्रिवलिं पञ्चवलिं वोत्तानां दशायां बध्नीते' (का. श्रौ. ७.३.२५) इत्यत्र सामर्थ्यप्रापितत्वाच्चोत्तरे सिचि बध्नातीति नोक्तमिति कर्काचार्यः। काण्वश्रुतौ तु निगदोक्तत्वादुत्तरीयमपि भवत्येव। अथो यदिदं स्नातेन पुरुषेणाच्छाद्य अपल्यूलनकृतं क्षारद्रव्यसहितेनाधौतं प्रतिदिनं प्रक्षाल्य यदेव धार्यते तत् तेन वा दीक्षेत। 'तत्परिधत्ते। दीक्षातपसोस्तनूरसीत्यदी-क्षितस्य वा अस्यैषाऽग्रे तनूर्भवत्यथात्र दीक्षातपसोस्तस्मादाह दीक्षातपसोस्तनूरसीति तां त्वा शिवाꣳ शग्मां परिदध इति तां त्वा शिवाꣳ साध्वीं परिदध इत्येवैतदाह भद्रं वर्णं पुष्यन्निति पापं वा एषोऽग्रे वर्णं पुष्यति यममुमदीक्षितोऽथात्र भद्रं तस्मादाह भद्रं वर्णं पुष्यन्निति' (श. ३.१.२.२०)।

उक्तविधस्य वाससः समन्त्रकं परिधानं विधत्ते—तत्परिधत्त इति । दीक्षातपसोस्तनूरिति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। अत्र तु श्रुतिरेव मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—अस्यैषा अग्रे तनूर्भवतीति। अग्रे प्राग् अदीक्षितस्यैषा तनूरासीत्। अथेदानीं तु दीक्षा दीक्षितदण्डकृष्णाजिनधारणनवनीताभ्यङ्गादिसाध्यः संस्कारः, तपोऽशनवर्जनादिजन्यक्लेशसहनात्मकम्, तदु-भयमनेन प्राप्तत्वाद् दीक्षातपसोस्तनूरसीत्याह। इतिशब्दस्य तात्पर्यमाह—साध्वीमिति। वस्त्रस्य तनुत्वाभिधानात् स्त्रीलिङ्गता। तृतीयभागमनूद्य व्याचष्टे—भद्रं वर्णं पुष्यन्निति। भद्रत्वसमर्थनाय पूर्वत्राभद्रत्वं प्रसञ्जयति—पापं वा एषोऽग्रे वर्णं पुष्यति यमदीक्षितो धारयति।

अध्यात्मपक्षे तु— हे आपः! आप्नुवन्ति व्याप्नुवन्तीत्यापः, पूजायां बहुवचनम्, हे व्यापक परमेश्वर! नोऽस्मान् मातृवत् पालयित्र्यः शुन्धयन्तु शोधयन्तु घृतेन घृततुल्येन स्नेहेन भक्त्या पुनन्तीति घृतप्वो भवत्यो घृतेन स्नेहेनास्मान् पुनन्तु पवित्रयन्तु भवत्यो विश्वं सर्वं रिप्रं पापं प्रवहन्ति प्रकर्षेणापगमयन्ति नाम्ना रूपेण स्वरूपेण वा स्मृतिगोचराः

अध्यात्मपक्ष में तो अर्थ इस प्रकार है— हे आपः! अर्थात् हे व्यापक परमेश्वर! हमको मातृरूप से पालन करते हुए शुद्ध करें तथा अपने स्नेह से पवित्र (निर्मल) करें। आप नाम-रूप अथवा स्वरूप से स्मरण किये जाने पर समस्त पापों को विनष्ट करते

सत्यः सर्वं पापं विनाशयन्ति। आभ्यो भवतीभ्यः शुचिर्बहिः शुद्धः, आपूतः अन्तःपवित्रः सन् उदेमि उद्गच्छामि संसारादूर्ध्वं ब्रह्मात्मभावं गच्छामि प्राप्नोमि। त्वं दीक्षायास्तपसश्च तनूः शरीरमसि, परमेश्वरीयपावनशक्त्यैव तयोः पावयितृत्वात्। तां दीक्षातपसोस्तनूरूपां शिवां कल्याणमयीं शग्मां सुखरूपां त्वां भद्रं सुखावहं वर्णं तमसः परमादित्यवर्णं पुष्यन् पोषयन् परिदधे सर्वतो धारयामि।

दयानन्दस्तु— 'हे मनुष्याः, यथा भद्रं वर्णं पुष्यन्नहं या घृतप्वो देवीः देव्यो रिप्रं प्रवहन्ति, विद्वांसो मातरो या घृतप्वो घृतेन सन्ति याभिरस्मान् सुखयन्ति, ताभिर्नोऽस्मान् भवन्तः शुन्धन्तु पुनन्तु च यथाहमुदिदाभ्यः शुचिः पवित्र आपूतः शुद्धो भूत्वा या दीक्षातपसोस्तनूरस्यस्ति, त्वामेतां शिवां शग्माम् एमि प्राप्नोमि। परिदधे सर्वतो धरामि। यथा तास्तां च यूयमपि धरत' इत्यन्वयः। भावार्थे तु— 'याः सर्वसुखप्रापिका आपः प्राणधारिका मातृवत्पालनहेतव आपः सन्ति, ताभ्यः सर्वतः पवित्रतां सम्पाद्यैताः शोधयित्वा मनुष्यैर्नित्यं संसेव्याः। ततः सुन्दरं वर्णं रोगरहितं शरीरं च सम्पाद्य नित्यं प्रयत्नेन धर्ममनुष्ठाय पुरुषार्थेनानन्दः कर्तव्यः' इति, तदेतत् सर्वं विशृङ्खलमेव, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—कोऽयं सम्बोधकः? ईश्वरो जीवो वा? नाद्यः, यथाहं भद्रं वर्णं पुष्यन्नित्यसङ्गतेः। नहीश्वरस्य वर्णं सम्भवति, तस्य निराकारत्वात्। कथं चापो घृतं पुनन्ति। रिप्रमित्यस्य व्यक्तवाणीप्राप्तव्यभिचारेति कथमर्थः? ज्ञातुं योग्यं विश्वमापः कथं प्रवहन्ति? घृतेनापः कथं पुष्टियोग्याः? इत्यपि स्पष्टयितव्यम्। नान्त्यः, अपसिद्धान्तापातात्। नहि त्वया वेदा जीवोपदिष्टा मन्यन्ते। शतपथविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥२॥

म॒हीना॒ं पयो॑ऽसि वर्चो॒दा अ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि। वृ॒त्रस्या॑सि क॒नीन॑कश्चक्षु॒र्दा अ॑सि॒ चक्षु॑र्मे देहि॥३॥

'शालां पूर्वेण तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते कुशेषु नवनीतेन शीर्ष्णोऽध्यनुलोमꣳ सपादको महीनां पयोऽसीति' (का. श्रौ. ७.२.३२)। शालायाः पुरस्तात् कुशेषु तिष्ठन्नध्वर्युर्यजमानं गव्येन नवनीतेन शिर आरभ्य अनुलोमं सपादकं पादविशिष्टं यथा स्यात्तथाऽभ्यङ्क्ते। सपादकमिति विभक्तिव्यत्ययो द्रष्टव्य इति सूत्रार्थः। हे नवनीत! त्वं महीनां

हैं। अतः आपके द्वारा बाह्य एवं आन्तर रूप से पवित्र होकर जगत् से उत्तर (उच्च) ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त करता हूँ। आप दीक्षा एवं तपःस्वरूप हैं। अतः हे दीक्षा एवं तप की कल्याणमयी, सुखरूपिणी मूर्ति, आपके तमोविरहित तेज का पोषण करते हुए मैं उसे सर्वतोभावेन धारण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ विशृंखलित है, क्योंकि तदनुसार यहां कौन सम्बोधनकर्ता है? ईश्वर या जीव? यह ज्ञात नहीं होता। ईश्वर सम्बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि 'अहं भद्रं वर्णं पुष्यन्' इसमें निराकार होने के कारण ईश्वर के वर्ण का कथन असम्भव है। अन्यत्र भी अर्थों में अस्पष्टता है। जीव को भी इस मन्त्र में सम्बोधनकर्ता नहीं माना जासकता, क्योंकि दयानन्दीय मतानुसार वेदमन्त्र जीव द्वारा उपदिष्ट नहीं हैं। इस अर्थ में शतपथ ब्राह्मण के साथ विरोध तो स्पष्ट ही है॥२॥

मन्त्रार्थ— हे नवनीत! तुम गायों के दूध के रूप हो, तेज का सम्पादन करने में समर्थ हो, मुझे तेज दो। हे अंजन! तुम वृत्रासुर की काली पुतली के समान हो, चक्षु इन्द्रिय को शक्ति देने वाले हो, मुझे दृष्टि दो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान मस्तक पर नवनीत लगाता है और आंखों में अंजन लगाता है॥३॥

भाष्यसार— याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'महीनां पयोऽसि' मन्त्र से गौ के नवनीत से यजमान के शरीर का लिम्पन किया जाता है तथा 'वृत्रस्यासि' मन्त्र से अध्वर्यु यजमान की आंखों में अंजन करता है। यह विनियोग कात्यायन

गवां पयोऽसि। 'महीति गोनामसु पठितम्' (निघ. २.११.५)। नवनीतस्य क्षीरजन्यत्वात् पयस्त्वोपचारः। वर्चोदा असि स्निग्धत्वेन कान्तिप्रदोऽसि। अतो मे मह्यं यजमानाय वर्चो देहि कान्तिं प्रयच्छेति सायणः। पुंस्त्वमार्षम्। 'वृत्रस्येत्यक्ष्यावनक्ति त्रैककुदाञ्जनेन, अभावेऽन्यदिति' (का. श्रौ. ७.२.३३-३४)। वृत्रस्येति मन्त्रेण त्रिककुत्पर्वतीयेन सौवीराञ्जनेन यजमानस्याक्षिणी अञ्ज्यादध्वर्युः। तदभावेऽन्यदञ्जनं ग्राह्यम्। अञ्जनं देवता। हे अञ्जन! त्वं वृत्रस्यासुरस्य कनीनकोऽसि नेत्रमध्यगतकृष्णमण्डलरूपोऽसि, 'इन्द्रो वृत्रमहनत्। तस्य कनीनिका परापतत्। तदाञ्जनमभवत्' (तै. सं. ६.१.१.१७) इति श्रुतेः। त्वं कनीनिकारूपत्वाच्चक्षुर्दा असि दृष्टिप्रदोऽसि। अतो मे मह्यं चक्षुर्देहि चाक्षुषपाटवं प्रयच्छेति सायणसम्मतं व्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे— हे परमेश्वर! महीनां महनीयानां (पूज्यानां) गवामन्येषां पूज्यानां पवित्राणां पयः सारोऽसि सर्वपूज्यतमोऽसि। वर्चोदाः, वर्चस्तेजो ददातीति वर्चोदाः, वर्चो भजनध्यानादिजन्यो दीप्तिविशेषः, वर्चो मे देहि। वृत्रस्य सर्वावरकस्याच्छादकस्याज्ञानस्य कनीनकः प्रकाशकोऽसि। अज्ञानस्य तदवच्छिन्नचैतन्येनावृतेन साक्षिणैव प्रकाशनाच्चक्षुर्ज्ञानरूपं मे मह्यं देहि।

दयानन्दस्तु— 'यो महीनां पयोऽस्यस्ति, यो मे मह्यं वर्चो देहि ददाति, वृत्रस्य कनीनकोऽस्यस्ति, चक्षुर्दा अस्ति, स सूर्यो मे मह्यं चक्षुर्देहि ददाति। सर्वत्र व्यत्ययः' इति, तदप्यसङ्गतम्, अनुपपत्तेः। तथाहि तद्दृष्ट्यात्र सूर्यः प्रार्थ्यते, तच्च नोपपद्यते, पृथिव्या एकत्वादत्र महीनामिति बहुवचनमनुपपन्नम्। न च सूर्यो महीनां पयोऽस्ति। यत्तु 'जलरसनिमित्तोऽसि' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम् , तथात्वे महीनामित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, पयःपदस्य पयोनिमित्तार्थकत्वे मानाभावात्, 'वालाग्रशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः' इत्याप्तोक्तेः। सर्वस्यैव रूपवद् द्रव्यस्य प्रकाशकत्वे मेघ-प्रकाशकत्वोक्तेः प्रयोजनं वक्तव्यम्। तेन च कथं चक्षुर्दातृत्वम्। चक्षुःपदस्य चक्षुर्व्यवहारलक्षणायां बीजं वक्तव्यम् , अन्यथा लक्षणानुपपत्तेः।

सिद्धान्तानुसारिव्याख्यानं तु शतपथसम्मतम्। तथाहि — 'अथाग्रेण शालां तिष्ठन्नभ्यङ्क्ते। अरुर्वै पुरुषोऽवच्छितोऽनरुरेवैतद् भवति यदभ्यङ्क्ते गवि वै पुरुषस्य त्वग्गोर्वा एतन्नवनीतं भवति स्वयैवैनमेतत्त्वचा समर्धयति तस्माद्वा अभ्यङ्क्ते' (श. ३.१.३.७)। 'तद्वै नवनीतं भवति। घृतं वै देवानां फाण्टं मनुष्याणामथैतन्नाहैव घृतं नो फाण्टꣳ स्यादेव घृतꣳ स्यात् फाण्टमयातयामतायै तदेनमयातयाम्नैवाऽयातयामानं करोति' (श. ३.१.३.८)। दीक्षितस्य स्वधर्मकमभ्यङ्गं विधत्ते—अथाग्रेणेति। शालायाः पुरोदेशे तिष्ठन् सर्वाङ्गे नवनीताभ्यञ्जनं कुर्यादिति विशिष्टविधिः।अभ्यङ्गप्रयोजनमाह—अरुर्वा इति।अवच्छितः, अवपूर्वकात् 'छो छेदने' इति धातोर्निष्ठायां

श्रौतसूत्र (७.२.३०-३२) में निरूपित है। इसीके अनुसार सायण आदि ने व्याख्या की है।

• अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है— हे परमेश्वर! आप पूज्य गायों तथा अन्य पूज्य पवित्र पदार्थों के सारभूत हैं, सबके पूज्यतम हैं। भजन, ध्यान आदि से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट तेज के आप प्रदाता हैं। अतः मुझे वह तेज प्रदान करें। सबके आवरणकर्ता अज्ञान को आप अनावृत करते हैं, अतः ज्ञानरूपी चक्षु मुझे प्रदान करें।

स्वामी दयानन्द की अर्थदृष्टि में यहां सूर्य की प्रार्थना की गई है, वह उपपन्न नहीं होती। पृथिवी के एक होने के कारण 'महीनाम्' इस पद में बहुवचन संगत नहीं है। सूर्य 'महीनां पयः' नहीं हो सकता। 'जलरस के निमित्त हो' यह कहना भी असंगत है, क्योंकि तब 'महीनाम्' यह पद व्यर्थ हो जायगा। हमारे सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या तो शतपथ ब्राह्मण से संमत है ॥३॥

रूपम्, त्वचा निर्मुक्तः पुरुषः, अरुर्वै व्रणात्मकः खलु। तदेतेनाभ्यङ्गेन परिहरति—समर्धयतीति। एतदेव स्पष्टमुच्यते। तत्र परिधानार्थवादे पुरुषत्वचो गवि धारणमुक्तम्। गोश्च नवनीतोत्पत्तिः प्रसिद्धैव। अतो गोसम्बन्धिनवनीतधारणेन स्वकीयत्वचैव समृद्धो भवति। अत एव स्वत्वचः पुनः प्राप्तेरव्रणत्वेनानरुत्वसम्पादनायाभ्यङ्गाय नवनीतद्रव्यमुपयुज्यते। नवनीताभ्यङ्गं प्रशंसति—घृतं वै देवानामिति। नवनीतभावात् प्रागवस्थापन्नं द्रव्यं फाण्टम्, तन्मनुष्याणाम्।यस्मान्नवनीतं फाण्टघृतयोरन्तरालवर्तित्वात् तदन्यदन्यच्च भवति, तस्मान्मनुष्यदेवताभ्यामन्यस्यान्यस्य दीक्षितस्य तद्युक्तम्। अत एव पूर्वोत्तरभावात् प्रच्यवाप्रच्यवादयातयामता। तेनाभ्यञ्जनेनाध्वर्युर्दीक्षितमप्ययातयामानं करोति।

'तमभ्यनक्ति। शीर्षतोऽग्र आपादाभ्यामनुलोमं महीनां पयोऽसीति मह्य इति हं वा एतासामेकं नाम यद्गवां तासां वा एतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोऽसीति वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति' (श. ३.१.३.९)। अभ्यङ्गस्योपक्रमोपसंहारौ विधत्ते—तमभ्यनक्तीति। अधोमुखावस्थानादवरोहाभ्यङ्गे आनुलोम्यं स्यात्। शीर्षतोऽग्र आपादाभ्यामानुलोम्यमिति मन्त्रमाह—महीनां पयोऽसि। मन्त्रस्य पूर्वभागं व्याचष्टे—मह्य इति। 'इडेरन्ते' इत्युपक्रम्य 'महि विश्रुति' इत्यन्तानि 'अघ्निये ते नामानीति' (तै. सं. ७.१.६.१८) तैत्तिरीयश्रुतौ गवां महीति नाम। अन्यत् स्पष्टम्। 'अथाक्ष्यावानक्ति। अरुर्वै पुरुषस्याक्षि प्रशान् ममेति ह स्माह याज्ञवल्क्यो दुरक्ष इव हास पूयो हैवास्य दूषीका ते एवैतदनरुष्करोति यदक्ष्यावानक्ति' (श. ३.१.३.१०)। अक्ष्णोरञ्जनं विधत्ते—अथेत्यादि। इतरावयवसंस्पर्शासहिष्णुत्वादक्षि अरुः व्रणो भवति। स मम व्रणः प्रशान् प्रशाम्येत इत्यञ्जनं कर्तव्यमिति याज्ञवल्क्य आह। दुरक्षं नेत्रमालिन्यमेवारुरिति तत्परिहारायाञ्जनम्। दूषिका नेत्रयोर्मलम्। सा ह्यस्य पुरुषस्य भूय एवेत्यक्ष्णो दुरक्षत्वमेव। तदनेन नाशयति। 'यत्र वै देवाः। असुररक्षसानि जघ्नुस्तच्छुष्णो दानवः प्रत्यङ् पतित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश स एष कनीनकः कुमारक इव परिभासते तस्मा एवैतद्यज्ञमुपप्रयन्त्सर्वतोऽश्मपुरां परिदधात्यश्मा ह्याञ्जनम्' (श. ३.१.३.११)। अञ्जनं प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यत्र वा इति। यत्र वा इत्यसुरवधसमये शुष्णः प्रत्यङ्त्वा तद्भयात् पुरुषाणामक्षिमध्यं प्रविश्य कनीनिकारूपेण कुमारकः सन् वर्तते। तस्मै तस्य यज्ञं उपगच्छन् सर्वतः अश्मपुरोरक्षार्थं कृतवान् भवति। कोऽयमश्मेत्यश्मशब्दार्थमाह — अश्मा ह्याञ्जनम्। 'त्रैककुदं भवति। यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्तं गिरिं त्रिककुदमकरोत्तद्यत्त्रैककुदं भवति .... यदि त्रैककुदं न विन्देदप्यत्रैककककुदमेव स्यात् समानी ह्येवाञ्जनस्य बन्धुता' (श.३.१.३.१२)। अञ्जनं विशिनष्टि। त्रिककुत् पर्वतः, तत्सम्बन्धि त्रैककुदम्। शिष्टं स्पष्टम्। यदि त्रैककुदं न विन्देत्तत्राऽत्रैककककुदमपि ग्राह्यम्। अञ्जनस्य बन्धुता बन्धु ब्राह्मणं तद्भावो बन्धुता सा समानी 'अरुर्वै पुरुषस्याक्षि' इत्यादिकं ब्राह्मणं त्रैककुदाऽत्रैकककुदयोः समानमित्यर्थः। 'शरेषीकयाऽनक्ति। वज्रो वै शरो विरक्षस्तायै सतूला भवत्यमूलं वा इदमुभयतः .... परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति' (श. ३.१.३.१३) इत्यादिभिः शरस्य तृणविशेषस्य शलाका इषीका विरक्षस्तायै सतूला कर्तव्या। राक्षसजातिरमूलं सदन्तरिक्षमनुचरति, उभयतः परिधिभ्यः परिच्छिन्नोऽमूलः सन् पुरुषोऽप्यन्तरिक्षमनुचरति। तस्मात् पुरुषसमानदेशवति रक्षोनिर्हरणाय शरेषीका सतूला कर्तव्या। 'स दक्षिणमेवाग्र आनक्ति। सव्यं वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्राः' (श. ३.१.३.१४)। 'स आनक्ति। वृत्रस्यासि कनीनक इति वृत्रस्य ह्येष कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षु र्मे देहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति' (श. ३.१.३.१५)। स दक्षिणꣳ सकृद्यजुषाऽनक्ति। सकृत्तूष्णीमथोत्तरꣳ सकृद्यजुषाऽनक्ति द्विस्तूष्णीं तदुत्तरमेवैतदुत्तरावत् करोति' (श. ३.१.३.१६)। कनीनकोऽक्षिमध्यकाष्र्ण्यम्, 'इन्द्रो वृत्रमहन् तस्य कनीनका परापतत् तदाञ्जनमभवत्' (तै. सं. ६.१.१.५)। यजुषा उक्तमन्त्रेण। एवं श्रुत्या विनियोगस्तात्पर्यं चोच्यते ॥३॥

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्॥४॥

'कुशपवित्रैश्चित्पतिर्मेति पावयति सप्तभिः सप्तभिः प्रतिमन्त्रमच्छिद्रेणेति सर्वत्रेति' (का. श्रौ. ७.३.१)। प्रतिमन्त्रं कुशा एव पवित्राणि, तैः सप्तभिः सप्तभिः कुशैरध्वर्युर्यजमानं शोधयेत। तत्र सर्वेषु मन्त्रेष्वच्छिद्रेणेत्यनुषञ्जनीयम्। प्रतिमन्त्रं पृथक् सप्तभिः कुशैः शोधने क्रियमाणे मिलित्वा कुशपवित्राण्येकविंशतिर्भवन्ति, 'एकविंशत्या पावयति दशहस्त्या अङ्गुलयो दशपद्या आत्मैकविंशो यावानेव पुरुषस्तमपरिवर्गं पावयति' (तै. सं. ६.१.१.२०) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। नाभेरुपरि प्रदक्षिणं द्विरुन्मार्जनम् , नाभेरधः सकृत्। 'चित्पतिर्मा पुनात्विति प्रजापतिर्वै चित्पतिः' (श. ३.१.३.२२)। यद्वा चितां ज्ञानानां पतिर्मनोऽभिमानी देवो मा मां यजमानं पुनातु शोधयतु, 'मनो वै चित्पतिः' (तै. सं. ६.१.१.९) इति तैत्तिरीयकश्रुतेः। अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः किरणैः, वायुरच्छिद्रं पवित्रं शुद्धिहेतुत्वात्। यद्वा आदित्यमण्डलमच्छिद्रम्, 'असौ वा आदित्योऽच्छिद्रं पवित्रम्' (तै. ब्रा. ३.२.५.२) इति श्रुतेः। हे पवित्रपते, पवित्रान् शुद्धान् पातीति पवित्रयतीति पवित्रपतिस्तत्सम्बुद्धौ हे पवित्रपते शुद्धपालक, ते पवित्रपूतस्य तव पवित्रेण पूर्वोक्तेन शुद्धस्य यजमानस्याभीष्टं भूयादित्यर्थः। तदेव स्पष्टयति—यत्काम इति। यत्कामो यस्मिन् कामो यस्य स यत्कामोऽहं पुने आत्मानं शोधयामि तच्छकेयम्। यद्वा यः कामो यस्य स सोमयागानुष्ठाने कामवानहं तत्सोमयागानुष्ठाने शक्तः स्याम्। सोमयागानुष्ठानसमर्थोऽहं भूयासम्। वाक्पतिर्वाचां पतिर्बृहस्पतिर्देवो मा मां पुनातु। 'सविता विश्वप्रसविता देवोऽन्तर्यामी मा मां पुनातु' इति काण्वसंहिताव्याख्याने सायणभाष्यम्। यद्वा तस्य मम पवित्रपूतस्य सतस्ते तव प्रसवे वर्तमानस्य हे पवित्रपते देव सवितः, एतद्भवतु यत्कामोऽहमात्मानं पावयामि तच्छकेयं शक्नुयाम् , 'यज्ञस्योदृचं गच्छानि' (श. ३.१.३.२३) इति श्रुतेरित्युव्वटाचार्यः। शतपथेऽपि—अथैनं दर्भपवित्रेण पावयति। अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वै दर्भा मेध्यो भूत्वा दीक्षा इति पवित्रं वै दर्भाः पवित्रपूतो दीक्षा इति तस्मादेनं दर्भपवित्रेण पावयति' (श. ३.१.३.१८)। तत्र—'तद्वा एकꣳ स्यादिति। एको ह्येवायं पवते तदेतस्यैव रूपेण तस्मादेकꣳ स्यात्' (श. ३.१.३.१९) इति कुशैकत्वपक्षम् , 'अथो अपि त्रीणि स्युः। एको ह्येवायं पवते सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टस्त्रेधा विहितः प्राण उदानो व्यान इति तदेतस्यैवानुमात्रां तस्मात् त्रीणि स्युः' (श. ३.१.३.२०) इति त्रित्वपक्षमुपक्षिप्य, 'अथो अपि सप्त स्युः। सप्त वा इमे शीर्षन् प्राणास्तस्मात् सप्त स्युस्त्रिः सप्तान्येव स्युरेकविꣳशतिरेषैव सम्पत्' (श. ३.१.३.२१) इति शीर्षन् शिरसि भवा मुखादिच्छिद्रगताः सप्त स्युः। सप्तसंख्यायास्त्रिरावृत्तौ एकविंशतिः स्युः। एषैव पुरुषरूपा सम्पत्, 'दशहस्त्या अङ्गुलयो दश पद्या आत्मैकविंशः' (तै. सं. ६.१.१.८) इति श्रुत्यन्तरात्।

मन्त्रार्थ— ज्ञानाधीश ब्रह्मा वायुरूप पवित्र से, सूर्य की किरणों से मुझे पवित्र करें। वाणी की अधिष्ठात्री देवता मुझे पवित्र करें। सर्वान्तर्यामी देव मुझे पवित्र करें। हे पवित्र आत्मा के रक्षक! उस पवित्रपूत आपके पवित्र से मैं पवित्र हुआ हूँ। जिस कामना से मैं पवित्र हुआ हूँ, उसको करने में मैं समर्थ होऊँ॥ इस मन्त्र को सात बार पढ़कर कुशा से यजमान अपने सिर पर मार्जन करता है॥४॥

भाष्यसार— 'चित्पतिर्मा' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा सात सात कुशात्मक पवित्रों से (कुशाओं से) अध्वर्यु यजमान को पवित्र करता है, यह याज्ञिक विनियोग का. श्रौ. (७. ३. १) में है। शतपथ आदि ब्राह्मणों में इस कण्डिका का याज्ञिक विनियोगानुसारी विवरण उल्लिखित है।

'तऽं सप्तभिः सप्तभिः पावयति । चित्पतिर्मा पुनात्विति प्रजापतिर्वै चित्पतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतदाह वाक्पतिर्मा पुनात्विति प्रजापतिर्वै वाक्पतिः प्रजापतिर्मा पुनात्वित्येवैतदाह देवो मा सविता पुनात्विति तद्वै सुपूतं यं देवः सविता पुनात्तस्मादाह देवो मा सविता पुनात्वित्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वा अयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते वै पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति' (श. ३.१. ३.२२) । एकविंशतिपक्षे एकविंशतिं दर्भान् त्रेधा विभज्य सप्तभिः सप्तभिः 'चित्पतिर्मा वाक्पतिर्मा देवो मा' इति त्रिषु मन्त्रेष्वेकैकेन मन्त्रेणाध्वर्युर्यजमानं पावयते । अच्छिद्रेण पवित्रेणेति मन्त्रशेषः सर्वत्रानुषञ्जनीयः । तत्राप्येवं विभागः — सप्तभिः प्रथममन्त्रेण नाभित आरभ्योर्ध्वमुन्मृज्यात्, पुनश्च सप्तभिर्द्वितीयमन्त्रेणाप्येवम्, अवशिष्टैः सप्तभिः कुशैस्तृतीयमन्त्रेण नाभेरध आरभ्यावमृज्यात् । तत्सर्वं कात्यायनवचनेन मन्त्रव्याख्यानप्रसङ्ग उक्तमेव । तत्र चित्पतिवाक्पतिशब्दयोः प्रजापतिरेवार्थः । चित्पतिपदेन मनोऽभिमानी देवोऽर्थ इत्यप्युक्तमेव । देवः सवितेति प्रसिद्ध एव । सर्वशेषभूतस्याच्छिद्रेणेत्यस्यार्थमाह श्रुतिः—'यो वा अयं पवते एषोऽच्छिद्रं पवित्रम्' इति । सर्वदा सर्वत्र पवनादेष वायुरच्छिद्रं पवित्रम् । सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते वै पवितारो यत्सूर्यरश्मयस्तस्मादाह—सूर्यस्य रश्मिभिरिति । 'तस्य ते पवित्रपत इति । पवित्रपतिर्हि भवति पवित्रपूतस्येति पवित्रपूतो हि भवति यत्कामः पुने तच्छकेयमिति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह' (श. ३.१.३.२३) । मन्त्रशेषं व्याचष्टे— तस्य त इति । 'पवित्राणि रश्मयः शोधकत्वात्' (निरु.. ५.२), 'अग्निः पवित्रपतिः' (निरु. ५.२) । तत्पाठात् स्वरूपमपि पवित्रपतिर्भवति । उदृचम् उपरि भाविनी ऋग् उदृक् , अनेन च समाप्तिर्लक्ष्यते । तेन यज्ञस्यान्तं प्राप्नवानीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे— हे परमात्मन् , चित्पतिः चितां ज्ञानानां पतिः परमात्मा मां पुनातु, वाक्पतिः वाचां परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीणां पतिः स्वामी प्रजापतिर्मा मां पुनातु । देवो द्योतमानः सविता विश्वप्रसविता अच्छिद्रेण निर्विघ्नेन पवित्रेण पावनेन ज्ञानेन मां पुनातु । सूर्यस्य ज्ञानसूर्यस्य सच्चिदानन्दसूर्यस्य वा रश्मिभिरात्मानात्मविज्ञानैर्मननरूपैर्वा मां पुनातु । हे पवित्रपते पावनानां पावन, पवित्रपूतस्य पवित्रेण नाम्ना स्वरूपेण वा पूतस्य नित्यशुद्धस्य तव कृपया यत्कामोऽहं यस्मिन् ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे ब्रह्मप्राप्तौ वा कामो यस्य सोऽहं यत्कामः पवित्रो भवामि, तत्सम्पादयितुमहं समर्थः स्याम् ।

दयानन्दस्तु— 'हे पवित्रपते परात्मन् , चित्पतिर्वाक्पतिः सविता देवो भवान् पवित्रेणाच्छिद्रेण विज्ञानेन सूर्यस्य रश्मिभिश्च मा मां मम चित्तं च पुनातु । मा मां मम वाचं च पुनातु । मा मां मम चक्षुश्च पुनातु । यस्य पवित्रपूतस्य कृपया यत्कामोऽहं पुने पवित्रो भवामि, यस्य ते तवोपासनया तत्पवित्रं कर्म कर्तुं शकेयं शक्नुयाम्, तस्य सेवां कर्तुं योग्यता मे कथं न भवेत्' इति, तदेतत्सर्वं शतपथविरुद्धमेव, तत्रास्य मन्त्रस्याध्वर्युकर्तृकैकविंशतिकुशकरणकयजमानकर्मकपावने स्फुटमुपवर्णनात् ॥४ ॥

आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है— हे परमात्मन् ! ज्ञानों का पालक परमात्मा मुझे पवित्र करे । परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन वाणियों का स्वामी मुझे पवित्र करे । द्योतमान तथा विश्व का संचालक, विघ्नरहित पावन ज्ञान से मुझे पवित्र करे । ज्ञानसूर्य अथवा सच्चिदानन्द सूर्य की मननरूपी रश्मियों से मुझे पवित्र करे । हे पावनों के पावन, नाम अथवा स्वरूप के द्वारा नित्य शुद्ध आपकी कृपा से जिस ब्रह्मात्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मप्राप्ति में मेरी कामना है, ऐसा कामनावान् मैं पवित्र होऊँ तथा उसे पूर्ण करने में समर्थ होऊँ ।

स्वामी दयानन्द ने— 'हे परात्मन् सविता देव, आप पवित्र विज्ञान एवं सूर्यरश्मियों से मेरे चित्त, वाणी और चक्षु को पवित्र करें' इत्यादि अर्थ किया है, वह सब शतपथ ब्राह्मण के विरुद्ध है । शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र का वर्णन अध्वर्युकर्तृक कुशकरणक यजमानकर्मक पवित्रीकरण के लिये स्पष्टतया किया गया है ॥४ ॥

आ वो॑ देवास ईमहे वा॒मं प्र॑य॒त्य॑ध्व॒रे।
आ वो॑ देवास आ॒शिषो॑ य॒ज्ञिया॑सो हवामहे ॥५॥

'आ वो देवास इति वाचयति' (का. श्रौ. ७.३.४)। अध्वर्युर्यजमानं वाचयति। दैवी अनुष्टुप्। हे देवासो देवाः, अध्वरे अस्मदीये यज्ञे प्रयति प्रैतीति प्रयन् तस्मिन् प्रवर्तमाने वामं वननीयं सम्भजनीयमनुष्ठानं प्राप्नुवति सति तदीयं सम्भावितं फलं वो युष्मान् आ ईमहे आ समन्तात् साकल्येन ईमहे याचामहे। 'वन षण सम्भक्तौ'। किञ्च, हे देवासो देवाः, यज्ञियास आशिषो यज्ञसम्बन्धीनि फलान्यासमन्तान्नेतुं वो युष्मान् हवामहे आह्वयामः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे देवास इन्द्रियाद्यधिष्ठातारो देवाः, वो युष्मान् वामं शोभनं भगवत्प्राप्तिलक्षणं संभजनीयं फलम् आ साकल्येन ईमहे याचामहे, युष्माकं भगवत्परायणतायां सत्यामेव तत्फललाभसम्भवात्। युष्मदधीनमेव तत्फलम्, 'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥' (भ. गी. १०.९), 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥' (भ. गी. १०.११) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनाभ्याम्। अध्वरे ज्ञानयज्ञे प्रयति वर्तमाने हे देवासो वो युष्मान् यज्ञियासो ज्ञानयज्ञसम्बन्धिन्य आशिषः सम्यग् आनेतुं युष्माकमानुकूल्याय युष्मानाह्वामहे।

दयानन्दस्तु—'हे देवासः, यथा वयं वो युष्मान् प्रयत्यध्वरे वो युष्माकं वा भूमे समन्ताद्याचामहे' इति, 'यत्तु प्रकृष्टं सुखमेति येन तस्मिन् प्रयति सुखयुक्ते अध्वरे' इति च, तन्मन्दम् , क्रियारूपस्य यज्ञस्य क्लेशात्मकत्वेन सुखयोगायोगात्। अन्यथा सुखप्रदे भोजनादाविव तस्मिन्नपि सर्वरागास्पदत्वापत्तेः। 'हे यज्ञियासो देवासः, यथास्मिन् संसारे वो युष्माकं सकाशाद् यज्ञियास आशिष आहवामहेऽभितः स्वीकुर्वीमहि, तथैवास्मदर्थं भवद्भिः सततमनुष्ठेयम्' इति, तदप्यसङ्गतम् , स्वसिद्धान्तव्याकोपात्। तथाहि—तन्मतरीत्या देवा मनुष्या एव। ते च वामं प्रशस्तं गुणसमूहमपि दातुं न शक्नुवन्ति, विद्वद्भ्योऽध्ययनादिभिरेव गुणप्राप्तिसम्भवात्। सिद्धान्ते त्वैश्वर्यवन्तो देवा वामं सम्भजनीयं फलं दातुं शक्नुवन्त्येव। किञ्च, त्वद्रीत्या वाय्वादिशुद्धयेऽग्नौ घृतादिनिक्षेप एव कर्तव्यः। तत्र न गुणसमूहोऽपेक्षितः।

मन्त्रार्थ— हे देवताओं, इस यज्ञ में प्रवृत्त होकर हम आपसे माँगने योग्य कर्मफल की कामना करते हैं। हे देवताओं, यज्ञ संबन्धी फल रूप आशीर्वादों को प्राप्त करने के लिये हम आपका आह्वान करते हैं॥ अध्वर्यु यजमान द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करवाता है ॥५॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (७.३.४) के विनियोगानुसार अध्वर्यु यजमान को 'आ वो देवासः' इस ऋचा का वाचन कराता है।

• आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ है— हे इन्द्रियादि के अधिष्ठाता देवगण, आप लोगों से हम सुन्दर भगवत्प्राप्तिरूपी वाञ्छित फल की पूर्ण रूप से याचना करते हैं। भगवद्गीता (१०.९,११) के वचनानुसार जीव के भगवत्परायण होने पर ही उसकी फलप्राप्ति सम्भव है तथा आप लोगों के अधीन ही वह फल है। इस प्रवर्तमान ज्ञानयज्ञ में हे देवगण, आप लोगों को ज्ञानयज्ञसम्बन्धी आशीः सम्यक् प्राप्त करने हेतु आपकी अनुकूलता के लिये आहूत करते हैं।

स्वामी दयानन्द ने 'प्रयति' का अर्थ 'सुखयुक्त अध्वर में' किया है, यह अनुचित है। क्रियारूपी यज्ञ के क्लेशात्मक होने के कारण सुखयोग अयुक्त है। अन्यथा भोजनादि की भांति यज्ञ में भी रागास्पदता हो जायगी। स्वामी दयानन्द के मत में देवता

यज्ञसम्पादिन्य आशिष इच्छाश्च स्वेनैव पूरयितुं शक्याः, किमर्थं विद्वांसोऽभ्यर्थनीयाः। शतपथे तु सिद्धान्तसम्मत एवार्थः प्रतिपादितः—'अथाशिषामारम्भं वाचयति। आ वो देवास .... हवामह इति तदस्मै स्वाः सतीर् ऋत्विज आशिष आशासते' (श. ३.१.३.२४)। आ वो देवास इति मन्त्रस्य आशिषामारम्भ इति नाम, भाव्याशिषामारम्भरूपत्वात्। मन्त्रपाठस्य प्रयोजनमाह—तदस्मा इति। तत् तेन सर्वासामाशिषामादावेव यजमानेन परिगृहीतत्वात्, स्वाः स्वकीया एव सतीस्ता आशिष ऋत्विजस्तत्तन्मन्त्रेषु यजमानार्थमाशासते ॥५॥

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात् स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳪं स्वाहा वातादारभे स्वाहा ॥६॥

'स्वाहा यज्ञमित्यङ्गुली अचते नानाहस्तयोरेवᳪं शेषं प्रतिमन्त्रमुत्तमेन मुष्टी कृत्वा स्वाहेत्युक्त्वा वाग्यतोऽङ्गुष्ठौ तत्सहिते चोत्सृजति' (का. श्रौ. ७.३.५-८)। द्वयोर्हस्तयोर्युगपदेकैकां कनिष्ठिके अङ्गुली सङ्कोचयति यजमानः। एवमेव वाव यद्वा नाना पृथग् हस्तयोरङ्गुली सङ्कोचयति नैकस्यैव हस्तस्य द्वे, किन्त्वेकैकस्यैकैकाम्, अन्ते मुष्टीकरोति। वचनात् प्रथमं द्वे कनिष्ठिके। हस्तद्वयस्यानामिके मध्यमे क्रमेण सङ्कोचयेदित्यर्थः। उत्तमेन स्वाहा वातादारभ इति मन्त्रेण तर्जनीमङ्गुष्ठं च संकोच्य मुष्टीकृत्वा स्वाहा इति मन्त्रमुच्चार्य यजमानो वाग्यतो भवेत्।

अत्र सायणाचार्यः—द्यावापृथिवीभ्यामेतत्पदं यथा मन्त्रद्वयं भवति तथा विच्छेदनीयम्। ततश्चत्वारो मन्त्राः सम्पद्यन्ते। तदेतत्सर्वमापस्तम्बो विस्पष्टयति—'स्वाहा यज्ञं मनसेति द्वे स्वाहा पृथिव्या इति द्वे स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति द्वे स्वाहा यज्ञं वातादारभ इति मुष्टीकरोति'। मनःशब्दस्तैत्तिरीयके तृतीयान्तः, अत्र तु पञ्चम्यन्त इति। चतुर्णां यजुषां यज्ञो देवता। स्वाहाशब्दस्य निपातत्वेनानेकार्थत्वादुचिता अर्था ब्राह्मणानुसारेण ग्राह्याः। स्वाहा यज्ञं मनसः। मनस इति पञ्चमी तृतीयार्थे। मनसा यज्ञं स्वाहा चित्तेन यज्ञमभिगच्छामि। अत्र स्वाहाशब्दोऽभिगमनार्थः। स्वाहोरोरन्तरिक्षात्। अत्र पञ्चमी सप्तम्यर्थे। उरौ विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे स्वाहा यज्ञ आश्रितः। स्वाहाशब्दो यज्ञार्थोऽतः प्रभृति। स्वाहा द्यावा-पृथिवीभ्यां द्यावापृथिव्योः स्वाहा यज्ञः श्रितः। लोकत्रयव्यापी यज्ञ इत्यर्थः। स्वाहा वातादारभे वाताद्वायुप्रसादात् स्वाहा यज्ञमारभे प्रवर्तयामि, वायोः सर्वकर्मप्रवर्तकत्वात् स्वाहा यज्ञः, एवं सिद्ध इति शेषः। तित्तिरिश्रुतौ सर्वमेतत् स्पष्टम्—'स्वाहा यज्ञं मनसेत्याह। मनसा हि पुरुषो यज्ञमभिगच्छति। स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामित्याह द्यावापृथिव्योर्हि यज्ञः,

---

मनुष्य ही हैं। अतः वे प्रशस्त गुणसमूह प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं। हमारे सिद्धान्त पक्ष में तो ऐश्वर्यसम्पन्न देवगण फलप्रदान में समर्थ माने गये हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी सिद्धान्त पक्ष से संमत अर्थ प्रतिपादित है ॥५॥

मन्त्रार्थ— मैं चित्त से यज्ञ को आरम्भ करता हूँ, यह सुसिद्ध हो। विस्तीर्ण अन्तरिक्ष से, द्युलोक और भूलोक से मैं यज्ञ लाभ करता हूँ। प्रवहमान वायु से मैं यज्ञ लाभ करता हूँ। यह अनुष्ठान सुसिद्ध हो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान मुट्ठी बांधकर स्वाहा कहता है और मौन होकर फिर मुट्ठी खोलता है ॥६॥

भाष्यसार— 'स्वाहा यज्ञम्' इत्यादि मन्त्रों से यज्ञकर्ता यजमान क्रमशः कनिष्ठिका आदि अंगुलियों को संकुचित करे (सिकोड़ कर मोड़ ले)। सबके अन्त में अंगूठे को मोड़ कर मुट्ठी बांध ले तथा मौन व्रत धारण करे। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.३.५-८) आदि में प्रतिपादित इस यज्ञप्रक्रिया के अनुसार सायणाचार्य ने इस कण्डिका के मन्त्रों का पदच्छेद करते हुए अर्थ किया है। सायणाचार्य की व्याख्या माध्यन्दिनीय, काण्व, तैत्तिरीय आदि श्रुतियों तथा कात्यायनादि सूत्रों से संमत है।

स्वाहोरोरन्तरिक्षादित्याहान्तरिक्षे हि यज्ञः, स्वाहा यज्ञं वातादारभ इत्याहायं वाव यः पवते स यज्ञस्तमेव्न साक्षादारभते मुष्टीकरोति वाचं यच्छति यज्ञस्य धृत्या' (तै. सं. ६.१.४.४-५) इति। वातस्य क्रियारूपत्वाद् यज्ञरूपत्वम्।

उव्वटाचार्यरीत्या तु यज्ञं मनसः सकाशादहमारभ इत्यनुषङ्गः। उरोर्विस्तीर्णादन्तरिक्षादहमारभे यज्ञम्, द्यावापृथिवीभ्यामहमारभे यज्ञम्, वातादहमारभे यज्ञम्। पञ्च स्वाहाकारा येषु यज्ञेषु तत्रार्थवादः—'यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञमेवैतदात्मन् धत्ते' (श. ३.१.३.२७) इति स्वाहाकारेण हविः प्रदीयत इति स्वाहाकारो यज्ञः।

शतपथे सर्वमेतत्। 'अथाङ्गुलीर्न्यचति स्वाहा यज्ञं मनस इति द्वे स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति द्वे स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति द्वे स्वाहा वातादारभ इति मुष्टीकरोति। न वै यज्ञः प्रत्यक्षमिवारभे यथायं दण्डो वा वासो वा परोक्षं वै देवाः परोक्षं यज्ञः' (श. ३.१.३.२५)। न्यचति सङ्कोचयति, एकैकेन मन्त्रेण हस्तद्वयेऽपि कनिष्ठिकादिक्रमेण द्वे द्वे अङ्गुली न्यचतीत्यर्थः। एवं करद्वयाङ्गुलिन्यञ्चनक्रमेणोत्तमेन मन्त्रेण पाणी मुष्टीकुर्यात्। तत्प्रयोजनमाह—यज्ञस्य वासो दण्डादिवद् धारयितुमशक्यत्वात् परोक्षभावेन मन्त्रेणोच्यते मुष्टीकरोतीति। मुष्टिबन्धनमेव यज्ञधारणमित्यर्थः। 'स यदाह। स्वाहा यज्ञं मनस इति तन्मनस आरभते स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति तदन्तरिक्षादारभते स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामारभते ययोरिदꣳ सर्वमधि स्वाहा वातादारभ इति वातो वै यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्षमारभते' (श. ३.१.३.२६)। मन्त्रस्य क्रमेण व्याख्यानं स्पष्टम्। वातेन प्राणेन व्याप्रियमाणत्वाद् वातो यज्ञः। वैशब्देन वातो यज्ञः प्रयुज्यतामिति मन्त्रप्रसिद्धिर्द्योत्यते। 'अथ यत् स्वाहा स्वाहेति करोति। यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञमेवैतदात्मन् धत्तेऽत्रो एव वाचं यच्छति वाग्वै यज्ञो यज्ञमेवैतदात्मन् धत्ते' (श. ३.१.३.२७)। हविस्त्यागस्य यज्ञत्वात् स्वाहाकारेण हविःप्रदानात् स्वाहाकारस्य यज्ञात्मकता। अनन्तरं वाग्यमनं विधत्ते—वाचं यच्छतीति। वाग्व्यवहारमन्त्रेण यज्ञनिष्पत्तेर्वाग्यज्ञः। तस्या बहिर्निगमनमकृत्वा आत्मनि निगमनाद् यज्ञमेवात्मन् धत्ते धृतवान् भवति। एतेन सायणादिव्याख्यानमेव माध्यन्दिन-काण्व-तैत्तिरीयकादिश्रुतिकात्यायनादिसूत्रसम्मतमिति स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे तु—हे परमेश्वर, भवत्प्रसादार्थमहं मनसः सकाशाद्यज्ञमारभे ब्रह्मयज्ञं ज्ञानोपासनादिलक्षणं यज्ञमारभे। उरो विस्तीर्णादन्तरिक्षादहं यज्ञं भवदुपासनमारभे। अन्तरिक्षस्येव सूक्ष्मत्वं व्यापकत्वमसङ्गतत्वं च भावत्कं भावयामि। द्यावापृथिवीभ्यामप्यहं यज्ञमारभे द्यावापृथिव्योरिव सर्वधारकत्वं भावयामि। वातात् प्राणादहमारभे यज्ञं वायोरपि कोटिकोटिगुणितत्वेन त्वदीयसर्वकर्मप्रवर्तकत्वं भावयामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'स्वाहा प्रत्यक्षलक्षणया वेदस्थया वाचा यज्ञं क्रियाजन्यं मनसो विज्ञानात् स्वाहा सुशिक्षितया वाचा, उरोः बहुनः, लिङ्गव्यत्ययेन पुंस्त्वम्। अन्तरिक्षाद् द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानादाकाशात् स्वाहा विद्याप्रकाशिकया वाण्या द्यावापृथिवीभ्यां प्रकाशभूम्योः शुद्धये स्वाहा सत्यप्रियत्वादिगुणविशिष्टया वाताद्वायोरा समन्ताद् रभे कुर्वे।

• अध्यात्मपक्ष के अनुसार यह अर्थ है— हे परमेश्वर, आपकी कृपा के लिये मैं मन से ज्ञानोपासनादिरूप ब्रह्मयज्ञ प्रारम्भ करता हूँ। अन्तरिक्ष की भांति आपके सूक्ष्मत्व, व्यापकत्व एवं निःसंगत्व का अवधारण करते हुए तथा द्यावापृथिवी की भांति आपके सर्वधारकत्व का अनुभव करते हुए मैं इनसे यज्ञ प्रारम्भ करता हूँ। वायु से भी करोड़ों गुना अधिक आपके सर्वकर्मप्रवर्तकत्व का अनुभव करते हुए यज्ञारम्भ करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ समुचित नहीं है, क्योंकि उस मत में यह ईश्वरकर्तृक उपदेश है अथवा जीवकर्तृक है? ईश्वरकर्तृक नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्णकाम होने के कारण परमेश्वर द्वारा पुरुषार्थ के लिये यज्ञारम्भ असंगत है। जीवकर्तृक

स्वाहा सुष्ठु जुहोति गृह्णाति ददाति यया क्रियया, तया हे मनुष्याः, यथाहं स्वाहा वेदोक्तया स्वाहा सुशिक्षितया स्वाहा विद्याप्रकाशिकया स्वाहा सत्यप्रियत्वादिगुणयुक्तया वाचा स्वाहा सुष्ठुक्रियया चोरोर्मनसोऽन्तरिक्षाद् वाताद् द्यावापृथिवीभ्यां यज्ञमारभे नित्यं कुर्वे, तथा भवन्तोऽप्यारभन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विकल्पासहत्वात्। अयमीश्वरकर्तृक उपदेशो जीवकर्तृको वा? नाद्यः, परमेश्वरस्य पूर्णकामत्वेन पुरुषार्थाय यज्ञारम्भानुपपत्तेः। नान्त्यः, तथात्वे वेदस्य पौरुषेयत्वापत्तेः, तादृशस्यादर्शभूतस्य जीवस्याप्रामाणिकत्वात्। स्वाहाशब्दस्य बह्वर्थबोधकत्वेऽपि प्रकृते तत्तदर्थकत्वे हेतुर्वक्तव्यः। काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यस्तु—'तत्र तत्रोचिता अर्था ब्राह्मणानुसारेणोपलक्षणीयाः' इत्याह। ब्राह्मणानि तु सिद्धान्तव्याख्यानपोषकत्वेनोपस्थापितान्येव ॥६॥

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥७॥

'औदग्रभणानि जुहोति स्थाल्याः स्रुवेणाकूत्या इति प्रतिमन्त्रमिति' (का. श्रौ. ७.३.१३)। स्थाल्याः सकाशादाज्यं स्रुवेण जुहुयादध्वर्युः। एषां मन्त्राणामौदग्रभणानीति वैदिकी संज्ञा संव्यवहारार्था। मन्त्रार्थस्त्वेवम्—आकूत्यै, यज्ञं करिष्यामीत्येवंविधो मानससङ्कल्प आकूतिः, तस्यै आकूत्यै तत्सम्पूर्त्यर्थं प्रयुजे निर्विघ्नेन प्रेरयते अग्नये देवाय स्वाहा इदं हुतमस्तु। मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा। यद्वा आकुवनमाकूतिः प्रयत्न आत्मनो धर्मस्तस्मै। मेधायै धारणशक्तिर्मेधा तत्सिद्ध्यर्थं मनसे मनोऽभिमानिने अग्नये हुतमस्तु। दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा। व्रतनियमो दीक्षा, तत्सिद्ध्यर्थं मदीयशरीरतपोभिमानिनेऽग्नये इदं हुतमस्तु। सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। मन्त्रोच्चारणशक्तिः सरस्वती, तत्सिद्ध्यर्थं वागिन्द्रियाय तत्पोषकाय वह्नये हुतमस्तु। यद्वा आकूताद्या अपि देवता एव। आकूतये प्रयुजेऽग्नये स्वाहा, मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा, दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहेति जपार्था मन्त्राः। तपःशब्दोऽत्रोपसदिष्टिपरः। सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति। तदन्ये होमार्था मन्त्राः। आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्ष बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहेति। हे आपः! यूयं ये द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ यच्चोरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं तेषामबादिसर्वदेवानामनुग्रहादिति

उपदेश मानने पर वेद की पौरुषेयता की आशंका होती है। अत एव सायणाचार्य ने काण्वसंहिता के भाष्य में 'ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अर्थालोचन करना चाहिये' यह कहा है। हमारे सिद्धान्तपक्षीय व्याख्यान में ब्राह्मणवाक्य पोषक हैं ॥६॥

मन्त्रार्थ— यज्ञ करने की मन की प्रबल इच्छा को पूरी करने के लिये प्रेरित अग्नि के निमित्त यह आहुति सुसिद्ध हो। व्रत, नियम आदि दीक्षा की सिद्धि के लिये तप के प्रवर्तक अग्निदेव के निमित्त यह आहुति सुसिद्ध हो। मन्त्रोच्चारण की शक्ति के लिये पुष्टि के साधक अग्निदेव के निमित्त यह आहुति सुसिद्ध हो। महान् जगत् के सुखदाता हे प्रकाशवान् जलों, हे पृथ्वी द्युलोक, हे विस्तीर्ण अन्तरिक्ष! तुम्हारे और बृहस्पति के निमित्त दी गई यह हवि सुहुत हो॥ यजमान यहाँ अन्न ग्रहण करके कार्यारम्भ सूचक आहुतियाँ देता है ॥७॥

भाष्यसार— 'आकूत्यै प्रयुजे' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा अध्वर्यु आज्यस्थाली से घृत लेकर हवन करता है। यज्ञीय व्यवहार के लिये इन मन्त्रों की वैदिक संज्ञा 'औदग्रभण' है। औदग्रभण होम का विधान कात्यायन श्रौतसूत्र (७.३.१३) और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार किया गया है।

शेषः। बृहस्पतये तन्नामकाय देवाय हविषा विधेम आज्येन परिचर्यां करवाम। कथंभूता आपः? देवीर्द्योतमानाः। बृहतीः बृहत्यः प्रभूताः। विश्वशम्भुवः विश्वं शं भुवो विश्वं सुखेन भावयित्र्यः। एतानि विशेषणानि वृष्टिजन्यास्वप्सु युज्यन्ते। तदाह तित्तिरिः—'या वै वर्ष्यास्ता आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवः' (तै. सं. ६.१.२.३) इति। यद्वा हे आपः, हे द्यावापृथिव्यौ, हे उरो, युष्मभ्यं बृहस्पतये च हविषा विधेम हविर्दद्मः। द्वितीयार्थे तृतीया। विधतिर्दानकर्मा। स्वाहा सुहुतमस्तु। देव्यो द्योतमानाः, बृहतीर्बृहत्यः प्रभूताः। पूर्वत्र पूर्वसवर्णदीर्घः। विश्वस्य जगतः शं सुखं भावयन्ति जनयन्ति वेति विश्वशम्भुवः। अत्र लिङ्गोक्ता देवताः। विराट् छन्दः। यस्या एकादशाक्षरास्त्रयः पादाः सा विराट्, 'दशकास्त्रयो विराडेकादशका वा' इत्युक्तेः। प्रथमो द्वादशार्णस्तेनैकाधिका।

शतपथे च—'सर्वाणि ह वै दीक्षाया यजूꣳष्यौद्ग्रभणानि। उद्गृभ्णीते वा एषोऽस्माल्लोकाद् देवलोकमभि यो दीक्षत एतैरेव तद्यजुर्भिरुद्गृभ्णीते तस्मादाहुः सर्वाणि दीक्षाया यजूꣳष्यौद्ग्रभणानीति तत एतान्यवान्तरामाचक्षत औद्ग्रभणानीत्याहुतयो ह्येता आहुतिर्हि यज्ञः परोक्षं वै यजुर्जपत्यथैष प्रत्यक्षं यज्ञो यदाहुतिस्तदेतेन यज्ञेनोद्गृभ्णीतेऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि' (श. ३.१.४.१)। दीक्षाहुतीर्विधातुमाह—सर्वाणि ह वा इति। यजुःसम्बन्धाद् दीक्षासम्बन्धीनि यजूंषि औद्ग्रभणानि। तत् तदा एतैर्दीक्षाङ्गभूतैः सर्वैर्यजुर्भिर्दीक्षाप्रकरण उक्तानि सर्वाण्यपि यजूंषि औद्ग्रभणसंज्ञकानि। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति 'दादेर्धातोर्घः' (पा. सू. ८.२.३२) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन हस्य घः। तेष्वेतानि दीक्षाहुतिसाधनान्याकूत्यादीनि। अस्माल्लोकाद्देवलोकमुद्गृभ्णाति, तस्मादेतानि औद्ग्रभणानि। आहुतयो वा एता आहुतिर्हि यज्ञः। जप्यानां होम्यानां च तारतम्यमाह—परोक्षं वै यजुर्जपत्यथैष प्रत्यक्षो यज्ञो यदाहुतिस्तदेतेन यज्ञेनोद्गृभ्णीतेऽस्माल्लोकाद्देवलोकमभि। 'ततो यानि त्रीणि स्रुवेण जुहोति। तान्याधीतयजूꣳषीत्याचक्षते सम्पद एव कामाय चतुर्थꣳ हूयतेऽथ यत्पञ्चमꣳ स्रुचा जुहोति तदेव प्रत्यक्षमौद्ग्रभणमनुष्टुभा हि तज्जुहोति वाग्घ्यनुष्टुब् वाग्घि यज्ञः' (श. ३.१.४.२)। आदितो यानि त्रीणि यजूंषि पठित्वा स्रुवेण जुहोति, तान्याधीतयजूंषीत्याचक्षत आधानलिङ्गकानि, तन्मन्त्रेष्वाधानव्यापारलिङ्गदर्शनात्। सम्पदे कामाय। सम्पद्यत इति सम्पत्, काम्यत इति कामः, सम्पाद्याय स्वर्गफलायेति। यथा लोके किञ्चित्फलं सिषाधयिषुरादौ फलानि तत्साधनानि च ज्ञात्वा ततः कामयित्वा तत्साधनमनुष्ठायान्ते फलं लभते, एवं त्रिभिः स्वर्गफलमाध्याय चतुर्थेन तत्साधनमनुष्ठाय पञ्चमेन तदुद्गृहीतवान् भवतीति। अथ चतुर्थस्य होमसाधनानभिधानेनापि पञ्चमस्य विशेषितत्वात् त्रीणि स्रुवेण जुहोतीतिवत् चतुर्थमपि स्रुवेणैव हवनं वेदितव्यम्।

'अथ यत्पञ्चमꣳ स्रुचा जुहोति' इति यत् पञ्चमस्य साक्षादुद्ग्रहणं तन्मन्त्रस्यानुष्टुप्त्वे सिद्धम्, अनुष्टुभा वाचा मन्त्रेण साध्यत्वात्। तथा च श्रुतिः—'वाग्घ्यनुष्टुप्। वाग्घि यज्ञः' (श. ३.१.४.२)। 'यज्ञेन वै देवाः। इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम' (श. ३.१.४.३)। पुरातनवृत्तान्तप्रदर्शनमुखेनैतेषां यजुषां स्वर्गोद्ग्रहणे साधनतामुपपादयति—यज्ञेन वा इति। पुरा किल देवा इमां जितिमिदानीं परिदृश्यमानप्रकारं स्वर्गजयं यज्ञेनैव साधनेन जिग्युर्जितवन्तः। ते देवाः स्वैर्जितं स्वर्गस्थानं तुच्छैर्मनुष्यैः कथमारोहणार्हं न भवेदिति परस्परमुक्त्वा यज्ञस्य रसं धीत्वा पीत्वा 'धेट् पाने' यथा मधुकृतो मधु निःशेषेणास्राव्य गतसारमेव परिशेषयन्ति, एवं यज्ञं विदुह्य विदोहं कृत्वा तं यूपेनाच्छाद्य तिरोहिता अभवन्। योपनसाधनत्वाद् यूपस्य यूपेति नाम सम्पन्नम्। तद्देवैः कृतं यज्ञविदोहनमृषीणामनुश्रुतमासीत्। 'तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास। ते यज्ञꣳ समभरन् यथायं यज्ञः सम्भृत एवं वा एष यज्ञꣳ सम्भरति यदेतानि जुहोति' (श. ३.१.४.४)। तदेतद्देवानुष्ठितप्रकारं जानद्भिर् ऋषिभिरयं

यज्ञ औद्ग्रभणहोमेन संभृतः। एवमेतेषामनुष्ठानेन यजमानोऽपि यज्ञं सम्भृतवान्।

'तानि वै पञ्च जुहोति। संवत्सरसम्मितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्च जुहोति' (श. ३.१.४.५)। संख्यां प्रशंसति—तानि वै पञ्चेति। 'अथातो होमस्यैव। आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेत्या वा अग्रे कुवते यजेयेति तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्यात्मन् कुरुते' (श. ३.१.४.६)। होमस्यैव मन्त्रा व्याख्यायन्त इति शेषः। अग्रे यागानुष्ठानात् पूर्वमाकुवते खलु। कुवनशब्देन प्राग्भावी मनोव्यापारो लक्ष्यते। यजेयमिति सङ्कल्पयतीत्यर्थः। अतो यज्ञस्य यदेव कर्तव्यमङ्गजातं सर्वं सम्भृत्य सङ्कल्प्यात्मन्येकीकृत्य स्वात्मनि कुरुते स्थापयति। 'मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहेति। मेधया वै मनसाऽधिगच्छति यजेयेति तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्यात्मन् कुरुते' (श. ३.१.४.७)। द्वितीयमन्त्रस्य तात्पर्यमाह—मेधयेति। सङ्कल्पितस्यार्थस्य धारयित्री बुद्धिर्मेधा, तया मनसा च साधनेन उभाभ्यामधिगच्छति। यथा कश्चित् प्रथममिदं सम्यगिति सङ्कल्प्य तत्साधनप्रकारविशेषमवबुद्ध्यते, तद्वदित्यर्थः। 'दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहेति। अन्वेवैतदुच्यते नेत्तु हूयते' (श. ३.१.४.८)। तृतीयस्यापि मन्त्रस्य होमसाधनत्वप्रसक्तौ जप्यतामाह—'तृतीयं जपत्येव' (का. श्रौ. ७.३.१४) इति।

'सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति। वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः पशवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः पशवः पशवो हि यज्ञस्तद्यदेवात्र यज्ञस्य तदेवैतत् संभृत्यात्मन् कुरुते' (श. ३.१.४.९)। वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः पशवः पूषेति पशूनां पूषत्वमुक्तम्, पूषगतपुष्टिधर्मसद्भावात् पूष्णोऽपि पोषकत्वम्। 'पोषाँ अपुष्यत्' (तै. सं. ७.१.९.१)। गवादिपशुगतक्षीरादिसाध्यत्वात् पशवो यज्ञः, तदेवैतत् सम्भृत्यात्मन् कुरुते। इमे त्रयो होममन्त्रा आत्मन्यङ्गजातस्याधानमन्त्रत्वादाधानमन्त्रा उच्यन्ते, तत्साधनानि यजूंषि चाधीतयजूंष्युक्तानि। उक्तमन्त्रत्रयेऽप्यग्नये यदस्ति तत्राग्नेः कः प्रसङ्ग इति दर्शयितुमाह—'तदाहुः।अनद्धेवैता आहुतयो हूयन्तेऽप्रतिष्ठिता अदेवकास्तत्र नेन्द्रो न सोमो नाग्निरिति' (श. ३.१.४.१०)। अप्रत्यक्षमिव एतास्तिस्र आहुतयो हूयन्ते। अप्रतिष्ठिता एताः कुत इति चेत्तत्राह—अदेवका इति। यद्यप्याकूत्याद्या देवताः सन्त्येव, तथापि तासां प्रसिद्ध्यभावादिन्द्रादिना भवितव्यमिति प्रदर्शयति—तत्र नेन्द्रो न सोमो नाग्निरिति। प्रसिद्धदेवतानामभावं दर्शयितुमनुवदति—'आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति। नात एकश्चनाग्निर्वा अद्धेवाग्निः प्रतिष्ठितः स यदग्नौ जुहोति तेनैवैता अद्धेव तेन प्रतिष्ठितास्तस्मादु सर्वास्वेवाग्नये स्वाहेति जुहोति तत एतान्याधीतयजूꣳषीत्याचक्षते' (श. ३.१.४.११)। अतोऽस्मादाकूत्या इत्येवमादिकाद् वाक्यादेकमपीन्द्रादिकं नोपलभामह इति वदतोऽयमभिप्रायः—तेषु मन्त्रेष्वाकूतिमेधादेः प्रशंसितत्वेनाग्निमतिविहायायमाक्षेपः। अनद्धात्वपरिहारमाह—अग्निर्वा इति। स यजमानो यस्मादग्नौ प्रत्यक्षेण जुहोति, अत एवाग्निरद्धा इव प्रत्यक्षमिव। अत एव प्रतिष्ठितश्च, तेन खल्वेतास्तिस्रोऽप्यद्धेव प्रतिष्ठिताः। यत उक्तरीत्याऽग्निप्राधान्यम्, तत इत्थमग्निं प्रशस्यावशिष्टाकूतिप्रयुगग्निदेवतात्रयस्याध्यानसम्बन्धेनैतान्याधीताग्नियजूंषीत्याचक्षते।

'आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहेति। आत्मना वा अग्र आकुवते यजेयेति तमात्मन एव प्रयुङ्क्ते यत्तनुते ते अस्यैते आत्मन् देवते आधीते भवत आकूतिश्च प्रयुक् च' (श. ३.१.४.१२)। अग्रे प्रथमं आत्मना बुद्ध्येति वा यजेयेत्याकुवते सङ्कल्पयति। तं सङ्कल्पितमात्मन्येव विस्तीर्य प्रयुङ्क्ते। प्रयुज्यत इति प्रयुक्। उभयोरपि बुद्धिविषयभावादुभे अपि देवते आकूतिप्रयुजौ अस्य यजमानस्य आत्मन् आत्मनि आधीते आध्यानेन विषयीकृते भवतः। आधीतप्रतिपादकत्वादाधीतयजूंषीत्युच्यन्ते। एवमुत्तरवाक्यान्यपि योज्यानि। 'मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहेति। मेधया वै मनसाऽभिगच्छति यजेयेति ते अस्यैते आत्मन् देवते आधीते भवतो मेधा च मनश्च' (श. ३.१.४.१३)। 'सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति।

वाग्वै सरस्वती वाग्यज्ञः साऽस्यैषात्मन् देवताऽधीता भवति। वाक् पशवो वै पूषा पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिः पशवः पशवो हि यज्ञस्तेऽस्यैत आत्मन् पशव आधीता भवन्ति तद्यदस्यैता आत्मन् देवता आधीता भवन्ति तस्मादाधीतयजूꣳषि नाम' (श. ३.१.४.१४)। व्याख्यातं प्राक्। 'अथ चतुर्थीं जुहोति। आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहेत्येषा ह नेदीयो यज्ञस्यापाꣳहि कीर्तयत्यापो हि यज्ञो द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्षेति लोकानाꣳ हि कीर्तयति बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहेति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्म यज्ञ एतेनो हैषा नेदीयो यज्ञस्य' (श. ३.१.४.१५)। इत्थमाधीतत्वसमानधर्मसम्भवादाहुतित्रयं पृथग्विधाय प्रशस्य च चतुर्थीमाहुतिं तन्मन्त्रं च विधत्ते— अथ चतुर्थीमिति। मन्त्रवाक्यानि क्रमेणोदाहृत्य व्याचष्टे— एषा हेति। एषा ऋगित्यर्थः। नेदीयो यज्ञस्याऽत्यन्तं सन्निहितम्। कथम्? यस्मादेषा अपां कीर्तयति तस्मान्नेदीयस्तत्कीर्तनेन यज्ञं प्रति नेदीयस्त्वमिति तत्राह—आपो हीति। अभिषवसंयवनादिसाधनत्वादपां यज्ञत्वम्। अन्यत् स्पष्टम्। 'अथ यां पञ्चमीं स्रुचा जुहोति। सा हैव प्रत्यक्षं यज्ञोऽनुष्टुभा हि तां जुहोति वाग्घ्यनुष्टुप् वाग्घि यज्ञः' (श. ३.१.४.१६)।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणः सार्वात्म्यद्योतनाय आकूत्यादिरूपैर्व्यज्यमानाय परमात्मने स्वात्मलक्षणं हविरर्पयन् सार्वात्म्यमनुभवति साधकः। यज्ञादिसङ्कल्पपूर्तये निर्विघ्नं प्रेरयतेऽग्नये परमात्मने स्वाहा ममात्मसमर्पणमस्तु। धारणाशक्तिमत्यै मेधायै मनसे मेधामनोऽन्तर्यामिणेऽग्नये स्वाहा आत्मानं निवेदयामि। एवं दीक्षाभिमानिने तपसे तपोऽन्तर्यामिणे स्वाहा। सरस्वत्यै वागधिष्ठात्र्यै ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्र्यै चिते तदन्तर्यामिणे स्वाहा पूष्णे वागादिपोषकायाग्नये स्वाहा। हे आपः, द्यावापृथिव्यौ हे उरो तत्तदन्तर्यामिणो युष्मभ्यं बृहस्पतिरूपायाग्नये तदधिष्ठात्रेऽन्तर्यामिणे हविषा विधेम। विदधातिर्दानकर्मा। हविषेति द्वितीयार्थे तृतीया। हविर्दद्मः। स्वाहा। कीदृश्य आपः? विश्वशंभुव विश्वस्य जगतः शं भावयन्ति जनयन्तीति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयमाकूत्यै उत्साहाय प्रयुजेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णे बृहस्पतयेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा या बृहती बृहत्यो विश्वशंभुवो देवीर् देव्य आपः स्वाहा वाग् द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्षस्थे च स्तस्तथा स्वाहाक्रियया हविषा च शुद्धा विधेम, तथा यूयमपि विदधत' इति, तत्तु सर्वथा वेदबाह्यमेव, शतपथविरुद्धत्वात्। यत्तु—'प्रयुजे धर्मक्रियाः प्रकृष्टैर्गुणैर्युनक्ति योजयति वा तस्याः' इति, तत्तुच्छम्, प्रयोक्तुः प्रयोजयितुः कर्तुः कारयितुरग्रहणे विनिगमनाविरहात्। अग्नये इत्यस्य अग्निदीपनायेति नार्थः, लाक्षणिकत्वप्रसङ्गात्। स्वाहेत्यस्य वेदवाणीप्रचार इत्यपि नार्थो मानाभावात्। मेधायै इत्यस्य प्रज्ञोन्नतये इत्यपि नार्थः, लाक्षणिकत्वात्। अग्नये विद्युद्विद्याग्रहणायेत्यपि न युक्तम्, अग्निशब्दस्य तादृशार्थेऽशक्तत्वात्। स्वाहा परोपकारिकायै इत्यपि स्वेच्छाचारितैव। तपसे प्रतापकाग्नये कारणरूपाय स्वाहा अध्ययनाध्यापनविद्यायै सरस्वत्यै विद्यासुशिक्षास-

---

अध्यात्मपक्ष में कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है— यज्ञादि संकल्प की पूर्ति के लिये निर्विघ्न प्रेरणा देने वाले परमात्मा के लिये मेरा समर्पण हो। धारणाशक्तिवाली मेधा एवं मन के अन्तर्यामी अग्नि के लिये स्वयं को निवेदित करता हूँ। इसी प्रकार दीक्षाधिष्ठाता तपोऽन्तर्यामी देव के लिये, वागधिष्ठात्री सरस्वती, ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री चिति के अन्तर्यामी देव के लिये, वाक् आदि के पोषक पूषा, अग्नि के लिये निवेदित करता हूँ। विश्व की कल्याणकारिणी जल, द्यावापृथिवी तथा विस्तीर्ण अन्तरिक्ष की अन्तर्यामी देवताओं के लिये, बृहस्पति रूप अग्न्यधिष्ठाता अन्तर्यामी के लिये हविष्य प्रदान करता हूँ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ तो शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण सर्वथा वेदबाह्य है। 'स्वाहा' इस पद का 'वेदवाणीप्रचार' यह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। 'मेधायै' इस पद का 'प्रज्ञा की उन्नति के लिये' यह अर्थ

हितायै वाचेऽग्नये जाठराग्निशोधनाय स्वाहा सत्यवाक्प्रवृत्तये बृहती महागुणविशिष्टा उरो बहुसुखप्रतिपादकोऽन्त-रीक्षस्थो याज्ञ इत्यादयोऽर्था भाक्ता एव। सम्भवन्त्यां शक्तौ भक्तेरनौचित्यमेव। अन्वयानुपपत्तौ तात्पर्यानुपपत्तौ वाक्य-प्रामाण्यानुपपत्तौ च गौणार्थग्रहणं सम्भवति। न चात्रानुपपत्तयः, शतपथादिरीत्या सायणादिभिर्व्याख्यातत्वात् ॥७॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्। विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥८॥

सवितृदेवत्याऽनुष्टुप् स्वस्त्यात्रेयदृष्टा। विश्वो मर्तः सर्वो मनुष्यो नेतुः फलप्रापकस्य देवस्य दानादिगुण-युक्तस्य देवस्य सवितुः सख्यं सखिभावं वुरीते वृणुते प्रार्थयते, 'वृञ् वरणे' इत्यस्य लिङि तङि प्रथमैकवचने व्यत्ययेन शपो लुकि 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा. सू. ७.१.१०२) इत्युदादेशः। किञ्च, विश्वः सर्वो जनो राये धनाय सवितारम् इषुध्यति प्रार्थयते। किञ्च, पुष्यसे पोषणाय द्युम्नं यशोऽन्नं वा वृणीते सर्वो जनः प्रार्थयते। स्वाहा तस्मै प्रेरकाय सवित्रे वा सुहुतमस्तु। पुषेस्तुमर्थे असेप्रत्ययः। 'इषुध्यति याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ. ३.१९.१४)। षष्ठोऽयमौद्ग्रभणमन्त्रः समाप्तः।

शतपथे च—'अथ यद् ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति। तज्जुह्वामानयति त्रिः स्रुवेणाज्यविलापन्या अधि जुह्वां गृह्णाति यत्तृतीयं गृह्णाति तत्स्रुवमभिपूरयति' (श. ३.१.४.१७), 'स जुहोति। विश्वो देवस्य. . . . स्वाहेति' (श. ३.१.४.१८)', 'सैषा देवताभिः पङ्क्तिर्भवति। विश्वो देवस्येति वैश्वदेवं नेतुरिति सावित्रं मर्तो वुरीतेति मैत्रं द्युम्नं वृणीतेति बार्हस्पत्यं द्युम्नꣳ हि बृहस्पतिः पुष्यस इति पौष्णम्' (श. ३.१.४.१९)। पञ्चमस्य होमस्य द्रव्यमाह—अथ यद् ध्रुवायामाज्यमिति। अयमर्थः—दीक्षणीयेष्टेः सम्बन्धि यदाज्यं ध्रुवायामवशिष्टं तत्पञ्चमाहुत्यर्थं जुह्वामवनयेत्। एत-देकमवत्तम्। अथाज्यस्थाल्याः सकाशात् स्रुवेण जुह्वामुपरि त्रिर्निनयति। एवं चतुरवत्तं भवति। तत्र यत् तृतीयं तदा-ज्यविलापन्या अधि जुह्वा उपरि उत्तानं स्रुवं निधाय यथा पूर्णं भवति तथा स्रुवस्याभित आज्येन पूरयेत्। तथैव सूत्रम्—'जुह्वां ध्रौवमासिच्य द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण तृतीयꣳ स्रुवमभिपूरयति विश्वो देवस्येति' (का. श्रौ. ७.३.१५)। पञ्चममौद्ग्रभणसंज्ञकं होमं प्रति ध्रुवास्थमाज्यं जुह्वामासिच्य द्विश्च स्थाल्याः सकाशात् स्रुवेणासिच्य स्थालीतस्तृतीयं

भी लाक्षणिक होने के कारण उचित नहीं है। 'अग्नये' का अर्थ 'विद्युद्विद्या के ग्रहण के लिये' इस प्रकार करना अनुचित है, क्योंकि अग्नि शब्द इस अर्थ के प्रकाशन में असमर्थ है। इस प्रकार के अर्थ भाक्त (लाक्षणिक) हैं। शक्ति के सम्भव होने पर भक्ति का अनौचित्य होता है। अन्वयानुपपत्ति, तात्पर्यानुपपत्ति और वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति होने पर ही गौण अर्थ का ग्रहण सम्भव है ॥७॥

मन्त्रार्थ— सकल मनुष्यों के कर्मानुसार नियामक, दानादि गुणयुक्त परमात्मा को हम भक्तिभाव से चाहते हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान की पुष्टि के लिये अन्न को चाहते हैं। सकल मनुष्य धन के लिये परमात्मा की प्रार्थना करते हैं। उस परमेश्वर के लिये यह अनुष्ठान सुसिद्ध हो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए औद्ग्रभण का हवन किया जाता है ॥८॥

भाष्यसार— समस्त मनुष्य फल प्रदान करनेवाले सविता देव की मित्रता की कामना करते हैं। समस्त मानव धन के लिये सविता की प्रार्थना करते हैं। पोषण के लिये यश अथवा अन्न की प्रार्थना करते हैं। उस प्रेरक सविता के लिये यह सुहुत हो। यह मन्त्रार्थ है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र (७.३.१५) में ध्रुवा में स्थित घृत के जुहू में ग्रहण करने में इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।

स्रुवमभिपूरयेत्। अभिपूर्य जुह्वामासिच्य जुहूस्थमाज्यं विश्वो देवस्येति मन्त्रेण जुहुयादिति सूत्रार्थः। पञ्चमस्य होमस्य मन्त्रमाह—विश्वो देवस्येति। तं प्रशंसति—सैषा देवताभिरिति। 'पञ्चाक्षरा पङ्क्तिः' (तै. ब्रा. २.७.१०.२) इति श्रुतेः पञ्चसंख्यासम्बन्धाद् एषा पङ्क्तिर्भवति। सैषा पञ्चदेवताभिः पङ्क्तिर्भवति। तद्योजयति—विश्वदेवशब्दश्रवणादिदं मन्त्रवाक्यं वैश्वदेवम्। नयनस्य सवितृव्यापारत्वान्नेतृशब्दश्रवणात् सावित्रम्। 'मर्तो वुरीत' इत्येतेन मनुष्यैर्वरणीयत्वाभिधानान्मैत्रम्। मित्रस्य हि वरणीयत्वं प्रसिद्धम्। मैत्रत्वं बार्हस्पतमन्त्रेषु द्रविणं धेहि चित्रमिति द्युम्नसमानार्थस्य द्रविणस्य दाने बृहस्पतिसम्बन्धश्रवणाद् द्युम्नं वृणीत इति बार्हस्पत्यम्। पुष्यस इति पोषणधर्मश्रवणात् पौष्णम्। एवं वैश्वदेवं सावित्रं मैत्रं बार्हस्पत्यं पौष्णमिति पञ्चदेवतासम्बन्धादस्य मन्त्रस्य पञ्चसंख्यायोगात् पङ्क्तित्वं ज्ञेयम्। 'पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चर्तवः संवत्सरस्यैतमेवैतयाप्नोति यद्देवताभिः पङ्क्तिर्भवति' (श. ३.१.४.२०), 'तां वा अनुष्टुभा जुहोति' (श. ३.१.४.२१)। एवं पञ्चानामाहुतीनां समुच्चयपक्षमुक्त्वा केषाञ्चिद्रीत्या पञ्चमीमेवैकामाहुतिं जुहुयात्—'यस्मै कामायेतरा हूयन्त एतयैव तं काममाप्नोतीति तां वै यद्येकां जुहुयात् पूर्णां जुहुयात् सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमेवैनयैतदाप्नोत्यथ यत्स्रुवमभिपूरयति स्रुचं तदभिपूरयति तां पूर्णां जुहोत्यन्वेवैतदुच्यते सर्वास्त्वेव हूयन्ते' (श. ३.१.४.२२), 'तां वा अनुष्टुभा जुहोति। सैषाऽनुष्टुप् सत्येकत्रिꣳशदक्षरा भवति दश पाण्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैकत्रिꣳशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एतावान् वै पुरुषः पुरुषो यज्ञः पुरुषसम्मितो यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनयैतदाप्नोति यदनुष्टुभैकत्रिꣳशदक्षरया जुहोति' (श. ३.१.४.२३)। एवं श्रुतिभिरेषोऽर्थः प्रतिपादितः।

अध्यात्मपक्षे तु—देवस्य स्वप्रकाशस्य विश्वोत्पत्त्यादिक्रीडापरायणस्य नेतुः फलप्रापकस्य सवितुर्जगदुत्पादयितुः परमेश्वरस्य विश्वो मर्तः सर्वो जनः सख्यं सखिभावं वुरीते वृणुते। विश्वः सर्वोऽपि राये धनाय परमेश्वरं सवितारं इषुध्यति प्रार्थयते। पुष्यसे प्रजापुत्रादि पोषयितुं पालयितुं द्युम्नं धनं यशो वा वृणुते। द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा। सकामा निष्कामाः सर्वेऽपि भगवन्तमेव प्रार्थयन्ते। 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥' (भा. पु. २.३.१०)। अन्येऽपि देवा भगवदंशत्वाद्भगवद्रूपाः, तैर्दत्तानि फलान्यपि भगवद्दत्तान्येव भवन्ति। 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥' (भ. गी. ९.२३), 'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्' (भ. गी. ७.२२) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात्।

दयानन्दस्तु—'यथा विश्वो मर्तो नेतुर्देवस्य जगदीश्वरस्य सख्यं वुरीते राय इषुध्यति शरान् धारयति स द्युम्नं धनं वृणीते। हे मनुष्य! एतत्सर्वमनुष्ठाय स्वाहा सत्क्रियया त्वमपि पुष्यसे पुष्टो भवेः' इत्येवं लुप्तोपमालङ्कारं मत्वा यथापदं योजयित्वा व्याख्यातवान्। तत्सर्वं निर्मूलमेव, लुप्तोपमत्वे मानाभावात्। नहि सर्वो मनुष्यः परमेश्वरस्य सख्यं वृणीते, न वा सर्वो धनाय शरान् धारयति, धनप्राप्तये शरधारणस्याव्यभिचरितहेतुत्वाभावात्। 'एतत्सर्वमनुष्ठाय' इत्यपि निर्मूलम्, तादृशार्थकपदाभावात्। स्वाहेत्यस्य सत्क्रिययेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव॥८॥

• अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है — स्वप्रकाशक, फलप्रापक, जगदुत्पादक परमेश्वर के सहयोग की समस्त प्राणी कामना करते हैं। सभी व्यक्ति धन के लिये परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं। प्रजा-पुत्रादि के पोषणार्थ धन अथवा यश की इच्छा करते हैं। अर्थात् सकाम अथवा निष्काम सभी भगवान् की ही प्रार्थना करते हैं (द्र. श्रीमद्भागवत २.३.१०)।

स्वामी दयानन्द ने इस कण्डिका में लुप्तोपमा अलंकार मान कर 'यथा' पद जोड़ कर व्याख्या की है, वह निर्मूल है, क्योंकि लुप्तोपमा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। 'एतत्सर्वमनुष्ठाय' यह कथन भी मन्त्र में इस प्रकार का पद न होने से निर्मूल है। स्वाहा का अर्थ सत्क्रिया करना भी मूलरहित है॥८॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारंभे ते मां पातमास्य यज्ञस्योदृचः। शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मां हिꣳसीः ॥९॥

'शुक्लकृष्णसन्धिमालभत ऋक्सामयोरिति' (का. श्रौ. ७.३.२०)। यजमानः कृष्णाजिनयोः शुक्लकृष्णसन्धिमालभेत ऋक्सामयोरिति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—हे शुक्लकृष्णरेखे कृष्णाजिनगते, युवां ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः, ऋगभिमानि-सामाभिमानिदेवतयोर्ये शिल्पे चातुर्ये तद्रूपे भवथः, 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्' (श. ३.२.१.५) इति श्रुतेः। ते वां तथाविधे युवां आरभे आलभे अहं स्पृशामि, रलयोः सावर्ण्यात्। ते मा मां पातं पालयतम्। कियन्तं कालमिति चेदुच्यते—अस्य यज्ञस्य उदृचः, आ उद् उत्तमा चरमा ऋग् उदृक्, तस्या उदृचः, आ तत्पर्यन्तम्। अनुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य येयमृग् उत्तमास्ति तत्पर्यन्तम्, यज्ञसमाप्तिपर्यन्तमित्यर्थः। ऋक्सामाभिमानिन्यौ देवते केनापि निमित्तेन देवानां यज्ञार्थमवस्थिते सत्यौ कृष्णमृगौ भूत्वा तदीयं रूपं सम्यक्कृत्वा देवेभ्योऽपक्रम्य तिष्ठताम्। तस्य मृगस्य चर्मणि यः शुक्लो वर्णः सोऽयमृचः शिल्परूपम्, यश्च कृष्णवर्णः सोऽयं साम्नः शिल्परूपम्। 'ऋक्सामे वै देवेभ्यो यज्ञायातिष्ठमाने कृष्णो रूपं कृत्वाऽपक्रम्यातिष्ठतामिति' (तै. सं. ६.१.३.१), 'एष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लं कृष्णाजिनस्यैष साम्नो यत्कृष्णमिति' (तै. सं. ६.१.३.१) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'दक्षिणजानुनारोहति शर्मासीति' (का. श्रौ. ७.३.२१)। हे कृष्णाजिन, त्वं शर्म शरणमसि, अतो मे मह्यं शरणं यच्छ देहि स्वकीयत्वेन स्वीकुरु। ते तुभ्यं कृष्णाजिनाय नमोऽस्तु। मा मां यजमानं मा हिंसीर्मा जहि।

शतपथे च—'अथ जघनेन कृष्णाजिने पश्चात्। प्राङ् जान्वाक्न उपविशति स यत्र शुक्लानां च कृष्णानां च सन्धिर्भवति तदेवमभिमृश्य जपत्यृक्सामयोः शिल्पे स्थ इति यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पमृचां च साम्नां च प्रतिरूपे स्थ इत्येवैतदाह' (श. ३.२.१.५)। कृष्णाजिनदीक्षार्थमुपवेशनप्रकारमाह—अथ जघनेनेति। कृष्णाजिनयोः पश्चाद्भागेन स्वयमपि पश्चात् प्राङ्मुखो दक्षिणजान्वाक्नः सङ्कुचितदक्षिणजानुक आरुह्योपविशेत्। 'दक्षिणं जान्वाच्यास्ते पश्चादेनयोः' (का. श्रौ. ७.३.१९)। दक्षिणं जान्वाच्य भूमिसंलग्नं स्पृष्टं कृत्वा एनयोः पश्चाद् यजमान उपविशेत्। एवमभिमृश्य जपति—ऋक्सामयोः शिल्पे स्थ इति। शिल्पपदं व्याचष्टे—यद्वा इति। प्रतिरूपं प्रतिकृतिः, लौकिका हि हरितुरगादिप्रतिरूपं शिल्पमित्याहुः। 'दक्षिणेनाहवनीयं प्राचीनग्रीवे कृष्णाजिने उपस्तृणाति। तयोरेनमधि दीक्षयति यदि द्वे भवतस्तदनयोर्लोकयो रूपं तदेनमनयोर्लोकयोरधि दीक्षयति' (श. ३.२.१.१)। आहवनीयस्य दक्षिणे देशे कृष्णाजिने द्वे आस्तीर्य तत्रैनं यजमानं दीक्षयतीत्युक्तम्। ते च परस्परं सम्बद्धपर्यन्तप्रदेशे कुर्यात्।

मन्त्रार्थ— हे मृगचर्म की श्वेत-श्याम रेखाओं! तुम ऋक्साम मन्त्रों के अधिष्ठात्री देवताओं के चातुर्य हो। मैं तुम्हारा स्पर्श करता हूँ। तुम मेरी यज्ञ की समाप्ति तक रक्षा करो। हे मृगचर्म ! तुम शरणदाता हो, मुझे शरण दो, मैं तुम्हारा नमन करता हूँ। मुझे किसी प्रकार की पीड़ा मत पहुँचाने दो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान मृगचर्म पर बैठता है॥९॥

भाष्यसार — याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'ऋक्सामयोः शिल्पे' मन्त्र से यजमान कृष्ण मृगचर्म के सफेद एवं काले वर्णों के सन्धिस्थल का स्पर्श करता है तथा 'शर्मासि' मन्त्र से दक्षिण जानु से कृष्णाजिन पर आरोहण करता है। इस विनियोग के अनुसार सायणादि द्वारा सम्मत अर्थ ही शतपथ श्रुति तथा कात्यायन सूत्र (७.३.२०-२१) द्वारा भी समर्थित है।

तथैवोक्तं कात्यायनेन—'आहवनीयं दक्षिणेन कृष्णाजिने माꣳससꣳहिते स्यूतान्ते तर्द्मसु पश्चादासञ्जनवती निदधाति' (का. श्रौ. ७.३.१७)। दीक्षणीयासमाप्त्यनन्तरमाहवनीयस्य दक्षिणस्यां दिशि द्वे कृष्णाजिने प्राग्ग्रीवे स्तृणीयात्। कीदृशे? मांससंहिते। मांसशब्देन तत्सहितो देश उच्यते। ते संहिते उपरि लोमानि यथा भवेयुस्तथेत्यर्थः। तर्द्मसु पश्चात् स्यूतान्ते। तृद्यत इति तर्द्म छिद्रं चर्मणो मृगशरीराद् विकर्तनानन्तरं भूमौ कीलकान्निखाय परितश्छिद्राणि कृत्वा तानि कीलकेषु प्रोतयित्वास्तरणं क्रियते यथा चर्म विस्तृतं भवेत्। तदानीं तस्मिंश्चर्मणि कृताश्छिद्रा भवन्ति। तत्रेदमुच्यते—चर्मणः पश्चाद्भागकल्पितेषु छिद्रेषु स्यूतान्ते स्यूता दोरकेण तन्तुना परस्परं संश्लेषिता अन्ता ययोस्ते। चर्मणोः पश्चाद्भागे यानि छिद्राणि. तेष्ववश्यं परिषीवणं भवति नान्यछिद्रेषु। आसञ्जनवती नागदन्तकादावासज्यते येन तदासञ्जनमवलगनरज्जुपाशः, तद्वति। श्रुतावपि—'संबद्धान्ते भवतः। संबद्धान्ताविव हीमौ लोकौ तर्द्मसमुते पश्चाद्भवतस्तदिमावेव लोकौ मिथुनीकृत्य तयोरेनमधि दीक्षयति' (श. ३.२.१.२)। यथोभयोर्मांसप्रदेशः सम्बद्धो भवति, यथा च तर्दनप्रदेशेषु पश्चाद्भागे ऊते परस्परस्यूते भवतः, तथैकस्योपर्यपरमास्तृणुयात्। आपस्तम्बोऽपि—'अन्तर्मांसाभ्यां बहिर्लोमभ्याम्' (आप. श्रौ. १०.८.१२) इति। तेनोभौ लोकौ मिथुनीकृत्य तयोरुपर्येनं दीक्षयति।

'यद्यु एकं भवति। तदेषां लोकानाꣳ रूपं तदेनमेषु लोकेष्वधि दीक्षयति यानि शुक्लानि तानि दिवो रूपं यानि कृष्णानि तान्यस्यै यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि दिवो रूपं यानि शुक्लानि तान्यस्यै यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तान्यन्तरिक्षस्य रूपं तदेनमेषु लोकेष्वधि दीक्षयति' (श. ३.२.१.३)। एककृष्णाजिनपक्षमुक्त्वा प्रशंसति—यद्यु एकमिति। तदेकमेव कृष्णाजिनं लोकत्रयात्मकम्, अत एकेनापि दीक्षयेत्। दिवो द्योतमानत्वेन शुक्लरोमांशस्तद्रूपम्, पृथिव्याः श्यामत्वात् कृष्णानां तद्रूपत्वम्। यद्वा भूर्लोकस्वर्गलोकयोर्मनुष्यैः परिदृश्यमानापरिदृश्यमानत्वमपेक्ष्य वैपरीत्योपन्यासः। यान्येव लोमानि बभ्रूणि बभ्रुवर्णानि हरीणि हरितवर्णानि, तान्यन्तरिक्षस्य रूपम्, नीलं नभ इति लोकप्रसिद्धेः। 'अन्तकमु तर्हि पश्चात् प्रत्यस्येत्। तदिमानेव लोकान् मिथुनीकृत्य तेष्वेनमधि दीक्षयति' (श.३.२.१.४)। तस्मिन्नेकाजिनपक्षे, अन्तकमु अन्तप्रदेशमेव पश्चाद्भागे प्रत्यस्येत् संकोचयेत् सन्धिप्रदेशेन द्विगुणीकुर्यात्। तथा च सूत्रम्—'एकं चेत् पश्चात् पादद्विगुणम्' (का. श्रौ. ७.३.१८)। यद्येकं कृष्णाजिनं भवति, तदा कृष्णाजिनस्य पश्चात् पादद्विगुणं कार्यम्। पश्चात्पादौ मोटनेन हि द्विगुणीकृतौ संभुग्नीकृतौ यस्य तत्।

'ते वामारभ इति। गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते स छन्दाꣳसि प्रविशति तस्मान्न्यक्नाङ्गुलिरिव भवति न्यक्नाङ्गुलय इव हि गर्भाः' (श. ३.२.१.६)। द्वितीयं भागं व्याचष्टे—ते वामारभ इति। ते वाम् ऋक्सामरूपे शुक्लकृष्णरेखे आरभे आलभे, स्पृशामीत्यर्थः। गर्भो वा एष भवति। वैशब्देन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिरुच्यते। तथा चैतरेयके—'पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्ति' (ऐ. ब्रा. १.३)। छन्दांसि गायत्र्यादीनि। न्यक्नाङ्गुलिर्मुष्टीकरणेन सङ्कुचिताङ्गुलिः, एष यजमानश्छन्दांसि प्रविशति। शेषमतिरोहितार्थम्।

'स यदाह। ते वामारभ इति ते वां प्रविशामीत्येवैतदाह ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृच इति ते मा गोपायतमास्य यज्ञस्य सꣳस्थाया इत्येवैतदाह' (श. ३.२.१.७)। स यजमानो यदाह ते वामारभ इति, तस्यायमर्थः—वां युवामहं प्रविशामि। तथा सति ऋक्सामरूपयोः शुक्लकृष्णरूपशिल्पयोः स्पर्शनेन छन्दःस्वेव प्रवेशो भवति। ते मा मां पातं पालयतम्। कियन्तं कालमित्याकाङ्क्षायामाह— आस्य यज्ञस्योदृचमिति। उदृक्शब्दार्थमाह—अस्य यज्ञस्य संस्थाया इत्येवैतदाहेति। यज्ञस्य संस्थायाः समाप्तेः, समाप्तिपर्यन्तमित्यर्थः। 'अथ दक्षिणेन जानुनारोहति। शर्मासि

शर्म मे यच्छेति चर्म वा एतत् कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषꣳ शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासि शर्म मे यच्छेति नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीरिति श्रेयाꣳसं वा एष उपाधिरोहति यो यज्ञं यज्ञो हि कृष्णाजिनं तस्मा एवैतद्यज्ञाय निह्नुते तथो हैनमेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीरिति' (श. ३.२.१.८) ।अनन्तरं कृष्णाजिनारोहणं विधत्ते— अथ दक्षिणेनेति। दक्षिणेन जानुना कृष्णाजिनमारोहति शर्मेत्यादिमन्त्रेण । मनुष्येषु यत् चर्मेति प्रसिद्धम्, एतद् देवत्रा देवेषु सुखहेतुत्वात् शर्मेति शब्दाभिधेयम् ।अतो वैदिकेन स्वरूपेण शर्मासीति कृष्णाजिनस्य स्तुतिः ।मा मा हिंसीरिति हिंसापरिहारप्रसक्तिं दर्शयति—श्रेयांसं वा एष यजमानो यज्ञमुपाधिरोहतीति ।कुत इति चेत्, यज्ञो हि कृष्णाजिनम्, तेन यज्ञाख्यश्रेयोऽतिक्रमणापराधप्रार्थनं युक्तमेव ।तथो हैनमेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीरिति ।

'स वै जघनार्ध इहैवाग्र आसीत ।अथ यदग्र एव मध्य उपविशेद्य एनं तत्रानुष्ठ्याहरेद् द्रप्स्यति वा प्र वा पतिष्यतीति तथा हैव स्यात् तस्माज्जघनार्ध इवैवाग्र आसीत' (श. ३.२.१.९) ।स यजमान आरूढः कृष्णाजिनस्य पश्चाद्भाग एव अग्रे प्रथममासीत ।विपक्षे बाधकमाह—यदग्र एवं मध्यप्रदेशमारूढं ब्रूया॰, अन्यो द्रप्स्यति दृप्तः कुत्सितगतिर्भविष्यति ततः पतिष्यति चेति । तथा हैव स्यात्तस्माज्जघनार्ध इवैवाग्र आसीत । तथैवोक्तं कात्यायनेनापि— 'दक्षिणजानुनारोहति शर्मासीति तेनास्तेऽपरेऽन्ते'(का. श्रौ. ७.३.२१) । दक्षिणजानुना भुग्नेन कृष्णाजिने यजमान आरोहेत । आरुह्य तयोः पश्चिमे भागे दक्षिणेनैव जानुनोपविशेत् । एतेन सायणादिसम्मत एवार्थः शतपथश्रुत्या कात्यायनसूत्रेणापि समर्थ्यते ।

अध्यात्मपक्षे तु—कृष्णाजिन उपवेक्ष्यमाणो यजमानः साधको वा सर्वत्रैव परमेश्वरस्य माहात्म्यं पश्यन् कृष्णाजिनगते शुक्लकृष्णरूपे एव सम्बोध्याह— हे शुक्लकृष्णरेखे ! युवां ऋक्सामयोर्भगवन्निःश्वसितयोः शिल्पे चातुर्यरूपे स्थः । ते वाम् आरभे आलभे स्पृशामि परमेश्वरीयज्ञानचातुर्यमनुभवामि । ते मां यज्ञस्य प्रसिद्धयज्ञस्य विष्णोर्वा आ उदृचः, उद् उत्तमा चरमा ऋग् उदृक्, तस्या उदृच आ तत्पर्यन्तम्, अथवा उद् उत्तमा ऋक् प्राप्तिः स्तुतिर्वा उदृक्, तस्या आ पर्यन्तं मां पातम् । हे परमेश्वर, त्वं शर्मासि सुखरूपमसि सुखं मे देहि नमस्ते अस्तु । मा मां मा हिंसीः स्वरूपतिरोधानेन जननमरणाविच्छेदलक्षणायां संसृतौ मा पातय । ब्राह्मणोक्तव्याख्यानस्य तु कर्मकाण्डप्रतिपादनद्वारा नित्यकर्मानुष्ठानेनोपात्तदुरितक्षयद्वारा काम्यानामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन विविदिषोत्पादनद्वारा इष्यमाणवेदनसाधनत्वेन वा ब्रह्मपरत्वं सम्पद्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, अहं ऋक्सामयोरध्ययनानन्तरम् उदृचोऽस्य यज्ञस्य सम्बन्धिनीं वां ये शिल्पे मानसप्रसिद्धक्रियया सिद्धे स्थः भवतः, ते आरभे । या मा माम् आ अभितः पातं रक्षतः । यस्य तव सकाशाद् मया गृह्येते ते तुभ्यं मम नमोऽस्तु । त्वं मा मां शिल्पविद्यां शिक्षस्व । मा हिंसीर् विचालनं मा कुर्याः । यच्छर्म सुखमस्यास्ति तच्छर्म मे मह्यं देहि । उदृच उत्कृष्टा अधीताः प्रत्यक्षीकृता ऋचो यस्मिंस्तस्य' इति । हिन्दीव्याख्याने तु—'हे विद्वन्

अध्यात्मपक्ष में तो अर्थ इस प्रकार है — कृष्णाजिन पर बैठने वाला यजमान साधक सर्वत्र ही परमेश्वर के माहात्म्य का दर्शन करते हुए कृष्णाजिन में स्थित शुक्ल एवं कृष्ण रूपो को सम्बोधित करता है : हे शुक्ल एवं कृष्ण रेखाओं ! आप लोग ऋक् एवं सामात्मक भगवान् के निश्वासों के ज्ञान चातुर्यरूपी हो । उन आपका मैं स्पर्शानुभव करता हूँ । उस विष्णु की सम्पूर्ण स्तुतिपर्यन्त मेरी रक्षा करें । हे परमेश्वर ! आप सुखस्वरूप हैं, मुझे सुख प्रदान करें । आपको नमस्कार है, संसार में मेरी रक्षा करें ।

स्वामी दयानन्द ने 'ऋक् एवं साम के अध्ययनानन्तर' यह अर्थ किया है, वह निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र में 'अध्ययनानन्तर' पद नहीं है । यज्ञ शिल्पविद्यासाध्य है, यह कथन भी निर्मूल है । फिर यज्ञ में ऋचाओं का प्रत्यक्षीकरण कैसे होता है ? प्रत्यक्षीकरण

ऋक्सामयोरध्ययनस्य पश्चाद् यस्मिनृवः सम्यक् प्रत्यक्षीक्रियन्ते, तस्य यज्ञस्य शिल्पे मनसा प्रसिद्धक्रियया प्रसिद्धे शिल्पविद्ये योऽहमारभे ये मां पातं ते विद्ये यस्य तव सकाशाद् मया गृह्येते ते तुभ्यं मन्त्रादिसत्कारपूर्वकं नमस्करोमि, विदितोऽस्तु। त्वं मां शिल्पविद्यां शिक्षस्व ततो मां विचालय यत्सुखं तन्मह्यं यच्छ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। तथाहि—ऋक्सामयोरिति पदस्यैव मन्त्रे सत्त्वेन 'अध्ययनानन्तरम्' इत्यस्य निर्मूलत्वात्। 'शिल्पे' इति पदेन शिल्पविद्या चेज्जिघृक्षिता स्यात्तदा द्विवचनस्य किं स्वारस्यम्? नहि मनसा क्रियया च सिद्धत्वादेव द्विवचनोपपत्तिः, साधनभेदेऽप्यनेकसाधनसिद्धाया विद्याया द्वित्वानुपपत्तेः। यज्ञोऽपि मनसा क्रियया च सिद्ध्यति। न तावतापि तत्र द्वित्वमनुभूयते। यज्ञः शिल्पविद्यासाध्य इत्यपि निर्मूलम्। यज्ञे च कथमृचः प्रत्यक्षीक्रियन्ते ? किञ्च तासां प्रत्यक्षीकरणम्? तदीयशब्दानां तु समेषां प्रत्यक्षतैवास्ति। अर्थस्य प्रत्यक्षत्वमपि किं ताभिरेव यत्नान्तरैर्वा ? ताभिरेव चेत्कथं शब्दस्यापरोक्षत्वम्, तस्य परोक्षत्वस्वाभाव्यात्। यत्नान्तरैश्चेद् ऋचां साक्षात्कारः स्यात्तर्हि किं वेदैः ? न च शिल्पविद्यैव वेदानां विषयः, तथात्वे तेषां दृष्टार्थत्वेन लोकप्रसिद्धशिल्पविद्यासाधारण्येन धर्मशास्त्रत्वव्याघातात्। शतपथे च स्पष्टमेवास्य मन्त्रस्य कृष्णाजिनस्पर्शनाङ्गत्वेन जपे विनियोग उक्तः। 'तदेवमभिमृश्य जपत्यृक्सामयोः शिल्पे इति' (श. ३.२.१.५)। तत्रैव कृष्णस्य चर्मेति मानुषं शर्म देवत्रेति नवम्यां कण्डिकायामुक्तम्। उदृच इत्यस्यापि ते मा गोपायत माऽस्य यज्ञस्य संस्थाया इत्येवैतदाहेति स्पष्टं व्याख्यानं कृतम्। न चात्राध्यापकाय नमस्कारोऽभिधीयते, तस्यात्राप्रसक्तत्वात्, मन्त्रे तद्बोधकपदाभावाच्च। 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्' (श. ३.२.१.५) इति श्रुत्यैव शिल्पपदमपि व्याख्यातमेव 'यानि शुक्लानि तानि दिवो रूपं यानि कृष्णानि तान्यस्यै' (श. ३.२.१.३) इत्यादिभिः ॥९॥

ऊर्ग॑स्याङ्गिर॒स्यूर्ण॑म्रदा॒ ऊर्ज॒ं मयि॑ धेहि। सोम॑स्य नी॒विर॑सि॒ विष्णो॒ः शर्मा॑सि॒ शर्म॒ यज॑मान॒स्येन्द्र॑स्य॒ योनि॑रसि सुस॒स्याः कृ॒षीस्कृ॑धि। उच्छ्र॑यस्व वनस्पत ऊ॒र्ध्वो मा॑ पा॒ह्यꣳह॑स॒ आस्य य॒ज्ञस्यो॒दृच॑ः ॥१०॥

'अथ मेखलां परिहरते....' (श. ३.२.१.१०)। परिहरति मध्ये परितो वेष्टयति। 'मेखलां बध्नीते वेणिं त्रिवृतꣳ शणमुञ्जमिश्रामन्तरां वासस ऊर्गसीति' (का. श्रौ. ७.३.२२)। अध्वर्युर्यजमानस्य कटीप्रदेशे परिधानवस्त्रस्यान्तर्मेखलां प्रदक्षिणं बध्नीते। कीदृशीम्? वेणिं वेण्याकारां त्रिगुणया रज्ज्वा ग्रथितां शणतृणैर्मुञ्जतृणैश्च निर्मितां शरमयीं मौञ्जीं

क्या है? शिल्पविद्या ही वेद का विषय नहीं है। ऐसा होने पर दृष्टार्थत्व होने के कारण वेद का धर्मशास्त्रत्व व्याहत हो जायगा। शतपथ ब्राह्मण में तो स्पष्ट ही इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। वहां शिल्प पद की व्याख्या भी की गई है ॥९॥

मन्त्रार्थ— हे उष्णीष ! तुम बहुव्यापी यज्ञ का कल्याणमय रूप हो, मुझ यजमान का कल्याण करो। हे मेखले ! तुम अंगिरा वंश के ऋषियों से संबन्ध रखने वाली, अन्नरसरूप और ऊन के समान कोमल हो, अन्नरस को मुझ में स्थापित करो। हे मेखले ! तुम सोम देवता की नीवी हो। हे विषाण! तुम जैसे इन्द्र के स्थान हो, वैसे ही मेरे भी स्थान बनो। हे विषाण ! तुम खेती को सुन्दर धान्य वाली बनाओ। हे वनस्पति के दण्ड ! तुम ऊंचे होओ और ऊंचे होकर इस यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त पापों से मेरी रक्षा करो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान मेखला, उष्णीष, दण्ड आदि धारण करता है ॥१०॥

भाष्यसार— इस कण्डिका के याज्ञिक विनियोग के अनुसार यजमान को 'ऊर्गसि' मन्त्र से मेखलाबन्धन, 'सोमस्य नीविः' से नीवि (ग्रन्थि) का बन्धन, 'विष्णो शर्म' से उष्णीष (पगड़ी) बन्धन, खुजलाने के लिये कृष्णमृग के शृंग का धारण तथा दण्डधारण किया जाता है (का. श्रौ. ७.३.२२-२६)। तदनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

वा मेखलां त्रिवृत् पृथ्यन् प्रतरतः पाशा तया यजमानं दीक्षयतीत्यापस्तम्बोऽपि। हे मेखले, त्वमाङ्गिरसी अङ्गिरोनामकानामृषीणां सम्बन्धिनी ऊर्गस्यन्नरसरूपासि। ऊर्णम्रदा असि कम्बलवन्मृदुरसि। तथाविधा त्वमूर्जमन्नरसं मे यच्छ। अस्याः शरमय्या मेखलाया अङ्गिरोभिः सम्बन्धं तित्तिरिरपि दर्शयति—'अङ्गिरसः सुवर्गं लोकं यन्त ऊर्जं व्यभजन्त ततो यदत्यशिष्यत ते शरा अभवन् ऊर्ग्वै शरा यच्छरमयी मेखला भवत्यूर्जमेवावरुन्धे' (तै. सं. ६.१.३.३)। अङ्गिरसां परस्परमन्नरसे विभज्यमाने यदवशिष्टोऽन्नरसो भूमौ पतितः, तच्छरनामकतृणविशेषरूपेणाविर्भूतः, तस्मादूर्गसीत्यादिमन्त्र उपपद्यते। अङ्गिरोभिर्दृष्टं मेखलादेवताकं यजुः।

शतपथे च—'अङ्गिरसो ह वै दीक्षिता न बल्यमविन्दंस्ते नान्यद्व्रतादशनमवाकल्पयंस्त एतामूर्जमपश्यन्त्समाप्तिं तां मध्यत आत्मन ऊर्जमदधत समाप्तिं तया समाप्नुवंस्तथो एवैष एतां मध्यत आत्मन ऊर्जं धत्ते समाप्तिं तया समाप्नोति' (श. ३.२.१.१०)। पुरावृत्तान्तमुखेन मेखलां प्रशंसति—अङ्गिरस इति। दीक्षिता अङ्गिरसो बल्यं बलार्हं बलकरं वस्तु नाविन्दन्, यतस्ते व्रतात् तत्साधनात् पयसोऽन्यदशनं न अवाकल्पयन्। अतस्ते एतामूर्जं बलम्, तत्साधनत्वान्मेखला ऊर्गित्युच्यते। कीदृशीं मेखलामिति तां विशिनष्टि—समाप्तिं सम्यगाप्यायते बलमनयेति समाप्तिर्मेखला, ताम्। स्पष्टमन्यत्।

'सा वै शाणी भवति। मृद्व्यसदिति न्वेव शाणी यत्र वै प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात् तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमासीत्ते शणास्तस्मात्ते पूतयो वान्ति यद्वस्य जराय्वासीत् तद्दीक्षितवसनमन्तरं वा उल्बं जरायुणो भवति तस्मादेषान्तरा वाससो भवति स यथैवान्तः प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञादेवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्माद्यज्ञात्' (श. ३.२.१.११)। मेखलाया उपादानद्रव्यमाह—सा समाप्तिर्मेखला शाणी शणमयी भवेत्। मृद्वी सुखसंस्पर्शा असद् भवेत्, गर्भाणां मार्दवस्यापेक्षितत्वात्। यदा प्रजापतिर्यज्ञसकाशादुत्पन्नस्तस्य गर्भभूतस्य प्रजापतेर्नेदिष्ठं यदुल्बमासीत्ते शणा अभवन्। तस्माद् गर्भमालिन्यसम्भवात् ते शणाः पूतयो वान्ति दुर्गन्धा भवन्ति। उल्बं नाम पटसदृशं गर्भस्यान्तर्वेष्टनम्। यदु अस्य प्रजापतेर्जरायुर्बहिर्वेष्टनं तद् दीक्षितेन धार्यं वसनमभूत्। उभे अपि गर्भरूपप्रजापतिवद् दीक्षितस्यापि गर्भत्वाद् धार्ये अभूताम्। मेखलाया वसनादान्तरत्वं विधत्ते—अन्तरं वा उल्बं जरायुणो भवतीति। तस्मादेषान्तरा वाससो भवतीत्यादि स्पष्टम्। 'सा वै त्रिवृद् भवति। त्रिवृद्ध्यन्नं पशवो ह्यन्नं पिता माता यज्जायते तत् तृतीयं तस्मात् त्रिवृद् भवति।' (श. ३.२.१.१२)। अजाव्यादयः पशवो ह्यन्नम्, तच्च पितृमातृपुत्रात्मना त्रिवृद् भवति। तस्मान्मेखलापि त्रिवृद् भवति।

'मुञ्जवल्शेनान्वस्ता भवति। वज्रो वै शरो विरक्षस्तायै स्तुकासर्गꣳ सृष्टा भवति सा यत् प्रसलविसृष्टा स्याद् यथेदमन्या रज्जवो मानुषी स्याद्यद्यपसलविसृष्टा स्यात् पितृदेवत्या स्यात् तस्मात् स्तुकासर्गꣳ सृष्टा भवति' (श. ३.२.१.१३)। तस्य मुञ्जशाखामिश्रितत्वं विधत्ते—मुञ्जवल्शेनान्वस्तेति। मुञ्जशाखयान्वस्ता मिश्रिता। वज्रो वै शरः, वज्रावयवत्वात्। तस्य च रक्षोविवासकत्वम्। 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार। स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत् तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा यूपस्तृतीयं वा यावद्वा रथस्तृतीयं वा यावद्वाथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत स पतित्वा शरोऽभवत् तस्माच्छरो नाम यदशीर्यतैवमु स चतुर्धा वज्रोऽभवत्' (श. १.२.४.१)। मेखलायाः केशवेणीव निर्माणं विधत्ते—स्तुकासर्गं सृष्टा भवतीति। स्तुका केशवेणी, सा यथा सृज्यते तथा सृष्टा भवेत्। उक्तप्रकारनिर्माणं प्रशंसितुं प्रकारान्तरयोर्दोषमाह—सा मेखला यद् यदि प्रसलविसृष्टा दक्षिणपाणेर्व्यापारेण निर्मिता स्यात्, तदा यथाऽन्या गवादिबन्धनरज्जवो मानुष्या भवन्ति, एवमियमपि मानुषी भवेत्। यद् यदि, अपसलविसृष्टा सव्यपाणिनोपरि व्यापृतेन निर्मिता स्यात्, तदा पितृदेवत्या

स्यात्। तस्मात् स्तुकासर्गं सृष्टा स्यात्। 'तां परिहरते। ऊर्गस्याङ्गिरसीत्याङ्गिरसो ह्येतामूर्जमपश्यन्नूर्णम्रदा ऊर्जं मयि धेहीति नात्र तिरोहितमिवास्ति' (श. ३.२.१.१४)। बन्धनमन्त्रं विधाय व्याचष्टे—तामिति। 'नीविं कुरुते सोमस्य नीविरिति' (का. श्रौ. ७.३.२३)। वेष्टितवसनग्रन्थिर्नीविः। शतपथे—'नीविमुद्गूहते सोमस्य नीविरसीत्यदीक्षितस्य वा अस्यैषाग्रे नीविर्भवत्यथात्र दीक्षितस्य सोमस्य तस्मादाह सोमस्य नीविरसीति' (श. ३.२.१.१५)। वस्त्रान्तस्य समन्त्रकमुद्गूहनमाह—सोमस्य नीविरसीति मन्त्रेण। अग्रे सोमयागात् पूर्वमदीक्षितस्येदानीं तु दीक्षितस्य सोमस्य सोमयागकर्तृकत्वाद् दीक्षितो ह्युपचारेण सोम उच्यते।

मन्त्रार्थस्तु—हे मेखले! त्वं सोमस्य सोमदेवतायाः प्रियभूता ग्रन्थिरसि। मूलाग्रयोरेकीकरणेन ग्रन्थिविशेषो नीविरुच्यते। अदीक्षितस्य पितृदेवत्या नीविर्भवति। सोमयागाय दीक्षितस्य तु नीविः सोमेन व्यपदिश्यते। 'अथ प्रोर्णुते। गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तस्माद्वै प्रोर्णुते' (श. ३.२.१.१६)। वाससा आच्छादनं विधत्ते—अथ प्रोर्णुत इति। शेषं स्पष्टम्। 'स प्रोर्णुते। विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येत्युभयं वा एषोऽत्र भवति यो दीक्षते विष्णुश्च यजमानश्च यदह दीक्षते तद्विष्णुर्भवति यद्यजते तद्यजमानस्तस्मादाह विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येति' (श. ३.२.१.१७)। आच्छाद्यप्रदेशः सूत्रे स्पष्टमुक्तः —'शिरः प्रोर्णुते विष्णोः शर्मेति' (का. श्रौ. ७.३.२४)। उष्णीषेण स्वं शिरः प्रदक्षिणमाच्छादयेद्यजमानो विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येत्युभयं वा एषोऽत्र भवति। विष्णुशब्दः पुरुषोत्तमे प्रसिद्धः। अत आह— विष्णुश्च यजमानश्चेति। कुत एतदित्याह— यदह दीक्षते तद्विष्णुर्भवति। दीक्षणीयेष्टौ आग्नावैष्णवे हविषि विष्णुर्देवतेति तत्संस्कारसंस्कृतो यजमानोऽपि विष्णुर्भवति। तदेवाह श्रुतिः— यद्यजते तद्यजमानस्तस्मादाह विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येति। मन्त्रार्थस्तु—हे वस्त्र, त्वं विष्णोर्व्यापकस्य यज्ञस्य शर्मासि सुखहेतुर्भवसि, अतो यजमानस्य सुखं कुर्विति शेषः।

'अथ कृष्णविषाणꣳ सिचि बध्नीते। देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुर्मन एव देवा उपायन् वाचमसुरा यज्ञमेव तद्देवा उपायन् वाचमसुरा अमूमेव देवा उपायन्निमामसुराः' (श. ३.२.१.१८)। वस्त्रान्ते कृष्णविषाणाबन्धनमाह—अथेति। सिग् वस्त्रान्तम्, तत्र कृष्णविषाणं बध्नीतेऽध्वर्युः। कृष्णविषाणोत्पत्त्यर्थमाख्यायिकामाह—देवाश्चासुराश्चेति। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या दायं पैतृकं धनमुपेयुः। इन्द्रियेषु मध्ये मन एव देवाः प्राप्तवन्तः, वाचं वागिन्द्रियमसुराः। तथा यज्ञमेव देवा उपगता वाचमसुराः। अमूं दिवं देवा इमां पृथिवीमसुराः।

'ते देवा यज्ञमब्रुवन्। योषा वा इयं वागुपमन्त्रयस्व ह्वयिष्यते वै त्वेति स्वयं वा हैवैक्षत योषा वा इयं वागुपमन्त्रयै ह्वयिष्यते वै मेति तामुपामन्त्रयत सा हास्मा आरकादिवैवाग्र आसूयत्तस्मादु स्त्री पुꣳसोपमन्त्रितारकादिवैवाग्रेऽसूयति स होवाचारकादिव वै म आसूयीदिति' (श. ३.२.१.१९)। ते देवा वाचोऽपि स्वाधीनत्वापादनाय यज्ञमेवमब्रुवन्— यज्ञ! इयं वाग् योषा स्त्री त्वं तु पुमान् तस्मात्तामुपामन्त्रयस्व सङ्केतेनाह्वय सापि त्वा त्वां ह्वयिष्यत आकारयिष्यति। तद्वृत्तान्तं जानती श्रुतिर्ब्रूते न केवलं तेषां वचनमेव, किन्तु 'स्वयं वा ह एव, वाशब्दश्चार्थे। यज्ञः स्वयमप्यैक्षत विचारितवान्। ईक्षणप्रकारमेवानुवदति—योषा वा इयं वागुपमन्त्रयै ह्वयिष्यते मेति। उपमन्त्रिता सा अग्रे प्रथमवारम् आरकाद् आरमेवारकम्, तेन चारकाग्रेण व्यथिता इव आसूयद् आरकाग्रनुन्नो बलीवर्दादिरिवासूयामकरोत्। तथैव लोकवृत्तान्तोऽपि—स्त्री पुंसोपमन्त्रिताऽऽरकादिवाग्रेऽसूयति। एवं पुनर्देवैर्याच्यमानो यज्ञस्तामुपामन्त्रयत्। सापि निपलाशमिव निपतितपर्णं वृक्षादिकमिव तद्यथा केवलं कम्पते, एवं शिरश्चालनेनोवाच, अथवा पलाशनिपतनमिव ओष्ठचालनेनोवाच। तृतीयवारे त्वाहूतवती। आह्वानवृत्तान्तं ज्ञातवन्तो देवा ईक्षाञ्चक्रिरे इयं वाग्

योषा यद्यस्मादेनं यज्ञं न युविता मिलितवती, अतो न विश्वसितव्या। एवमीक्षित्वा ते यज्ञमब्रुवन्—हे यज्ञ, इहैव मा मां तिष्ठन्तमभ्येहीति तां ब्रूहि। आगतां तां वाचं नोऽस्माकं प्रतिब्रूताद् निवेदयत्विति चाब्रुवन्। सापि यज्ञेनाकारिता वाक् तस्मिन्नेव सङ्केतप्रदेशे तिष्ठन्तं यज्ञमभ्येयाय। तस्माद् स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्यैति। तामागतामेभ्यो देवेभ्यो यज्ञः प्रतिप्रोवाच। ते देवास्तां वाचमसुरेभ्योऽन्तरायन् तथा वर्जितानकुर्वन्। स्वीकृत्य चाग्निमुखभन्तरेण स्वभोगायोगादग्नावेव तां वाचमनुष्टुभा विश्वो देवस्य नेतुरित्येतया कृत्वा यथा पुनरसुराणां निराशा भवति तथा अजुहवुः। केवला किं न स्वीकृतेत्यत आह—आहुतिर्हि आहुतिरूपेणाग्नौ दत्तमेव देवानां प्रियं भवति। ते असुरा आत्तवचसो देवैः स्वीकृतवचसो 'हे अरयो हे अरयः' इत्युच्चारयितुमशक्ता 'हेलवो हेलवः' इति वदन्तः पराभूताः।

'तत्रैतामपि वाचमूचुः। उपजिज्ञास्याꣳ स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या हैषा वागेवमेवैष द्विषताꣳ सपत्नानामादत्ते वाचं तेऽस्यात्तवचसः पराभवन्ति य एवमेतद्वेद' (श. ३.२.१.२४)। असुरा उपजिज्ञास्यां सन्दिग्धां वाचमूचुः। सन्दिग्धार्थस्यापभ्रंशरूपस्य वचसो यद्भाषणं तन्म्लेच्छमित्यर्थः। यद्वा य ईदृशीं वाचं वदति स म्लेच्छः। तस्माद् ब्राह्मणो न म्लेच्छेत् तदीयामपार्थिकां वाचं न ब्रूयात्। असुर्या हैया वाक्। उक्तार्थज्ञानं प्रशंसति—एवमेवैष इति। एष ज्ञाता द्विषतां सपत्नानां वाचमादत्ते। अस्य सपत्ना अनेन ज्ञात्राऽपहृतवचसः सन्तः पराभवन्ति य एवं वेद। यदर्थमाख्यायिका प्रपञ्चिता तमर्थं विधातुमाह—'सोऽयं यज्ञो वाचमभिदध्यौ। मिथुन्येनया स्यामिति ताꣳ सम्बभूव' (श. ३.२.१.२५)। तया सङ्गतो बभूवेत्यर्थः। 'इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे। महद्वा इतोऽभ्वं जनिष्यते यज्ञस्य च मिथुनाद् वाचश्च यन्मा नाभिभवेदिति स इन्द्र एव गर्भो भूत्वैतन्मिथुनं प्रविवेश' (श. ३.२.१.२६)। 'स ह संवत्सरे जायमान ईक्षाञ्चक्रे। महावीर्या वा इयं योनिर्या मामदीधरत यद्वै मेतो महदेवाभ्वं नानुप्रजायेत यन्मा तन्नाभिभवेदिति' (श. ३.२.१.२७)। इन्द्रो विचारितवान् अस्मान् मिथुनाद् यज्ञवाचो मिथुनाद् यद् अभ्वमपत्यं जनिष्यते तन्मां नाभिभवेदित्येवं विचार्यान्योत्पत्तिभयात् स इन्द्र एव वाग्योन्यां गर्भो भूत्वा प्रविष्टः। स तत्र संवत्सरमुषित्वा अजायत। योनिं प्रशंसति—महावीर्येयं योनिर्या मामदीधरतेति। एतस्मान्मिथुनान्मामनु अन्यन्महदपत्यं यद्युत्पद्येत तन्मामभिभवेत्। 'तां प्रतिपरामृश्यावेष्ट्याच्छिनत्। तां यज्ञस्य शीर्षन् प्रत्यदधाद् यज्ञो हि कृष्णः स यः स यज्ञस्तत्कृष्णाजिनं योषा योनिः सा कृष्णविषाणाऽथ यदेनामिन्द्र आवेष्ट्याच्छिनत् तस्मादावेष्टितेव स यथैवात इन्द्रोऽजायत गर्भो भूत्वैतदस्मान्मिथुनादेवमेवैषोऽतो जायते गर्भो भूत्वैतस्मान्मिथुनात्' (श. ३.२.१.२८)। एवं प्रतिपरामृश्य योनिदेशे किमुत्पादकमिति विचार्य तामावेष्ट्य हस्तेनावेष्टनं कृत्वाऽऽच्छिद्य अदधाद् यज्ञशिरसि स्थापितवान्। यज्ञो हि कृष्णः, 'यज्ञो देवेभ्यो निलायत कृष्णो रूपं कृत्वा' (तै. ब्रा. ३.२.५.६) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः। यः कृष्णो मृगः स एव निदानेन यज्ञः। तदेव यजमानेन धार्यते कृष्णाजिनं तस्या वाचो योनिः सा कृष्णविषाणा। कृष्णविषाणाधारणे लिङ्गं दर्शयति—'यदेनामिन्द्र आवेष्ट्याच्छिनत् तस्मादावेष्टितेव कृष्णविषाणा भवतीति। 'तां वा उत्तानामिव बध्नाति। उत्तानेव वै योनिर्गर्भं बिभर्त्यथ दक्षिणां भ्रुवमुपर्युपरि ललाटमुपस्पृशतीन्द्रस्य योनिरसीतीन्द्रस्य ह्येषा योनिरतो वा ह्येनां प्रविशन् प्रविशत्यतो वा जायमानो जायते तस्मादाहेन्द्रस्य योनिरसीति' (श. ३.२.१.२९)। योनिर्यद्यधोमुखं गर्भं बिभृयात्, तदा पतेदेव, अत उत्तानभरणं सिद्धम्। अत उत्तानां बध्नीयात्। बन्धनप्रकारमाह—दक्षिणां भ्रुवमारभ्य ललाटस्येषदुपरिप्रदेशं स्पृशेत्। तथा च सूत्रम्—'कृष्णविषाणां त्रिवलिं पञ्चवलिं वोत्तानां दशायां बध्नीते' (का. श्रौ. ७.३.२५)। कृष्णमृगस्य शृङ्गं ग्रन्थित्रययुतं पञ्चग्रन्थियुतं वा प्रादेशं प्रादेशमात्रमूर्ध्वाग्रं परिधानीयस्य दशायां बध्नीयाद् यजमानः। वलयः कृष्णविषाणागता उच्चप्रदेशाः। 'तया कण्डूयनम्' (का. श्रौ. ७.३.२६)। कण्डूरुत्पद्यते चेत्, तया कण्डूयनं कार्यम्, न तु नखैः काष्ठादिभिर्वा।

'अथ न दीक्षितः। काष्ठेन नखेन वा कण्डूयेत गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेदपास्यन् मृत्येत्ततो दीक्षितः पामनो भवितोर्दीक्षितं वा अनु रेताꣳसि ततो रेताꣳसि पामनानि जनितोः स्वा वै योनी रेतो न हिनस्त्येषा वा एतस्य स्वा योनिर्भवति यत्कृष्णविषाणा तथो हैनमेषा न हिनस्ति तस्माद्दीक्षितः कृष्णविषाणयैव कण्डूयेत नान्येन कृष्णविषाणायाः' (श. ३.२.१.३१)। यो गर्भं कृष्णविषाणाया अन्येन काष्ठादिना विकर्षेत्, तदा स गर्भोऽपगच्छन् मृतिं प्राप्नुयात्। ततोऽन्यस्य दुष्टत्वाद् विकर्षमाणो दीक्षितः पामनो भवितोः। पामा विचर्चिका तद्वान् भवितुं समर्थो भवति। मत्वर्थीयो नः, 'लोमादि' (पा. सू. ५.२.१००) इति सूत्रेण। न केवलं दीक्षितः पामनो भवति, किन्तु तदुत्पन्नाः पुत्रा अपि तादृशा भवन्तीत्याह— दीक्षितं वा अन्विति। विपक्षे दोषमुक्त्वा स्वपक्षे तदभावमाह—स्वा इति। कृष्णविषाणाया योनित्वाद् दीक्षितस्य गर्भत्वाद् हिंसाभावाय कृष्णविषाणयैव कण्डूयेतेति विधिः। अन्येन कण्डूयने गर्भस्यैव कर्षणम्, तेन गर्भस्य मरणमिवानिष्टमेव भवति दीक्षितस्य, अतः खर्जूयुक्तो भवति। दीक्षितस्य पश्चाद्भावीनि रेतांसि पुत्रादयोऽपि। वै योनी रेतो गर्भं न हिनस्ति। तेन तया कण्डूयनेन न दोष इत्यर्थः।

'उपस्पृशत्येनया दक्षिणस्या भ्रुव उपरीन्द्रस्य योनिरिति' (का. श्रौ. ७.३.२७)। यजमान एनया कृष्णविषाणया दक्षिणस्या भ्रुव उपरि ललाटं स्पृशेत्। मन्त्रार्थस्तु— हे कृष्णविषाणे, त्वं यथा पूर्वमिन्द्रस्य योनिरसि तथेदानीं यजमानस्य स्थानं भवेति शेषः। पुरा कदाचिद्यज्ञपुरुषो दक्षिणां देवीं समभवत्। तस्मात् सम्भवनादिन्द्रोऽजायत। तदानीमत्रान्यस्योत्पत्तिर्मा भूदिति विचार्येन्द्रस्तद्योनिमाच्छिद्य मृगेषु न्यदधात्। निहिता सा योनिः कृष्णविषाणाऽभूत्। सोऽयमर्थस्तित्तिरिणा—'यज्ञो दक्षिणामभ्यध्यायत्' (तै. सं. ६.१.३.१५) इत्यस्मिन्नाख्याने समाख्यात इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः। शतपथीयवृत्तान्तस्तु पूर्वमेवोक्तः। 'भूमौ चोल्लिखति सुसस्या' इति। (का. श्रौ. ७.३.२८)। शृङ्गेण भूमौ रेखां कुर्यात् सुसस्येति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—सस्यं व्रीहियवादि, तदर्थो भूमिगतो व्यापारः कृषिः। याः कृषयः सन्ति ताः सर्वाः सुसस्याः शोभनधान्याः कृधि। हे कृष्णविषाणे ! त्वं कृषीः सुसस्याः कुरु। मन्त्रलभ्यं फलं तित्तिरिराह— 'कृष्यै त्वा सुसस्याया इत्याह तस्मादकृष्टपच्या ओषधयः पच्यन्ते' (तै. सं. ६.१.३.१६) इति। शतपथेऽपि—'अथोल्लिखति। सुसस्याः कृषीष्कृधीति यज्ञमेवैतज्जनयति यदा वै सुषमं भवत्यथालं यज्ञाय भवति यदो दुःषमं भवति न तर्ह्यात्मने च नालं भवति तद्यज्ञमेवैतज्जनयति' (श. ३.२.१.३०)। तथा भूमेरुपरि समन्त्रकमुल्लेखनं विधत्ते—कृष्टस्थलीः समृद्धसस्याः कृधीति मन्त्रार्थः। एतद् एतेनोल्लेखनेन। स्पष्टमन्यत्। यदा कृष्यादिसम्पत्त्या सुषमं सुखप्रदः संवत्सरो भवति, तदैव यज्ञो अनुष्ठानाय प्रभवति। यदोक्तवैपरीत्येन दुःषमं दुःखहेतुः संवत्सरः स्यात्, तदा आत्मने स्वशरीररक्षणायापि न प्रभवति, का कथा यज्ञस्येति।

'अथास्मै दण्डं प्रयच्छति। वज्रो वै दण्डो विरक्षस्तायै' (श. ३.२.१.३२)। अथ दण्डेन दीक्षां विधत्ते— अथास्मै दण्डमिति। प्रहारसाधनत्वाद् दण्डस्य वज्रत्वम्। 'औदुम्बरो भवति। अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरो भवति' (श. ३.२.१.३३), 'मुखसम्मितो भवति। एतावद्वै वीर्यꣳ स यावदेव वीर्यं तावांस्तद् भवति यन्मुखसम्मितः' (श. ३.२.१.३४), 'तमुच्छ्रयति। उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यꣳहस आस्य यज्ञस्योदृच इत्यूर्ध्वो मा गोपायास्य यज्ञस्य सꣳस्थाया इत्येवैतदाह' (श. ३.२.१.३५)। बलकररसरूपमन्नमुदुम्बरो भवति। तथा च श्रुतिः— 'देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठत्' (तै. ब्रा. १.१.३.१०) इति। 'मुखसम्मितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छति' (का. श्रौ. ७.४.१)। अध्वर्युर्यजमानायोदगग्रम्, ऊर्ध्वोष्ठपर्यन्तं मुखम्, तत्सम्मितम्। 'उच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयति' (का.

श्रौ. ७.४.२)। मन्त्रार्थस्तु—अत्र दण्डो देवता। हे वनस्पते वृक्षावयव दण्ड, उच्छ्रयस्व उन्नतो भव। ऊर्ध्वो भूत्वा मा माम् अंहसः पापात् पाहि रक्ष। कियन्तं कालमित्यपेक्षायामाह—यज्ञस्योदृच इति। अस्य यज्ञस्योदृच उत्तमाया समाप्तिं गताया ऋच आ तादृक्पर्यन्तमित्यर्थ इति काण्वसंहितायां सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि, त्वमङ्गिरोनामकानामृषीणां सम्बन्धिनी ऊर्गसि अन्नरसरूपासि, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥' (भ. गी. १०.४१) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात्, ऊर्जं मयि धेहि। कीदृशी सा ऊर्क्? ऊर्णम्रदा ऊर्णेव कम्बलमिव म्रदीयसी। सा त्वं सोमस्य उमया सहितस्य शिवस्य नीविरसि नीविरिवाच्छादिकासि। विष्णोर्व्यापकस्य शिवस्य परमेश्वरस्य शर्मासि सुखजनकत्वात् सुखरूपासि, अतो यजमानस्य त्वदाराधकस्य मम सुखं प्रयच्छेति शेषः। इन्द्रस्य परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य योनिरसि परमकारणरूपासि, सर्वविश्वपालकत्वात्। कृषीः सुसस्याः कृधि शोभिनव्रीहियवादियुक्ताः कुरु। हे वनस्पते, वनस्पतिरूपे! त्वमुच्छ्रयस्व सर्वदा निरतिशयोत्कृष्टरूपापि स्वोत्कर्षमाविर्भावय। मां यजमानं त्वत्सेवकमंहसः पाहि रक्ष, संसारबन्धनान्मोक्षप्रदानेन रक्ष।

दयानन्दस्तु—हे वनस्पते विद्वंस्त्वं याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्क् शिल्पविद्यास्यस्ति योर्जं दधाति या सोमस्य नीविरसि या विष्णोर्यजमानस्य शर्म सुखकारिका योनिरसि योऽस्योदृचो विष्णोर्यज्ञस्य शर्मास्ति मय्याधेहि सुसस्याः कृषीः कृधि कुरु कारय वा ऊर्ध्वा मामुच्छ्रयस्व अंहसो मा पाहि विमानादिषु यानेषु यो वनस्पतिरूर्ध्वं स्थाप्यते तमप्युच्छ्रयस्व। सर्वत्र व्यत्ययेन असि अस्ति पदानि त्वेवं व्याख्यातानि। ऊर्क्पराक्रमान्नादिप्रदा शिल्पविद्या आङ्गिरसी याङ्गिरोभिरग्न्यादिभिर्निर्वृत्ता सा शिल्पविद्या ऊर्णम्रदा ऊर्णमाच्छादनं मृद्नन्ति यया सा मयि शिल्पिनि धेहि दधाति। सोमस्य उत्पन्नस्य पदार्थसमूहस्य नीविः, या नितरां व्ययति संवृणोति विष्णोः शिल्पविद्याव्यापकस्य विदुषः सकाशात् प्राप्य शर्म सुखं यजमानस्य शिल्पविद्याविद इन्द्रस्य परमैश्वर्येण युक्तस्य योजकस्य वा। वनस्पते! वनानां विद्याप्रकाशानां पतिः पालयिता, तत्सम्बुद्धौ। यज्ञस्य शिल्पविद्यासाध्यस्य' इत्यादि, तदेतत् सर्वमुच्छृङ्खलतामूलकमेव, मुख्यार्थत्यागे कारणाभावात्, लाक्षणिकार्थग्रहणे मानाभावाच्च। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव।यत्तु आङ्गिरसीत्यत्र दयानन्देनोक्तम्— उव्वटमहीधराभ्यामिदं निघातत्वात् सम्बोधनान्तं पदमबुध्वा व्याख्यातम्, एतयोः स्वरज्ञानमपि नास्ति, अर्थज्ञानस्य तु का कथा' इति, तत्तु प्रमत्तप्रलपितमेव, स्वपक्षे गुणस्य तयोः पक्षे दोषस्य प्रदर्शनीयत्वात्। यत्तु कश्चित्—दयानन्देनात्र मन्त्रे सर्वत्र व्यत्यय इत्युपरिष्टादेवोक्तम्, तेनात्र सम्बोधने निघाते सत्यपि प्रथमान्तं पदमिदं व्याख्यातम्, उव्वटमहीधराभ्यां तु भ्रान्त्या (न तु व्यत्ययेन) 'आङ्गिरसि' इति प्रथमान्तमिदं पदं ज्ञात्वा व्याख्यानं कृतम्, अत्रायमेव दोष इति ध्येयम्' इति, तदपि तदीयान्धानुकरणमेव, दयानन्देनापि

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है— हे राजराजेश्वरि भगवति! आप आंगिरस ऋषियों से सम्बद्ध अन्नरस (ऊर्जा) स्वरूपिणी हैं, अतः ऊन के समान मृदु ऊर्जा मुझमें प्रतिष्ठित करें। आप उमासहित शिव की आच्छादिका शक्ति हैं। व्यापनशील शिव की सुखस्वरूपा हैं, अतः मुझे सुख प्रदान करें। परमैश्वर्य युक्त तत्त्व की कारणभूता हैं, अतः सम्पूर्ण विश्व का पालन करने के कारण आप सुन्दर अन्न से युक्त कृषि प्रदान करें। हे वनस्पति के रूप में विद्यमान, आप निरन्तर उत्कर्ष का प्रकाशन करें तथा मुझे पापों से बचायें, संसारबन्धन से सुरक्षित रखें।

स्वामी दयानन्द ने सर्वत्र 'असि' पदों का 'अस्ति' के रूप में व्यत्यय करके व्याख्या की है। वह अर्थ उच्छृंखलतामूलक है, क्योंकि मुख्यार्थ के त्याग तथा लाक्षणिक अर्थ के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। 'आंगिरसी' इस पद पर दयानन्द ने कहा है

प्रथमान्तेनैव व्याख्यातत्वात्। न च स्वरव्यत्ययानुक्तिरेव दूषणम्, त्वयापि तदनुक्तत्वात्। न च सर्वत्र व्यत्यय इत्युक्त्यैव सर्वत्र तदुक्तिर्ज्ञेयेति वाच्यम्, तस्य 'असि, धेहि' इत्यादिषु चरितार्थत्वात्। यदि विशिष्टानुक्तावपि तज्ज्ञातव्यं तदा तथैव प्रकृतेऽपि किं न स्यात्? शतपथश्रुतिद्रष्टॄणां तु सायणोव्वटमहीधराणां व्याख्यानमेव शतपथसम्मतमिति स्पष्टमेव। तत्र कृष्णविषाणाया एव योनित्वमुक्तम्। कृष्णविषाणोल्लेखन-कण्डूयन-नीविकरण-दण्डोच्छ्रयणादिषु मन्त्राणां विनियोगदर्शनात्, शिल्पविद्यातद्याजकादीनां शतपथे सर्वथाप्यश्रवणात्। स्वामी दयानन्दस्तु सर्वत्र देवपदेन विदुषो मनुष्यानेव गृह्णाति, तदपि शतपथविरुद्धमेव, तत्र मुनष्येभ्योऽतिरिक्तानां देवानां वर्णनात्। तथा च श्रुतिः—'द्वया वै देवा देवाः। अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः' (श. २.४.३.१४) इति ॥१०॥

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वशे। ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥११॥

'अग्निमभ्यावृत्य व्रतं कृणुतेति वाग्विसर्जनं त्रिरुक्त्वाग्निर्ब्रह्मेति च सकृत्' (का. श्रौ. ७.४.१४)। आहवनीयाभिमुखो भूत्वा व्रतं कृणुतेति त्रिरुक्त्वा अग्निर्ब्रह्मेति सकृत् पठित्वा वाचं विसृजेत्।मौनव्रतस्य यजमानस्यैतन्मन्त्रोच्चारणं वाग्विसर्जनसाधनम्। मन्त्रार्थस्तु—हे परिचारकाः, व्रतं कृणुत दोहनादिना क्षीरं निष्पादयत। त्रिवारं वाक्यावृत्तिरादरार्था। अत्र व्रतशब्देन दीक्षितस्य भोजनाय यत् पयो नियतं तदुच्यते। अनेन मन्त्रेण मौनत्यागं स्पष्टं तितिरिराह— 'व्रतं कुरुतेति वाचं विसृजति' (तै. सं. ६.१.४.४) इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः। अग्निर्ब्रह्मेति मन्त्रं सकृदुच्चारयेत। ब्रह्मशब्देनात्र वेदत्रयमभिधीयते, ब्रह्मपरत्वात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो. १.२.१५) इति श्रुतेः। तस्य वेदत्रयस्याग्नित्वमौपचारिकम्, आधाननिष्पन्नाग्नेर्वेदैकसाध्यत्वात्। तस्य चाग्नेर्यज्ञसाधनत्वादौपचारिकं यज्ञत्वमपि। तथैव यज्ञयोग्यस्य खादिरादेर्वनस्पतेर्यज्ञसाधनत्वात् तत्रापि यज्ञत्वोपचारः। तथा चायं श्रौतोऽग्निर्ब्रह्मैव वेदरूप एव। यज्ञयोग्यो यो वनस्पतिः खादिरादिः, सोऽपि यज्ञ इत्यनुवर्तते, 'नहि मनुष्या यजेरन् यद्वनस्पतयो न स्युः' (श. ३.२.२.९) इति श्रुतेः। 'दैवीं धियमिति व्रतायोपस्पर्शनꣳ स्वासने' (का. श्रौ. ७.४.२६) इति कृष्णाजिन उपविष्टो

कि उव्वट एवं महीधर दोनों ने इसे सर्वानुदात्त होने के कारण सम्बोधनान्त पद न समझ कर व्याख्या की है, अतः इनको स्वरज्ञान भी नहीं है, परन्तु दयानन्द ने भी इस की प्रथमान्त पद के रूप में ही व्याख्या की है ॥१०॥

मन्त्रार्थ— हे ऋत्विजों! यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ करो, यज्ञ के लिये आवश्यक सामग्री ब्रह्माग्नि, वनस्पति आदि को इकट्ठा करो। ये सब यज्ञस्वरूप ही हैं। इस अनुष्ठान की सिद्धि के लिये हम सुखकारिणी तेजोधारिणी बुद्धि के लिये परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। इच्छा के अनुरूप रूप धारण कर सत्संकल्प वाले चक्षु आदि इन्द्रिय रूप प्राण देवता विघ्नों को दूर करें। उनके लिये यह क्षीर की आहुति सुफल हो॥ इस मन्त्र के द्वारा यजमान वाग्-विसर्जन कर ऋत्विजों को यज्ञ प्रारम्भ करने को कहता है ॥११॥

भाष्यसार—याज्ञिक विनियोग के अनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.१५, २७-२८) में विधान किया गया है कि 'व्रतं कृणुत' इत्यादि मन्त्र से वाग्विसर्जन (मौनत्याग), 'दैवीं धियम्' मन्त्र से आचमन तथा 'ये देवाः' मन्त्र से दुग्धादि व्रतरूपी आहार का ग्रहण यजमान करे।

यजमानो दैवीमिति मन्त्रेण व्रतार्थमाचामेत्, 'दैवीं धियं मनामह इति हस्तावनिज्येति' (आप. श्रौ.)। अभिष्टयेऽभिमुखत्वेन प्राप्तस्य यज्ञस्य सिद्ध्यर्थं धियमनुष्ठानविषयां बुद्धिं मनामहे याचामहे। 'याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ. ३.१९.१६)। कीदृशीं दैवीं देवसम्बन्धिनीं देवतोद्देशेन प्रवृत्तां सुमृडीकां सुष्ठु मृडयतीति सुमृडीकां तां शोभनसुखहेतुम्, वर्चोधां वर्चो दधातीति वर्चोधा तामनुष्ठानविषयकतेजसो धारयित्रीम्, यज्ञवाहसं यज्ञं वहतीति यज्ञवाहास्तं यज्ञनिर्वाहयित्रीम्। शक्वरी अतिशक्वरी वा अस्याः पूर्वेणार्धर्चेन व्रतायोपस्पृशति। तादृशी धीः सुतीर्था सुखेन तरीतुं प्राप्तुं शक्या सुतीर्था सुष्ठु तीर्थमवतरणमार्गो यस्यां सा सुतीर्था सती नो वशे असद् अस्मदायत्ता भवतु। 'ये देवा इति व्रतयत्यमृन्मये' (का. श्रौ. ७.४.२७)। स्वासन उपविष्टः कांस्यपात्रेण पयः पिबेत्। 'अथास्मै कंसे चमसे वा निषिच्य व्रतं प्रयच्छति। तद्दक्षिणः परिश्रित्य व्रतयति ये देवाः' इति बोधायनः। दीव्यन्ति द्योतन्ते देवाश्चक्षुरादीन्द्रियरूपाः प्राणा मनोजाता दर्शनश्रवणादीच्छारूपान्मनस उत्पन्नाः, तादृश्यामिच्छायां सत्यामेव चक्षुरादीनां प्रवर्तमानत्वात्। तथा मनोयुजो मनसा युक्ता एव वर्तन्ते, अन्यमनस्कस्य रूपादिप्रतिभासासम्भवात्, 'प्राणा वै देवा मनोजाता मनोयुजः' (तै. सं. ६.१.४.५) इति तित्तिरिश्रुतेः। स्वप्नावस्थायां वा मनसा युज्यन्ते। ते च दक्षक्रतवो दक्षाः कुशलाः क्रतवः सङ्कल्पा येषां ते कुशलसंकल्पाः शुभसङ्कल्पाःसङ्कल्पार्थकारिण इत्यर्थः। ते देवा नोऽस्मानवन्तु अनुष्ठानविघ्ननिवारणेनास्मान् पालयन्तु। तेऽस्मान् पान्तु फलप्रापणेन रक्षन्तु। तेभ्यः प्राणरूपेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं क्षीरं हुतमस्तु, 'वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वे देवाः' (श. ३.२.२.१३) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे तु वेदः साधकानाह—हे साधकाः, व्रतं शुभसङ्कल्परूपं कृणुत। कीदृशं कथमिति चेत्, तत्राह—अग्निः परमेश्वर एव ब्रह्म वेदत्रयम्, तस्यैव तदात्मना प्रादुर्भावात्, 'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम' (भा. पु. ६.१.४०) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। अग्निः स एव यज्ञः, तस्यैव यागैः समर्हणीयत्वात्। वनस्पतिस्तदुपलक्षितः सर्वोऽपि प्रपञ्चो यज्ञियो यज्ञार्हो यज्ञोपकरणं यज्ञफलं च। वेदोपदेशेन सावधाना साधकास्तां शुभसङ्कल्परूपां धियं प्रार्थयन्ते। वयं सर्वे दैवीं धियम्, देवः परमेश्वरः सर्वभूतेषु गूढः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे. ६.११) इत्यादिश्रुतेः। तत्सम्बन्धिनीमुपासनालक्षणां शुभसङ्कल्परूपां धियं मनामहे भगवन्तं प्रति याचामहे। कीदृशीं किमर्थम्? अभिष्टये अभिमतस्य भगवत्साक्षात्कारस्य प्रेम्णो वा सिद्ध्यर्थम्। कीदृशीं दैवीं परमात्मविषयां तथा सुमृडीकां सुष्ठु मृडयति सुखयतीति सुमृडीकां परमानन्ददायिनी तद्रूपा च तां वर्चोधां वर्चसो ब्रह्मसम्बन्धिनो वर्चसो धारयित्रीं यज्ञवाहसं ब्रह्मयज्ञज्ञानध्यानयज्ञादिनिर्वाहयित्रीं मनामह इति। तादृशी धीः सुतीर्था सुष्ठुतया संसारसागरतरणहेतुभूता नो वशे असद् भवतु। ये देवा दीव्यन्ते द्योतन्त इति देवाश्चक्षुरादय आध्यात्मिका अग्न्यादय आधिदैविकाश्च मनोजाता हिरण्यगर्भमनसो जाता उत्पन्नाः, तथा मनोयुजो मनसा युज्यन्त इति मनोयुजः, दक्षक्रतवः कुशलसङ्कल्पाः कुशलकर्माणश्च ते देवा भगवदंशभूता नोऽस्मानवन्तु। निर्विघ्नभगवत्प्रेमभगवत्साक्षात्कारसम्पादनेन पालयन्तु। ते नः पान्तु रक्षन्तु, फलपर्यवसायिज्ञानभक्तिप्रापणेनेति शेषः। श्रुतिसूत्रसम्मतं मुख्यं व्याख्यानं तूक्तमेव।

अध्यात्मपक्ष में इस मन्त्र का अर्थ यह है— वेद का साधकों के प्रति निर्देश है कि हे साधकगण, शुभ संकल्प रूपी व्रत करें। अग्नि परमेश्वर ही वेद है, अग्नि यज्ञ है तथा वनस्पति आदि समस्त विश्वप्रपंच यज्ञ का साधन है। साधक उस शुभसंकल्पात्मक मति के लिये प्रार्थना करते हैं। अभिमत की सिद्धि के लिये सुखकारिणी, ब्रह्म की धारयित्री, ब्रह्मयज्ञ की निर्वाहकारिणी बुद्धि की याचना करते हैं। संसारतारण की हेतुभूता बुद्धि हमारे पास रहे। द्योतमान, मन से उत्पन्न, मन से संयुक्त, कुशलसंकल्पवान्, भगवदंशभूत वे देवगण हमारी रक्षा करें, हमारा पालन करें।

दयानन्दस्तु— 'मनुष्यैर्यस्याग्निसंज्ञा, तद् ब्रह्म विज्ञायोपास्य सुप्रज्ञा प्राप्तव्या, यां बुद्धिं विद्वांसः स्वीकुर्वन्ति। तथा शिल्पयज्ञान् संसेव्य विदुषां सङ्गमेन विद्यां प्राप्य स्वतन्त्रे व्यवहारे सदा स्थातव्यम्। नहि प्रज्ञया विना कश्चित् सुखमेधते। तस्मात् सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो ब्रह्मविद्यां बुद्धिं च दत्त्वैते सततं रक्ष्याः। रक्षिताश्चैते परमेश्वरस्य धार्मिकाणां च विदुषां प्रियाणि कर्माणि नित्यमाचरेयुः' इति भावार्थमाह। पदार्थनिरूपणे तु—'व्रतं नियमपूर्वकं धर्म्याचरणम्, अग्निर्वाचकः, ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं वाच्यम्। अग्निरभिधायकः, यज्ञोऽभिधेयः। वनस्पतिर्वनानां पालयिताग्निसंज्ञकः' इत्याह, तत्तु निर्मूलमेव, श्रुतिसूत्रादिविरोधात्।

श्रुतिसूत्रसम्मतश्च सायणादिव्याख्यातः पूर्वोक्त एवार्थः। तथाहि— 'वाचं यच्छति'(श. ३.२.२.१) इति वाङ्नियमनं विहितम्। तस्य 'तद्धैके नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसर्जयन्ति' (श. ३.२.२.५) इति केषाञ्चिद्रीत्या नक्षत्रदर्शनकाले वाग्विसर्जनमनुष्ठ्या, सम्यगित्यर्थः। तदानीं सर्वैः प्रज्ञातत्वेन सूर्योऽस्तमितो भवति। तन्मतं निराकृतम्। यदि नक्षत्राच्छादको मेघस्तदा क्व वाग्विसर्जनं कुर्युः? 'तस्माद्यत्रैवानुष्ठ्या सम्यगस्तमितं मन्येत तदेव वाचं विसर्जयेत्' (श. ३.२.२.५)। यत्र कालेऽस्तमितमनुष्ठ्या सम्यक् प्रज्ञातं मन्येत, तदैव विसर्जयेत्। एवमेव केषाञ्चिद्रीत्या भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रेण वाग्विसर्जनमनूद्य तदपि यज्ञाप्यायनसन्धानयोस्तन्मन्त्रे स्फुटाप्रतिभानात् प्रतिक्षिप्य 'अनेनैव वाचं विसर्जयेत्। व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इत्येष ह्यस्यात्र यज्ञो भवत्येतद्धविर्यथा पुराग्निहोत्रं तद्यज्ञेनैवैतद्यज्ञꣳ संभृत्य यज्ञे यज्ञं प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳ सन्तनोति संततꣳ ह्येवास्यैतद् व्रतं भवत्यासुत्यायै त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः' (श. ३.२.२.७) इति सिद्धान्तपक्षमाह—अनेन वाचं विसर्जयति, यतोऽत्र व्रतं कृणुतेति। व्रतग्रहणार्थत्वं सामर्थ्यादवसीयते। वीप्सया सूत्रानुसारेण च त्रिर्ब्रूयादित्युक्तमेव। व्रतकरणं प्रशंसति—एष हीति। एष व्रताख्यः पदार्थः, अत्र दीक्षाकाले यज्ञो भवति तथा एतद् व्रतं हविरपि भवति, यथा पुरा दीक्षादिवसात् पूर्वमग्निहोत्रमेवमिदमप्यग्निहोत्रप्रत्याम्नाय एवेत्यर्थः। तदुक्तमापस्तम्बेनापि—'न त्वेव न व्रतयेदग्निहोत्रस्याविच्छेदाय' (आप. श्रौ. १०.१६.११)। अत एव एतद्व्रताख्येन यज्ञेन प्रवर्तमानेन चिकीर्षितं ज्योतिष्टोमं यज्ञं व्रताख्यं संभृत्य एकीकृत्य तत्रैव प्रतिष्ठाप्य तं ज्योतिष्टोममेतेन विस्तारितवान् भवति। अत एतन्मन्त्रेणाभिमतयज्ञसन्धानसम्भवादयं पक्ष एव श्रेयानित्यर्थः। विहितव्रतं सुत्यापर्यन्तं कर्तव्यमित्याह—सन्ततं ह्येवास्यैतद् व्रतं भवत्यासुत्यायै। व्रतं कृणुतेति त्रिष्कृत्व आह हि यतो यज्ञस्त्रिवृत्। मन्त्रे व्रतशब्दो यजमानभोजनीयपयःपर एव। दीक्षाकाले व्रताख्यः पेयरूपः पदार्थो यज्ञो भवति, यज्ञान्तरस्य दीक्षाकाले निषेधात्। अग्निहोत्रमपि दीक्षाकाले निषिद्धम्। तत्प्रत्याम्नाय एवायमत्र यज्ञे हविरपि। एतदेव पयोरूपमेव। तदनेन व्रताख्येन यज्ञेन चिकीर्षितं यज्ञं सम्भृत्य विस्तारितवान् भवतीत्युक्तमेव।

'अथाग्निमभ्यावृत्य वाचं विसृजते। न ह स यज्ञमाप्याययति न सन्दधाति योऽतोऽन्येन वाचं विसृजते स प्रथमं व्याहरन् सत्यं वाचोऽभिव्याहरति' (श. ३.२.२.८)। वाग्विसर्जनमग्न्यभिमुखं कर्तव्यमित्याह—अथाग्निमिति। उक्तमर्थं व्यतिरेकेण प्रशंसति—अतोऽन्येनेति। अस्मान्मन्त्रादन्येन भूर्भुवःस्वरित्यनेन यो वाचं विसृजते,

---

स्वामी दयानन्द ने वनस्पति का अर्थ 'वनों का पालक अग्नि' किया है। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में वनस्पति को स्पष्ट ही यज्ञार्ह कहा गया है, अतः वनस्पति यज्ञार्ह द्रव्य है। इससे वनों का पालक अग्नि वनस्पति है, यह मत निरस्त हो जाता है। 'व्रत का अर्थ नियमपूर्वक धर्माचरण है' यह स्वामी दयानन्द द्वारा कथित व्याख्या भी निरस्त माननी चाहिये, क्योंकि उसका श्रपण सम्भव नहीं हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में व्रत के श्रपण का विधान किया गया है। अतः श्रुतिवाक्यों तथा सूत्रनिर्देशों के विरुद्ध यह व्याख्यान उपेक्षा के योग्य है ॥११॥

स न यज्ञमाप्याययति न सन्दधाति। तस्माद् व्रतं कृणुतेत्यनेनैव मन्त्रेण वाचं विसृजेदिति ।मन्त्रपदानि व्याचष्टे—स प्रथममिति। स वाग्व्यवहारस्यादावग्निर्ब्रह्मेति ब्रुवन् सत्यमेवोक्तवान् भवति, 'सत्यं ब्रह्म' (बृ. उ. ५.४.१.) इति श्रुतेः। 'अग्निर्ब्रह्मेति। अग्निर्ह्येव ब्रह्माग्निर्यज्ञ इत्यग्निर्ह्येव यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञिय इति वनस्पतयो हि यज्ञिया नहि मनुष्या यजेरन् यद्वनस्पतयो न स्युस्तस्मादाह वनस्पतिर्यज्ञिय इति' (श. ३.२.२.९)। अत्र स्पष्टमग्निर्ह्येव ब्रह्मेत्युक्त्याग्नेर्वाचकत्वप्रत्याख्यानेनाग्नेर्ब्रह्मत्वमुक्तम्। तच्च पूर्वोक्तरीत्यैव सङ्गच्छते। ब्रह्मपदेन वेदत्रयमुच्यते। तत्साध्यत्वाद् वैदिकाग्नेर्ब्रह्मरूपत्वमेव युक्तम्। अग्नेर्यज्ञसाधनत्वात् तत्र यज्ञत्वमप्युपचर्यते। वनस्पतेर्यज्ञियत्वमपि स्पष्टमेव ब्राह्मणेनोच्यते। यदि वनस्पतयो न भवेयुस्तदा मनुष्याः साधनाभावाद् यज्ञं न कुर्युः, तस्माद्वनस्पतिर्यज्ञः। एतावता वनस्पतिर्वनानां पालकोऽग्निरिति निरस्तमेव।

'अथास्मै व्रतं श्रपयन्ति। देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति, शृतं वै देवानाꣳ हविर्नाशृतं तस्माच्छ्रपयन्ति तदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति तद्यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति' (श. ३.२.२.१०)। व्रतपदेन यजमानभक्षणीयं पय एवेत्यत्र स्पष्टमिदं ब्राह्मणवचनं प्रमाणम्। अथास्मै यजमानाय व्रतं तद्भक्षणीयं पयः श्रपयन्ति। तेन व्रतं नियमपूर्वकधर्माचरणमिति दयानन्दोक्तं व्याख्यानं परास्तं वेदितव्यम्, तस्य श्रपणासम्भवात्। ननु यजमानो न देव इति कथं तत्पयः श्रपणीयमिति चेत्तत्राह— देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षत इति। तस्माद् दीक्षितो देवानामेको भवति। देवानां च नाशृतं हविर्भवति। तस्माच्छ्रपणीयमेव। ननु देवा अग्निमुखा भवन्तीत्यग्नावेव होतव्यमिति तत्राप्याह— एष एव यजमान एव व्रतयति पिबति नाग्नौ जुहोति। 'यज्ञेन वै देवा इमां जितिं जिग्युर्यैषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनभ्यारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम' (श. ३.२.२.११)। आत्मन्येव होमं पुरातनवृत्तान्तेन प्रशंसति—यज्ञेन वा इति। श्रुतिस्तु व्याख्याता। प्रसङ्गान्तरे देवैराच्छादितस्यापि पयोव्रतस्य तदवगच्छद्भिः पूर्वोक्तर्षिभिः सम्भृतत्वादनेनापि संभर्तव्यमित्यपि तत्रैवोक्तम्। 'तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास। ते यज्ञꣳ समभरन् यथायं यज्ञः संभृत एष वा अत्र यज्ञो भवति यो दीक्षत एष ह्येनं तनुत एष एनं जनयति तद्यदेवात्र यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत् पुनराप्याययति यदेष एव व्रतयति नाग्नौ जुहोति न हाप्याययेद्यदग्नौ जुहुयाद्। जुह्वदु हैव मन्येत नाजुह्वत्' (श. ३.२.२.१२)। ननु सर्वेषामपि हविरग्नौ हूयते, पयोऽपि हविरिति किमिदं पीयते, कुतो न हूयत इति चेत्तत्रापि दीक्षितस्याग्नित्वमुपपादयति—एव वा अत्र यज्ञोऽग्निर्भवति यो दीक्षते। कुत एतदित्याह—एष ह्येनं यज्ञं तनुते, एनं जनयतीति। अत्र यज्ञशब्देनाग्निरभिधीयते, यज्ञोत्पादकत्वात्। अतः स्वात्माग्नौ होमेन यज्ञस्य ज्योतिष्टोमस्य यन्निधीतं निष्पीतमनुष्ठानेन विफलम्, यच्च विदुग्धं विपरीतानुष्ठानेन विपरीतफलमङ्गम्, तत्पुनराप्यायितवान् भवति। व्यतिरेके दोषमाह—नाग्नौ जुहोत्यादिना।

'इमे वै प्राणाः मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवो वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वे देवा एतासु हैवास्यैतद्देवतासु हुतं भवति' (श. ३.२.२.१३)। ननु देवताप्रीणनाभावात् कथं यज्ञबुद्धिरिति चेत्, तत्राह— इमे वा इति। वागादीनां मुख्यप्राणप्रवेशेन प्राणशब्दव्यवहारस्य इमे प्राणा वागादयो मनोजाता मनसः सकाशादुत्पन्नाः, मनोव्यतिरेकेण शब्दादिषु प्रवृत्त्यसम्भवात्। मनोयुजः, स्वस्वव्यापारेषु मनसः कर्तृत्वात्। त एव दक्षक्रतवो दक्षाः प्रवृद्धा स्वस्वोचिताः क्रतवः कर्माणि येषां ते दक्षक्रतवः। तेषां देवता विभज्य योजयति—वागेवाग्निरित्यादिना। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ.आ. २.४.२)। इन्द्रियतदभिमानिदेवतयोरभेदव्यवहारः। एतासु देवतासु प्रीणयति, तस्मादेतासु निमित्तभूतासु स्वात्मनि हुतं भवति। यद्वा अग्नौ चेदेकस्मिन्नेव हुतं भवेत्, आत्मनि तु तत्तदिन्द्रियदेवतासु

सर्वास्वपि हुतं भवति। तस्माज्जुह्वन्मन्येत। एवं यजमानस्य दीक्षितस्य यज्ञनिर्वर्तकत्वेन यज्ञरूपत्वात् तदीयवागादिषु प्राणेष्वग्न्यादिदेवतानां सत्त्वात् तत्पानेन सर्वदेवतासु तद्धुतं भवति। तद्धैके प्रथमे व्रत उभौ व्रीहियवावावपतीत्यादिना केषाञ्चिद्रीत्या व्रीहियवयोर्व्रतत्वमन्येषां व्रीहियवप्रियङ्गुगोधूमादि यच्च सुरभिपिप्पल्यादि तस्य सर्वौषधस्य व्रतत्वमुपक्षिप्य तौ पक्षौ प्रत्याख्याय पयस एव व्रतत्वं प्रशस्य 'अथास्मै व्रतं प्रयच्छति। अतिनीय मानुषं कालꣳ सायं दुग्धमपररात्रे प्रातर्दुग्धमपराह्णे व्याकृत्या एव दैवं चैवैतन्मानुषं च व्याकरोति' (श. ३.२.२.१६)। मानुषं कालमतिनीयातिक्रम्य सायं दुग्धमपररात्रे प्रातर्दुग्धमपराह्णे दैवं च मानुषं च कालं व्याकृत्य विभज्य प्रयच्छति। तदुक्तं कात्यायनेन—'व्रतं प्रयच्छत्यनुत्सिक्तमपररात्रे सायंदोहमपराह्णे प्रातर्दोहम्' (का. श्रौ. ७.४.२५)। व्रतयतीति व्रतं पयः, अनुत्सिक्तं पयो भोजनार्थं यजमानाय प्रयच्छत्यध्वर्युः। तत्र सायंदोहमपररात्रे दद्यात्, प्रातर्दोहं चापराह्णे दद्यात्। व्रतं दुग्धमल्पं दृष्ट्वा यदि कश्चित् स्नेहदयादियुक्तः पुरुषोऽन्यद् दुग्धमानीय व्रतमध्ये निनयति तदुत्सिक्तम्, तद्विपरीतमनुत्सिक्तं क्षीरान्तरेणासंसृष्टमित्यर्थः। प्रकृते चानुत्सिक्तमेव व्रतं दद्यात्।

'अथास्मै व्रतं प्रदास्यन्नप उपस्पर्शयति। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वश इति मानुषाय वा एष पुराऽशनायावनेनिक्तेऽथात्र देव्यै धिये तस्मादाह दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वश इति स यावत्कियच्च व्रतं व्रतयिष्यन्नप उपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत्' (श. ३.२.२.१७)। अध्वर्युकारयितृकं यजमानकर्तृकमुपस्पर्शनं विधत्ते—अथास्मै व्रतं प्रदास्यन्निति। लौकिकाशनाय हस्तावनेजनव्यापृतये मन्त्रेणावनेजनं युक्तमिति तदुच्यते। तत्रापि पयोव्रतस्य दीक्षितविषयत्वेन देवाशनत्वाद् दैवीं धियमिति मन्त्रेणावनेजनं युक्तम्। प्रकरणात् पयोव्रत एव हस्तप्रक्षालनेऽयं मन्त्र इति प्राप्तिस्तथापि सर्वव्रतावनेजनसाधारणतामाह—स यावदिति। उपस्पर्शनमाचमनमिति कर्कः। उदकस्पर्शमात्रमेवेति सम्प्रदाय इति हरिस्वामी च।

'अथ व्रतं व्रतयति। ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहेति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद् भवति' (श. ३.२.२.१८)। समन्त्रकं व्रत(पयः) पानं विधत्ते— अथ व्रतमिति। एवमस्य समन्त्रकं व्रतं स्वाहाकृतत्वाद् हुतमेव भवति। मन्त्रव्याख्यानं तु तदनुगुणं कृतमेव। तस्माच्छ्रुतिसूत्रविरुद्धं व्याख्यानमुपेक्षणीयमेव ॥११॥

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।
ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ॥१२॥

'श्वात्राः पीता इति नाभिमालभते' (का. श्रौ. ७.४.२९)। श्वात्राः पीता इति मन्त्रेण यजमानो नाभिमालभते। अब्दैवत्या जगती। हे क्षीररूपा आपः! यूयं मया पीता सत्यः श्वात्राः क्षिप्रपरिणामाः शीघ्रं जीर्णा भवत। 'श्वात्रमिति क्षिप्रनामसु' (निरु. ५.३)। किञ्चास्माकं पीतवतामन्तरुदरे जलपाकस्थाने सुशेवाः शोभनसुखाः, भवतेत्यनुवर्तते।

मन्त्रार्थ— हे दुग्धरूप जलदेवता! पीये जाने पर तुम शीघ्र जीर्ण (पच) हो जाओ। हम पीने वालों के उदर में सुखकारी, सभी रोगों को दूर करने वाले, भूख-प्यास आदि को मिटाने वाले, यज्ञ को समृद्ध करने वाले, मृत्यु को दूर करने वाले, मरण-रहित तुम हमारे लिये स्वादयुक्त बनो॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान अपनी नाभि का स्पर्श करता है ॥१२॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.३०) के याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'श्वात्राः पीताः' इस कण्डिका से यजमान नाभि का स्पर्श करता है। तदनुसार इस मन्त्र का जलदेवतापरक अर्थ किया गया है।

'शेवमिति सुखनामसु' (निरु. १०.१७)। तास्तथाविधा आपोऽस्मभ्यमस्मद्धितार्थं स्वदन्तु स्वादुत्वयुक्ता भवन्तु। कथंभूतास्ताः? अयक्ष्माः प्रबलरोगविशेषरहिताः, अनमीवा अल्पेन रोगसामान्येनापि रहिताः, अनागसो निष्पापा निरुपद्रवा देवीः देवेभ्यो शरीरादिपुष्टिहेतुत्वेन द्योतमाना अमृता अपमृत्युरहिता ऋतावृध ऋतं यज्ञं वर्धयन्तीति ऋतावृधः, यज्ञपोषिका इत्यर्थः। यद्वा देवीरिति द्वितीयान्तं पदम्। एतत्पदसामानाधिकरण्यात्तु ता इत्यादीन्यपि द्वितीयान्तान्येव पदानि। ता युष्मान् अस्मभ्यमस्मदर्थमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु आस्वादयन्तु। अमृता ऋतावृधः प्राणाः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वाण्यपि वस्तूनि सर्वशेषिणो भगवतः शेषभूतान्येवेति तदधिगमतद्भक्तितत्सेवौपयिकत्वेनैव सर्वेषां साफल्यम्। शरीरस्थितिरपि भगवद्भक्तिसदुपयोगेनैवेप्सिता। तथैव जलान्नादिकमपि तदर्थमेवोपयोगीति तदाह—हे आपः! आप्नुवन्तीत्यापः, यूयं पीताः सत्यः श्वात्राः क्षिप्रविपरिणामा जीर्णाः, अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः शोभनसुखा भगवद्भक्त्युपयोगिस्वास्थ्यसम्पादिका भवत। 'शेवमिति सुखनामसु' (निरु.१०.१७)। सुखशोभनत्वमिदमेव यद् भगवत्सम्बन्धित्वम्। वैषयिकसुखस्य विषवत् त्याज्यत्वोक्त्याऽशोभनत्वमेव, 'मोक्षमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज' इत्यभियुक्तोक्तेः। किञ्चास्माकं हिताय भगवत्परायणतायै स्वदन्तु स्वादुत्वादिगुणविशिष्टा भवन्तु। अयक्ष्मा प्रबलरोगशून्याः, अनमीवाः सामान्यरोगनिवर्तिकाः, अनागसोऽपराधहारिण्यः, ऋतावृध ऋतं सत्यं ध्यानज्ञानादिलक्षणं यज्ञं वर्धयन्तीति ऋतावृधः, देवीः देव्यो द्योतमाना भगवत्सुखप्रकाशिकाः, अमृता अमरणहेतवो भगवत्प्रापणेन मरणनिवर्तिका भवन्तु।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, या अस्माभिः पीता अस्माकमन्तरुदरेऽस्मभ्यं श्वात्राः सुशेवा अयक्ष्मा अनमीवा अनागस ऋतावृधोऽमृता देवीः देव्यस्ता भवन्तः स्वदन्तु सुसेवन्ताम्। तदेतदनुष्ठाय यूयं सुखिनो भवत। श्वात्रं प्रशस्तं विज्ञानं धनं वा विद्यते यासां ताः, अर्शआद्यच्। 'श्वात्रं पदनामसु पठितम्' (निघ. ४.२.१४), 'धननामसु च' (निघ. २.१०.६) इति, तदसङ्गतमेव, स्वसिद्धान्तव्याकोपात्। तथाहि त्वद्रीत्या अपां जडत्वेन तासु विज्ञानाभावेन सुतरामसङ्गतिः। प्रशस्तज्ञानस्य तु तत्र का कथा? तासु प्रशस्तं धनमपि न सम्भवति, अन्यथा जलस्य सौलभ्याद् धनसौलभ्यमपि स्यात्। तस्मात् क्षिप्रपरिणामा इत्येवार्थः। अपां सेवनं जीवनहेतुत्वादनिवार्यमेवेति रागप्राप्तत्वात् तद्विधानं व्यर्थमेव स्यात्।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है — समस्त वस्तुएं भगवदवयवभूत हैं। अतः भगवत्सेवा के द्वारा ही सबकी सफलता है। इस आशय से कहा गया है कि हे व्यापनशील जलधाराओं, आप पीने पर शीघ्र पचनशील होकर हमारे उदर के अन्तर्गत सुखकर भगवद्भक्ति की सम्पादिनी हों तथा रोगशून्य, रोगनिवर्तक, दोषहारक, सत्य एवं यज्ञ की परिवर्धक, भगवत्सुख की प्रकाशक, अमृतत्वप्रापक होकर स्वादुत्वादि गुणविशेष से युक्त हों।

स्वामी दयानन्द ने 'श्वात्राः' का अर्थ प्रशस्त विज्ञान अथवा धनवाली किया है, वह असंगत है, क्योंकि इससे स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त का ही खण्डन होता है। उनके मत में जल के जड होने के कारण उसमें ज्ञान का अभाव होने से इस अर्थ की कथमपि संगति नहीं है। उस मत में प्रशस्त ज्ञान की तो बात ही नहीं हो सकती। जल में प्रशस्त धन की संभावना भी नहीं है। अन्यथा जल की प्राप्ति से धन की प्राप्ति भी कही जायगी। अतः 'श्वात्राः' का अर्थ शीघ्र पचनशील ही ठीक है। शतपथ ब्राह्मण में भी हमारे सिद्धान्त से सम्मत व्याख्यान ही उपदिष्ट है ॥१२॥

शतपथे तु सिद्धान्तसम्मतमेव व्याख्यानं समर्थितम्। 'अथ व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशते श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवास्ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृध इति देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवत्यनुत्सिक्तं वै देवानाꣳ हविरथैतद् व्रतप्रदो मिथ्याकरोति. व्रतमुपोत्सिञ्चन् व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्या कृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह श्वात्राः पीता भवत यूयमापो. . . . . इति स यावत्किग्च्च व्रतं व्रतयित्वा नाभिमुपस्पृशेदेतेनैवोपस्पृशेत् कस्तद्वेद यद् व्रतप्रदो व्रतमुपोत्सिञ्चेत्' (श. ३.२.२.१९)। समन्त्रकनाभ्युपस्पर्शनस्य विधानं तत्प्रयोजनं चाह—अथ व्रतं व्रतयित्वेति। देवार्थस्य हविषः स्कन्दनायोग्यत्वाद् दीक्षितस्यापि देवत्वाद् व्रतप्रदानेऽप्यध्वर्योः प्रमादात् स्कन्दनादेः सम्भवाद् यज्ञदोषः सम्भाव्येत, तस्यायं मन्त्रः प्रायश्चित्तमित्यर्थः। अस्मिन् मन्त्रे पयसामितस्ततः पतनराहित्येन शीघ्रपीतत्वस्योदरान्तःप्रवेशस्य च प्रार्थितत्वादुदकोपस्पर्शनमन्त्रवत् तन्नाभ्युपस्पर्शनमन्त्रस्यापि सर्वव्रतसाधारण्यमाह—स यावत्कियदिति। नाभ्युपस्पर्शनात्मकप्रायश्चित्तमन्त्रस्य सर्वत्र कर्तव्यत्वे कारणमाह—कस्तदिति। उपोत्सिञ्चेत् सर्वतो विकिरेत् ॥१२॥

इ॒यं ते॑ य॒ज्ञिया॑ त॒नू र॒पो मु॑ञ्चामि॒ न प्र॒जाम्। अ॒ꣳहो॒मुचः॒ स्वाहा॑कृताः पृथि॒वीमावि॑शत पृथि॒व्या सम्भ॑व ॥१३॥

'मेक्ष्यन् कृष्णविषाणया लोष्टं किञ्चिद्वादत्त इयं त इति' (का. श्रौ. ७.४.३०)। मूत्रं करिष्यन् शृङ्गेण लोष्टं किञ्चिद्वा तृणादिकं वा गृह्णाति। हे यज्ञपुरुष! इयं पृथिवी ते तव यज्ञिया तनूः यज्ञार्हो देहः, अतोऽस्या मूत्रोपहतिपरिहाराय व्यवधानं कर्तुं लोष्टं तृण॥ वा स्वीकरोमि। यद्वा पृथिवी प्रोच्यते इयं तव यज्ञिया तनूः, तामाददे इति शेषः। 'अपो मुञ्चामीति मेहति' (का. श्रौ. ७.४.३१)। अपो मुञ्चामीति मेहतीत्यस्यां लोष्टव्यवहितायां पृथिव्यामपो मूत्ररूपा अहं मुञ्चामि न प्रजां प्रजोत्पत्तिनिमित्तं रेतो मुञ्चामि। हे आपः! मूत्ररूपा यूयं पृथिवीमाविशत प्रविशत। कीदृश्यः? अंहोमुचः अंहसः पापाद् मुञ्चन्ति पुरुषं पृथक्कुर्वन्तीति। स्वाहाकृताः पूर्वं क्षीरपानकाले स्वाहेति मन्त्रेण स्वीकृताः, अथवा स्वाहाकृताः सत्यो भूमिमाविशत। 'पृथिव्या सम्भवेत्यात्तं निदधाति' (का. श्रौ. ७.४.३२)। गृहीतलोष्टादिकं मूत्रणस्थाने क्षिपेत्। हे लोष्टादिक! पृथिव्या सह त्वं सम्भव एकीभव। 'अथ यत्र मेक्ष्यन् भवति। तत्कृष्णविषाणया लोष्टं वा किञ्चिद्वोपहन्तीयं ते यज्ञिया तनूरितीयं वै पृथिवी देवी देवयजनी सा दीक्षितेन नाभिमिह्या तस्या एतदुद्गृह्यैव यज्ञियां तनूमथायज्ञियꣳ शरीरमभिमेहत्यपो मुञ्चामि न प्रजामित्युभयं वा अत एत्यापश्च रेतश्च स एतदप एव मुञ्चति न प्रजामꣳहोमुचः स्वाहाकृता इत्यꣳहस इव ह्येता मुञ्चन्ति यदुदरे गुण्ठितं भवति तस्मादाहाꣳहोमुच इति स्वाहाकृताः

मन्त्रार्थ— हे यज्ञपुरूष! यह पृथ्वी तुम्हारे लिये शरीर का काम करती है, अतः इसकी अपवित्रता को दूर करने के लिये मैं मिट्टी के ढेले या तृण को ग्रहण करता हूँ। मैं मूत्ररूप जल को छोड़ता हूँ। हे मूत्ररूप जल! तुम अशुचि हो। दूध पीते समय स्वाहा मन्त्र से स्वीकृत तुम पृथ्वी में प्रवेश करो। हे लोष्ट आदि, तुम पृथ्वी के साथ एक रूप हो जाओ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान हिरण के सींग से मिट्टी या तृण को ग्रहण कर अपवित्र भूमि पर डालता है ॥१३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.३१-३३) में 'इयं ते' इत्यादि मन्त्रों में सोमयाग में दीक्षित यजमान की दैहिक जलोत्सर्जन शंका के निवारणहेतु विनियोगविधान का निर्देश किया गया है।

पृथिवीमाविशतेत्याहुतयो भूत्वा शान्ताः पृथिवीमाविशतेत्येवैतदाह' (श. ३.२.२.२०)। दीक्षितस्य मूत्रोत्सर्गे विशेषमाह—अथ यत्रेति। यत्र प्रदेशे मेक्ष्यन् मूत्रसेकं करिष्यन् भवति, तत्र किञ्चिद्वा लोष्टाभावे तत्सम्बन्धि मृदादिकं कृष्णविषाणया उपहन्ति उपाददीत लोष्टं वा किञ्चिद्वा। मन्त्रमाह—इयं त इति। व्याचष्टे— इयं वा इति। पृथिव्या देवयजनार्हत्वं कृतवान् भवति। मेहनमन्त्रमाह—अपो मुञ्चामीति। अंहोमुच इति देहान्तर्गतेन पापेन सहैवैता मूत्ररूपा अपो मुञ्चन्तीति तस्मादंहोमुच इति पठेत्।

अध्यात्मपक्षेऽपि—सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मरूपत्वमभिप्रेत्य न साक्षात्पृथिव्यामपां विमोकः, पृथिव्या ब्रह्मरूपत्वात्, किन्तु लोष्टादिव्यवहितायामेवापो मूत्ररूपा मुञ्चामि। हे आपः! अंहोमुचः, अंहसः सकाशात्पुरुषं मुञ्चन्ति पृथक्कुर्वन्ति स्वाहाकृताः स्वाहाकारेण ज्योतिष्टोमादौ व्रतरूपा यजमानेन स्वाहेति मन्त्रेण स्वीकृता यूयं पृथिवीमाविशत, हे लोष्टादिक! पृथिव्या सहैकीभव। यद्वा आप्नुवन्तीत्यापो व्यापकब्रह्मविवर्तत्वेन ब्रह्मरूपाः।

दयानन्दस्तु—'इयं वक्ष्यमाणा ते तव यज्ञिया यज्ञमर्हति सा यज्ञिया तनूः शरीरम् अपः संस्कृतजलानि मुञ्चामि प्रक्षिपामि, न प्रजाम्। अंहोमुचो दुःखमोचयित्र्यः स्वाहाकृता यत्क्रियया सुसंस्कृताः क्रियन्ते ताः। पृथिवीं भूमिम् आसमन्ताद् विशत। पृथिव्या भूम्या सह सम्भव सम्पद्यस्व। हे विद्वन्, यथा ते येयं यज्ञिया तनूरपः प्राणान् प्रजां पालनीयां न त्यजति यं त्वं न मुञ्चसि, तथैवाहमेता ईदृशं स्वशरीरं च न मुञ्चामि न त्यजामि। हे मनुष्याः, यथा यूयं पृथिव्या सह सम्भवतांहोमुचः स्वाहाकृता अपः पृथिवीं चाविशत विज्ञानेनासमन्तात् प्रवेशं कुरुताहं च सम्भवाम्याविशामि च, तथा त्वमपि सम्भव चाविश' इति, हिन्दीभाष्ये च— 'हे विद्वन्, यथा ते इयं यज्ञिया तनूः यज्ञयोग्यो देहः, अपो जलं प्राणान् प्रजां वा न त्यजसि रक्षसि, तथैवाहं मदीयं शरीरं पूर्णमायुर्भोगमन्तरा मध्य एव प्रमादेन न मुञ्चामि। हे मनुष्याः, यूयं पृथिव्या भूम्या वैभवेन युक्ताः सन्तः, अंहोमुचो दुःखमोचयितृभ्यः स्वाहाकृता वाण्या सिद्धा अपो भूमिं च आविशत अहं चैश्वर्यसहित इमान् प्रविशामि, तथैव त्वमपि सम्भव प्रविश च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तशतपथवचनविरुद्धत्वात् अनुपपत्तेश्च। नात्र परमेश्वरो वक्ता, तस्याशरीरत्वात्। न जीवः, समत्वात्। हे विद्वन्निति सम्बोधनेन विद्वानुपदेश्यः प्रतीयते, उपदेष्टुश्चातथात्वं ज्ञायते। न च विद्वानुपदेष्टव्यो वैदुष्यादेव। नहि यज्ञियैव तनूः प्राणान् प्रजां च न त्यजति, किन्त्वयज्ञियापि तथैव। न च केचिज्जलं पृथिवीं प्रविशमाना उपलभ्यन्ते, न वा तदनुकुर्वाणा केचित्तथाभूता दृश्यन्ते, उपपद्यते वा ॥१३॥

इस कण्डिका का आध्यात्मिक पक्ष में इस प्रकार अर्थ है—समस्त विश्वप्रपञ्च की ब्रह्मरूपता मानने पर पृथ्वी के भी ब्रह्मरूप होने के कारण साक्षात् पृथ्वी पर जलोत्सर्ग नहीं किया जाता, अपि तु लोष्ट (ढेला) आदि का व्यवधान रखते हैं। हे जल, पाप से पुरुष को मुक्त करने वाले, यज्ञों में यजमान के द्वारा स्वाहा-मन्त्रों से परिगृहीत आप पृथिवी में प्रविष्ट हों। तथा हे लोष्टादि द्रव्य, आप सब पृथिवी से संयुक्त हों।

स्वामी दयानन्द ने भाष्य तथा हिन्दी व्याख्या में जो अर्थ किया है, वह शतपथ ब्राह्मण से विरुद्ध होने के कारण तथा संगति न रहने के कारण समीचीन नहीं है। इनके मत में परमेश्वर शरीररहित होने के कारण वक्ता नहीं हो सकता। समान होने के कारण जीव भी वक्ता नहीं हो सकता। 'हे विद्वन्' इस प्रकार विद्वान् को उपदेश देना उसके वैदुष्य रहने पर उचित नहीं है। स्वामी दयानन्द के अर्थानुसार जल और पृथ्वी में प्रविष्ट होते हुए कोई उपलब्ध नहीं होते। उनका अनुकरण करने वाले भी इस प्रकार के व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होते। यह अर्थ संगत भी नहीं है ॥१३॥

अग्ने त्वꣳ सुजागृहि वयꣳ सुमन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥१४॥

'अग्ने त्वमित्युक्त्वा स्वपित्यधः प्राङ् दक्षिणत इति' (का. श्रौ. ७.४.३३)। अग्निदेवत्याऽनुष्टुप्। हे अग्ने, त्वं सुजागृहि निद्राणस्य मम भयपरिहाराय सुष्ठु विनिद्रो भव। वयं यष्टारः सुमन्दिषीमहि साधु स्वप्स्यामः। मन्दति स्वापार्थः। स्वापविघाते सति मोदस्याभावादेवं प्रार्थना। अप्रयुच्छन्नप्रमाद्यन् नो रक्ष अस्मान् पालय। युच्छतिः प्रमादार्थः। नोऽस्माकं प्रबुधे प्रबोधाय पुनस्कृधि भूयोऽपि कुरु, प्रयत्नमिति शेषः, 'अग्निमेवाधिपं कृत्वा स्वपिति रक्षसामपहत्यै' (तै. सं. ६.१.४.६) इति श्रुतेः। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा. सू. ८.४.२७) इति नस्य णत्वम्। नोऽप्रयुच्छन्नित्यत्र 'एङः पदान्तादति' (पा. सू. ६.१.१०९) इति पूर्वरूपे प्राप्ते 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा. सू. ६.१.११५) इति प्रकृतिभावः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं नोऽस्माकं रक्षणाय सुजागृहि विनिद्रो भव। सदा सावधानोऽपि परमेश्वरः स्वात्मरक्षणाय तज्जागरणाय प्रार्थ्यते। येन मद्रक्षणाय त्वत्कर्तृकजागरणेन च वयं सुमन्दिषीमहि निर्भयं सुखं शयीमहि, 'यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः' (भा. पु. ६.२.५) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। अप्रयुच्छन् सावधानः, नोऽस्मान् रक्ष पालय। दैन्यातिशयात् सावधानेऽप्रमत्तेऽपि भगवति सावधानतायै प्रार्थना भवति। यथोक्तमभियुक्तैः—'या त्वरा द्रौपदीत्राणे या त्वरा गजमोक्षणे। मय्यार्ते करुणामूर्ते सा त्वरा क्व गता हरे॥' इति। यथा वा केनचिद् भाषाकविना—'बाण सेरान कि सिंह हेरान कि ध्यान धरे प्रभु को जपती हो। की कहुँ सेवक कष्ट परो तँह अष्टभुजा बल दे लड़ती हो। सिंह चढ़े देवी छत्र विराजत लाल ध्वजा रण में फिरती हो।- - - मोंहि पुकारत देर भयी जगदम्ब विलम्ब कहाँ करती हो॥' अर्थात् किं बाणा समाप्ताः कि व सिंहो(वाहनम्)ऽपगतो ध्याने वा संलग्ना क्वचिदार्तत्राणे वा दत्तचित्तासि, कुतो मद्रक्षणे विलम्ब इति। हे परमेश्वर, स्वापकालेऽस्मान् रक्ष पालय सर्वतो भयात् प्रबोधाय जागरणाय पुरुषार्थसाधनोद्योगाय पुनः कृधि कुरु, प्रयत्नमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—अग्ने त्वमिति योऽग्निः प्रबुधे जागरिते नोऽस्मान् सुजागृहि सुजागरयति, येन वयं सुमन्दिषीमहि शयीमहि, अप्रयुच्छन्नोऽस्मान् रक्ष रक्षति प्रयुच्छतश्च हिनस्ति, यो नोऽस्मान् पुनरेवं कृधि करोति, सोऽस्माभिर्युक्त्या

मन्त्रार्थ— हे अग्निदेवता! आप भली प्रकार जागिये, जिससे कि हम सुखपूर्वक सो सकें। हमारे सो जाने पर हमारी चारों तरफ से आप सावधानी से रक्षा कीजिये और उचित समय पर हमें जगा दीजिये॥ इस मन्त्र से यजमान आहवनीय अग्नि के दक्षिण में उत्तर या पूर्व में सिर करके अग्नि की अपेक्षा नीची भूमि में सोवे ॥१४॥

भाष्यसार— याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार सोमयागकर्ता यजमान रात्रि में भूमि पर शयन करने से पूर्व 'अग्ने त्वम्' इस ऋचा का पाठ करे। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.३९) के इस विनियोग से संमत अर्थ ही शतपथ ब्राह्मण में भी निर्दिष्ट है।

• अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है — हे परमेश्वर अग्निदेव! आप हमारी रक्षा के लिये भलीभांति जाग्रत् हो जाइये, जिससे हम लोग निर्भय होकर सुखपूर्वक शयन करें। श्रीमद्भागवत (६.२.५) के वचन से भी यह प्रार्थना संमत है। हे देव, सावधान होकर हमारी रक्षा करें। यहां दैन्य के अतिशय के कारण सर्वदा सावधान तथा प्रमादशून्य भगवान् के प्रति भी सावधान रहने के लिये प्रार्थना की गई है। हे परमेश्वर, हमारे सर्वविध भय से प्रबोधन-हेतु पुरुषार्थ के साधन-हेतु उद्योग के लिये पुनः प्रयत्न करें।

स्वामी दयानन्द के संस्कृत भाष्य एवं हिन्दी अर्थ दोनों ही मन्त्र के अनुसार न होने के कारण ठीक नहीं हैं। जागरण हो जाने पर अग्नि द्वारा कर्ता के जागरण के लिये किया गया व्यापार निरर्थक हो जायगा। 'अप्रयुच्छन्' यह रक्षक का विशेषण है।

सम्यक् सेवनीयः' इति। हिन्दीभाष्ये तु—'हे अग्ने, यस्त्वं प्रबुधे जागरणसमये सम्यग् जागरयति यतो वयं जगत्कर्मानुष्ठातार आनन्दपूर्वकं शयीमहि, अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन् प्रमादरहितानस्मान् रक्ष रक्षति, प्रमादसहितान् नो हिनस्ति, यश्चास्माभिः सार्धं पुनः पुनरेवं व्यवहरति, स युक्त्यास्माभिः सेवनीयः' इति, तदुभयं यत्किञ्चित्, मन्त्राननुसारित्वात्। जागरणे जाते सत्यग्निप्रयोजककर्तृजागरणानुकूलव्यापारस्य निरर्थकत्वात्। 'येन वयं सुमन्दिषीमहि' इत्यत्रापि येनेत्यंशोऽश्रौत एव। 'अप्रयुच्छन्' इति रक्षकस्य विशेषणम्। तेनाप्रयुच्छतो रक्षसि प्रयुच्छतो हिनस्तीत्येतदश्रौतमेव व्याख्यानम्, वालाग्रशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः' इत्यभियुक्तोक्तेः।

शतपथे तु सिद्धान्तानुसारि व्याख्यानमेव समर्थितम्। तथाहि—'अथाग्नये परिदाय स्वपिति। देवान् वा एष उपावर्तते यो दीक्षते स देवतानामेको भवति न वै देवाः स्वपन्त्यनवरुद्धो वा एतस्यास्वप्नो भवत्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा एवैतत्परिदाय स्वपित्यग्ने त्वꣳ सुजागृहि वयꣳ सुमन्दिषीमहीत्यग्ने त्वं जागृहि वयꣳ स्वप्स्याम इत्येवैतदाह रक्षाणो अप्रयुच्छन्निति गोपाय नोऽप्रमत्त इत्येवैतदाह प्रबुधे नः पुनस्कृधीति यथेतः सुप्त्वा स्वस्ति प्रबुद्ध्यामहा एवं नः कुर्वित्येवैतदाह' (श. ३.२.२.२२)। अत्र स्पष्टं दीक्षितस्य स्वापकालेऽग्नये परिदानमुक्तम्। परिदानं हि रक्षणार्थं दानम्। यो दीक्षते स देवानुपावर्तते। अतः स दीक्षितो देवतानामेको भवति। न वै देवाः स्वपन्ति।अतोऽनवरुद्ध एतस्यास्वप्नो भवति। अग्निर्वै देवानां व्रतपतिरिति तस्मै अग्नये रक्षणार्थं दत्त्वायं स्वपिति।तदनेन मन्त्रेण परिदानमुच्यते। मन्त्रपदानि व्याचष्टे श्रुतिः। तत्र प्रथमभागस्य तात्पर्यमाह—अग्ने त्वं जागृहि वयं स्वप्स्याम इति। अप्रयुच्छन्नित्यस्य तात्पर्यमल—गोपाय नोऽप्रमत्त इति। नात्राप्रमत्तस्य रक्षणं प्रमत्तस्य हिंसनं वोक्तम्। प्रबुधे नः पुनस्कृधीत्यस्य तात्पर्यमाह—यथेतः सुप्त्वा स्वस्ति प्रबुध्यामहा एवं कुर्वित्येवैतदाहेति। इतोऽस्मात् स्थानात् स्वापानन्तरं स्वस्ति क्षेमेण ज्वरशिरोव्यथादिराहित्येन यथा प्रबुद्ध्यामहे तथा कुर्विति मन्त्रभाग आहेत्यर्थः। तस्माद्यथाव्याख्यात एवार्थः ॥१४॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥१५॥

'अग्निमभ्यावृत्तं विबुद्धमस्वप्स्यन्तं पुनर्मन इति वाचयति' (का. श्रौ. ७.४.३४-७.५.१)। अग्निमभ्यावृत्तो बुद्धश्च यजमानो यदि पुनर्न स्वपितुमिच्छति, तदा पुनर्मन इति मन्त्रं वाचयेत्। मन्त्रार्थस्तु— मे मम यजमानस्य

अतः अप्रमत्त की रक्षा करते हो तथा प्रमाद करने वाले की हिंसा करते हो, यह व्याख्या श्रुतिवाक्य से विपरीत है। जब कि प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि वाल के अग्र भाग के सौवें हिस्से की भी प्रमाणरहित कल्पना नहीं करनी चाहिये। शतपथ श्रुति में तो हमारे सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या ही समर्थित है ॥१४॥

मन्त्रार्थ— मेरा मन सुषुप्ति काल में विलीन होकर जागने पर फिर शरीर में आ गया, स्वप्न में नष्टप्राय हुई आयु फिर प्राप्त हुई, वही प्राण फिर प्राप्त हुए, मेरा जीवात्मा फिर प्राप्त हुआ, मेरी चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियां फिर प्राप्त हुई। सब मनुष्यों का उपकारक, अविनाशी हमारे शरीर का रक्षक ईशानाग्नि निन्दित पाप से हमारी रक्षा करे॥ जागने के बाद यजमान इस मन्त्र को पढ़ता है ॥१५॥

भाष्यसार—यजमान के उठ जाने पर पुनः न सोने की स्थिति में 'पुनर्मनः' इस मन्त्र के वाचन का विधान कात्यायन श्रौतसूत्र (७.४.३५) में किया गया है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ही शतपथ ब्राह्मण में मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

मनः पुनरागन् सुषुप्तिकाले स्वकारणेऽज्ञाने विलीय पुनरिदानीं शरीरे आगतम् 'मो नो धातोः' (पा. सू. ८.२.६४) इति मकारस्य नकारः। किञ्च, स्वापकाले मे मदीयमायुर्नष्टप्रायं भूत्वा पुनरागन् पुनरुत्पन्नमिवासीत्। तथा मे चक्षुः पुनरागन् तथा मे श्रोत्रं पुनरागन् तथा मे प्राणो घ्राणेन्द्रियं पुनरागन् न प्राणः। श्रुतौ तु प्राण इत्येव पाठः। किन्तु प्राणानामपगमे पुनः शरीरे तदप्रवेशात् प्राणपदेन घ्राणेन्द्रियमेव ग्राह्यम्। तथा मे आत्मा बुद्धिः पुनरागन्। एवं सर्वेष्वागतेष्वत ऊर्ध्वमग्निरवद्याद् जिह्वया वदितुमयोग्याद् निन्दिताद् दुरितात् पापाद् मा पातु मां पालयतु। कीदृशः सोऽग्निः? वैश्वानरः, विश्वान् नृणाति नयतीति विश्वानरः, स एव वैश्वानरः। विश्वेषां नराणामुपकारको वा, तदुपलक्षितः परमात्मा। 'नरे संज्ञायाम्' (पा. सू. ६.३.१२९) इति दीर्घः। अदब्धः केनापि हिंसितुमशक्यः। तनूपा अस्मदीयशरीरस्य पालकः सर्वतनूनां पालको वा।

अध्यात्मपक्षे—अनेन मन्त्रेणात्मनो मनआदिभ्यो भिन्नत्वं बोध्यते, तेषां गमनागमनशीलत्वादात्मनश्चानागन्तुकत्वात्। वैश्वानरः समष्टिप्रपञ्चाभिमानी अग्निरग्रणीर्देवः परमात्माऽवद्याद् दुरितात् पातकाद् दुरितं पुण्यपापलक्षणं कर्म। बन्धनहेतुत्वात् पुण्यमपि दुरितमेव। तद्धेतोरज्ञानात् पातु। ब्रह्मात्मसाक्षात्कारप्रदानेन पातु रक्षतु।

दयानन्दस्तु—'पुनः शयनानन्तरं मरणानन्तरं वा द्वितीये जन्मनि वा मनो विज्ञानसाधनमायुर्जीवनम्, आगन् प्राप्नोति। पुनः प्राणः शरीरधारकः पुनरात्मा अतति सर्वत्र व्याप्नोतीति सर्वान्तर्यामी परमात्मा स्वस्वभावो वा मे मह्यम् अभित आगन् प्राप्नोति, पुनः चक्षुश्चष्टे येन तद्रूपग्राहकमिन्द्रियम्, श्रोत्रं शृणोति शब्दान् येन तत्, शब्दग्राहकमिन्द्रियमागन्, वैश्वानरः शरीरनेता जाठराग्निः सर्वस्य नेता परमेश्वरो वा अदब्धो हिंसितुमनर्हः, तनूपा यः शरीरमात्मानं च रक्षति, अग्निरन्तस्थो विज्ञानस्वरूपो नः पातु दुरितात् पापजन्यात् प्राप्तव्याद् दुःखाद् दुष्कर्मणो अवद्यात् पापाचरणात्। यस्य सम्बन्धेन कृपया वा मह्यं पुनर्जागरणे पुनर्जन्मनि वा आयुः पुनरागन्, सोऽदब्धो नोऽवद्याद् दुरितात् पातु' इति, तदप्यसङ्गतमेव, यस्य प्रसादात् कृपया वेत्यंशस्य मन्त्रासंस्पर्शित्वात्। आत्मा आगन् इत्यत्रात्मशब्दस्यान्तर्याम्यर्थकत्वेऽसङ्गतिः, व्यापकस्यागमनायोगात्। दुरितशब्दस्य पापार्थकत्वं दुष्टकर्मार्थकत्वं वा प्रसिद्धम्। दुःखार्थकत्वं तु लाक्षणिकमेव, तन्न युक्तम्, सम्भवति मुख्यार्थत्वे लक्षणायां बीजाभावात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च। कात्यायनादिभिर्यजमानस्य पुनरस्वापेच्छायामयं मन्त्रो यजमानवाचने विनियुक्तः।

शतपथे च—'अथ यत्र सुप्त्वा पुनर्नावनिद्रास्यन् भवति। तद्वाचयति। पुनर्मनः - - - पुनः श्रोत्रं म आगन्निति। सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति प्राण एव न तैरेवैतत् सुप्त्वा पुनः सङ्गच्छते तस्मादाह पुनर्मनः पुनरायुर्म

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है — इस मन्त्र के पूर्वार्ध द्वारा आत्मा की मन आदि इन्द्रियों से भिन्नता बताई गई है, क्योंकि इन्द्रियां गमनागमनशील हैं और आत्मा अनागन्तुक (स्थायी) है। वैश्वानर, अर्थात् समष्टि प्रपंच का अभिमानी अग्रणी देव परमात्मा निन्दित पातकादि बन्धनकारक कर्म से अथवा बन्धन के कारणभूत अज्ञान से रक्षा करे।

स्वामी दयानन्द द्वारा अभिहित अर्थ असंगत है, क्योंकि आत्मा प्राप्त हुई है इस प्रकार आत्मशब्द की 'अन्तर्यामी' इस अर्थ में व्यापक तत्त्व की गमन परिस्थिति न रहने के कारण संगति नहीं हो सकती। दुरित शब्द का अर्थ पाप अथवा दुष्ट कर्म प्रसिद्ध है, दुःख अर्थ तो लाक्षणिक है। मुख्य अर्थ के सम्भव होने पर लक्षणा करने में कोई हेतु नहीं है। श्रुतिवाक्यों तथा सूत्रविधान के विरुद्ध होने के कारण भी यह असंगत है। कात्यायन आदि आचार्यों ने यजमान की पुनः न सोने की इच्छा (अर्थात् पूर्ण जागरण की परिस्थिति) में इस मन्त्र का यजमान द्वारा वाचन में विनियोग किया है ।।१५॥

····दुरितादवद्यादिति तद्यदेवात्र स्वप्नेन वा येन वा मिथ्याकर्म तस्मान्नः सर्वस्मादग्निर्गोपायत्वित्येवैतदाह तस्मादाह वैश्वानरो ···· दुरितादवद्यादिति' (श. ३.२.२.२३)। दीक्षितस्य स्वापानन्तरं प्रबोधे सति पुनर्निद्राया अप्राप्तौ तदा समन्त्रकं जपं विधत्ते— अथ यत्रेति । यत्र यस्मिन् काले सुप्त्वा पुनर्नाविद्रास्यन् भवति पुनर्न स्वप्स्यन् निद्राणो भवति, तत् तदा मनआदेः पुनःप्राप्तिसमर्थनाय तदपगमनप्रसक्तिं प्रदर्शयति— सर्वे ह वा इति। एते स्वपतः पुरुषस्य मनआदयोऽपक्रामन्ति, प्राण एव नापक्रामतीति शेषः, प्राणस्यापि गमने सर्वात्मना मृतिप्रसङ्गात्। मन्त्रे प्राणशब्दो घ्राणेन्द्रियपरः। आत्मा बुद्धिर्न जीवात्मा परमात्मा वा, जीवतस्तदपगमासम्भवात्। द्वितीयभागस्य तात्पर्यमाह—स्वप्नेन साधनेन येन वाऽन्येन्द्रियद्वारा मलनिर्गमनादिनिमित्तेन मिथ्या अशास्त्रीयं कृतवन्तः स्म, तस्मात् सर्वस्मान्नोऽग्निर्गोपायतु ॥१५॥

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः। रास्वेयत् सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् ॥१६॥

'त्वमग्न इत्याह क्रुद्ध्वाऽव्रत्यं वा व्याहृत्य' (का. श्रौ. ७.५.२)। यजमानः क्रोधं कृत्वा व्रतविरुद्धमश्लीलादिकं व्याहृत्य वा त्वमग्न इति मन्त्रं प्रायश्चित्तार्थं पठेत्। मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने ! देवो द्योतनात्मकस्त्वम् आमर्त्येषु मनुष्यपर्यन्तेषु सर्वत्र प्राणिषु व्रतस्य कर्मणः पालकोऽसि। यद्वा आकारद्वयं समुच्चयार्थम्, देवे इति सप्तम्यन्तम्। हे अग्ने, त्वं देवेषु च मर्त्येषु च आ व्रतपा असि, देवानां मनुष्याणां च व्रतस्य संकल्पस्य कर्मणो वा सिद्धेस्त्वत्कृपायत्तत्वात्। तथा त्वमासमन्ताद् यज्ञेष्वध्वरेष्वीड्यः स्तुत्योऽसि, याचितव्यः पूजयितव्यो भवति। 'ईडिरध्येषणाकर्मा वा पूजाकर्मा वा' (निरु. ७.१५) इति यास्कः। सत्कारपूर्वकव्यापारोऽध्येषणा। अध्येषितव्यो याचितव्य इत्युव्वटाचार्यः। स्वापस्यापि व्रतविरोधित्वात् तत्परिहारोऽप्यनेन मन्त्रेण क्रियते, 'अव्रत्यमिव वा एष करोति यो दीक्षितः स्वपिति। त्वमग्ने व्रतपा असीत्याहाग्निर्वै देवानां व्रतपतिः स एवैनं व्रतमालम्भयति' (तै. सं. ६.१.४.१४) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'लब्धमालभ्य वाचयति रास्वेयदिति' (का. श्रौ. ७.५.३)। क्रतौ देयद्रव्यं यद्यत् परिचारकैरानीतं तत्सर्वमुपस्पृश्येमं मन्त्रं पठेत्। हे सोम, इयदिति लब्धद्रव्यपरिमाणवचनम्। इयद्रास्व एतावद् धनं रास्व देहि 'रा दाने' सोमदेवत्यं यजुः। भूयः पुनरपि आभर धनमाहर। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा. सू. ८.२.३२) इति वार्त्तिकेन हस्य भः। वसोर्धनस्य दाता सविता देवो नोऽस्मभ्यं वस्वदात् पूर्वमपि धनं दत्तवान्। भूय इत्यस्यापरिमितपशुरूपधनाहरणे तात्पर्यम् । 'सोमा भूयो भरेत्याहापरिमितानेव पशूनवरुन्धे' (तै. सं. ६.१.४.१८) इति तित्तिरिरिति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः।

मन्त्रार्थ— हे अग्ने! तुम मनुष्य पर्यन्त सब प्राणियों के यज्ञकर्म के रक्षक हो, यज्ञों में सब प्रकार से पूजनीय हो। हे सोम! हमें ढेर सारा धन दीजिये, बार-बार धन दीजिये, क्योंकि धन के दाता सविता देवता ने भी हमको धन दिया था॥ इस मन्त्र से यजमान किसी कारण क्रुद्ध हो गया हो या यज्ञविरुद्ध भाषण करना पड़ा हो, तो उसका प्रायश्चित्त करता है तथा सुवर्ण का स्पर्श करता है ॥१६॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.५.१-२) के अनुसार सोमयाग में दीक्षित यजमान यदि क्रोधाभिभूत हो जाय, अथवा व्रत के विरुद्ध अश्लीलादि का उच्चारण कर दे, तब 'त्वमग्ने' इस मन्त्र को प्रायश्चित्त के लिये पढ़े। 'रास्वेयत्' इस मन्त्र का पाठ यजमान यज्ञ के लिये लाये गये द्रव्यों का स्पर्श करते हुए करता है।

अध्यात्मपक्षेऽपि—अग्ने परमेश्वर, त्वं व्रतपा असि व्रतं सत्यसङ्कल्पं यज्ञीयनियमाचरणं वा पातीति व्रतपा असि, परमात्माश्रयणेनैव व्रतरक्षणसिद्धेः। देवो द्योतनात्मकः स्वप्रकाशत्वात् त्वम् आमर्त्येषु मनुष्यपर्यन्तेषु सर्वप्राणिषु व्रतस्य नियमाचरणस्य वैदिककर्मणो वा पालकोऽसि। यद्वा आकारद्वयं समुच्चयार्थम्। त्वं देवे आ देवेषु च मर्त्येषु च व्रतपा असि देवानां मनुष्याणां च समेषां त्वमेव व्रतस्य रक्षकोऽसि। तस्मान्मदीयत्वद्भक्तिज्ञानतत्साधनादिसङ्कल्पोऽपि त्वत्कृपया पूर्णतामुपैतु। त्वमेव च हे अग्ने, आसमन्ताद् यज्ञेषु ईड्यः स्तुत्यः पूज्योऽध्येषणीयो याचितव्यो वा। अतो मे व्रतं पाहीति शेषः। सोम, उमया सहितो महादेवः सोमस्तत्सम्बुद्धौ हे सोम, इयद् अस्मदभिलषितं त्वद्विषयकं लोकोत्तरं प्रेम अपरोक्षज्ञानं वा रास्व। न केवलमेतदेव, किन्तु भूयः पुनरपि आभर धनमाहर, यतो वसोर्धनस्य दाता सविता देवो जगदुत्पादकः सर्वजनकोऽस्मभ्यं पूर्वमपि धनं देहेन्द्रियादिलक्षणं दत्तवान्।

'अशक्येऽभिमन्त्रणम्' (का. श्रौ. ७.५.४)। आलम्भनाशक्तावनेनाभिमन्त्रणं कुर्यात्। यावदवभृथं दीक्षितः 'शूद्र-सम्प्रवेशसंभाषाप्रत्युत्थानाभिवादनोदकावायवर्षाणि वर्जयेत् प्रागवभृथात्' (का. श्रौ. ७.५.५)। वर्षं वृष्टिस्तत्सम्बन्धि जलं च वर्जयेदिति।

अत्र दयानन्दः—हे सोमाग्ने, यस्त्वं मर्त्येषु व्रतपा सविता (देवो) यज्ञेष्वीड्यो देवोऽसि स भवान्नोऽस्मभ्यं वसोर्दाता सन् वस्वदाद् विज्ञानधनं ददाति, स भूयो वस्वारस्वेयत् संस्त्वमेतान्यस्मदर्थमाभरेत्येकः। योऽग्नेऽयमग्निर्मर्त्येषु व्रतपाः सविता देवो यज्ञेष्वीड्योऽध्येषितव्यः सोमो देवोऽस्ति, स त्वं नोऽस्मभ्यं वसोर्दाता सन् भूयो वस्वदात्। सर्वकार्येष्वारास्वारासते आभराभितः सुखैर्भरति पुष्णातीति द्वितीयः। त्वं स वा अग्ने जगदीश्वर अग्निर्वा यो व्रतं सत्यं धर्माद्याचरणनियमं पाति, असि अस्ति, पक्षे व्यत्ययः। देवो दाता प्रकाशको वा आसमन्ताद् मर्त्येषु मरणधर्मेषु मनुष्येषु कार्येषु वा आ अभितः स्वं स वा यज्ञेषु सत्कारेषूपासनाद्यग्निहोत्रेषु शिल्पेषु ईड्यः स्तोतुमध्येषितुं वाऽर्हः। रास्व देहि। आ अभितो भूयोऽतिशयेन बहु भर भरति वा। देवो द्योतकः, नोऽस्मभ्यं सवितोत्पादकः प्रेरको वा वसोर्धनस्य दाता प्रापको वसु धनमदात्' इति, तदपि निर्मूलमेव, श्रुतिसूत्रविरोधात्।

सूत्राण्युक्तानि। अथ शातपथी श्रुतिरुदाह्रियते। तथाहि—'अथ यद्दीक्षितोऽव्रत्यं वा व्याहरति क्रुद्ध्यति वा तन्मिथ्या करोति व्रतं प्रमीणात्यक्रोधो ह्येव दीक्षितस्याग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तमेवैतदुपधावति त्वमग्ने व्रतपा असि देव आमर्त्येष्वा त्वं यज्ञेष्वीड्य इति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्या कृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा त्वं यज्ञेष्वीड्य इति' (श. ३.२.२.२४)। अव्रत्यं व्रतं दीक्षा व्रतविरोधि

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे परमेश्वर अग्निदेव, आप सत्यसंकल्प व्रत अथवा यज्ञ के नियमाचरणों के रक्षक हैं। स्वप्रकाशात्मक आप मनुष्य पर्यन्त समस्त प्राणियों में व्रत के रक्षणकर्ता हैं। अथवा यहां समुच्चयार्थक दो आकार मानकर आप देवताओं में भी तथा मनुष्यों में भी व्रतरक्षणकर्ता हैं। अतः आपकी कृपा से मेरा यह संकल्प पूर्णता को प्राप्त करे। आप ही यज्ञों में स्तुत्य अथवा प्रार्थनीय हैं। हे उमासंयुक्त महादेव, हमारे द्वारा अभिलषित ज्ञान अथवा प्रेम (भक्ति) को प्रदान करें। केवल इतना ही नहीं, अपितु और भी प्रदान करें। समस्त धनों के दाता जगदुत्पादक सविता ने हमको पूर्व में भी देहेन्द्रियादिरूप धन प्रदान किया है।

इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुति एवं सूत्र से विरुद्ध होने के कारण निर्मूल है। यहां स्वामी दयानन्द का अर्थकथन शतपथ श्रुति का किञ्चिन्मात्र भी स्पर्श नहीं करता। इस मन्त्र में शिल्प अथवा सत्कार का कोई प्रसंग भी नहीं है। इनके अर्थ में गौणार्थकता का दोष आ जाता है ॥१६॥

व्यर्थं वचनमभिवदेत् क्रोधं वा तत् तेनोभयेन मिथ्या यज्ञविरोध्येव करोति, तेन व्रतं प्रमीणाति हिनस्ति। अक्रोधो ह्येव दीक्षितस्य व्रतं भवति। अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः। व्रतहिंसासमाधानाय एतद् एतेन त्वमग्ने व्रतपा इत्यनेन साक्षाद् व्रतपतिं तमेवाग्निमेवोपधावति व्रतरक्षणाय प्राप्तवान् भवति। तस्य उ ह एषा प्रायश्चित्तिः। तथा सत्यस्य यजमानस्य न मिथ्या कृतं भवति। कथञ्चित् तत्सत्त्वेऽपि न व्रतं प्रमीणाति। तस्मादाह—त्वमग्ने व्रतपा इति। 'अथ यद्दीक्षितायाभिहरन्ति। तस्मिन् वाचयति रास्वेयत्सोमा भूयो भरेति सोमो ह वा अस्मा एतद्युते यद्दीक्षितायाभिहरन्ति स यदाह रास्वेयत्सोमेति रास्व न इयत्सोमेत्येवैतदाहा भूयो भरेत्या नो भूयो हरेत्येवैतदाह देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदादिति तथो हास्मा एतत् सवितृप्रसूतमेव दानाय भवति' (श. ३.२.२.२५)। दीक्षितस्य यज्ञार्थगवादिधनलाभे वाच्यं मन्त्रमाह—अथेति। रास्वेयत्सोमा भूयो भरेति मन्त्रं वाचयत्यध्वर्युः। दाने सोमसम्बन्धस्य कः प्रसङ्ग इत्यत्राह—सोमो ह वा अस्मै यजमानाय एतद्धनं खलु युते मिश्रयति, 'यु मिश्रणामिश्रणयोः', यद् धनं दीक्षिताय अभिहरन्ति इयत् तदिति प्रदेयं धनं हस्तेनोपस्पृश्य मन्त्रं पठति। मन्त्रभागं व्याचष्टे—आ नो भूय इति। इयद् एतावत्परिमितं धनं हे सोम रास्व देहि। न केवलमेतावत्परिमितमेव, किन्तु आ नो भूयो भरेति, किन्तु ततो भूयोऽन्यदपि बहु धनम् आहर मह्यमानय। देवो नः सविता वसोर्दाता स एव वस्वदात्। एतन्मन्त्रभागपाठेन सवित्राभ्यनुज्ञातत्वाल्लब्धं धनं दक्षिणार्हं भवति। तदेवोच्यते—एतत्सवितृप्रसूतमेव दानाय भवतीति। अत्र न दयानन्दोक्तिर्मनागपि शातपथीं श्रुतिं स्पृशति। नात्र शिल्पस्य सत्कारस्य वा प्रसङ्गोऽपि, गौणार्थकत्वप्रसङ्गश्च ॥ १६ ॥

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजं गच्छ। जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ॥१७॥

'शालाद्वाराण्यपिधाय ध्रौवं जुह्वां चतुर्विगृह्णाति, बर्हिस्तृणेन हिरण्यं बद्ध्वावदधात्येषा त इति' (का. श्रौ. ७.६.५-६)। ततोऽध्वर्युर्वस्त्रादिना शालाद्वाराण्यपिधाय ध्रौवमाज्यं जुह्वां चतुर्विगृह्णाति। आस्तृतस्य बर्हिषः सम्बन्धिनि तृणे हिरण्यं बद्ध्वा ध्रुवातो गृहीतस्याज्यस्य मध्ये तन्निक्षिपेत् 'एषा ते' इति मन्त्रेण। अत्र पूर्वोऽर्धर्चो हिरण्याज्यदैवतम्। अनुष्टुप्। मन्त्रार्थस्तु—हे शुक्र दीप्यमानाग्ने, तव एषा तनूर् दृश्यमानमाज्यरूपं शरीरमेतदाज्ये प्रक्षिप्यमाणं हिरण्यं वर्चस्तदीयं तेजस्तया सम्भव आज्यरूपया तन्वा एकीभव। ततो भ्राजं गच्छ हिरण्यगतां दीप्तिं प्राप्नुहि। एतन्मन्त्रपाठेनाग्नेः सतेजस्त्वं सतनुत्वं सम्पद्यते, 'सतेजसमेवैनꣳ सतनुं करोति' (तै. सं. ६.१.७.१) इति तित्तिरिश्रुतेः। यद्वा हे शुक्र आज्य, एषा हिरण्यलक्षणा ते तनूः, एतत्ते वर्चः, 'समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयꣳ, ह्यग्निरेतसम्' (श. ३.२.४.८) इति श्रुतेः। तया हिरण्यलक्षणया तन्वा सम्भव एकीभव। भ्राजं सोमं गच्छ। भ्राजते दीप्यतेऽसाविति भ्राट्, तं भ्राजम्, 'सोमो वै भ्राट्' (श. ३.२.४.९) इति श्रुतेः। 'जूरसीति जुहोति' (का. श्रौ. ७.६.७)। चतुर्गृहीतमाज्यं जूरसीति मन्त्रेणाहवनीये

मन्त्रार्थ— हे दीप्यमान अग्ने! यह घृत तुम्हारा शरीर है और यह सुवर्ण तेज है। इन दोनों में एक ही भाव द्वारा आप सुवर्ण की कान्ति को प्राप्त कीजिये। हे वाणि! तुम वेगवान् हो, जीवन देने वाली हो। आप मन से धारण की हुई यज्ञपुरुष के लिये प्रीति युक्त होइये॥ इस मन्त्र से यजमान घी में दर्भ से बंधे हुए सुवर्ण को छोड़ता है और समिदाधान करता हुआ अग्नि में आहुति देता है॥१७॥

भाष्यसार— याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ध्रुवा से जुहू नामक स्रुक्पात्र में लिये गये घृत में स्वर्ण का खण्ड 'एषा ते' इस मन्त्र के द्वारा रखा जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु 'जूरसि' मन्त्र से आहवनीय अग्नि में घृत का हवन करता है (का. श्रौ. ७.६.५-७)। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में इस मन्त्र का व्याख्यान इसी प्रकार किया गया है।

जुहोत्यध्वर्युः । उत्तरोऽर्धर्चो वाग्देवत्योऽनुष्टुप् । हे सोमक्रयणि, वाग्रूपा त्वं जूरसि वेगयुक्तासि । यद्वा 'जीव प्राणधारणे' इत्यस्य क्विबन्तस्य डूप्रत्ययेन जूरिति रूपसिद्धिः । या त्वं जूरसि जीवनमसि, तथा मनसा धृता नियमितासि, विष्णवे यज्ञाय जुष्टासि प्रीतियुक्तासि । यद्वा यज्ञस्याभिरुचितासि । तमेतं मन्त्रं तित्तिरिर्व्याचष्टे—'वाग्वा एषा यत् सोमक्रयणी जूरसीत्याह यन्मनसा जवते तद्वाचा वदति धृता मनसेत्याह मनसा हि वाग्धृता जुष्टा विष्णव इत्याह यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञायैवैनां जुष्टां करोति तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसव इत्याह सवितृप्रसूतामेव वाचमवरुन्धे' (तै. सं. ६.१.७.६-७) इति जवतेः शीघ्रकर्तव्यतामवगच्छति ।

अध्यात्मपक्षे—हे शुक्र, ब्रह्मज्योतिरेषा अपरोक्षभूता प्रत्यक्चितिस्ते तव तनूः स्वरूपम्, 'तत्त्वमसि' (छा. उ. ६.८.७) इत्यादिश्रुतिभ्यः । एतज्ज्ञानं ते वर्चः प्रकाशः, तया प्रत्यक्चित्या सम्भव अनात्मतादात्म्यादिनिबन्धनभेदापोहे-नैकीभव । भ्राजमपरोक्षात्मतादात्म्यं गच्छ, तदभावे तत्पदार्थस्य ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वानुपपत्तेः । प्रत्यग्ब्रह्मैक्येन प्रतीचि पूर्णत्वमानन्त्यं सिद्ध्यति, परस्मिंस्तु स्वप्रकाशत्वमपरोक्षत्वं निरुपाधिकनिरतिशयपरप्रेमास्पदत्वं च सिद्ध्यति । हे प्रत्य-क्चिते ! त्वं जूरसि मनउपाधिना वेगवत्यसि, 'मनसो जवीयः' (वा. सं. ४०.४) इति श्रुतेः । मनसा शास्त्राचार्योपदेश-संस्कारसंस्कृतेन धृता आवरणनिवृत्तये वृत्तिव्याप्त्या विषयीकृता विष्णवे व्यापनशीलाय परमात्मने तादर्थ्याय जुष्टा प्रीत्या सेविता तमेव प्राप्नुहीति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'हे शुक्र विद्वन्, ते तव या एषा विष्णवे तनूरस्यस्ति, या त्वया धृता जुष्टा च तया जूः सन् त्वमेतद्वर्चः सम्भव सम्यग्भावय । भ्राजं गच्छ मनसैतेन पुरुषार्थं प्राप्नुहि । भ्राजं प्रकाशम् । जूः ज्ञानी वेगवान् वा विष्णवे परमात्मने यज्ञाय वा' इति, हिन्दीभाष्ये तु—'हे वीर्यपराक्रमवन्, ते तवैषा यद्विष्णवे यज्ञाय वा तनूः शरीरमस्ति, त्वया या धृता प्रीत्या सेविता च, तया त्वं ज्ञानी वेगवान् वा भूत्वा एतद्वर्चो विज्ञानं तेजो वा सम्यग् भावय प्रकाशं प्राप्नुहि, मनसा विज्ञानेन पुरुषार्थं प्राप्नुहि' इति, तदेतत्सर्वमपि निर्मूलम्, शुक्रशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात् । वर्चःपदमपि तेजःपरमेव । विज्ञानं तु गौणार्थकमेव । तन्वा धारणं प्रीतिपूर्वकं सेवनं च कर्मायत्तं भवति, न विद्वदादितन्त्रम् । अस्मिन्नर्थे सूत्रविरोधोऽपि । सूत्रानुसारि व्याख्यानं तूक्तमेव ।

शतपथश्रुतिरपि सूत्राणि समर्थयति । तथाहि—'दिवि वै सोम आसीत् । अथेह देवास्ते देवा अकामयन्ता नः सोमो गच्छेत् तेनागतेन यजेमहीति त एते माये असृजन्त सुपर्णीं च कद्रूं च तद्धिष्ण्यानां ब्राह्मणे व्याख्यायते सौपर्णीकाद्रवं यथा तदास' (श. ३.२.४.१) इत्यादिभिः सोमक्रयं विधातुमाख्यायिकया सोमस्य तृतीयस्यां दिवि सत्त्वम्, तस्य भूमावानयनाय देवा माये असृजन्त । परव्यामोहनकारिणी शक्तिर्माया । द्वे मायाभिरूपे सौपर्णीं

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है— हे ब्रह्मज्योति ! यह अपरोक्षभूता प्रत्यक् चिति तुम्हारा स्वरूप है । यह ज्ञान तुम्हारा प्रकाश है । इस प्रत्यक्चिति से एकीभूत हो जाओ । अपरोक्ष तादात्म्य को प्राप्त करो । हे प्रत्यक्चिति, तुम मन से उपहित होने के कारण वेगवती हो । संस्कारों से संस्कृत मन के द्वारा आवरण निवृत्ति के लिये विषयीकृत होकर व्यापनशील परमात्मा के लिये प्रीतिपूर्वक सेवित होकर उसे प्राप्त करो ।

स्वामी दयानन्द का संस्कृत एवं हिन्दी अर्थ मूलरहित है, क्योंकि शुक्र शब्द के 'विद्वान्' इस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है । वर्चस् पद भी तेजस् अर्थपरक है । इसका विज्ञान अर्थ तो गौण ही है । शरीरधारण तथा प्रीतिपूर्वक सेवन विद्वान् आदि के अधीन नहीं होता, अपितु कर्म के अधीन होता है । अतः यह कथन उचित नहीं है । इस अर्थ में सूत्रग्रन्थों का विरोध भी होता है । सूत्र के अनुसार हमारा व्याख्यान उपयुक्त है । शतपथ श्रुति भी सूत्रों का समर्थन करती है ॥१७ ॥

कद्रूं च सोमरक्षकाणां गन्धर्वाणां स्त्रियां मोहाय सृष्टवन्तः (श. ३.६.२.७) इत्यत्रोक्तम्। तत्र मायामय्योः सुपर्णी-कद्र्वोरुत्पत्तिस्तयोर्मिथः कलहः परस्परजयपराजयनिमित्तकः समयबन्धः, ततः कद्रूजयः, पराजितायाः सुपर्ण्याः स्वात्मनिष्क्रयाय सोमोपहरणार्थं छन्दसां सुपर्ण्याः सकाशादुत्पत्तिः, गायत्र्या च सोमाहरणमित्यादयोऽर्था उक्ताः। तत्र 'वागेव सुपर्णीयं कद्रूः' (श. ३.६.२.२) इत्यादिना होतृमैत्रावरुणादीनां शंसनप्रदेशेषु पुरतः स्थापिता अग्नयो धिष्ण्या होत्रीयादयः। ते खलु पुरा दिवि सोमरक्षकाः, पश्चात् सोम आहृते सति तेन सार्धं भूमावागत्य देवेभ्यो लब्धवराः सन्तोऽत्रापि सोमरक्षणाय धिष्ण्यतां प्राप्ताः। 'तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा जुगुपुरिमे धिष्ण्या इमे होत्राः' (श. ३.६.२.९), 'तेभ्यो गायत्री सोममच्छापतत्' (श. ३.२.४.२)। गायत्रीच्छन्दोदेवता पक्षिरूपेण दिवि स्थितं सोममच्छ अभिमुख-मपतद् अगमत्। आहरन्त्यास्तस्याः स्वभूतं सोमं विश्वावसुर्नाम गन्धर्वः पर्यमुष्णाद् अपजहार। ततस्ते देवा द्युलोकात् सोमः प्रच्युत इति विविदुः। अथ अस्मान्नागच्छति गन्धर्वा विश्वावसोर्भृत्याः पर्यमोषिषुः। त होचुर्योषित्कामा गन्धर्वा इत्येभ्यो व्यामोहाय वाचं प्रेषयामः। सा नः सोमेनागमिष्यतीति सोममुपायेनानयन्ती स्वमपि प्रतिनिवर्तिष्यत इति ते गन्धर्वा अन्वागत्याऽब्रुवन् सोमो युष्माकं वागेवास्माकम्। तथेति देवा अब्रुवन् गन्धर्वावि-रोधेनैव देवैर्दृष्टं वाग्लाभोपायं विचारयन्तो हे गन्धर्वा एनामिहागतां प्रेषयामो बलात्कारेण मा नैष्ट यूयं वयं च वाचं विह्वयामहै वाचं विविधमाकारयामः। एवं मिथः समयं कृत्वा गन्धर्वास्तां व्यह्वयन्त तस्यै गन्धर्वा वेदानेव प्रोचिरे वाचां वशीकरणाय। अथ देवा वाणीमेव सृष्ट्वा वादयन्ति निषादादिस्वरानुकूल्येन ध्वनिमुत्पादयन्तः, तदनु स्वयं गायन्तो निषेदुः। ते त्वदर्थं गास्यामः। न केवलमीदृशं गानमस्माकम्, किन्तु हे वाग्देवते! त्वा त्वामेवंप्रकारेण तोषयाम इत्युक्तवन्तः। सा देवानुपावर्तत उपावर्तते स्म प्रत्यावृत्ता वाक् स्तुवद्भ्यः शंसद्भ्यः स्तोत्रशस्त्ररूपं प्रवचनं कुर्वद्भ्यो गन्धर्वेभ्यः सकाशाद् देवैः कृतं नृत्तं गीतं चोपावृत्ता सा पूर्वं सोमाहरणाय प्रेषिता वाग् इदानीं मोघं व्यर्थमेव चोपवृत्ता। तस्मादिदानीमपि मोघसंहिता योषा य एवं नृत्यति यो वा गायति तस्मिन्नेवैता अत्यन्तमनुरक्ता भवन्ति, तद्वा एतदुभयं देवेष्वासीत् सोमश्च वाक् च तस्मात् सोमप्राप्त्या सोमं क्रीणीयात्, अक्रीतस्य यागानर्हत्वात्, आगतोऽपि सोमो क्रयसंस्कारेणानागतत्वादनागत उच्यते।

एवं महतोपक्रमेण सोमक्रयणं विधाय सोमक्रयणात् पूर्वं कञ्चिद्धोमं विदधाति—'अथ यद् ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति। तज्जुह्वां चतुष्कृत्वो विगृह्णाति बर्हिषा हिरण्यं प्रबध्यावधाय जुहोति कृत्स्नेन पयसा जुहवानीति समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयꣳ ह्यग्निरेतसम्' (श. ३.२.४.८)। प्रायणीयार्थमुपयुज्य यद्घृतं ध्रुवायामवशिष्टं तद् जुह्वां चतुष्कृत्वश्चतुर्वारं गृहीत्वा बर्हिषा हिरण्यं प्रबध्य जुह्वामाधाय जुहुयात्। एतदेव कात्यायनोक्तम्— 'शालाद्वाराण्यपिधाय ध्रौवं जुह्वां चतुर्विगृह्णाति' (का. श्रौ. ७.६.५) इत्यादिना। तच्च सिद्धान्तव्याख्यान उक्तमेव। हिरण्यावधानप्रयोजन-माह—कृत्स्नेन पयसा जुहवानीति। पयःप्रकृतिकत्वादाज्यं पयः। हिरण्यस्यापि पयस्त्वे भवत्येव पयसः कार्त्स्न्यम्। तदेव कुत इत्यत आह—समानजन्म वा इति। पयश्च हिरण्यं च वस्तुद्वयं समानजन्म समानोत्पत्तिकम्। कथं समानत्वं जन्मनः? हि यस्मादुभयमपि अग्निरेतसमग्ने रेतो वीर्यं यस्योभयस्य तत् तथोक्तम्। पयसोऽग्निरेतस्त्वं द्वितीयकाण्डे प्रोक्तम्—'तामुहाग्निरभिदध्यौ मिथुन्यनया स्यामिति ताꣳ सम्बभूव तस्याꣳ रेतः प्रासिञ्चत् तत्पयोऽभवत्' (श. २.२.४.१५)। व्याख्यातं च पूर्वमेतत्। हिरण्यस्याग्निरेतस्त्वं तैत्तिरीयक आम्नातम्— 'आपो वरुणस्य पत्नय आसन् ता अग्निरभ्यध्यायत् ताः समभवत् तस्य रेतः परापतत्' (तै. ब्रा. १.१.३.८), 'स हिरण्यमवदधाति। एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्च इति वर्चो वा एतद्यद्धिरण्यं तया सम्भव भ्राजं गच्छेति स यदाह तया संभवेति तया सम्पृच्यस्वेत्येवैतदाह भ्राजं गच्छेति सोमो वै भ्राट् सोमं गच्छेत्येवैतदाह' (श. ३.२.४.९)। समन्त्रं हिरण्यावधानमाह—स हिरण्यमवदधातीति।

स अध्वर्युः। हिरण्यनिधानमन्त्रं त्रेधा विभज्य व्याचष्टे—एषा त इत्यादिना। हे शुक्र, एषा एतद्धिरण्यं ते तनूः शरीरम् तनुशब्दापेक्षया स्त्रीत्वम्। अथवा एषा जुहूस्ते तनूः, एतदेवाज्यं ते वर्चस्तेजः। स मन्त्रः। यदाह तया सम्भवेत्य-स्यायमर्थस्तया सम्पृच्यस्व इत्येवाह। सम्पर्कोऽत्रैकीभावः। भ्राट्शब्दार्थमाह—सोमो वै भ्राडिति। भ्राजमानत्वाद् भ्राट् सोम इत्युक्तमेव। अत आज्यं भ्राजं गच्छेति ब्रुवती श्रुतिः सोमं गच्छेत्युक्तवतीत्यर्थः।

सोमप्राप्तिप्रकारस्त्वित्थम्—हिरण्यसंस्कृताज्यहोमः सोमक्रयणार्थः। स च क्रेतव्यसोमार्थ इति विहितामाहुतिं सोमक्रयणीप्रीतिहेतुत्वेन प्रशंसयन् तदर्थम्—'तां यथैवादो देवाः। प्राहिण्वन्त्सोममच्छैवमेवैनामेष एतत्प्रहिणोति सोममच्छ वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन तमेतयाहुत्या प्रीणाति प्रीतया सोमं क्रीणानीति' (श. ३.२.४.१०) इति सोमक्रयण्यानयनप्रयोजनप्रकारमाह—तामिति। अदो व्यवहितकाले तां वाचं प्राहिण्वन् गन्धर्वापहृतां प्रति प्रागग-मयन्। एवमेवाध्वर्युरेतेन सोमक्रयणीप्रेरणेन प्रेरितवान् भवति। तयोः कः सम्बन्ध इति तत्राह—वाग्वा इति। वाग्वै सोमक्रयणीनिदानं वास्तवं स्वरूपम्, तेन वाग्रूपां सोमक्रयणीमेतयाहुत्या प्रीणाति।

'स जुहोति। जूरसीत्येतद्ध वा अस्या एकं नाम यज्जूरसीति धृता मनसेति मनसा वा इयं वाग्धृता मनो वा इदं पुरस्ताद् वाच इत्थं वद मैतद्वादीरित्यलग्लामिव ह वै वाग्वदेद्यन्मनो न स्यात्तस्मादाह धृता मनसेति' (श. ३.२.४.११)। होममन्त्रं पञ्चधा विभज्य व्याचष्टे—जूरिति। जूरिति सौत्रो गत्यर्थो धातुः। जवति सोमं प्रति गच्छतीति जूः। अस्या वाग्रूपायाः सोमक्रयण्या जूरित्येकं नाम। मनसा धृता। मनसो वागाधारत्वं साधयति—मनो वेति। 'मनो वा इदं पुरस्ताद्वाचो रूपम्। यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' (श. १२.९.१.१३)। धारणप्रकारं दर्शयति—इत्थं वद मैतद्वादीरिति। यद्यपि हितोपदेष्टृवद् मनो न वाग्व्यापारं करोति, तथापीदं वक्तव्यमिदं नेति गुणदोषविकल्पनस्य मनोव्यापारत्वाद् वाग्विधिनिषेधकर्तृत्वव्यवहारः। व्यतिरेकदोषोपन्यासेन मनो-वाचोरेकत्वं द्रढयति—यन्मनो न स्यादिति। पूर्वोक्तरीत्या गुणदोषावालोच्य मनःकर्तृकविधिनिषेधौ न स्याताम्, तदा वाग् अलग्लामिव अलग्नामिव वक्तव्यपदार्थेनासंसृष्टामिव वाचं वदेत्, हृदयपूर्वकत्वाभावात्। एतावता स्वीया तनूरेव त्वया धृता प्रीत्या च सेवितेत्यादिव्याख्यानमपास्तं वेदितव्यम् ॥१७॥

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा। शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥१८॥

सत्यमवितथं सवोऽनुज्ञा यस्यास्तथाभूतायास्ते वाग्रूपायाः सोमक्रयण्याः प्रसवेऽनुज्ञायां वर्तमानोऽहं तन्वः शरीरस्य नियमनं दार्ढ्यं वा अशीय प्राप्नुयाम्। स्वाहा इदमाज्यं हुतमस्तु। 'शुक्रमसीति हिरण्यमुद्धृत्य वेद्यां तृणं

मन्त्रार्थ— सत्य अनुज्ञा वाली देववाणी की आज्ञा में वर्तमान रह कर मैं शरीर के नियमन की दृढ़ता प्राप्त करूँ। इस घृत की सुन्दर आहुति हो। हे सुवर्ण! तुम दीप्यमान हो, आह्लाद को देने वाले हो, जीवन के उपाय हो, सब देवताओं के सम्बन्धी हो, क्योंकि सब देवता सुवर्ण दान से तृप्त होते हैं॥ इस मन्त्र से यजमान घृत में से निकाल कर सुवर्ण को वेदी पर रखता है ॥१८॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रतिपादित (७.६.८) विनियोग के अनुसार 'शुक्रमसि' इत्यादि मन्त्र से वेदि पर स्वर्ण खण्ड को स्थापन किया जाता है।

निदधाति' (का. श्रौ. ७.६.८)। तृणबद्धं हिरण्यमुद्धृत्य विस्रंस्य हिरण्यं हस्ते कृत्वा तृणं वेद्यां निदधाति शुक्रमसीति मन्त्रेणेति। हे हिरण्य, त्वं शुक्रमसि। शोचत इति शुक्रम्, 'शुच दीप्तौ', दीप्यमानमसि तथा चन्द्रमसि आह्लादकमसि, 'चदि आह्लादने', अमृतं मरणरहितमसि, सर्वनाशकस्याप्यग्नेः संयोगेऽपि हिरण्यस्य विनाशादर्शनात्। वैश्वदेवमसि सर्वदेवसम्बन्ध्यसि, हिरण्यदानेन सर्वेषामपि देवानां तोषणात्।

अध्यात्मपक्षेऽपि—तस्यास्ते प्रत्यक्चित्यभिन्नायाः सत्यसवसोऽवितथसङ्कल्पायाः प्रसवे प्रेरणे त्वदीयतनुभूताया अपरोक्षज्ञप्तिलक्षणाया यन्त्रं नियमनमेकाग्रतां दार्ढ्यं वा अशीय प्राप्नुयाम। तदेव स्तौति—हे ब्रह्मात्मापरोक्षज्ञान, त्वं शुक्रमसि दीप्यमानमसि, चन्द्रमाह्लादकमसि, अमृतमसि, अमृतमोक्षफलकत्वात्। वैश्वदेवमसि, सार्वात्म्यबोधकत्वात्।

दयानन्दस्तु—'तस्या वाचो विद्युतो वा ते तव सत्यसवसः सत्यं सव ऐश्वर्यं जगत्कारणं यस्य तस्य परमात्मनः प्रसवे उत्पादिते संसारे तन्वः शरीरस्य यन्त्रयति सङ्कुचति चालयति निबध्नाति वा येन तद् अशीय प्राप्नुयाम्। स्वाहा वाचं विद्युतं वा शुक्रं शुद्धमसि अस्ति, चन्द्रमाह्लादकममृतमसि, वैश्वदेवं यद्विश्वेषामिदं तत्' इति, हिन्दीभाष्ये—'हे जगदीश्वर, सत्यैश्वर्ययुक्तस्य जगन्निमित्तकारणस्य ते तवोत्पादिते संसारे तन्वः शरीरस्य सम्बन्धिन्या वाण्या विद्युतो वा सकाशाद्विद्यां प्राप्य शुद्धं चन्द्रमाह्लादकममृतं सर्वविद्वत्सु कारकं यन्त्रं संकोचविकाशचालनबन्धनकारकं यन्त्रमशीय प्राप्नुयाम्' इति, तदेतदनाकलितपौर्वापर्यस्य अनाघ्रातास्तिकसिद्धान्तस्य पाश्चात्त्यनेयबुद्धेर्दुश्चेष्टितम्, तन्वः सम्बन्धिन्या विद्युतो वाण्या वा सकाशाद् यन्त्रोत्पत्त्यसम्भवात्। न च स्वाहापदस्य वाणी विद्युद्वार्थः सम्भवति, तत्रास्य पदस्याशक्तत्वात्, तथा तन्व इति पदस्य वैयर्थ्यापातात्, अतनोर्वाण्या अदर्शनात्, तन्वश्च विद्युदसिद्धेः, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च।

शतपथे तु—'जुष्टा विष्णव इति जुष्टा सोमायेत्येवैतदाह यमच्छेम इति। तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसव इति सत्यप्रसवा न एधि सोमं नोच्छेहीत्येवैतदाह तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहेति स ह वै तन्वो यन्त्रमश्नुते यो यज्ञस्योदृचं गच्छति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह' (श. ३.२.४.१२)। विष्णुपदस्याभिमतमर्थमाह—जुष्टा सोमायेति। भुवनत्रयव्यापकत्वात् सोमो विष्णुः, सर्वस्यैव लोकस्याग्नीषोमात्मकत्वात्। 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा. सू. १.४.३३) इति जुषतियोगे चतुर्थी। यं सोममच्छ अभिमुखमिमो गच्छेम वयम्, अनेनाभिप्रायेण सोमायेत्याहेत्यर्थः। सत्यसवसः सत्यानुज्ञायास्तस्या देवैः प्रेरिताया वाचः प्रसवेऽनुज्ञायां सत्यामिति मन्त्रभागस्यार्थः। अस्य भागस्य तात्पर्यमाह—सत्यप्रसवा न एधीति। नोऽस्माकं सत्यानुज्ञा भवेत्यर्थः। न एधीत्यत्र न इत्यस्य नः सोममित्यर्थ इति व्याचष्टे—सोमं नोऽच्छेहीति। चरमभागस्य

अध्यात्मपक्ष में सम्पूर्ण कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है— उस तुम्हारी प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न सत्यसङ्कल्पशीला देहभूता अपरोक्ष ज्ञप्ति की प्रेरणा में हम नियमन अथवा दृढ़ता को प्राप्त करें। हे ब्रह्मात्मसम्बन्धी अपरोक्ष ज्ञान, तुम प्रकाशशील हो, आह्लादक हो, मोक्षफलदाता अमृतरूप हो तथा सर्वात्मबोधक होने के कारण वैश्वदेव हो।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह पौर्वापर्य का विचार किये बिना, आस्तिक सिद्धान्त की गन्ध से रहित पाश्चात्त्यों का अनुकरण करनेवाली बुद्धि की दुश्चेष्टा है, क्योंकि शरीर से सम्बद्ध विद्युत् अथवा वाणी से यन्त्र की उत्पत्ति सम्भव नहीं है और स्वाहा पद का वाणी अथवा विद्युत् अर्थ भी सम्भव नहीं है। इस अर्थ के अभिधान में स्वाहा पद समर्थ नहीं है। साथ ही 'तन्वः' पद की व्यर्थता भी हो जाती है, क्योंकि शरीर (आकृति) से रहित वाणी दृष्टिगोचर नहीं होती तथा शरीर से विद्युत् की सिद्धि भी सम्भव नही हैं। शतपथश्रुति तथा सूत्रों का विरोध भी इस अर्थ में है ॥१८॥

तात्पर्यमाह—तन्वो यन्त्रमिति । उदृचम् उत्तमा ऋग् उदृक्, तया यज्ञसमाप्तिर्लक्ष्यते । अतो यो यज्ञसमाप्तिं गच्छति, स एव तन्वो यन्त्रमश्नुते । तेन तन्वो यन्त्रमशीयेत्यनेन यज्ञस्योदृचं यज्ञसमाप्तिं गच्छानीत्येवैतदाह । एतेन 'सव ऐश्वर्यम्, प्रसव उत्पादिते संसारे, यन्त्रं सङ्कोचविकाशचालनादियन्त्रम्' इत्यादिव्याख्यानमपव्याख्यानमेवेति सिद्ध्यति । 'अथ हिरण्यमपोद्धरति । तन्मनुष्येषु हिरण्यं करोति स यत्सहिरण्यं जुहुयात् परागु हैवैतन्मनुष्येभ्यो हिरण्यं प्रवृञ्ज्यात् । तन्न मनुष्येषु हिरण्यमभिगम्येत' (श. ३.२.४.१३) । हिरण्यस्यापोद्धारं विधाय प्रशंसति—अथेति । प्राण्युपभोगस्य धनमूलत्वाद् हिरण्यस्यापोद्धारेण मनुष्येषु हिरण्यस्थापनं कृतं भवति । विपक्षे बाधदर्शनेन विहितमर्थं प्रशंसति—स यत् सहिरण्यं जुहुयात् परागु हैवैतन्मनुष्येभ्यो हिरण्यं प्रवृञ्ज्यादिति । स यदि हिरण्येन सहितमाज्यं जुहुयाद् अपुनरागमनं मनुष्येभ्यः सकाशाद् वर्जयेत् । अस्तु किं तत इत्यत आह—तन्नेति । तत्तर्हि मनुष्येषु हिरण्यं नानुवर्तेत तस्माद्धिरण्यसंस्कृतमाज्यमेव जुहुयान्न सहिरण्यमाज्यमित्यर्थः । अत एव शुक्रममृतं चन्द्रमित्यादीनि हिरण्यप्रशंसकानि विशेषणानि । न यन्त्रमित्यस्येति तथा व्याख्यानमश्रौतमेव ।

'सोऽपोद्धरति । शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसीति कृत्स्नेन पयसा हुत्वा यदेवैतत्तदाह शुक्रमसीति शुक्रꣳ ह्येतच्चन्द्रमसीति चन्द्रꣳ ह्येतदमृतमसीत्यमृतꣳ ह्येतद्वैश्वदेवमिति वैश्वदेवꣳ ह्येतत्प्रमुच्य तृणं बर्हिष्यपसृजति सूत्रेण हिरण्यं प्रबध्नीते' (श. ३.२.४.४) । अपोद्धारमनूद्य मन्त्रमाह—सोऽपोद्धरतीति । हे हिरण्य, त्वं शुक्रं दीप्तमसि, चन्द्रं सर्वाह्लादकमसि, अमृतममरणधर्मकमसि, अत्यन्ताग्निसंयोगेऽप्यविनाशात् । वैश्वदेवस्य सर्वदेवताप्रीतिकरत्वात् तदीयोऽयमपोद्धारो होमानन्तरं कार्य इत्याह—कृत्स्नेनेति । प्रागेव चेदपोद्धरेत्तदा हिरण्यात्मकस्य पयसोऽभावादाज्यं रूपं पयसोऽकृत्स्नं स्यात् । तस्मादुच्यते कृत्स्नेन पयसा हुत्वेति । मन्त्रगतं हिरण्यस्य शुक्राद्यात्मकत्वं न स्तुत्यर्थमित्याह—यदेवैतत्तदाह शुक्रमसीत्यादिना । यदेवैतद् हिरण्यस्य स्वाभाविकं रूपं शुक्रं शुक्ररूपं तत् । एष मन्त्र आह । यद्यपि हिरण्यमाग्नेयं तथापि सर्वप्रियत्वाद् वैश्वदेवमुच्यते । प्रमुच्य तृणमिति हिरण्ये बद्धं तृणं विमुच्य बर्हिष्यपसृज्य पुनः सूत्रेण बध्नीयात्, 'शुक्रमसीति हिरण्यमुद्धृत्य वेद्यां तृणं निदधाति, सूत्रबद्धं हिरण्यं कुरुते' (का. श्रौ. ७.६.८-९) इति कात्यायनसूत्राभ्याम् ।

'अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । अन्वारभस्व यजमानेत्याहापोर्णुवन्ति शालायै द्वारे दक्षिणतः सोमक्रयण्युपतिष्ठते तत्प्रहितामेवैनामेतत्सतीं प्राहैषीद् वाग् वै सोमक्रयणी निदानेन तामेतयाहुत्या प्रैषीत् प्रीतया सोमं क्रीणानीति' (श. ३.२.४.१५) । पूर्वोक्तप्रायणीशेषादेवान्यतश्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा यजमान अन्वारभस्वेति ब्रूयात् । अध्वर्योरनुस्पर्शोऽन्वारम्भः । शालायै शालायाः, अपोर्णुवन्ति, द्वाराणीति शेषः, शालाया द्वाराण्यपिधायेति कात्यायनेनोक्तत्वात् । तथा च सर्वाणि शालायाः पूर्वं पिहितानि द्वाराण्यपवृत्तानि कुर्युरित्यर्थः । 'अपावृतद्वारे निष्क्रामतः' (का. श्रौ. ७.६.११) । विमिते उद्घाटितद्वारे सति विमितादध्वर्युयजमानौ निष्क्रामेताम् । द्वारे दक्षिणत आहवनीयात् प्राक्तने द्वारे सोमक्रयार्थं दक्षिणतो दक्षिणदेशे सोमक्रयणी गौरुपतिष्ठते उपावर्तते । तदुक्तम्—'दक्षिणेन द्वारꣳ सोमक्रयणी तिष्ठत्यलक्षिताऽव्यङ्गाऽप्रवीताऽरज्जुबद्धा बभ्रूः पिङ्गलाभावेऽरुणाऽरुणाभावे रोहिण्यश्येताक्षी' (का. श्रौ. ७.६.१२) । स्वामिबोधकचिह्नेनानङ्किता अप्रवीता वृषभेणाकामिता अरुणा अव्यक्तरागा रोहिणी रक्तवर्णा अरक्ताक्षी । सोमक्रयण्यवस्थापनं प्रशंसति—तत्प्रहितामेवैनामिति । देवैः प्रेषितया वाचा प्रेरितां सतीम्, अथवा तत् तथा सतीव प्रहितामेवेमां सोमक्रयार्थं गमयति स्वप्रेरितां सतीमेवैतामेतदेतेनावस्थापनेन प्राहैषीत् प्रेषितवान् भवति । तस्या इतरगोसाधारण्यं वारयति—वाग् वै सोमक्रयणी । तामेतयेति तां वाग्रूपां सोमक्रयणीं यस्मादेतया पूर्वविहितया धूरसीत्यादिमन्त्रदेवतयाऽप्रैषीदध्वर्युः प्रेरितवान् । कया बुद्ध्या ? प्रीतया तृप्तया सोमं क्रीणानीति ॥१८ ॥

चिदसि मनोऽसि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतःशीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥१९॥

'चिदसीत्येनामभिमन्त्रयते' (का. श्रौ. ७.६.१३)। एनां सोमक्रयणीं गां चिदसीति मन्त्रेणाभिमन्त्रयते—हे वाग्देवतारूपे सोमक्रयणि, त्वं चिदसि मनोऽसि धीरसि। अन्तःकरणस्य चित्तमनोबुद्धय इति तिस्रो वृत्तयः। देहेन्द्रियादिलक्षणस्याचेतनस्य सङ्घातस्य चेतनतां सम्पादयन्ती बाह्यवस्तुषु वा निर्विकल्परूपं सामान्यज्ञानं जनयन्ती वृत्तिश्चित्तम्। चित्तमेवेह चिदित्याख्यायते। देहव्यापिनी चेतनाख्या वृत्तिर्वा चित्, 'सङ्घातश्चेतना धृतिः' (भ. गी. १३.६) इति गीतावचनात्। अथवा वाग्रूपाध्यारोपकल्पनया कयाचिद् वृत्त्या चिच्छक्तिरूपैवासीत्यपि सम्भवति। लोके यं कञ्चित् पदार्थं दृष्ट्वा एवमनेवं वेति सङ्कल्पविकल्पौ कुर्वाणा वृत्तिर्मन इत्युच्यते। त्वं मनोऽसि। इदमेवेति निश्चयात्मिका वृत्तिर्धीशब्देनोच्यते। एवं वाग्रूपायाः सोमक्रयण्याश्चिन्मनोधीरूपत्वेन प्रशंसा क्रियते। चित्तेन ज्ञातं मनसा मतमेवार्थं वाक् प्रकाशयतीति वाग्रूपायास्तस्याश्चित्तमनोरूपत्वं युक्तम्, 'चित्तं वा इदं मनो वागनुवदति' (श. ३.२.४.१६) इति श्रुतेः। चेतनावस्थापन्ना सती त्वं चिदसि तथा मननेन मनोऽप्यसि। धिया 'धिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूषन्ति' (श. ३.२.४.१६) (जीवितुमिच्छन्तीत्यर्थः) इति श्रुत्या इत्थं वदिष्यामीति बुद्ध्या चित्तवदभिवदन् रूपेण कर्मणा वा। 'धीरिति कर्मनामसु'। वेदाध्ययनेन स्वच्छन्दैर्भाषणैर्गाथाभिश्च मनुष्या जीवितुमिच्छन्ति। एवं वाचो धीत्वं जीवनसाधनकर्मत्वं च सिद्ध्यति। तथैवाह तित्तिरिः—'वाग्वा एषा यत्सोमक्रयणी चिदसि मनोऽसीत्याह शास्त्येवैनामेतदिति' (तै. सं. ६.१.७.६)। वागात्मिकां सोमक्रयणीं चिदादिशब्दवाच्यामेवं प्रशंसतीत्यर्थः।

तेन पूर्वं चिदादिरूपत्वं सम्पाद्योपचारेण प्रशंसा कृता, दक्षिणादिरूपेण तु विद्यमानमेव प्राशस्त्यमुच्यते। हे सोमक्रयणि, त्वं दक्षिणासि गवां देवद्रव्यत्वेन कर्मसु दक्षिणात्वं सिद्धमेव। यद्वा वाग्दानस्य प्रशस्तत्वात् त्वं दक्षिणासि, वाचैव विद्यादानसम्भवात्। क्षत्रियासि, क्षत्रं बलं तदर्हत्वात् क्षत्रिया गौः, पयोघृतादिसाधनत्वात् तस्या बलकरत्वसिद्धेः। सोमक्रयसाधनत्वाच्च क्षत्रियात्वम्, देवेषु सोमस्य क्षत्रजात्यभिमानित्वात्, 'सोमो वै राजा' (ऐ. ब्रा. १.१५) इत्यादिश्रुतिषु सोमे राजशब्दव्यवहारात्, 'यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः' (श. १४.४.२.२३) इति श्रुतेः। तेन सोमेन क्षत्रेणाभिमन्तव्यस्य सोमलताद्रव्यस्य क्रयहेतुत्वात् त्वं क्षत्रियासि, क्रयद्वारा तत्सम्बन्धित्वादस्या अपि क्षत्रियत्वोपचारात्। यज्ञियासि, यज्ञार्हत्वात्। सोमयज्ञापेक्षितमुख्यसोमक्रयहेतुत्वादेव त्वं यज्ञियासि। अदितिः, नास्ति दितिः खण्डनं यस्या सा, अखण्डिता, 'दोऽवखण्डने' इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। अदीना देवमातृरूपा चासि, 'अदितिरदीना देवमाता' (निरु. ४.२२) इति यास्कोक्तेः। ज्योतिष्टोमस्याद्यन्तयोः प्रायणीयोदयनीययोरदितिदेवताकत्वेन सेयं सोमक्रयणी गौरुभयतःशीर्ष्णी, उभयतः शीर्षे यस्याः सा तथोक्ता, प्रायणीयोदयनीययोः शीर्षत्वोपचारात्, 'द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये' (निरु. १३.७) इति निरुक्तवचनात्। यद्वोभयतःशीर्ष्णी सर्वतोमुखी, वाग्रूपत्वात्, 'स यदेनया समानꣳ सद्विपर्यासं वदति' (श. ३.२.४.१६) इति श्रुतेः। वाक्येऽन्यथाऽन्यथा क्रमस्य सम्भवात् सा पूर्वोक्ता चिदादिरूपा त्वं नोऽस्मदर्थे सुप्राची

मन्त्रार्थ—हे सोमक्रयणि गौ! तुम चिदात्मा हो, बुद्धिस्वरूपा हो, मनःस्वरूपा हो, दक्षिणारूप हो, दाता की कष्ट से रक्षा करने वाली हो, यज्ञसंबन्धिनी होने से यज्ञ के योग्य हो, देवमाता अदितिस्वरूपा हो, पृथ्वी और स्वर्ग दोनों ओर सिर रखने वाली, अर्थात् दिव्य और भौम भोगों को देने वाली हो। तुम हमारे लिये पूर्वमुखी, पश्चिममुखी होओ। सूर्य दक्षिण पाद से तुमको बांधे। पूषा देवता यज्ञ के स्वामी इन्द्र देवता की प्रसन्नता के लिये मार्ग में तुम्हारी रक्षा करें॥ इस मन्त्र से वाणी का रूप मानकर सोमक्रयणी गौ की स्तुति की जाती है॥१९॥

सुप्रतीची एधि भव। सु प्राङञ्चतीति सुप्राची, सुष्ठु प्रत्यङ्ङञ्चतीति सुप्रतीची। प्रथमं सोमस्य क्रेतारं प्रति प्राङ्मुखी भूत्वा पश्चात् सोमेन सह अस्मान् प्रत्यागन्तुं प्रत्यङ्मुखी भव, 'सुप्राची न एधि सोमं नोच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची न एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह' (श. ३.२.४.१७) इति श्रुतेः। किञ्च, मित्रो हितकारी सूर्यो देवो यदि दक्षिणपादे त्वा त्वां बध्नीतां बन्धनं करोतु, अप्रणाशाय ते पूषा सर्वपोषको देवः सूर्य एवाध्वनो भयोपेतान्मार्गात् त्वां पातु रक्षतु। अथवा पूषेति टाबन्तं स्त्रीलिङ्गपदम्, पूषा पृथिवी त्वां मार्गात् पातु, 'इयं वै पृथिवी पूषा' (श. ३.२.४.१९) इति श्रुतेः। किमर्थम्? इन्द्राय इन्द्रप्रीत्यर्थम्। कीदृशायेन्द्राय? अध्यक्षाय अधि उपरि अक्षिणी यस्य सोऽध्यक्षस्तस्मै द्रष्ट्रे, यज्ञस्वामिन इत्यर्थः। यद्वा चतुर्थ्याः षष्ठ्या विपरिणामः। इन्द्रस्याध्यक्षस्य सोमयागस्वामिने हितायेति शेषः ॥१९॥

अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒तानु॒ भ्रा॒ता सग॑र्भ्यो॒ऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः। सा दे॑वि दे॒वमच्छे॒हीन्द्रा॑य॒ सोम॑ꣳ रु॒द्रस्त्वा॑वर्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑ ॥२०॥

सोमयागस्याध्यक्षायेन्द्राय तत्स्वामिने देवाय प्रीत्यर्थं सोमक्रयसाधनत्वेन सोमाहरणे प्रवृत्तां त्वां माता त्वदीया त्वा त्वामनुमन्यतां त्वामङ्गीकरोत्वनुज्ञां ददातु। पित्रादयोऽप्यनुमन्यन्ताम्। सगर्भ्यः समानगर्भभवः सहोदरो भ्राता अनुमन्यताम्। 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (पा. सू. ६.३.८४) इति समानस्य सादेशः। त्वया सहैकस्मिन् गर्भेऽवस्थितो वत्सो भ्राताऽनुज्ञां करोतु। सयूथ्यः सखा सह सञ्चारी वत्सः स एव सयूथ्यः सखानुमन्यताम्। हे देवि सोमक्रयणि, या त्वमस्माभिः कृतसामग्रीका सा त्वमिन्द्राय इन्द्रार्थं हे देवि दानादिगुणयुक्ते, सोमं देवं सोमम्, अच्छेहि सोमद्रव्यं प्राप्तुं गच्छ, 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (निरु. ५.२८)। सोमं गृहीत्वा स्थितां त्वां रुद्रो देवो वर्तयतु अस्मान् प्रति निवर्तयतु। यद्वा रुद्रो देवस्त्वां वर्तयतु प्रवर्तयतु, पशूनां रुद्राज्ञावशवर्तित्वात्। सोमो देवः सखा यस्याः सा त्वं सोमसखा सोमसहिता स्वस्ति क्षेमेण पुनरेहि भूयोऽप्यागच्छ।

तित्तिरिर्विस्पष्टमेनमर्थं प्रपञ्चयामास। शतपथेऽपि स्पष्टमुक्तम्। तथाहि—'अथोपनिष्क्रम्याभिमन्त्रयते। चिदसि मनासीति चित्तं वा इदं मनो वागनुवदति धीरसि दक्षिणेति धिया धिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूषन्त्यनूक्तेनेव प्रकामोद्येनेव गाथाभिरिव तस्मादाह धीरसीति दक्षिणेति दक्षिणा ह्येषा क्षत्रियासि यज्ञियासीति क्षत्रिया ह्येषा यज्ञिया ह्येषादितिरस्युभयतःशीर्ष्णीति स यदेनया समानꣳ सद्विपर्यासं वदति यदपरं तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वं तदपरं तेनोभयतःशीर्ष्णी तस्मादाहादितिरस्युभयतःशीर्ष्णीति' (श. ३.२.४.१६)। तस्या अभिमन्त्रणं विधत्ते—अथेति। उपनिष्क्रम्य यज्ञशालाया निर्गम्य। अभिमन्त्रणमन्त्रं व्याचष्टे—चिदसि मनासीति। इदमिदानीं सर्वविदितप्रकारेण चित्तं मनः, मनसा वागनुवदति, चित्तेन ज्ञातं मनसा मतमेवार्थं वाक् प्रकाशयति। अतो हे सोमक्रयणि, वाग्रूपा त्वं

• **मन्त्रार्थ— हे वाणी रूपी गौ! सोम लाने में प्रवृत्त तुमको तुम्हारी पृथ्वी माता आज्ञा दे, स्वर्ग पिता आज्ञा दे, सहोदर भाई ईश आज्ञा दे, एक यूथ (समूह) में प्रकट होने वाला आत्मप्रतिबिम्ब सखा आज्ञा दे। हे दिव्यगुणयुक्त सोमक्रयणि! तुम इन्द्र के लिये सोमलता लाने को जाओ। रुद्र देवता तुमको पुनः हमारी तरफ लौटावें, सोम को लेकर तुम क्षेमपूर्वक फिर हमारे पास आ जाओ॥ इस मन्त्र में भी वाणी रूपी गौ की स्तुति की गई है॥२०॥**

भाष्यसार—'चिदसि' इत्यादि दो कण्डिकाओं से सोमक्रय के लिये निर्धारित सोमक्रयणी गौ का अभिमन्त्रण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (७.६.१३) में निर्दिष्ट है।

चेतनावस्थापन्ना सती चिदसि तथा मननेन मना अपि असि। धीरसि धीरूपाप्यसि। कुत इत्याह—धिया इत्थं वदिष्यामीति बुद्ध्या चित्तवदभिवदनरूपेण वा कर्मणा, 'धीरिति कर्मनाम' (निघ. २.१.२१), जुज्यूषन्ति जीवितु-मिच्छन्ति मनुष्याः। तया जीवनप्रकारं स्वयमेव दर्शयति श्रुतिः—अनूक्तेनेति। अनूक्तेन अनुवचनेन वेदाध्ययनेन, प्रकामोद्येन इच्छया लौकिकभाषणेन, गाथाभिर्गद्यपद्यमयीभिः कथाभिः। सर्वत्र इवेति वाक्यालङ्कारे। एवंविधै-र्वाग्विशेषैर्जीवितुमिच्छन्ति। एवं वाग्रूपायास्तव चित्तमनोधीरूपत्वमुपपद्यते।

दक्षिणेति सोमविक्रयिण आनत्यर्थं दीयमानत्वात् साक्षाद् दक्षिणापि खल्वेषा वस्तुतो भवति। क्षत्रं बलं तदर्हतीति क्षत्रिया गौः, पयआदिसाधनत्वेन तस्या बलकरत्वोपपत्तेः। अथवा क्षत्रं सोमः, 'सोमो वै राजा' (ऐ. ब्रा. १.१५) इति राजशब्देन व्यवहारात्। न यज्ञयोगादेव राजत्वम्, किन्तु जात्यापि क्षत्रियत्वम्। 'यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यः' (श. १४.४.२.२३)। अतः सोमसम्बन्धात् क्षत्रियैवैषा। हे वाग्रूपे, त्वमदितिरसि, उभयतःशीर्ष्णी अदितिरसि, प्रदेशद्वयशिरोयुक्ता अखण्डनीया गौरसि। कुत एतदित्याह—स यदेनया समानं सद्विपर्यासमिति। स वक्ता यद् यस्माद् एनया अदित्या उभयशिरस्कया निमित्तभूतया समानमेकमेव वाक्यं विपर्यासं व्यत्यासेन वदति। तथाहि—भुङ्क्ष्व देवदत्त तिष्ठ विष्णुमित्र इत्यादौ यदेवापरं वचनं देवदत्तेत्येवमादि तदेव पूर्वं करोति। उक्तवैपरीत्येन यत्पूर्वं भुङ्क्ष्वेत्यादिकं तदपरं देवदत्त भुङ्क्ष्व विष्णुमित्र तिष्ठेत्येवंरूपेणापरं च करोति। तस्माद् वाग्रूपतया सोमक्रयणी उभयतःशीर्ष्णी अदितिरसीत्युच्यते। तैत्तिरीयके तु—'अदितिरस्युभयतःशीर्ष्णीत्याह यदेवादित्यः प्रायणीयो यज्ञाना-मादित्य उदयनीयः' (तै. सं. ६.१.७.५) इति शिरोवत् प्रधानभूतयोः सोमयागस्याद्यन्तभूतयोः प्रायणीयोदयनीययोरदिति-र्देवतास्तीति सोभयतःशीर्ष्णीत्युच्यते।

'सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति। सुप्राची न एधि सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची न एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह तस्मादाह सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधीति' (श. ३.२.४.१७)। सोमक्रयणावसरे सुप्राची भव, पुन-र्यजमानगृहप्राप्त्यवसरे क्रीतेन सोमेन सह सुप्रतीची भव। यथा देवप्रेरिता वाक् सोमेन सह पुनरागता, तदात्मकत्वात्, त्वमपि सोमक्रयं साधयित्वा क्रीतेन सोमेन सार्धं पुनरावर्तस्वेत्यर्थः। मित्रस्त्वा पदि बन्धीतामिति। वरुण्या वा एषा यद्रज्जुः सा यद्रज्ज्वाभिहिता स्याद्वरुण्या स्याद्यद्वनभिहिता स्यादयतेव स्यादेतद्वा अवरुण्यं यन्मैत्रꣳ सा यथा रज्ज्वाभिहिता यतैवमस्यैतद् भवति यदाह मित्रस्त्वा पदि बन्धीतामिति' (श. ३.२.४.१८)। मित्रदेवतायाः पादबन्धनोपयोगं दर्श-यति—वरुण्या वा इति। पाशस्य वरुणस्वामिकत्वाद् वरुणदेवताका रज्जुः। यद् यदि तया अभिहिता बद्धा स्यात्तदा वरुण्या स्यात् सोमार्थता न स्यात्, यद्यनभिहिता अबद्धा तदा अयता अस्वाधीना स्यात्। अत एतद्दोषपरिहाराय मन्त्रे मित्रकर्तृकपादबन्धनमित्याह—एतद्वा अवरुण्यं यन्मैत्रꣳ सा यथा रज्ज्वाऽभिहिता यतैवमस्यैतद् भवति यदाह मित्रस्त्वा पदि बन्धीतामिति। 'पूषाऽध्वनस्पात्विति। इयं वै पृथिवी पूषा यस्य वा इयमध्वन् गोप्त्री भवति तस्य न काचन ह्वला भवति तस्मादाह पूषाऽध्वनस्पात्विति' (श. ३.२.४.१८-१९)। यस्या वा इयं पृथिवी पूषा स्यात्, अध्वनि काचन ह्वला प्रच्युतिर्विनाशो न भवति, 'ह्वल चलने'। यस्मात् पूष्णा रक्षितस्य प्रच्युतिर्विनाशो नास्ति, तस्मात् पूषाऽध्वनस्पातु। पूष्णो मार्गाणां नेतृत्वं 'पूषा त्वेतो नयतु' (ऋ. सं. १०.८५.२६) इति श्रुतिसिद्धम्।

'इन्द्रायाध्यक्षायेति। स्वध्यक्षा सदित्येवैतदाह यदाहेन्द्रायाध्यक्षायेत्यनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति सा यत्ते जन्म तेन नोऽनुमता सोममच्छेहीत्येवैतदाह सा देवि देवमच्छेहीति देवी ह्येषा देवमच्छैति यद् वाक् सोमं तस्मादाह सा देवि देवमच्छेहीतीन्द्राय सोममितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय

सोममिति रुद्रस्त्वावर्तयत्वित्यप्रणाशायैतदाह रुद्रꣳ हि नाति पशवः स्वस्ति सोमसखा पुनरेहीति स्वस्ति नः सोमेन सह पुनरेहीत्येवैतदाह' (श. ३.२.४.२०)। अध्यक्षः स्वामी यज्ञस्य तथाविधायेन्द्राय पूषा पातु। सोमस्येन्द्रस्वामिकत्वात् सोमार्थायाः सोमक्रयण्या अपि तत्स्वामित्वम्। तेन एषा स्वध्यक्षा शोभनस्वामिका असद् भवेद् इत्यनेनाभिप्रायेण मन्त्र एवमाह—अनु त्वा मातेति। हे सोमक्रयणि, त्वा त्वां मात्रादिबन्धुवर्गः क्रयार्थं गमनमनुमन्यताम् अनुमतिं करोत्विति मन्त्रभागस्यार्थः। सगर्भ्यः समाने गर्भे भवः, अनेन भ्राता विशेष्यते। सयूथ्यो यूथं सजातीयानां सङ्घः, समाने यूथे भवः सयूथ्यः, तादृशः सखा अनुमन्यताम्। यत्ते जन्मेति तादृश्यास्तव सम्बन्धि यज्जन्म यद् यत्र जायते तेन मात्रादिबन्धु-वर्गेणानुमता सोममच्छेहि सोमं प्राप्तुमेहि। हे देवि, सा त्वं देवं सोममच्छेहि। देवि देवमित्यत्र सोमस्य देवत्वं विधित्सितम्, सोमेनानन्यत्वाच्च सिद्धं सोमक्रयण्या देवीत्वं न स्तुत्यर्थमित्यवगमयितुं यद् वाक् सोममित्युक्तम्। यथा वाक् सोमं गतवती, तथैवेयं सोमक्रयणी सोमं प्रति गच्छतीति। 'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता' (श. ३.२.४.२०)। यज्ञस्य तत्साधनस्य सोमस्येन्द्रो देवता। तथा च तैत्तिरीयके—'इन्द्राय हि सोम आह्रियते' (तै. सं. ६.१.७.७) इति। रुद्रस्त्वावर्तयत्विति। रुद्रस्य पश्वधिपतित्वात् स्वयमगृह्णन् पुनरावर्तयत्वित्यभिधानं तस्या अप्रणाशाय भवति। कथं हिंसाप्रसङ्ग इति तत्राह—रुद्रं हि पशवो नाति, वर्तन्त इति शेषः। स्वस्ति सोमसखेति। 'स्वस्तीत्यविनाशनाम' (निरु. ३.२१) इति निरुक्ता-दुक्तोऽनाशप्रसङ्गः। अतः क्षेमेण सोमसखा सोमेन सहिता पुनरागच्छेति मन्त्रार्थः।

'तां यथैवादो देवाः। प्राहिण्वन् सोममच्छ सेनान्त्सह सोमेनागच्छ देवमेवैनामेष एतत् प्रहिणोति सोममच्छ सैनꣳ सह सोमेनागच्छति' (श. ३.२.४.२१)। 'तां यथैवादो देवाः। व्यह्वयन्ते गन्धर्वैः सा देवानुपावर्ततैवमेवैनामेतद्यजमानो विह्वयते सा यजमानमुपावर्तते तामुदीचीमत्याकुर्वन्त्युदीची हि मनुष्याणां दिक् सो एव यजमानस्य तस्मादुदीची-मत्याकुर्वन्ति' (श. ३.२.४.२२)। मन्त्रभागानां विभागेनाभिप्रायमुक्त्वा सम्पूर्णमन्त्रतात्पर्यमाह—तां यथैवादो देवा इति। सोमक्रयण्या वागात्मकत्वात् तस्याः सोमक्रयप्रदेशप्राप्तिप्रार्थनं देवैः कृतं सोमानयनार्थं वाक्प्रेषणस्थानीयम्, पुनराग-मनप्रार्थनं तु देवानां पुनर्वागाह्वानस्थानीयमिति संग्रहार्थः। तां यथैवाद इति। विप्रकृष्टे काले गन्धर्वैः सोमपालैर्विश्वा-वसुप्रभृतिभिः साकं देवा व्यह्वयन्त विविधमाह्वयन्, तथैव यथा तत्र वाग्देवानुपावर्तत, एवमेव यजमानो विह्वयते तथैव च सा यजमानमुपावर्तते। गन्तव्यद्वारदक्षिणदेशस्थायाः सोमक्रयण्या उदक्प्रापणं सार्थवादं विधत्ते—तामुदीचीमत्या-कुर्वन्तीति। उदङ्मुखा अध्वर्युप्रमुखा उदीचीं नीयमानामनुगच्छन्ति, उदीचीमतिक्रमणायाकुर्वन्ति अभिमुखीकुर्वन्ति अतिक्रमयन्ति यजमानपुरुषाः, सो एव सैव मनुष्यान्तर्वर्तित्वाद् यजमानस्यापि दिक्। 'उदीचीं नीयमानामनुगच्छतो वस्व्यसीति' (का. श्रौ. ७.६.१४)। दक्षिणद्वारात् सोमक्रयणार्थमुक्तदेशं प्रति नीयमानामुदङ्मुखीं गामध्वर्युप्रतिप्रस्था-तारावनुगच्छेतां वस्व्यसीति मन्त्रेण, पत्नी-यजमान-ब्रह्माणस्तूष्णीम्।

अध्यात्मपक्षेऽपि— हे राजराजेश्वरि, त्वं चिदसि अखण्डबोधरूपासि, त्वमेव मनोऽसि अखण्डचिद्रूपाया ब्रह्म-रूपायाश्चितेरेव मनाङ् मननीशक्तिधारणेन मनस्त्वापत्तिः। 'स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्। स मनाङ् मननीशक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥' इति योगवाशिष्ठवचनात्। त्वमेव धीर्बुद्धिरसि, 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है— हे राजराजेश्वरि, आप अखण्डबोधरूपा हैं। आप ही ब्रह्मस्वरूपिणी चिद्रूपिणी मननशक्ति हैं। आप ही बुद्धरूपा हैं। आप ही यज्ञ की पूर्णता की कारणरूपा दक्षिणा भी हैं। आप ही तेजःप्रधाना क्षत्र शक्ति हैं। देवमाता अथवा अखण्ड चिद्रूपा आप ही हैं। अविद्या तथा विद्या रूपी संसार के बन्धन एवं मोक्ष के कारणभूत शीर्ष को

संस्थिता' इति सप्तशतीवचनात्। त्वमेव यज्ञतृप्तिहेतुर्गवादिर्देयद्रव्यरूपा दक्षिणाऽप्यसि। त्वमेव क्षत्रियासि, तेजःप्रधानायाः क्षत्रशक्तेरपि शक्तिसामान्यान्तर्भावात्। अदितिर्देवमातृरूपापि त्वमेवासि, अखण्डचिद्रूपापि त्वमेवासि। उभयतो विद्याऽविद्यारूपे संसारबन्धमोक्षहेतुभूते शीर्षे यस्याः सोभयतःशीर्ष्णी सा त्वं नोऽस्मभ्यं सुप्राची अभ्युदयहेतुत्वेन सुप्राची निःश्रेयसहेतुत्वेन सुप्रतीची एधि भव। संसारोऽयमभ्युदयेन प्रारभ्यते निःश्रेयसेन च समाप्यते। हे प्रत्यक्चिते, मित्रः सूर्यो ज्ञानरूपः, यदि दक्षिणपादे त्वां बध्नीताम्, स्वशक्त्या त्वां योजयतु, तेन निवृत्तिमार्गः सिद्ध्यति। पूषा पोषको देवः, अध्वनो दुर्गात् त्वां पातु, 'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' (कठो. १.३.१४) इति श्रुतेः। एवं देवं भगवन्तं प्राप्तुमुद्यतां त्वां माता प्रकृतिस्तदवच्छिन्ना चिद्वा अनुमन्यतामनुजानातु। पिता परमेश्वरः, सगर्भ्यो भ्राता व्यावहारिकोऽनुमन्यताम्, सयूथ्यः सखा चानुमन्यताम्। हे देवि प्रत्यक्चिते, त्वं देवं परमात्मानमच्छ प्राप्तुमेहि। कीदृशं देवम्? सोममुमया सहितम्। रुद्रो देवस्त्वामावर्तयतु विघ्नान् विद्राव्य परमात्मप्राप्तये प्रवर्तयतु। सोमः साम्बशिवः सखा सहायको यस्याः सा त्वं स्वस्ति सकुशलं पुनरेहि पुनः स्वस्वरूपं प्राप्नुहि ॥२०॥

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि। बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके ॥२१॥

'उदीचीं नीयमानामनुगच्छतो वस्व्यसीति' (का. श्रौ. ७.६.१४)। सायणरीत्याऽध्वर्युयजमानावनुगच्छतः, अन्यदृष्ट्या तु सूत्रं व्याख्यातमेव। अनुष्टुप्, बृहती वा। सोमक्रयणी स्तूयते—हे सोमक्रयणि, त्वं वस्वी वसुरूपासि। रुद्रा एकादशरुद्ररूपासि। चन्द्ररूपा चासि। किञ्च, बृहस्पतिः सुम्ने सुखे सुखकरे मार्गे वा त्वा त्वां रम्णातु रमयतु। रमतेर्व्यत्ययेन श्नाप्रत्ययः। यद्वा रम्णातु संयमयतु, 'रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा' (नि १०.९) इति यास्कोक्तेः। रुद्रो वसुभिरष्टदेवैः सहितस्त्वामाचके रक्षितुं कामयताम्। आचक इति, चकमानः कान्तिकर्मसु पठितः (निघ. २.६.१६)।

आप धारण करती हैं। ऐसी आप हमारे लिये अभ्युदय के रूप से सम्मुख तथा निश्रेयस के रूप से पश्चात् दोनों तरफ स्थित रहें, क्योंकि यह जगत् अभ्युदय से प्रारम्भ होता है तथा निश्रेयस द्वारा समाप्त होता है। हे प्रत्यक् चितिस्वरूपा, ज्ञानरूपी सूर्य आपको दक्षिण पाद में अपनी शक्ति से संयुक्त करे। इस प्रकार से निवृत्ति मार्ग की सिद्धि होती है। पोषक देव (पूषा) दुर्गम पथ से रक्षा करें।

द्वितीय कण्डिका का आध्यात्मिक अर्थ यह है—उपर्युक्त प्रकार से भगवत्प्राप्तिहेतु उद्यत आपको माता प्रकृति अथवा प्रकृत्यवच्छिन्ना चिति अनुज्ञा प्रदान करे। पिता परमेश्वर तथा व्यावहारिक भ्राता भी अनुज्ञा प्रदान करें। समान स्तर के मित्र भी अनुमति दें। हे प्रत्यक्चितिरूपा देवि ! आप उमासहित विद्योतमान परमात्मा की प्राप्ति के लिये जाँय। रुद्र देव आपको विघ्ननिवारण पूर्वक परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त करें। साम्ब सदाशिव से सहायताप्राप्त आप सकुशल पुनः स्वस्वरूप को प्राप्त करें ॥१९-२०॥

मन्त्रार्थ—हे वाक्! हे गौ! तुम वसु देवता की शक्तिरूपा हो, देवमाता रूप हो, द्वादश आदित्य रूप हो , एकादश रुद्र रूप हो, चन्द्र रूप हो, बृहस्पति देवता तुमको सुख पहुंचावें, रुद्र देवता आठ वसुओं के साथ तुम्हारी रक्षा की कामना करें॥ इस मन्त्र से सोमक्रमणी को यजमान उत्तर की ओर ले जाते हुए उसकी स्तुति करता है ॥२१॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (७.६.१४) के अनुसार 'वस्व्यसि' इस मन्त्र से अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता (सायण के मत से अध्वर्यु तथा यजमान) सोमक्रयणी गौ का अनुगमन करते हैं। इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार शतपथ ब्राह्मण में व्याख्या उपदिष्ट है।

'सप्तपदान्यनु निक्रामति' (श. ३.३.१.१) इति सोमक्रयण्या अनुक्रमणं विहितम्। सा यदा प्रथमं पदं निष्क्रामति, तदनु अध्वर्युः स्वयमपि प्रथमं पदं निष्क्रामति, द्वितीयमनु द्वितीयम्। वृङ्क्ते एवैनाम्, केवलो वृजिराङ्पूर्वो द्रष्टव्यः, आवर्जितवानेनाम्। सप्तसंख्यां प्रशंसति—यत्र वा इति। सुपर्णीरूपेणावस्थिताया वाचः सकाशाच्छन्दानामुत्पत्तिकाले तेषां छन्दसां पराध्यां शक्वरी, परार्धे उपरिभागे भवा पराध्यां। शक्वर्याः सप्तपदत्वं प्रसिद्धम्, 'सप्तपदा शक्वरी' (तै. सं. ६.१.८.१)। परस्तादर्वाचीं वृङ्क्ते स्वाभिमुखमावर्जितवान् भवति। 'षट् पदान्यतीत्य सप्तमं पर्युपविशन्ति' (का. श्रौ. ७.६.१५)। नीयमाना सोमक्रयणी यत्र पदानि निक्षिपति, तानि दक्षिणोत्तराणि गमयित्वा षट्पदान्यतीत्य सप्तमे पदनिक्षेपस्थानेऽध्वर्यु-ब्रह्म-यजमानप्रतिप्रस्थातार उपविशेयुः। तत्र दक्षिणतो ब्रह्मयजमानौ, पश्चादध्वर्युरुत्तरतः प्रतिप्रस्थातेति।

'स वै वाच एव रूपेणानु निक्रामति। वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासीति वस्वी ह्येषादितिर्ह्येषादित्या ह्येषा रुद्रा ह्येषा चन्द्रा ह्येषा बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णात्विति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्बृहस्पतिष्ट्वा साधुना वर्तयत्वित्येवैतदाह रुद्रो वसुभिराचक इत्यप्रणाशायैतदाह रुद्रꣳहि नाति पशवः' (श. ३.३.१.२)। अनुक्रमणं समन्त्रकं कर्तव्यमित्याह—स वै वाच इति। अनुक्रमणमन्त्रे सोमक्रयण्यवस्थादिरूपत्वाभिधानं न स्तुत्यर्थमित्याह—वस्वी ह्येषादितिर्ह्येषेत्यादिना। वसुरुद्रादित्याः सवनत्रयदेवताः, अदितिः प्रायणीयोदयनीयदेवता, चन्द्रशब्देनाह्लादकत्वादियुक्तं सुवर्णमुक्तम्। हे सोमक्रयणि, त्वं वस्वादीनां स्वरूपमसि, तदपेक्षितसोमसाधनत्वाद् वस्वी ह्येषा इत्याद्यभिधानम्। रम्णात्वित्यादिकं स्पष्टार्थम्। बृहस्पतिष्ट्वेत्यस्य तात्पर्यमाह—ब्रह्म वै बृहद् बृहतो मन्त्रस्य पालयिता। तदभिमानिदेवता गच्छन्तीं त्वां सुम्ने सुखकरे यत्सुखकरं तत्साधुः; अतः सुम्ने रम्णात्विति यदाह तेन साधुना मार्गेण आवर्तयत्वित्येवैतदाह—रुद्रो देवो वसुभिरिति। हे सोमक्रयणि, तव सुखं वसुभिः सहितो रुद्र आचके कामयत इति मन्त्रभागस्यार्थः। रुद्रप्रार्थनाया उपयोगं दर्शयति—अप्रणाशायेति। 'अथ सप्तमं पदं पर्युपविशन्ति। स हिरण्यं पदे निधाय जुहोति न वा अनग्नावाहुतिर्हूयते। अग्निरेतसं वै हिरण्यं तथोहास्यैषा अग्निमत्येवाहुतिर्हुता भवति वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतदाज्येन स्पृणुते ताꣳ स्पृत्वा स्वीकुरुते' (श. ३.३.१.३)। यजमानमितरांश्चर्त्विजोऽपेक्ष्य पर्युपविशन्तीति बहुवचनम्। परितः सप्तमपदस्य सर्वतो दिक्षूपविशन्ति। क्रमस्तूक्त एव। सोऽध्वर्युर्हिरण्यं पदे निधाय जुहोति। होमाय हिरण्यनिधानं प्रशंसति—न वानग्नावाहुतिः क्रियत इति। हिरण्यस्याग्निरेतस्त्वमुक्तमेव। होमसाधनमाज्यम्। तथा सत्यग्निमेवाहुतिर्हुता भवति। होमसाधनमाज्यं प्रशंसति—वज्रो वा इति। 'घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' (तै. सं. ६.२.३.४) इति श्रुत्यन्तरात्। स्पृणुते हिनस्ति, तां पदप्रदेशस्थां मृदमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सैव प्रत्यक्चितिस्तत्त्वज्ञानेन ब्रह्मात्मभावमापन्ना सार्वात्म्यं भजते। हे प्रत्यक्चिते, त्वं वसुरूपासि अदितिरूपासि आदित्यासि रुद्रचन्द्रादिरूपासि। बृहस्पतिर्ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री देवता त्वा त्वां सुम्ने सुखरूपे सुखकरे ब्रह्मणि रम्णातु रमयतु रुद्रो देवो वसुभिः सह त्वा त्वां रक्षितुमाचके कामयताम्। तत्त्वज्ञानप्रदानेनाज्ञानतत्कार्यात्मकप्रपञ्चबाधनमेव रक्षणम्। तच्च रुद्रानुग्रहेणैव सम्भवति, 'विद्याकामस्तु गिरिशम्' (भा. पु. २.३.७) इति श्रीमद्भागवतवचनात्।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—वही प्रत्यक्चिति तत्त्वज्ञान के द्वारा ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त करके सर्वात्मता धारण करती है। हे प्रत्यक्चिति, तुम वसुरूपा हो, अदितिरूपा हो, आदित्यरूपिणी हो, रुद्रचन्द्रादिस्वरूपा हो। ज्ञानविज्ञानाधिष्ठातृ देवता बृहस्पति

पूर्वोक्तानां चतुर्णां मन्त्राणां सम्बन्धे दयानन्दस्वामिनः—'चिद् या विद्याव्यवहारस्य चेतयमाना वाग् विद्युद्वा असि अस्ति। सर्वत्र व्यत्ययः। मना ज्ञानसाधिका असि अस्ति, धीः प्रज्ञा कर्मविद्याधारिका दक्षिणा दक्षन्ते प्राप्नुवन्ति विज्ञानं विजयश्च यया सा अस्ति, क्षत्रिया या क्षत्रस्यापत्यवद् वर्तते अस्ति, यज्ञिया या च यज्ञमर्हति सा अस्ति, अदितिरविनाशिनी अस्ति, उभयतःशीर्ष्णी उभयतः शिरोवदुत्तमा गुणा यस्यां सा। अत्र पञ्चम्या अलुक्। सा नोऽस्मभ्यं सुप्राची शोभनः प्राक् पूर्वः कालो यस्यां सा, सुप्रतीची सुष्ठु प्रत्यक् पश्चिमः कालो यस्यां सा, एधि भवतु। मित्रः सखा त्वा तां यदि पद्यते जानाति प्राप्नोति येन व्यवहारेण तस्मिन् बध्नीतां बद्धां कुरुताम्। पूषा पुष्टिकर्ता अध्वनो मार्गस्य मध्ये पातु रक्षतु। इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय स्वामिने व्यवहाराय वा अध्यक्षाय अधि उपरि अन्वेक्षणे अक्षाण्यक्षिणी वा यस्य यस्माद्वा तस्मै' इति, तदपि चिन्त्यम्, चित्पदेन वाचो विद्युतो वा बोधासम्भवात्, 'चिती संज्ञाने' इति धातोर्निष्पद्यमानस्यापि चिच्छब्दस्य विद्युदर्थासङ्गतेः, ज्ञानजनकत्वेन वाचि कथञ्चित् प्रवर्तमानत्वेऽपि ज्ञानजनकेषु चक्षुरादिष्वपि तत्प्रयोगापत्तेः। 'मना असि ज्ञानसाधिका' इत्यप्यसङ्गतम्, चिदसीत्यनेनैव गतार्थत्वात्। 'धीः कर्मविद्याधारिका' इत्यप्यसङ्गतम्, विद्युति कर्मधारकत्वोपपत्तावपि विद्याधारकत्वानुपपत्तेः। वाच्यपि विद्याधारकत्वं न सम्भवति, वाचो ज्ञानाधिकरणत्वायोगात्। व्यत्ययश्च निष्प्रमाणकः। एवं दक्षिणापदमपि वाचि विद्युति च नोपपद्यते, विज्ञानसाधने चक्षुरादौ विजयसाधने शस्त्रादौ च दक्षिणापदप्रयोगापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, लोके तथाऽप्रयोगात्। 'क्षत्रस्यापत्यवद् वर्तते या सा क्षत्रिया' इत्यपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे च मानायोगात्। 'उभयतःशीर्ष्णी उभयतः शिवोवदुत्तमा गुणा यस्यां सा' इत्यपि न किञ्चित्, उभयत इत्यस्यानिरुक्तेः। अदितिरित्यपि न सङ्गच्छते, वाचो विद्युतश्च विनाशदर्शनात्। सुप्राचीत्यस्यापि व्याख्यानमसङ्गतम्, प्राक्कालेऽविद्यमानत्वेन सुखसाधनत्वायोगात्। एवमेव पश्चिमकालेऽपि सुखसाधनत्वं नोपपद्यते, तदानीं तस्या असत्त्वात्। वाचो विद्युतश्च प्राक्काले यथाऽसत्त्वं पश्चिमकालेऽपि तथैवासत्त्वम्, कार्यमात्रस्य प्राक्पश्चिमकालयोरसत्त्वनिश्चयात्। कश्च सखा तां वाचं व्यवहारे बध्नाति? यदुक्तं 'सर्वस्य मित्रः' इति, तदप्यसङ्गतम्, परमात्मानमन्तरा क्वचिदपि तदसम्भवात्। मित्रत्वार्थकत्वे मित्रशब्दस्य गौणार्थतैव स्यात्। पूषापि कः? वाग् विद्युच्च उपयोक्तॄणां कौशालादकौशलाच्च शुभाशुभव्यवहारयोरुपयुक्ते भवतः। 'इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय' इत्यनेन किमुक्तम्? तदपि न स्पष्टम्। अध्वनः पात्विति समन्वये सम्भवति मध्य इत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव। श्रुतिसूत्रस्वारस्यं तु सिद्धान्तव्याख्यान एव सङ्गच्छत इति पूर्वोक्तव्याख्यानपरिशीलिनां न तिरोहितम्।

एवमेव 'अनु त्वा माता' इत्यत्रापि 'हे मनुष्य, यथा रुद्रः परमेश्वरो विद्वान् वा यां वाणीं विद्युतं सोमं देवं स्वस्ति सुखं यस्मा इन्द्राय आवर्तयतु स सोमसखा, देवी वाग् विद्युद् देवं विद्वांसमेति, तथैव त्वं तस्मै पुनरच्छेहि

तुमको सुखस्वरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित करें। रुद्रदेव वसुओं के साथ रक्षणहेतु कामना करें। तत्त्वज्ञान के प्रदान द्वारा अज्ञानप्रपञ्च का बाधन ही रक्षण है। यह रुद्र के अनुग्रह से ही हो सकता है, यह श्रीमद्भागवत (२.३.७) का वचन है।

पूर्व के चार मन्त्रों के सम्बन्ध में दयानन्द स्वामी का व्याख्यान असंगत है, क्योंकि 'चित्' शब्द से वाणी अथवा विद्युत् का बोधन असम्भव है। 'चिती संज्ञाने' इस धातु से निष्पन्न होने वाले चित् शब्द की विद्युत् अर्थ से संगति नहीं है। ज्ञानजनक होने के कारण वाणी के अर्थ में यदि कथञ्चित् प्रयोग हो भी, तो ज्ञानजनक चक्षु आदि इन्द्रियों के लिये भी उसका प्रयोग हो जायगा। रुद्र का अर्थ 'चौआलीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यानुष्ठाता' करना भी प्रमाण न होने के कारण असंगत है।

पुनः पुनः समन्तात् सम्यग्रीत्या प्राप्नुहि। एतद्विद्यां ग्रहीतुं त्वां मातानुमन्यताम्, पितानुमन्यताम्, सगर्भ्यो भ्रातानुमन्यताम्, सयूथ्यः सखानुमन्यताम्। त्वं चैताः पुनः पुरुषार्थेनैहि प्राप्नुहि। देवि देदीप्यमाना देवं परमेश्वरं विद्यायुक्तं शुद्धव्यवहारं वा अच्छ सम्यग्रीत्या ···· इन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये ···· सोममुत्तमपदार्थसमूहं रुद्रः परमेश्वरश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षकृतब्रह्मचर्यो विद्वान् वा त्वां ताम् आसमन्ताद् वर्तयतु प्रवृत्तं कारयतु। स्वस्ति शोभनमस्ति यस्मिन् प्राप्तव्ये तत्सुखम्, सोमसखा सोमः परमेश्वरः सोमविद्याविन्मनुष्यो वा सखा सुहृद् यस्य सः' इत्यादि, तदेतत् सर्वथाऽसङ्गतमेव, रुद्रशब्दस्य चतुश्चत्वारिंशद्वर्षकृतब्रह्मचर्यार्थत्वे मानाभावात्। सोमपदस्याप्युत्तमपदार्थसमूहार्थता काल्पनिक्येव, निर्मूलत्वात्। सोमपदस्य सोमविद्याविन्मनुष्य इत्यपि निर्मूलम्, सोमः परमेश्वरस्तादृङ्मनुष्यः सुहृद्यस्येत्यप्यसङ्गतम्, स सोमसखा इत्यन्वयविरोधात्। विद्याग्रहणविधानस्य मन्त्रे बोधकं किमपि पदं न लक्ष्यते। स्वस्तिपदस्य सुखमिति न सङ्गतम्, सुखातिरिक्तानामपि प्राप्तव्यत्वसम्भवेन व्यभिचारात्। देविपदं किं सम्बोधनमन्यद्वा? न प्रथमः, त्वया तदनङ्गीकारात्। न प्रथमान्तम्, ह्रस्वत्वस्य कारणानुक्तेः। तावताप्यर्थोऽस्फुट एव। हिन्दीव्याख्यानमपि न स्फुटम्—'हे मनुष्य यथा रुद्रश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्ताखण्डब्रह्मचर्यपालकः पूर्णविद्यान्वितो विद्वान् वा त्वां यां वाणीं विद्युतं सोममुत्तमपदार्थसमूहं स्वस्ति सुखं च इन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये आवर्तयतु प्रवर्तयतु तथा सोमसखा परमेश्वरः सोमविद्याविन्मनुष्ययुक्तः। देवी विद्याप्रकाशयुक्ता वाणी तथा दिव्यगुणयुक्ता विद्युद् देवमुत्तमधर्मात्मानं प्राप्नोति, तथा तां ग्रहीतुं त्वां मात्रादयोऽनुमन्यन्ताम्' इति, तदेतत् सर्वथाप्यस्फुटं संस्कृतार्थविरुद्धं च। दृष्टान्तस्तु स एव भवति यः प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रुभयसम्मतः स्यात्। परमेश्वरो विद्वान् वा सम्बन्धनीयं मनुष्यं वाणीं विद्युतं शोभनपदार्थसमूहं प्रापयतीति नोभयसम्मतम्। तथा वाणी विद्युद्वा धर्मात्मानं विद्वांसं प्राप्नोतीत्यपि रिक्तं वचः, विपरीतं प्रत्यपि तदुपगमनदर्शनात्। तथैव त्वं तां प्राप्नुहीत्यपि निरर्थकम्, परमेश्वरेण विदुषा वा तत्प्रापणस्योक्तत्वात्। मात्राद्यनुमतिरपि न तत्र हेतुः, अन्यथासिद्धत्वात्। शतपथविरोधोऽपि स्फुट एव।

वस्व्यसीत्यत्र—'वस्वीयाग्न्यादिपदार्थाख्यवसुविद्यासम्बन्धिनी वसुभिश्चतुर्विंशतिवर्षकृतब्रह्मचर्यैः प्राप्ता सा असि अस्ति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। अदितिः प्रकाशवन्नित्या। आदित्या आदित्यवत्प्रकाशिका अष्टत्वारिंशद्वत्सरपर्यन्तानुष्ठितब्रह्मचर्यैः स्वीकृता सा असि अस्ति। रुद्रा या प्राणवायुसम्बन्धिनी चतुश्चत्वारिंशद्धायनसेवितब्रह्मचर्यैः स्वीकृता सा चन्द्रा आह्लादयित्री असि अस्ति। बृहस्पतिः परमेश्वरो विद्वान् वा तां सुम्ने सुखे रम्णातु रमयतु। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थो विकरणव्यत्ययश्च। रुद्रो दुष्टानां रोदयिता विद्वान् वसुभिरुषितसर्वविद्यैर्विद्वद्भिः सह आ समन्ताद् आचके कमितवान् कामयतां वा' इति, तदपि निर्मूलमसङ्गतं च, असम्बद्धत्वात्। अग्न्यादिपदार्थाख्यवसुविद्या तत्सम्बन्धिनी वाणी विद्युच्च चतुर्विंशतिवर्षकृतब्रह्मचर्यैः प्राप्यते, किञ्च तत्र मानमित्यनिरूपणाच्च। रुद्रा आदित्यवत् सर्वविद्याप्रकाशिका या वाणी विद्युच्च अष्टचत्वारिंशद्धायनावधिसेवितब्रह्मचर्यैः स्वीकर्तव्या, तत्रापि किं मानम्? कथञ्चिद् वाक्षु वैलक्षण्येऽपि विद्युति कीदृग्वैलक्षण्यम्? अमुकामुकवर्षपर्यन्तकृतब्रह्मचर्याणां तत्र कथमुपयोगः? तथार्थबोधकपदाभावात्। किमप्येतत्पदं निर्मूलतां नातिवर्तते। तां वाणीं परमेश्वरो विद्वान् वा कथं सुखे रमयिष्यति? वाचो विद्युतश्च जडत्वेन सुखरमणाद्यसम्भवात्। किञ्च, बृहस्पतिरुद्रशब्दावुभावपि यदि परमेश्वरबोधकौ तदान्यतरप्रयोगो व्यर्थ एव स्यात्। वसुरुद्रादित्यदिशब्दा लक्षणया अष्टैकादशद्वादशादिसंख्याबोधका भवन्ति, परं प्रकृते चतुर्विंशत्यादिवर्षपर्यन्तकृतब्रह्मचर्यप्राप्यार्थबोधकत्वं तेषां कथम्? 'वालाग्रशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः' इत्याप्तोक्तिविरोधात्। शतपथव्याख्याविरोधश्च स्पष्ट एव।

'आदित्यास्त्वा' इत्यत्र यदुक्तम्—'आदित्या अन्तरिक्षस्य त्वा तां मूर्धन् मूर्धनि वर्तमानाम् आसमन्ताज्जिघर्मि प्रदीप्ये सञ्चालयामि वा देवयजने देवानां विदुषां संगतिकरण एतेभ्यो दाने वा पृथिव्या भूमेर्मध्ये इडायाः स्तोतुमन्वेष्टुमर्हाया वेदवाण्याः, 'इडेति वाङ्नामसु पठितम्' (निघ. १.११.३), पदं वेदितव्यं प्राप्तव्यं वा असि अस्ति। घृतवद् घृतेन पुष्टिदीप्तिकारकेण तुल्या स्वाहा यया क्रियया सुहुतं यजति तस्याः, अस्मे अस्मासु रमतां रमयतु वा। अस्मे अस्माकम्, ते तव बन्धुर्भ्राता त्वे त्वयि रायो विद्यादिसुवर्णधनं मे मयि रायो धनं वयं मनुष्या राय उक्तधनस्य पोषेण मा वियुक्ता भवेम। तोतः, तुवन्ति जानन्ति प्राप्नुवन्ति हिंसन्ति वा येन स, 'तु गतिवृद्धिहिंसास्तुतिषु' इति धातोर्बाहुलक औणादिकस्तन्प्रत्ययः। रायो विद्याराज्यसमृद्धयः" इति, तदपि यत्किञ्चित्, कपोलकल्पितत्वात्।

'हे विद्वन् मनुष्य, त्वं यथा या देवयजनेऽदित्याः पृथिव्या इडायाः स्वाहा मूर्धन् घृतवत्पदमस्यस्ति, यामहं जिघर्मि त्वा तां त्वमपि जिघृहि। या अस्मे अस्मासु रमते सा युष्मास्वपि रमस्व रमताम्। यामहं रमयामि तां भवानपि स्वस्मिन् रमयतु। योऽस्मे अस्माकं बन्धुरस्ति स ते तवाप्यस्तु। यो रायो धनसमूहस्ते त्वय्यस्ति स मे मय्यप्यस्तु। तोतो भवान् या रायो विद्याधनसमृद्धीः प्राप्नोति, ता मे मय्यपि सन्तु, या मयि वर्तन्ते तास्त्वय्यपि सन्तु। एता रायः समृद्धयः, ताः सर्वेषां सुखायापि सम्प्रयुक्ताः सन्तु। यथैवं जानन्तो निश्चिन्वन्तोऽनुतिष्ठन्तो यूयं वयं च रायस्पोषेण कदाचिन्मा वियौष्म वियुक्ता मा भवेम, तथैव सर्वे भवन्तु' इति, तदेतत्सर्वं तत्कपोलकल्पितम्।

यदुक्तम्—'अदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ . सं . १.८९.१०) इत्यस्मादयमर्थो गृह्यते, तत्तुच्छम्, अदित्यन्तरिक्षशब्दयोः पर्यायवाचकत्वे घटकलशवत् सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। एतेन 'अदितिर्द्यौः' (ऋ . सं . १.८९.१०) इति प्रकाशकारकोऽर्थो गृह्यते' इत्यप्यपास्तम्, सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। अन्तरिक्षादीनां मूर्धनि वर्तमानानामिति पदार्थव्याख्याने उक्तम्, अन्वये च 'अदित्याः पृथिव्या इडायाः स्वाहा मूर्धन् घृतवत्पदमस्यास्ति, यामहमाजिघर्मि त्वा तां त्वमपि जिघृहि' इत्यस्य सन्दर्भस्य को वार्थ इति न स्पष्टम्। हिन्द्यां तु पदं पदवी इत्युक्तम्। क एतेषां सन्दर्भाणां सम्बन्ध इति विद्वांसो विभावयन्तु। पदव्याः प्रदीपनं सञ्चालनं कथं भवति, घृतवच्च पुष्टिकारकत्वं तत्र कथं सेत्स्यतीत्यपि विमर्शनीयम्। अदित्या एव मूर्धनि तस्या वर्तमानत्वमदित्यादीनां वा मूर्धसु वर्तमानत्वं विवक्षितम्? प्रथमे पृथिव्यादीनां कथं सम्बन्धः? अन्त्ये कथमदित्यादीनामेक एव मूर्धा स्यात्? अपि च, प्राणिनां कर्मभेदात् समृद्ध्यादिभेदोऽनिवार्यः स्यात्। तथा च यास्त्वयि सन्ति ता मय्यपि सन्त्विति कथं सङ्गच्छते? सर्वथापि दुरूहोऽयं दयानन्दोक्तोऽर्थः। पदार्थेऽन्योऽर्थोऽन्वयेऽन्यः, भावार्थेऽन्यो हिन्दीभाष्ये चान्योऽर्थो व्यज्यते। मन्त्राक्षरासम्बद्धः शतपथादिविरुद्धश्चायमर्थः ॥२१॥

अग्रिम कण्डिका 'अदित्यास्त्वा' के अर्थ में भी जो स्वामी दयानन्द ने प्रतिपादित किया है, वह कपोलकल्पित ही है। अदिति तथा अन्तरिक्ष शब्द के पर्यायवाची होने में घट-कलश शब्दों की भाँति सामानाधिकरण्य संगत नहीं होता। हिन्दी व्याख्या में पदवी (पदम्) यह अर्थ कहा गया है। पदवी का अर्थ प्रदीपन, संचालन किस प्रकार होता है और घृत के समान पुष्टिकारकता उसमें कैसे संगत होगी, यह भी विचारणीय है। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित यह अर्थ सर्वथा दुरूह है। पदार्थ में कुछ दूसरा अर्थ, अन्वय में उससे भिन्न, भावार्थ में भिन्न तथा हिन्दी व्याख्या में दूसरा ही अर्थ कहा जाता है। मन्त्राक्षरों से सम्बन्धविहीन तथा शतपथ ब्राह्मण आदि से विरुद्ध यह अर्थ है ॥२१॥

अदि॑त्यास्त्वा मू॒र्धन्नाजि॑घर्मि देव॒यज॑ने पृथि॒व्या इडा॑यास्प॒दम॑सि घृ॒तव॒त् स्वाहा॑। अ॒स्मे र॑मस्वा॒स्मे ते॒ बन्धु॒स्त्वे रायो॒ मे रायो॒ मा व॒यꣳ रा॒यस्पोषे॑ण॒ वियौ॑ष्म॒ तोतो॒ राय॑ः ॥२२॥

'षट्पदान्यतीत्य सप्तमं पर्युपविशन्ति, हिरण्यमस्मिन्निधायाभिजुहोत्यदित्यास्त्वेति' (का. श्रौ. ७.६.१५-१६)। षट्पदान्यतीत्य सप्तमपदप्रदेशं परितोऽध्वर्युब्रह्मयजमानप्रतिप्रस्थातार उपविशन्ति। अस्मिन् सप्तमे पदे हिरण्यं निधाय जुहुयादध्वर्युः। अदित्या अखण्डितायाः पृथिव्या भुवो मूर्धन् मूर्धनि शिरोरूपे देवयजने देवानां याग-योग्यस्थाने देवा हविर्भुज इज्यन्त आराध्यन्ते हविरादिप्रदानेन यत्र तादृशे स्थाने त्वा त्वाम् आजिघर्मि। हे सोमक्रयणीपद, त्वा त्वामाक्षारयामि आ सर्वतः क्षारयामि, 'घृ क्षरणदीप्त्योः' देवयजनस्य पृथिवीमूर्धत्वप्रसिद्धिं तित्तिरिर्दर्शयति— 'पृथिव्या ह्येष मूर्धा यद्देवयजनम्' (तै. सं. ६.१.८.५) इति। किञ्च, इडायास्पदमसि, हे स्थान-विशेष, इडाया गोः पदं पादोऽसि तत्पदेनाङ्कितत्वात् तद्रूपमसि, तच्च पदं घृतवद् घृतयुक्तं कर्तुं स्वाहा जुहोमि, उव्वटाचार्यस्तु— देवयजने पृथिव्या इडाया गोः पदं यतस्त्वमसि, अतो घृतवद् घृतयुक्तं त्वां कर्तुं जुहोमीति शेषः। तदप्याह तित्तिरिः—'यदेवास्यै पदाद् घृतमपी[illegible]यत तस्मादेवमाह' (तै. सं. ६.१.८.५) इति, 'सा यत्र यत्र न्यक्रामत ततो घृतमपी[illegible]यत (तै. सं. २.६.७.१)। इति च।

'स्फ्येन पदं त्रिः परिलिखत्यस्मे रमस्वेति' (का. श्रौ. ७.६.१७)। होमानन्तरमध्वर्युस्तत्पदक्षेपस्थानं त्रिः परिलिखति परितो रेखां करोति, सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। हे गोः पद, त्वमस्मदीये यजमाने रमस्व क्रीडां कुरु। 'समुद्धृत्य पदꣳ स्थाल्यामावपत्यस्मे ते बन्धुरिति' (का. श्रौ. ७.६.१८)। हिरण्यमपसार्य निक्षेपस्थानीयान् पदपांसून् हस्तेन गृहीत्वा स्थाल्यामावपेत्—हे सोमक्रमणीपद, ते तव अस्मे बन्धुर्वयं बन्धुभूताः स्मः। 'सुपां सुलुक्...' (पा. सू. ७.१.३९) इति जसः शे आदेशे 'अस्मे' इति रूपम्। यद्वा ते तव बन्धुः स्नेहबन्धुः स्नेहबन्धनम्, अस्मे अस्मदीये यजमानेऽस्तु, 'अस्मे ते बन्धुरिति यजमाने ते बन्धुरित्येवैतदाह' (श. ३.३.१.६) इति श्रुतेः। 'अपः स्थाने निषिच्य यजमानाय पदं प्रयच्छति त्वे राय इति' (का. श्रौ. ७.६.१९)। उद्धृतस्य पदस्य स्थाने भूमावपो निषिच्याध्वर्युर्यजमानाय पदपांसून् प्रयच्छति—'हे यजमान, ते त्वयि रायो धनानि, एतत्पदरूपेण तिष्ठन्त्विति शेषः। अथवा रायः पशवः, ते त्वयि सन्तु, 'पशवो वै रायः' (श. ३.३.१.८) इति श्रुतेः। 'मे राय इति यजमानः प्रतिगृह्णाति पदम्' (का. श्रौ. ७.६.२०)। मे राय इति मन्त्रेण यजमानः पदमध्वर्युप्रत्तान् पदपांसून् प्रतिगृह्णाति।

मन्त्रार्थ—अखण्डित पृथ्वी के शिरस्वरूप हे घृत! देवताओं के यज्ञयोग्य स्थान में तुमको टपकाता हूँ। हे स्थान! तुम गौ के चरणचिह्न हो, यहां मैं घृत की आहुति देता हूँ। हे गोपद! तुम हमें सुख पहुँचाओ, हम तुम्हारे बन्धुरूप हैं। हे यजमान! तुममें धन इस पदरूप से स्थित हों। ये मेरे धन और पशु हैं। हम धन की पुष्टि से न वियुक्त हों। ब्रह्मा, विष्णु, महेश पत्नीसहित यजमान को धन और पशुओं से संपन्न करें॥ यजमान सोमक्रयणी के पीछे ६ पग चलकर जहां सातवां पग पड़कर खुर का चिह्न बने, उसमें सोने का टुकड़ा डाल कर उस पर घी की आहुति देता हुआ इस मन्त्र का उच्चारण करता है॥२२॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.६.१५-२३) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'अदित्यास्त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा सोमक्रयणी गौ के सातवें पादप्रक्षेप के स्थान पर हवन, रेखाकरण, पदधूलि का ग्रहण, यजमान को गौपदधूलि का प्रदान तथा पत्नी द्वारा मन्त्रोच्चारण एवं गौ की चरणरेणु का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में इन याज्ञिक विनियोगों के अनुसार ही मन्त्रों की व्याख्या उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थस्तु—'मे मयि यजमाने रायः पशवः पदरूपेण तिष्ठन्तु । ङेः शेरादेशः । 'मा वयमित्यध्वर्युरात्मानꣳ-सꣳस्पृशति' (का. श्रौ. ७.६.२१) । वयमध्वर्युप्रभृतयो रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या मा वियौष्म वियुक्ता मा भवामः । यौतेः 'माङि लुङ्' (पा. सू. ३.३.१७५) इति लुङि उत्तमपुरुषबहुवचने वियौष्मेति रूपम् । 'हत्वा पत्न्यै पदं प्रयच्छति, नेष्टा तोत इत्येनां वाचयति' (का. श्रौ. ७.६.२२-२३) । तोतशब्दः कलत्रवाची । नेष्टा ऋत्विग्विशेषो मन्त्रं वाचयति । तस्मिन् कलत्रे रायः पदरूपाणि धनानि तिष्ठन्त्विति मन्त्रार्थः । तथा च श्रुतिः— 'अथ पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति' (श. ३.३.१.१०) इति । पत्न्यै पदप्रदानं तित्तिरिरपि प्रतिपादयति—'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी' (तै. ब्रा. ३.३.४.५) । तथा गृहे निधत्ते तादृगेव तदिति सायणाचार्यः । अव्ययानामनेकार्थत्वाच्च तोतस्त्वयि रायः सन्त्विति वा मन्त्रार्थः । तोतस्तोकसमानार्थको वा । रायो धनानि तोकः पुत्रः स्वीकरोत्वित्यर्थः । उव्वटमहीधररीत्या प्रथममाज्यदैवतं यजुः । तेन हे आज्य, अदित्या अखण्डितायाः पृथिव्या मूर्धनि देवयजने त्वा त्वाम् आजिघर्मि आक्षारयामीति तदर्थः ।

शतपथेऽप्ययमर्थः—'स जुहोति । अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिघर्मीतीयं वै पृथिव्यदितिरस्यै हि मूर्धन् जुहोति देवयजनेति पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै जुहोतीडायास्पदमसि घृतवत्स्वाहेति गौर्वा इडा गोर्हि पदे जुहोति घृतवत्स्वाहेति घृतवद्ध्येतदभिहुतं भवति' (श. ३.३.१.४) । पदे समन्त्रकं होमं विधत्ते—स जुहोतीति । हे आज्य, त्वा त्वाम् अदित्याः पृथिव्या मूर्धन् मूर्धनि, आजिघर्मि सर्वतः क्षारयामि जुहोमि । अत्र क्षरणमर्थः । कीदृशे ? पृथिव्या अवयवभूते देवयजने, देवा इज्यन्तेऽत्रेति देवयजनं तस्मिन् । इयं पृथिव्यदितिः, अस्यै अस्याः पृथिव्या मूर्धन् मूर्धनि देवयजने जुहोति । इडायास्पदमसि । अत्र इडेतिपदेन गौरुच्यते । गोर्हि पदे जुहोति । घृतोपेतमेतद्धुतं भवति । तस्याः सोमक्रयण्याः पदं पादनिधानस्थानमसि । अत इदं स्वाहा स्वाहुतमस्तु । इडापदस्य घृतोपेतत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्—'यदेवास्यै पदाद् घृतमपीड्यत तस्मादेवमाह' (तै. सं. ६.१.८.२) । सा यत्र यत्र न्यक्रामत्ततो घृतमपीड्यत तस्माद् घृतपद्युच्यते । घृतवत्स्वाहेत्यस्य तात्पर्यमाह—घृतवद्ध्येतदिति । एतद् एतेन मन्त्रभागपाठेन घृतयुक्तमेव सत् पुनराज्येन चापि संयुक्तं स्यादित्यर्थः । एतदभिप्रायेणैव सायणाचार्येण काण्वसंहिताभाष्ये प्रथममन्त्रव्याख्याने हे सोमक्रयणीपदमिति सम्बोधनमुक्तम्, अत्र ब्राह्मणव्याख्याने तु उव्वटवद् हे आज्य इति सम्बोधनमुक्तम्, सोमक्रयणीपदस्याज्याभिन्नत्वात् । 'यत्सोमक्रयण्यै घृतवति स्वाहेत्याह यदेवास्यै पदाद् घृतमपीड्यत तस्मादेवमाह' (तै. सं. ६.१.८.५) सोमक्रयणीपदे हिरण्यप्रक्षेपं विधत्ते—यदध्वर्युरनग्नावाहुतिं जुहुयादन्धोऽध्वर्यू रक्षाꣳसि यज्ञꣳ हन्युर्हिरण्यमुपास्य जुहोत्यग्निवत्येव जुहोति नान्धोऽध्वर्युर्भवति न यज्ञꣳ रक्षाꣳसि घ्नन्ति' (तै. सं. ६.१.८.६) इति ।

'अथ स्फ्यमादाय परिलिखति । वज्रो वै स्फ्यः ...... त्रिष्कृत्वः परिलिखति त्रिवृतैवैतद्वज्रेण समन्तं परिगृह्णात्यनतिक्रमाय' (श. ३.३.१.५) । सार्थवादं परिलेखनं विधत्ते—अथ स्फ्यमिति । तस्य त्रिरावृत्तिरुक्ता । 'स परिलिखति । अस्मे रमस्वेति यजमाने रमस्वेत्येवैतदाहाथ समुल्लिख्य पदꣳ स्थाल्याꣳ संवपत्यस्मे ते बन्धुरिति यजमाने ते बन्धुरित्येवैतदाह' (श. ३.३.१.६) । 'अस्मे' इत्यस्य तात्पर्यमाह—यजमाने इति । अस्मे अस्मदीये यजमाने । सुप्तमपदपांसोः स्थाल्यां स्थापनं समन्त्रकं विधत्ते—अथ समुल्लिख्येति । हे पादपांसो, तव बन्धुः स्नेहबन्धुः स्नेहबन्धनमस्मेऽस्मदीये यजमानेऽस्तु । 'अथाप उपनिनयति । यत्र वा अस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादप उपनिनयति' (श. ३.३.१.७) । परिलिखितप्रदेशेऽपां निनयनं विधाय

इसका अर्थ है — हे सोमक्रयणी गौ के चरणस्थान, मैं तुमको अखण्डनीया पृथ्वी के शिरोरूप देवयजन स्थान में सर्वतः घृतप्लुत करता हूँ। हे चरणस्थान, तुम गौ के पादस्वरूप हो। तुमको घृतयुक्त करने के लिये हवन करता हूँ। तुम हमारे यजमान

प्रशंसति—शान्तिराप इति। खननं हि हिंसात्मकत्वात् क्रूरीकरणम्। अपां त्वौष्ण्यनिवारकत्वात् शान्तिरूपत्वं प्रसिद्धम्। अतः शान्त्या अद्भिः शान्तिरूपाभिरद्भिस्तत्क्रौर्यं शमितवान् भवति। निनयनस्य प्रयोजनान्तरमाह—तदद्भिः सन्दधातीति। 'अथ यजमानाय पदं प्रयच्छति। त्वे राय इति पशवो वै रायस्त्वयि पशव इत्येवैतदाह तद्यजमानः प्रतिगृह्णाति मे राय इति पशवो वै रायो मयि पशव इत्येवैतदाह' (श. ३.३.१.८)। पदं स्थालीस्थं पदपांसुं यजमानाय प्रयच्छति। रैशब्दार्थमाह—पशवो वै राय इति। 'त्वे' इत्येतत्सप्तम्यन्तमिति व्याचष्टे—त्वयि पशव इति। अध्वर्युदत्तस्य पांसोः समन्त्रकं प्रतिग्रहं विधत्ते—तद्यजमान इति। 'अथाध्वर्युरात्मानमुपस्पृशति। मा वयꣳ रायस्पोषेण वियौष्मेति तथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मानं नान्तरेति' (श. ३.३.१.९)। अध्वर्युरात्मानमुपस्पृशति मा वयं रायस्पोषेण वियौष्मेति। तथो हाध्वर्युः पशुभ्य आत्मानं नान्तरेति। 'अथ पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति। गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैनामेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मात् पत्न्यै पदं प्रतिपराहरन्ति' (श. ३.३.१.१०)। प्रतिपराहरन्ति प्रयच्छेयुरिति। 'हृत्वा पत्न्यै पदं प्रयच्छति' (का. श्रौ. ७.६.२२)। यजमानहस्तात् स्थालीस्थं पदं गृहीत्वाध्वर्युः पत्न्यै प्रयच्छेत्। सा च सुगुप्तस्थाने स्थापयेत्। पत्नी खलु प्रतिष्ठा निलयनरूपा। गृहाणां बहुत्वेऽपि प्रतिष्ठाया एकत्वादेकवचनम्। गृहं यथा धान्यादिनिक्षेपस्थानमेवं पत्न्यपि। अन्यत् स्पष्टम्।

'तां नेष्टा वाचयति। तोतो राय इत्यथैनाꣳ सोमक्रयण्या संख्यापयति वृषा वै सोमो योषा पत्न्येष वा अत्र सोमो भवति यत्सोमक्रयणी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादेनाꣳ सोमक्रयण्या संख्यापयति' (श. ३.३.१.११)। तां गृहीतपांसुं पत्नीम्। तोतः तोकसमानार्थः। रायो धनानि तोतः पुत्रः स्वीकरोत्वित्यर्थः। यद्वा तोतस्त्वत्तस्त्वयि रायः सन्त्वित्यर्थः। अथैनां सोमक्रयण्येति। एनां पत्नीं सोमक्रयण्या संख्यापयति, दर्शयतीत्यर्थः। नेष्टा सोमक्रयणी सेयं तया पत्नीमनेन मन्त्रेण दर्शयेत्। गतिबुद्ध्याद्यर्थाभावात् सोमक्रयण्याः कर्मत्वाभावः। संख्यापनं प्रशंसति—एष वा अत्र सोम इति। अत्र सोमक्रयप्रस्तावे सोमक्रयण्याः सोमसम्पत्त्यर्थत्वात् सैव एष सोमः। सोम इति विधेयस्य पुल्लिङ्गत्वमपेक्ष्यैष इति पुल्लिङ्गत्वम्। अत एतद् एतेन उभयोः सम्बन्धेन उत्पादनसमर्थं मिथुनमेव सम्पादितम्॥२२॥

समख्ये देव्या धिया सन्दक्षिणयोरुचक्षसा। मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव। वीरं विदेय तव देवि संदृशि॥२३॥

'सोमक्रयण्या च समीक्ष्यमाणाꣳ समख्य इति' (का. श्रौ. ७.६.२४)। सोमक्रयण्या गवा समीक्ष्यमाणां पत्नीं समख्य इति मन्त्रं नेष्टा वाचयति। आस्तारपङ्क्तिः, अन्त्यौ चेदास्तारपङ्क्तिरिति वचनात्। सोमक्रयण्या आशिष

के प्रति सन्तुष्ट रहो, हम तुम्हारे आत्मीय हैं। हे यजमान, इस पादधूलि के रूप में धन अथवा पशुगण तुम्हारे पास रहें, मेरे पास सदा वर्तमान रहें। हम धन-पुष्टि से कभी वियुक्त न होवें। पत्नियों के पास भी धन रहे॥२२॥

मन्त्रार्थ— हे सोमक्रयणि गौ ! तुम यज्ञ की प्रधान दक्षिणा के योग्य विशाल दर्शन वाली हो, तुम्हारी सहायता से मैं बुद्धिपूर्वक यज्ञपुरुष को देखती हूँ। तुम मेरी आयु को खण्डित मत करो, मैं तुम्हारी आयु को खण्डित न करूँ। हे पराशक्ति ! तेरा सुन्दर दर्शन होने पर बली पुत्र को प्राप्त करूँ॥ सोमक्रयणी गौ को देखने वाली पत्नी से अध्वर्यु इस मन्त्र का पाठ करावे॥२३॥

भाष्यसार—'समख्ये देव्या' इस ऋचा का सोमक्रयणी गौ के द्वारा देखी जाती हुई यजमानपत्नी वाचन करे। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (७.६.२४) में उपदिष्ट है। तदनुसार सायण, उव्वट, महीधर आदि आचार्यों ने अर्थनिरूपण किया है।

आशास्ते पत्नी । देव्या द्योतमानया धिया बुद्ध्या समख्येऽहं पत्नी सोमक्रयणीं सम्यग् यथा भवति तथा विस्तीर्णदर्शनया दक्षिणात्वयोग्यया गवा सोमक्रयण्या समित्यनेनोपसर्गेण संयुज्य स्थितास्मीत्ययमर्थ उपलक्ष्यते । तथाविधे हे सोमक्रयणि, त्वं मे पत्न्या आयुर्मा प्रमोषीः प्रमुषितं विनष्टं मा कार्षीः । मो अहं तव सोमक्रयण्या आयुरहं पत्नी मो प्रमोषिषमित्यध्याह्रियते, प्रमुषितं माऽकार्षम् । किञ्च, तव संदृशि सन्दर्शने सति वीरान् पुत्रान् विदेय लभेयेति सायणाचार्यः ।

यद्वा उव्वटमहीधररीत्याऽयमर्थः—हे सोमक्रयणि, देव्या दानादिगुणयुक्तया द्योतमानया वा त्वया धिया बुद्ध्या सह बुद्धिपूर्वकमहं समख्ये अदृक्षि, दृष्टेत्यर्थः । प्रकथनार्थायाः ख्यातेः सम्पूर्वस्य लुङि तङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा. सू. ३.१.५२) इति च्लेरङि उत्तमैकवचने कर्मणि 'समख्ये' इति रूपम् । अपरं समिति पादपूरणार्थम् । कीदृश्या त्वया, दक्षिणया दक्षिणात्वयोग्यया, पुनः कीदृश्या ? उरुचक्षसा उरु चष्टे या सोरुचक्षास्तया विस्तीर्णदर्शनया । एवंभूता त्वं मे मम यजमानपत्न्या आयुर्मा प्रमोषीर्माऽवखण्डय । मो तव सोमक्रयण्या आयुरहं यजमानपत्नी मा उ मैव प्रमोषिषमिति शेषः । 'मो' इति निषेधार्थकमव्ययं वा । 'विद्लृ लाभे' इत्यस्य 'तुदादिभ्यः शः' (पा. सू. ३.१.७७) इति शप्रत्यये व्यत्ययेन 'शे मुचादीनाम्' (पा. सू. ७.१.५९) इति नुमभावे लिङि विदेयेति रूपम् । अन्यत् पूर्ववत् ।

अध्यात्मपक्षे तु—अहं द्योतमानया स्वप्रकाशया धिया नित्यविज्ञानरूपया सन्दक्षिणया अवामया अनुकूलया उरुचक्षसा विस्तीर्णदर्शनया सर्वज्ञया त्वया समख्ये दृष्टास्मि, अनुग्रहपूर्णया त्वदीययाऽनुकूलदृष्ट्यैव जीवानां कल्याणसम्भवात् । हे राजराजेश्वरि, त्वमस्माकमायुर्जीवनं मा प्रमोषीः, त्वत्सत्तयैव मत्पूर्णत्वसम्भवात्, तत्प्रमोषेण मम तद्विलोपप्रसङ्गात् । अहं च तवायुर्जीवनं तवापरोक्षत्वं स्वप्रकाशत्वं मा प्रमोषिषम्, प्रत्यञ्चमन्तरा तत्पदार्थस्य पराक्त्वापत्त्या स्वप्रकाशत्वपरप्रेमास्पदत्वविलोपप्रसङ्गात्, 'माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्' (औपनिषदशान्तिपाठेषु) इत्यादिश्रुतेः, 'यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति । निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥' (वा. रा. २.१७.१४) इति श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणवचनाच्च । तव संदृशि संदर्शने सति तवानुग्रहपूर्णया दृष्ट्या अहं वीरमज्ञाननाशकं प्रबोधरूपं पुत्रं विदेय लभेय ।

श्रीदयानन्दस्तु—'समख्ये सम्प्रकथयामीति व्यत्ययेनात्मनेपदम् । लडर्थे लुङ् । देव्या देदीप्यमानया धिया प्रज्ञया कर्मणा वा । समेकीभावे, दक्षिणया ज्ञानसाधिकया अज्ञाननाशिकया च, उरुचक्षसा उरुचक्षो व्यक्तं वचनं दर्शनं वा यस्यास्तया मे ममायुर्जीवनं मा प्रमोषीर् मुष्णीयात् खण्डयेत् । अत्र लिङर्थे लुङ् । अहं सर्वप्रियं प्रेप्सु तव सर्वसुहृदो वीरं विक्रान्तं जनं मो विन्देय अन्यायेन न विन्देय । अत्र 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति'

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—मैं स्वप्रकाशात्मक नित्यविज्ञानरूपा, अवामा, अनुकूला, विस्तीर्ण दर्शनवाली सर्वज्ञा आपके द्वारा देखी गयी हूँ । अनुग्रहपूर्ण आपकी अनुकूल दृष्टि से ही जीवों का कल्याण सम्भव है । हे राजराजेश्वरि, आप मेरी आयु का विलोप न करें । मैं भी आपके अपरोक्षत्व स्वप्रकाशकत्व का अपलाप न करूँ । वाल्मीकि रामायण (२.१७.१४) तथा औपनिषद शान्तिपाठ में भी यह भावना व्यक्त की गई है । आपका सन्दर्शन हो जाने पर मैं आपकी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से अज्ञाननाशक प्रबोधरूपी पुत्र को प्राप्त करूँ ।

श्री दयानन्द का कहा गया अर्थ प्रमाणरहित तथा व्यत्यय आदि से ग्रस्त होने के कारण निस्सार है । 'दक्षिणया' का 'ज्ञानसाधिका अथवा अज्ञाननाशिका द्वारा' इस प्रकार अर्थ करना निर्मूल है । 'विदेय' इस पद में महीधराचार्य ने व्यत्यय के द्वारा

(पा. सू. १.४.९) इति नुमभावः। तव तस्या देवि देव्या दिव्यगुणैर्विराजमानायाः, अत्रार्थाद्विभक्तेर्विपरिणामः, (पा. सू. १.३.९) भाष्यवचनाद् विभक्तेर्विपरिणामः। सन्दृशि समीचीनं दृग्दर्शनं यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन्। हे विद्वन् मनुष्य, यथाहं दक्षिणया उरुचक्षसा देव्या धिया तव देवि तस्या दिव्यैर्गुणैर्विराजमानाया वाचो विद्युतो वा संदृशि जीवनं समख्ये सा मे ममायुर्मा प्रमोषीः खण्डनं न कुर्यादहमेतां समख्ये प्रख्यातां कुर्यामन्यायेन तव वीरं मो मा संविदेय, तथैव त्वमेतत्सर्वमाचर्यान्यायेनापि मम वीरं च मा संविदस्व' इति। हिन्दीभाष्ये तु — 'हे विद्वन् मनुष्य, यथाहं ज्ञानसाधिकयाऽज्ञाननाशिकया उरुचक्षसा बहुप्रकटवचनेन दर्शने वा देव्या देदीप्यमानया धिया कर्मणा वा तव तस्या देवि सर्वोत्कृष्टगुणैर्युक्ताया वाचो विद्युतो वा संदृशि सम्यग्दर्शनार्हे व्यवहारे जीवनं समख्ये कथनेन प्रकटयामि, सा मे मायुर्जीवनं मा प्रमोषीर्न नाशयेत्। तामहमविद्यया न नाशयामि। तव सर्वमित्रस्यान्यायेन वीरं शूरमहं मो प्राप्नुयाम्, तथैव त्वमपि मम शूरमन्यायेन मा प्राप्नुहि' इति, तत्सर्वमेतन्निःसारं प्रलपितमात्रम्, निष्प्रमाणव्यत्ययादिमूलकत्वात्।

दक्षिणया ज्ञानसाधिकयाऽज्ञाननाशिकयेत्यपि निर्मूलम्! किञ्च, मूले संदृशिपदं विद्यते, वाचो विद्युतो वा तेन कः सम्बन्धः? संदृशिपदस्य व्यवहारार्थकताप्यसिद्धैव, सम्यग्दर्शनार्हताया रूपादौ व्यभिचारात्। 'देवि' इति पदस्य विपरिणामेऽपि दिव्यैर्गुणैर्विराजमानाया वाचो विद्युतो वा ग्रहणे किं बीजम्? भागवत्याः शक्तेरपि तथात्वसम्भवात्, सामान्यभूतायां वाचि विद्युति तदसम्भवाच्च। जडां वाचं विद्युतं प्रति जीवनप्रमोषाभावप्रार्थनापि नोपपद्यते। अन्यायेन वीरप्राप्तिः कीदृशी? सा प्रकृते कथं प्रसक्ता? किमर्थं च सा निवार्यते? 'तव सर्वसुहृदः' इत्यपि कल्पनामात्रम्। अहं सर्वप्रियं प्रेप्सुरित्यपि निर्मूलम्, तत्पदयोस्तत्राशक्तत्वात्।

यत्तु—'अत्रावैयाकरणेन महीधरेण भ्रान्त्या 'विद्लृ लाभे' इत्यस्य व्यत्ययेन तुदादिभ्यः शप्रत्ययेन लिङि रूपमित्यशुद्धं व्याख्यातम्, कुतः? विद्लृधातोः स्वत एव तुदादित्वं वर्तते' इति, तदेतदज्ञानविजृम्भितम्, नहि महीधराचार्यो व्यत्ययेन तुदादित्वं साधयति, यत एवमाक्षिप्येत, किन्तु व्यत्ययेन 'तुदादिभ्यः शः' (पा. सू. ३.१.७७)। इति शप्रत्ययाभावेन नुमभावे शपि विदेयेति रूपं साधयति। तत्र लेखकप्रमादान्मुद्रणादिदोषाद्वा 'शप्रत्ययाभावे' इति स्थाने 'शप्रत्ययः' इति मुद्रितम्। तदज्ञानेनैव वैयाकरणम्मानिना दयानन्देन तुदादित्वं व्यत्ययेनेत्यवगतम्। 'नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'।

'स संख्यापयति। समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशीत्याशिषमेवैतदाशास्ते पुत्रो वै वीरः पुत्रं विदेय तव संदृशीत्येवैतदाह' (श. ३.३.१.१२)। अहं धिया देव्या, धीर्देवी हि सोमक्रयणी प्रागुक्ता, 'धीरसि दक्षिणासि' (वा. सं. ४.१९) इत्यत्र। अतो वाग्रूपया सोमक्रयण्या समख्ये दृष्टा भवामीत्यर्थः। 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा. सू. ३.१.५२) इत्यङ् कर्मणि, अत

तुदादित्व साधन की चेष्टा नहीं की है, जिससे इस प्रकार का आक्षेप किया जा सके। अपितु व्यत्यय से शप्रत्यय के अभाव में नुम् के न होने पर शप् द्वारा 'विदेय' इस पद को सिद्ध किया है। उसमें लिपिकर्ता के प्रमाद अथवा मुद्रण के दोष के कारण 'शप्रत्ययाऽभावे' इसके स्थान पर 'शप्रत्यये' इस प्रकार मुद्रित हो गया। वैयाकरणमानी स्वामी दयानन्द ने अज्ञान से इसमें व्यत्यय से तुदादित्व समझ लिया है ॥२३॥

एवात्मनेपदम्। दक्षिणापि सोमक्रयणी, 'दक्षिणा ह्येषा क्षत्रियासि यज्ञियासीति' (श. ३.२.४.१६) इत्यत्रोक्तत्वात्। उरुचक्षसा प्रभूतदर्शनया तया समख्ये। अथ प्रत्यक्षवादः— हे सोमक्रयणि, मे आयुर्मा प्रमोषीः, मा उ अहमपि तवायुर्मा प्रमोषिषम्। हे देवि, तव सन्दर्शने सति वीरं पुत्रं विदेय लभेय। आशीःपरोऽयं मन्त्रः। अत्र शतपथश्रुत्या मन्त्रस्यास्याशीःपरत्वमुच्यते, वीरपदेन पुत्र उच्यते। तेन स्पष्टं सोमक्रयण्या संदृशि तत्कर्तृके सन्दर्शने सति यजमानपत्नी पुत्रमाशास्ते। नात्र दयानन्दरीत्या अहं तव वीरमन्यायेन मा विन्देय त्वमेतत्सर्वमन्यायेनापि मम वीरं च मा विन्दस्वेत्यादिकं विवक्षितम्। अत एव लुप्तोपमालङ्कारश्चापास्तो वेदितव्यः। सोमक्रयण्येवात्र 'धीरसि दक्षिणासि' इति पूर्वोक्तमन्त्र उक्ता। तस्माद् वाग् विद्युद्वा नात्र विवक्षिता। शतपथे सोमक्रयण्येव वाग्रूपा विवक्षिता, देवैः सोमानयनाय प्रेषिताया वाच इव सोमक्रयण्या अपि नियुक्तत्वात् ॥२३॥

एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाᳬं साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु ॥२४॥

'सोमं गच्छन्त्येष त इति वाचयति' (का. श्रौ. ७.७.६)। ब्रह्मयजमानाध्वर्युप्रतिप्रस्थातारः सोमं गच्छन्ति, गच्छन्तं यजमानम् एष त इति मन्त्रं वाचयेदध्वर्युरिति सूत्रार्थः। हे सोम, ते तव एष पुरो दृश्यमानो भागोंऽशः, गायत्रो गायत्रीसम्बन्धी। प्रातःसवनो गायत्र्याः सम्बन्धी, अतो गायत्र्यादिदेवताप्रीत्यर्थ एष तव क्रयो न वधार्थ इत्यभिप्रायः। इति एवम्। 'मे' इति यजमानाभिधायकं पदम्। एवंप्रकारं मम यजमानस्य सोमस्तुत्यात्मकं वचनं सोमाय ब्रूतात्। हे अध्वर्यो, सोमाभिमानिने देवाय ब्रूहि, गायत्रीच्छन्दोऽर्थ सोमस्य क्रयो न तु वधार्थमिति यजमानोक्त्यभिप्रायः। तमेतमभिप्रायं हे अध्वर्यो! सोमाय कथयेत्यर्थः। एष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात्, त्रिष्टुप्छन्दसः सम्बन्धी भाग इति मे यजमानस्य वचनं सोमाय ब्रूहि। एष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात्, जगतीच्छन्दसः सम्बन्धी भाग इति मे मम यजमानस्य वचनं सोमाय ब्रूहि। हे अध्वर्यो! छन्दोनामानां छन्द इति नाम येषामन्येषामप्युष्णिगादीनां ते छन्दोनामानस्तेषां छन्दसां साम्राज्यं गच्छ सर्वेषां छन्दसामाधिपत्यं प्राप्नुहि, इति मे वचः सोमाय ब्रूतात् कथय। यः सोमाय छन्दसामाधिपत्यं दत्त्वा क्रीणाति, स स्वानामाधिपत्यं प्राप्नोति, 'यो वै सोमᳬं राजानᳬं साम्राज्यं लोकं गमयित्वा क्रीणाति गच्छति स्वानाᳬं साम्राज्यम्' (तै. सं. ३.१.२.२) इति

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु! सोमाधिष्ठात्री देवता के लिये यह वचन कहो कि तुम्हारा यह भाग गायत्री संबन्धी है, त्रिष्टुप् संबन्धी है, जगती संबन्धी है। तुम उष्णिक् आदि सब छन्दों के अधिपति बन जाओ। हे सोम! तुमको मैंने खरीद कर प्राप्त किया है। अब तुम हमारे हो। यह शुक्र नामक सव तुम्हारे ग्रहण करने योग्य है, सारासार जानने में समर्थ है। यह तुम्हारे सार भाग को ग्रहण करे॥ सोम की ओर जाते समय यजमान इस मन्त्र का उच्चारण करता है और पूर्व मुख बैठ कर सोम का स्पर्श करता है॥२४॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.७.६-७) में निर्दिष्ट याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुसार 'एष ते' इस मन्त्र को सोम के लिये जाते हुए यजमान से अध्वर्यु पाठ करावे। तदनन्तर सोम के पास बैठ कर 'कोऽसि' इस मन्त्र से अध्वर्यु सोम का स्पर्श करे। इस विनियोग के आधार पर शतपथ ब्राह्मण में मन्त्र का अर्थ प्रतिपादित है।

तैत्तिरीयश्रुतेः। अत एतैर्मन्त्रैः सोमस्य राज्याप्तिः सूच्यते। गायत्र्यादिच्छन्दोदेवता यत्र तिष्ठन्ति स छन्दोलोकः। तदाधिपत्यं प्रापय्य सोमं क्रीणानः स्वानामाधिपत्यं प्राप्नोतीत्यर्थः।

'प्राङुपविश्यास्माकोऽसीति सोममालभते' (का. श्रौ. ७.७.७)। सोमस्य पश्चादध्वर्युस्तदुत्तरतः प्रतिप्रस्थाता दक्षिणेन ब्रह्मयजमानौ तत्पश्चात्पत्नी चोपविश्य प्राङ्मुखोऽध्वर्युः सोममालभते। हे सोम, त्वं क्रयपथमागतः सन्नास्माकोऽसि मदीयः सञ्जातः। 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' (पा. सू. ४.३.२) इत्यस्माकादेशः। शुक्रः शुक्लसंज्ञस्ते तव ग्रह्यो ग्रहः। शुक्रपदमैन्द्रवायवादिग्रहाणामुपलक्षणम्। शुक्लादयः सर्वे ते ग्रह्याः, ग्रहा एव ग्रह्याः, ग्रहा इत्यर्थः। यद्वा शुक्रनामको यस्ते ग्रहः, स ग्रह्यो ग्रहेषु साधुः। ते सर्वेऽपि ग्रहाः साधव इत्यर्थ इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणोक्तोऽर्थः। किञ्च, विचितो विचयनकर्तारस्त्वां विचिन्वन्तु विविक्तं कुर्वन्तु, ग्राह्याग्राह्यविवेकं कृत्वा सारभूतं समूहयन्तु।

काण्वास्तु छन्दोमानानामिति पठन्ति। तद्रीत्या अस्मिंश्छन्दस्येतावन्त्यक्षराणीति मानं परिमाणं यैर्देवैर्ज्ञायते ते छन्दोमानास्तेषां सम्बन्धी लोकः साम्राज्यः समीचीनराज्योपेतस्तं लोकं हे सोम, त्वं गच्छतात् प्राप्नुहि। योऽयं यजमानः सोमाभिप्रेतं समीचीनराजार्हं लोकं प्रथमतो वाचा प्रापय्य सन्तोषं जनयित्वा पश्चात् सोमं क्रीणाति, स यजमानो जातानां मध्ये साम्राज्यं प्राप्नोति। सोमस्य तथाविधो लोकः क इति चेत्, गायत्र्यादिछन्दोदेवता यत्र तिष्ठन्ति स एव तथाविधो लोक इति।

अध्यात्मपक्षे तु—उमया सहितः सोमो देवः शिवः, तस्य सार्वात्म्यमिह निरूप्यते—हे सोम, मनुष्येषु पशुषु वृक्षेषु पाषाणेषु य एष ब्राह्मणसमुदायः, एष ते गायत्रो भागो गायत्रीसम्बन्धी, गायत्र्या निर्मितत्वात्, गायत्र्या संस्कृतत्वाच्च। य एष क्षत्रियसमुदायः, एष ते त्रैष्टुभो भागः, त्रिष्टुभा निर्मितत्वात्। य एष वैश्यसमुदायः, स जागतो भागः, जगत्या निर्मितत्वात्। इत्येवं मे वेदस्य वचनं सोमाय हे साधक! ब्रूताद् ब्रूहि। तेन तत्कृपया तस्य सार्वात्म्यमवगतं भविष्यति। हे सोम, छन्दोनामानां समेषां छन्दसां साम्राज्यं गच्छ सर्वछन्दःप्रतिपाद्यत्वेन सर्ववेद-महातात्पर्यविषयत्वेन स्वीयं सार्वात्म्यमाविर्भावय, मम हृदय इति शेषः। हे देव, त्वं सर्वात्मापि सन् विशेषत आस्माकोऽसि मदीयोऽसि, मया तथात्वेन साक्षात्कृतत्वात्। ते तव शुक्रः स्वप्रकाशः स्वरूपो भास्वरो वा रजतगिरिनिभो मुक्ताकुन्देन्दुगौरो ग्रह्यो विशुद्धेन चेतसा ग्रहीतुं शक्यः। विचितो विचयनकर्तारो विवेकिनः, देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभ्यो विविक्तः प्रत्यक्चैतन्याभिन्नो भगवान् सोमः साम्बसदाशिवो ब्रह्मात्मनाऽभिव्यज्यत इति विचिन्वन्तु, अनात्मप्रपञ्चाद् भगवन्तं विचिन्वन्तु, अनात्मविवेकेन प्रत्यगभेदेन साक्षात्कुर्वन्तु।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे उमासहित महेश्वर शिव! मनुष्य, पशु, वृक्ष, पाषाण आदि में यह जो ब्राह्मण-समुदाय है, वह आपका गायत्री सम्बन्धी अथवा गायत्री से संस्कृत होने के कारण गायत्र भाग है। यह क्षत्रिय-समुदाय त्रिष्टुप् से निर्मित होने के कारण त्रैष्टुभ भाग है। जगती से निर्मित होने के कारण यह वैश्य-समुदाय जागत भाग है। हे साधक! इस प्रकार मेरा वचन साम्बशिव से कहो। हे साम्बशिव! समस्त छन्दों के साम्राज्य के प्रति गमन करो, अर्थात् समस्त छन्दों के प्रतिपाद्य होने के कारण, समस्त वेदों के महातात्पर्य के विषय होने के कारण (मेरे हृदय में) अपनी सर्वात्मता प्रकाशित करें। हे देव! आप सर्वात्मा होते हुए भी मेरे आत्मीय हैं। आपका स्वप्रकाशत्व विशुद्ध चित्त द्वारा ही ग्राह्य है। विवेकी जन अनात्म प्रपञ्च के मध्य से अन्वेषण कर भगवान का साक्षात्कार करें।

श्रीदयानन्दस्तु—'एष प्रत्यक्षस्तव गायत्रो गायत्रीच्छन्द आदिरस्य प्रगाथस्य सः, 'सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु' (पा. सू. ४.२.५५) अनेन प्रगाथविषये प्रत्ययः। भागः सेवनीयः, इति प्रकारार्थे। मे मह्यं सोमाय पदार्थविद्यासम्पादकाय ब्रूताद् ब्रवीतु। एष यो विज्ञातुं योग्यः, स ते तव त्रैष्टुभस्त्रिष्टुप्छन्द आदिरस्य प्रगाथस्य स भागोंऽश इत्येवं मे मह्यं सोमाय उत्तरभागसम्पादकाय ब्रूतात्। एष योक्तुमर्हस्ते तव जागतो जगतीच्छन्द आदिरस्य प्रगाथस्य स भागः स्वीकर्तुमर्ह इत्येवं मे मह्यं सोमाय पदार्थविद्यास्वीकाराय ब्रूताद् उपदिशतु। छन्दोनामानां यानि छन्दसामुष्णिगादीनां नामानि तेषाम्, 'अनसन्तान्नपुं.' (पा. सू. ५.४.१०३) इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः। साम्राज्यं गच्छ साम्राज्यं प्राप्नुहि प्रापय वा। सम्यग्राजन्ते प्रकाशन्ते ते सम्राजो राजानः, तेषां भावः कर्म वा तत्। मे मह्यं सोमाय ऐश्वर्ययुक्ताय राज्याय ब्रूतात्। आस्माको योऽयमस्माकमुपदेष्टाऽधिपतिः, स असि वर्तसे, शुक्रः पवित्रः पवित्रता-कारको वा ते तव ग्रह्यो ग्रहीतुं योग्यः। विचितो विविधविद्याशुभगुणधनादिभिश्चितः संयुक्तः, त्वा त्वां तं वा विचिन्वन्तु विविधं वर्धयन्तु, अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। हे विद्वंस्त्वं विद्वांसं प्रति कोऽस्य यज्ञस्य गायत्रो भागोऽस्तीति पृच्छ। स विद्वान् ते तव एषोऽयमस्तीति मे मह्यं सोमायैतं ब्रूयात्। कोऽस्य त्रैष्टुभो भागोऽस्तीति पृच्छ। स ते एषोऽयमस्तीति समक्षे खल्वेतं मे मह्यं सोमायैतं ब्रवीतु। एवं जागतो . . . यथा भवान् छन्दोनामानामुष्णिगादीनां छन्दसां मध्ये प्रतिपादितस्य यज्ञस्योपदेशे साम्राज्यं गच्छ गच्छतु, तथैवैतेषामेनं सोमाय मे ब्रूतात्, यतस्त्वमास्माकः शुक्रोऽसि, तस्मात्तेऽहं विचितो ग्राह्योऽस्मि। त्वं मां सर्वैरेतैर्विचिनु। अहं त्वां विचिनोम्येव। तेऽपि त्वामेतं यज्ञं मां च विचिन्वन्तु वर्धयन्तु। अस्य भावस्तु—मनुष्या विद्वद्भ्यः पृष्ट्वा सर्वा विद्याः संगृह्णीरन्। विद्वांसः खल्वेता ग्राहयन्तु। परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकभावेन वर्तित्वा सर्वे वृद्धिं प्राप्य चक्रवर्तिराज्यं सेवेरन्' इति।

विचित्रमिदं व्याख्यानम्, भावार्थस्य पदार्थैरन्वयेन च दूरतोऽपि सम्बन्धादर्शनात्। पूर्वोक्तैः प्रश्नैरुत्तरैश्च कस्या अपि विद्याया ज्ञानं न भवति, किमुत सर्वविद्यानाम्? हिन्दीभाष्ये तु—'हे विद्वन्, मनुष्य कौन इस यज्ञ का वेदस्थ गायत्री च्छन्द युक्त मन्त्रों के समूहों से प्रतिपादित (भाग) सेवनयोग्य भाग है, इस प्रकार तू विद्वान् से पूँछ। वह विद्वान् (ते) तुझको उस यज्ञ का (एष) यह प्रत्यक्ष भाग है, इस प्रकार से (सोमाय) पदार्थविद्यासम्पादन करने वाले (मे) मेरे लिये (ब्रूतात्) कहे' इति, तदप्यपेशलम्, किञ्चित्समाधानादर्शनात्। यदि यज्ञस्य को भागो गायत्रीच्छन्दस्कैर्मन्त्रसमूहैः प्रतिपादितः? इति चेत् प्रश्नस्तदास्य यज्ञस्यामुको भागस्तथाविध इत्युत्तरणीयम्, तत्र प्रमाणं च वक्तव्यम्! किञ्च, यज्ञस्य भजनीयोंऽशः कः ? अभजनीयश्च कः ? यज्ञोऽपि त्वदीयो वायुशुद्ध्यर्थो होमश्चेत्तत्र गायत्र्यादिच्छन्दस्कानां मन्त्राणां नास्त्येवोपयोगः। केवलमभ्यासार्थं मन्त्राः पठनीया इति ते सिद्धान्तः। तथा च तस्य यज्ञस्य गायत्रीच्छन्दस्कप्रतिपाद्यः कोऽपि भागो नास्त्येव। किञ्च, यस्य प्रश्नस्तस्मै प्रतिवचनं देयम्, प्रश्नप्रेरकाय किमर्थमुत्तरं देयम्? प्रेरकश्च कः? किं सोम एव प्रेरकः ? किञ्च प्रयोजनं प्रेरणस्य? स एव कथं नोपदिशेत्? किञ्चैकत्र सोमशब्दस्य पदार्थविद्यासम्पादकोऽर्थः, अन्यत्र रससम्पादकोऽर्थः, किमत्र मूलम् ? जिज्ञा-

---

श्री दयानन्द ने इसका विचित्र रीति से व्याख्यान किया है। भावार्थ का पदार्थ एवं अन्वय से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। यज्ञ का भजनीय अंश क्या है? तथा अभजनीय (असेवनीय) अंश क्या है? प्रगाथ का प्रसंग भी यहां दृष्टिगोचर नहीं होता। हिन्दी व्याख्या में सोम पदार्थ सर्वैश्वर्ययुक्त कहा गया है। फिर वही सार्वभौम राज्य की प्राप्ति का उपाय भी पूँछता है, यह व्याख्या की विचित्रता है॥२४॥

सवे प्रतिवचनं भवति, न पदार्थविद्यासम्पादकस्य तत्सम्बन्धे प्रश्नो भवति। न वा तदर्थं प्रतिवचनमपेक्षितम्। प्रगाथप्रसङ्गोऽपि नात्र दृश्यते।

'कौन इस यज्ञ का त्रैष्टुभ भाग है, त्रिष्टुप् छन्द से प्रतिपादित भाग है, तू इस प्रकार विद्वान् से पूँछ। उत्तम रस के सम्पादन करने वाले मेरे लिए कहे कौन इस यज्ञ का जागत भाग है, जगती छन्द से कथित भाग है, इस प्रकार तू आप्त से पूँछ। वह तुझको इस यज्ञ का यह प्रसिद्ध भाग है, इसी प्रकार पदार्थविद्या सम्पादन करने वाले मेरे लिए उत्तर कहे। जैसे आप 'छन्दोनामानामुष्णिक्' आदि छन्दों के मध्य में कहे हुए यज्ञ के उपदेश में साम्राज्य भले प्रकार राज्य को प्राप्त हों, (इति) इस प्रकार (सोमाय) ऐश्वर्ययुक्त मेरे लिए सार्वभौम राज्य की प्राप्ति होने के उपाय कहिए'। अत्र सोमपदार्थः सर्वैश्वर्ययुक्तः सञ्जातः। पुनश्च स सार्वभौमराज्यप्राप्त्युपायमपि जिज्ञासत इति व्याख्यावैचित्र्यम्। 'जिस कारण आप हम लोगों के पवित्र करने वाले उपदेशक हैं, वैसे में आपके (ग्रह्य) ग्रहण करने योग्य हूँ। (विचित) उत्तम धनादि द्रव्य गुणों से युक्त शिष्य हूँ, आप मुझको गुणों से बढ़ाइये। इस कारण मैं आपको वृद्धियुक्त करता हूँ और सब मनुष्य आप इस यज्ञ को तथा मुझको वृद्धि युक्त करें'। प्रकृतमन्त्रे कस्य शब्दस्यायमर्थ इति दयानन्द एव जानातु। यः प्रश्नप्रयोजकः स पदार्थविद्यासम्पादकः, रससम्पादकः, सर्वैश्वर्ययुक्तः सोम उक्तः। छन्दोनामानां साम्राज्यमित्यस्य को वार्थ इति त्वद्यापि त्वद्व्याख्यानेऽव्यक्त एव। यज्ञोपदेशे साम्राज्यं किं भवति ? स चोपदेशकानां शिष्योऽपि संवृत्तः। सामाजिका अस्यैव वेदार्थस्य माहात्म्यं वर्णयन्तो भ्राम्यन्ति। यथाऽऽधुनिकश्छायावादी लेखकोऽपि स्ववाक्यार्थं न प्रत्येति, तथैव दयानन्दोऽपि स्वभाष्यार्थं न जानातीत्येवं तस्य माहात्म्यमिति स्यात्।

शतपथे तु—'सा या बभ्रुः पिङ्गाक्षी' (श. ३.३.१.१४) इति कण्डिकायां सोमक्रयण्या भेदा उक्ताः। बभ्रुश्चतुर्वर्णा पिङ्गाक्षी सोमदेवताऽर्हत्वात् सोमक्रयणी। अथ या रोहिणी रोहितवर्णा सा वार्त्रघ्नी। यां रोहिणीमिदानीन्तनो राजा संग्रामं जित्वा परकीयाद्राष्ट्रादानयति सा वार्त्रघ्नी वृत्रहदेवत्या। या श्येताक्षी कृष्णलोचना सा पितृदेवत्या। बभ्रुः पिङ्गाक्षी सोमक्रये मुख्या। तदभावेऽरुणा। तदभावे रोहिणी। अरुणाभावे श्येताक्षी। 'सा स्यादप्रवीता' (श. ३.३.१.१६) अप्रवीता अगृहीतगर्भा। अयातयाम्नी बहुभिरसकृदुच्यमानाया अपि वाचोऽगतरसत्वं प्रसिद्धम्, अतः सोमक्रयण्या वाग्रूपत्वादयातयाम्न्या भवितव्यम्। अत एकहायनीपरिग्रहे गर्भरूपरसनिर्गमाभावाद् वागनुगुण्यं भवति। तस्मादप्रवीता भवेत्। सा चाङ्गवैकल्यरहिता। वण्डा वर्धिष्णुस्तद्विपरीता अवण्डा। कूटा एकशृङ्गी। काणा एकाक्षी। कर्णा छिन्नकर्णा। लक्षिता तप्तायःशलाकया चिह्निता। सप्तशफा एकस्मिन् पादे एकेन शफेन हीना। अवण्डा कूटादिभिन्ना एकरूपा सम्पूर्णावयवा गौः सोमक्रयणी युज्यते। 'पदꣳ समुप्य पाणी अवनेनिक्ते' (श. ३.३.२.१) इत्यादिनाऽध्वर्योः पात्रे सोमक्रयण्याः पदपांसुप्रक्षेपानन्तरं हस्तप्रक्षालनं विहितम्। 'अथास्याꣳ हिरण्यं बध्नीते' (श.३.३.२.२) इत्यध्वर्योः स्वाङ्गुल्यामनामिकायां हिरण्यबन्धनं विहितम्। तत्रैव हिरण्यस्य देवसम्बन्धद्वारा सत्यत्वमभिधाय तेन 'अंशूनुपस्पृशानि' अभिषवाप्यायनादिषु, तेन 'सोमं पराहराणि' व्यापारयाणि। उपस्पर्शाद्युपयोगाय हिरण्यं धारयेदित्यर्थः।

'अथ सम्प्रेष्यति। सोमोपनहनमाहर सोमपर्याणहनमाहरोष्णीषमाहरेति स यदेव शोभनं तत्सोमोपनहनꣳ स्याद्वासो ह्यस्यैतद् भवति शोभनꣳ ह्येतस्य वासः स यो हैनꣳ शोभनेनोपचरति शोभते हाथ य आह यदेव

किञ्चेति यद्धैव किञ्च भवति तस्माद्यदेव शोभनं तत्सोमोपनहनꣳ स्याद्यदेव किञ्च सोमपर्याणहनम्' (श. ३.३.२.३)। सोमार्थमध्वर्योः प्रैषो दर्शितः। सोम उपनह्यते येन तत् सोमोपनहनं बन्धनवस्त्रम्। सोमो लताविशेषः। इदानीं तदभावे पूतिकालता गृह्यते। सोमपर्याणहनं शकटेन सह सोमस्य परितो बन्धनवासः। तदर्थमुष्णीषमाहरेति सम्प्रैषः। यद् वस्त्रं शोभनं बहुमूल्यं तत्सोमोपनहनं कर्तव्यम्। कात्यायनेनाप्युक्तम्— 'शोभनꣳ सोमोपनहनम्' (का. श्रौ. ७.७.३)। सोमस्याच्छादनार्थत्वात् तेन वस्त्रेण शोभनेन भवितव्यम्। यः शोभनेन सोममुपचरति, स स्वयं वस्त्रादिना शोभते। तद्विपर्ययेण यत्किञ्चिद्वासः सोमायानयेति ब्रुवन् स्वयं यत्किञ्चिद् भवति। सोमपर्याणहने तु नायं नियमः। 'यद्युष्णीषं विन्देत्' (श. ३.३.२.४)। उष्णीषः स्वीकार्यः। तदभावे कर्तितवासस्तत्स्थाने ग्राह्यः। सोमोपनहनस्यादानमध्वर्युयजमानयोरन्यतरेण कार्यम्। 'अथाग्रेण राजानं विचिन्वन्ति। तदुदकुम्भ उपनिहितो भवति तद् ब्राह्मण उपास्ते तदभ्यायन्ति प्राञ्चः' (श. ३.३.२.५)। प्राचीनवंशस्य पुरोदेशे विचिन्वन्ति अपनेयाशमपनयन्ति। तत् तत्र क्रयप्रदेशे निहितोदकुम्भस्य समीपे ब्राह्मणः सोमविक्रयी निवसेत्। तत्स्थानं प्रत्यभिगच्छन्ति प्राञ्चः सोमक्रयप्रदेशाभिमुखाः।

'तदा यत् सुवाचयति। एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳ साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादित्येकं वा एष क्रीयमाणोऽभिक्रीयते छन्दसामेव राज्याय छन्दसाꣳ साम्राज्याय घ्नन्ति वा एनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतदाह छन्दसा-मेव त्वा राज्याय क्रीणामि छन्दसाꣳ साम्राज्याय न वधायेत्यथैत्य प्राङुपविशति'। (श. ३.३.२.६), 'सोऽभिमृशति। आस्माकोऽसीति स्व इव ह्यस्यैतद् भवति यदागतस्तस्मादाहास्माकोऽसीति शुक्रस्ते ग्रह्य इति शुक्रꣳ ह्यस्माद् ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति सर्वत्वायैतदाह'। (श. ३.३.२.७)। आयत्सु ऋत्विग्यजमानेषु क्रयदेशं समागच्छत्सु एष त इत्यमुं मन्त्रं वाचयति यजमानमध्वर्युः। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। 'गायत्रं प्रातःसवनम्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्' (तै. सं. २.२.९.५-६; ऐ. ब्रा. ६.१०) इत्यादिभिः प्रातःसवनादीनां गायत्र्याद्यभिमानात् तत्सवनार्हाणां गायत्र्यादिसम्बन्धः। छन्दसां साम्राज्यप्राप्तिर्नाम सवनत्रयप्राप्तिरेव। एतत्प्रशंसति—एकं वा एष क्रीयमाणोऽभिक्रीयत इति। एष क्रीयमाणः क्रयेण स्वीयत्वमापाद्यमानः, एकं वै खलु प्रयोजनमभिलक्ष्य क्रीयते विक्रीयते, अभिषवादिना रसात्मना संस्क्रियते। कि तदेकम्? तदुच्यते—छन्दसां राज्याय तत्प्राप्तये, न केवलाय राज्याय, किन्तु साम्राज्याय। प्रोत्साहनस्यार्थवत्तायै बाधप्रसक्तिं दर्शयति—घ्नन्ति वा एनमेतद्यदभिषुण्वन्तीति। यथा पशूनामालम्भनादिना हननं भवति, तथैवाभिषवादिना रसनिष्पादनेन सोमस्यापि हननमेव भवति। यथा तत्र—'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ २॥ इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥' (वा. सं. २३.१६)। हे अश्व, अस्माभिर्यत् त्वं संज्ञप्यसे एतत् त्वं न म्रियसे न च रिष्यसि विनश्यसि। विशस्यमानः सुगेभिः सुगैः साधुगमनैः पथिभिर्देवयानैर्देवान् इत् प्रति एषि गच्छसि। सुकृतः साधुकारिणो नरा यत्र लोक आसते तिष्ठन्ति, यत्र च ते सुकृतो ययुः, तत्र लोके सविता देवस्त्वा त्वां दधातु स्थापयत्विति। तथैव सोमं प्रत्याह—हे सोम, छन्दसां साम्राज्याय तत्प्राप्तये त्वां क्रीणामि न वधाय। नैष तव वधः, परिणामे हितकारित्वात्, हिंसनीयाननुग्राहकत्वविशिष्टप्राणवियोगानुकूलव्यापारस्यैव हिंसापदार्थत्वात्। नात्राऽननुग्राहको व्यापारः, किन्त्वनु-ग्राहक एव, छन्दसां साम्राज्यप्राप्तिहेतुत्वात्। वस्तुत एवं सत्यपि भीत्यपगमाय तं सोमं प्रति छन्दसां साम्राज्याय न वधायेत्याद्युक्तिः।

अथ सोमं प्रत्येत्य प्राङ् प्राङ्मुख उपविशति ऋत्विग्भिः सहितो यजमानः। सोऽभिमृशति— आस्माकोऽसीति मन्त्रेण। हे सोम, त्वमास्माकोऽसि अस्माकं सम्बन्ध्यसि। एतेन पाठेन स्व इव भवति सोमो भवत्यस्य यजमानस्येति। य एव भवति शुक्रः शुक्राख्यस्ते ग्रह्यो ग्रहीतव्यः। 'प्रत्यपिभ्यां ग्रहेश्छन्दसि' (पा. सू. ३.१.११८) इत्यनुपसृष्टादपि ग्रहेश्छान्दसः क्यप्, ग्राह्य इत्यर्थः। 'अमात्योऽसि शुक्रस्ते ग्रहः' (तै. सं. १.२.६.१) इति श्रुतेः। विचितो विचयनस्य शोधनस्य कर्तारस्त्वां विचिन्वन्तु शोधयन्तु, विचिन्वद्भिरेव विवेके सति वैगुण्यासम्भवात् सर्वत्वं कार्त्स्न्यं भवति। एतेन सिद्धान्तानुसार्येव व्याख्यानं समर्थयते शातपथी श्रुतिर्न दयानन्दोक्तमर्थम्। 'अत्र हैके। तृणं वा काष्ठं वा वित्वाऽपास्यन्ति तदु तथा न कुर्यात् क्षत्रं वै सोमो विडन्या ओषधयोऽन्नं वै क्षत्रियस्य विट् स यथा ग्रसितमनुहायाच्छिद्य परास्येदेवं तत्तस्मादभ्येव मृशेद्विचितस्त्वा विचिन्वन्त्विति तद्य एवास्य विचेतारस्त एनं विचिन्वन्ति' (श. ३.३.२.८) इति प्रशंसार्थं पक्षान्तरनिरासः ॥२४ ॥

अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वानुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि ॥२५ ॥

सोमोपनहनं द्विगुणं चतुर्गुणं वा स्तृणाति प्राग्दशमुदग् वा, तस्मिन् सोमं मिमीते दशकृत्वोऽभि त्यमिति' (का. श्रौ. ७.७.९-१०)। सोमोपनहनं वासो द्विगुणं चतुर्गुणं वा कृत्वा यथा तस्य वाससो दशा वस्त्राग्रं प्राच्यामुदीच्यां वा भवेत्, तथा तत् चर्मणि स्तृणीयात्। सोमोपनहने वाससि दशकृत्वः सोमं प्रक्षिपेदध्वर्युः। दशसु 'अभि त्यम्' इति मन्त्रेण तूष्णीमेकादशम्। सावित्र्यष्टिः, 'अभि त्यं सावित्र्यष्टिः' इति कात्यायनसर्वानुक्रमात्। चतुःषष्ट्यक्षरा अष्टिः। अष्टेरेव नामान्तरमतिच्छन्द इति। त्यं तं देवं सोमाख्यं मिमीते तमभ्यर्चामि आभिमुख्येन पूजयामि। कीदृशं देवम्? ओण्योः द्यावापृथिव्योः सवितारम्, 'ओण्याविति द्यावापृथिवीनामसु पठितम्' (निघ. ३.३०.१५), द्यावापृथिव्योरुत्पादयितारम्। 'ओणृ अपनयने' उणादिप्रत्ययेन सिद्धिः। ये द्यावापृथिव्यौ स्वाश्रितानां क्लेशानपनयतस्ते। यद्वा त्यं तं देवं सवितारमभ्यर्चामि, आभिमुख्येन सर्वतो वा पूजयामि। कीदृशम्? ओण्योर्द्यावापृथिव्योरन्तरा, वर्तमानमिति शेषः। तथा कविक्रतुं कविर्मेधावी क्रतुः कर्म यस्य तं मेधाविकर्माणम्। सत्यसवं सत्योऽवितथः सवः प्रेरणं यस्य तमवितथप्रेरणम्। रत्नधां रमणीयानां गोभूहिरण्यादिधनानां दातारं

मन्त्रार्थ— उस द्यावापृथिवी के प्रकाशक, ब्रह्म-संकल्प से प्रकट, सत्य प्रेरणा वाले, रत्नों के धारक, समस्त चराचर के प्रिय, अनुपम कल्पना शक्ति वाले सूर्य देव की सब तरह से पूजा करता हूँ। इन्हीं की अनन्त आकाशाभिमुखी दीप्ति आकाश अथवा परा प्रकृति रूप ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करती है। ज्योतिःस्वरूप हाथ वाले सत्यसंकल्प भगवान् सूर्य की मैं पूजा करता हूँ, जिनकी कृपा से स्वर्ग रचा गया है। हे सोम! प्रजा के उपकार के लिये मैं तुम्हें बांधता हूँ। हे सोम! प्रजा श्वास लेते हुए तुम्हारा अनुकरण कर जीवित रहे, तुम श्वास लेने वाली प्रजा का अनुसरण करो॥ इस मन्त्र से सोम को बांधने वाले कपड़े को दुहरा-तिहरा कर उसमें सोम डाला जाता है ॥२५॥

भाष्यसार—'अभि त्यं देवम्' इत्यादि मन्त्रों द्वारा सोमग्रहण के लिये फैलाये गये वस्त्र पर अध्वर्यु दस बार सोम रखे। तदनन्तर वस्त्र के कोनों को इकट्ठा करके 'प्रजाभ्यस्त्वा' इस मन्त्र से ऊपर से बाँधे। 'प्रजाभ्यस्त्वानु' मन्त्र से ऊपर की ओर अंगुलि से विवर प्रदेश बनावे। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (७.७.९-१०, १७-१८) में निर्दिष्ट है।

हीरकादिरत्नानां वा धारकं पोषकं वा अभि सर्वतो देवानां सर्वजनानां वा प्रीतिविषयं प्रेमास्पदम्, मतिं मन्यते चिन्त्यते ज्ञानिभिर्योऽसौ मतिस्तम्। यद्वा मतिं व्याप्यावस्थितम्। यद्वा मतिं मननयोग्यम्, मतीनां हि सविताधिष्ठात्री देवता। कविं क्रान्तदर्शिनमतीतानागतवर्तमानानां द्रष्टारम्। केचित्तु—'कवयति ग्रथ्नातीति कविः, अपरे क्राम्यतीति कविः, क्रामतेः कवतेश्च औणादिक इनिप्रत्यये क्रामते, रेफलोपे मस्य वत्वे कविरिति रूपम्, अन्ये क्रान्तमस्यास्तीति कविः, इत्थं रूपं साधयन्ति। यस्यामतिर् भा अदिद्युतत् सवीमनि। यस्यादित्यस्य भा दीप्तिरमतिः केनापि मन्तुमशक्या सती ऊर्ध्वा ऊर्ध्वगमनाभिमुखी सवीमनि प्रसवविशेषवति देशे यत्र नक्षत्रादीनां प्रसवः प्रवृत्तस्तत्र अदिद्युतत् सर्वाणि वस्तूनि द्योतितवती। सवः प्रसवः प्रवृत्तिर्नक्षत्रादीनां यस्मिन्नाकाशप्रदेशे स सवीमा, तस्मिन् सवीमनि। 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' इति धातोः 'हृभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच्' (उ. सू. ४.१४७) इतीमनिचि गुणावादेशौ, 'सवीमा प्रसवोऽनुज्ञा' इति कोषात्।

यद्वा उव्वटाचार्यरीत्या अमतिरात्ममयी मतिरनन्यभूता भा दीप्तिरदिद्युतद् द्योतयते। अकारो वासुदेव आत्मा वा, तद्रूपा मतिरमतिः। आत्मनो मतिविज्ञानादिरूपत्वं प्रसिद्धमेव। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. उ. २.१.१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ. उ. ३.९.२८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। महीधराचार्यस्तु—अमाशब्द आत्मवचनः। आत्ममयी ततिर्मतिर्वा अमतिः। तन्यत इति ततिर्दीप्तिः। मतिरपि प्रकाशरूपत्वाद् दीप्तिरेव। अमाततिशब्दस्य अमतिभाव इति। आत्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा यस्य भाः सर्वमदिद्युतत्। अन्ये तु 'अमेरतिः' (उ. सू. ४.५९) इत्यमेरतिप्रत्ययः। हिरण्यपाणिः सुवर्णाभरणयुक्तः स्वरादित्यः सुक्रतुः साधुसङ्कल्पः, कृपा कृपावान् अत्यन्तदयालुः, अमिमीत पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो देवः सोमं मिमीतवान्। एतावान् सोम इति त्वदीयं परिमाणं निश्चितवान्। न साधारणमनुष्यास्तत्परिमाणमवगन्तुं समर्था इत्यर्थः। यद्वा—कृपा कल्पनं कृप् तया कृपा कल्पनया अमिमीत, सोममिति शेषः। विशिष्टसामर्थ्येन स देवः सोमपरिमाणं निश्चितवानित्यर्थः। यद्वा सोऽपि कल्पनयैव निश्चितवान्, वस्तुतस्त्वपरिमेय एव सोम इति सोमस्तुतिः। 'अन्तान् संगृह्योष्णीषेण बध्नाति प्रजाभ्यस्त्वेति' (का. श्रौ. ७.७.१७)। अध्वर्युरास्तीर्णस्य प्रक्षिप्तसोमकस्य सोमोपनहनवाससोऽग्रभागानूर्ध्वं समुन्नीय हस्ते गृहीत्वा एकत्र संकलय्योष्णीषेण बध्नीयादिति सूत्रार्थः। मन्त्रार्थस्तु—हे सोम, प्रजाभ्यः प्रजानामुपकाराय त्वा त्वां बध्नामीति शेषः। प्रजाभ्यः सदस्येभ्य ऋत्विग्भ्य इति शतपथे सायणाचार्यः। 'अङ्गुल्या मध्ये विवृणोति प्रजाभ्यस्त्वानुप्राणन्त्विति' (का. श्रौ. ७.७.१८)। बन्धनानन्तरं सोमोपनहनस्यान्तानां मध्येऽङ्गुल्या छिद्रं करोति। उष्णीषेण बद्धस्य सोमदेवस्य श्वासनिरोधो मा भूदिति विवरं करोतीत्यर्थः। हे सोम, त्वा नु प्रथमतः श्वासं कुर्वन्तमनुसृत्य सर्वाः प्रजाः प्राणन्तु श्वासं कुर्वन्तु। तथा हे सोम, त्वमपि प्रजा अनु प्रथमश्वासं कुर्वतीः प्रजा अनुसृत्य प्राणिहि श्वासं कुरु। प्रजानां तव च कदाचिदपि श्वासनिरोधो मा भूत्। परस्परमनुसृत्य श्वासः प्रवर्ततामित्यभिप्रायेण विवरणमिति सायणीयव्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे तु— त्यं तं वेदान्तेषु प्रसिद्धं देवं सृष्टिस्थितिलयलीलाभिः क्रीडमानं स्वप्रकाशं परमात्मानमभितोऽर्चामि पूजयामि समादरेण चिन्तयामि। कीदृशम्? ओण्योर्द्यावापृथिव्योः सवितारं निर्मातारं प्रेरयितारं वा। कविः क्रान्तदर्शी ब्रह्मा क्रतुः कर्म यस्य तं ब्रह्मादिक्रान्तदर्शिनां रचयितारं सर्वोत्कृष्टज्ञानक्रियादिमन्तं सत्यसवं

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—वेदान्तों में प्रसिद्ध उस स्वप्रकाश परमात्मा का मैं सर्वतः पूजन करता हूँ। द्यावापृथिवी के निर्माता, ब्रह्मादि के भी रचयिता, सत्य संकल्प के प्रेरक, ज्ञानवैराग्यादि सत्त्वमय दीप्त रत्नों के पोषक, सर्वप्रिय, विद्वानों द्वारा मननीय,

सफलप्रेरणम्, सत्यसङ्कल्पत्वात्। रत्नधां रत्नानि ज्ञानवैराग्यशमदमादीनि सत्त्वमयानि दीप्तिमन्ति धारयति पोषयतीति तम्। अभिप्रियं सर्वतः प्रियम्, 'प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मात्' इति श्रवणात्। निरतिशयप्रेमास्पदं मतिं ब्रह्मविद्भिर्मन्यते चिन्त्यत उपास्यत इति विद्वन्मननीयं परं कविं क्रान्तदर्शिनं सर्वज्ञं यस्य परमात्मनः सवितुः सर्वोत्पादयितुर्भाः स्वरूपभूता नित्यज्ञानलक्षणा दीप्तिरमतिर्मन्तुमशक्या, 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥' (केनो.२.३), 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केनो.१.३)। सवीमनि सूर्यादिप्रसवप्रदेशेऽप्यूर्ध्वा सर्वोत्कृष्टा सती अदिद्युतद् द्योतते स्वप्रकाशतया राजते, सर्वप्रकाशनिरपेक्षत्वात्, 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ. उ. ३.४.१) इति श्रुतेः। स स्वश्चिदादित्यः परमात्मा हिरण्यपाणिः हिरण्यं ज्योतिर्मयं ब्रह्मात्मज्ञानं पाणौ यस्य स ब्रह्मात्मज्ञानप्रदः। हिरण्मयो ज्योतिर्मयः पाणिर्यस्य स हिरण्यपाणिर्भगवान शिवः, 'नमो हिरण्यबाहवे' (वा. सं. १६.१७) इति मन्त्रवर्णात्। पाणिरुपलक्षणम्, ज्योतिर्मयविग्रह इत्यर्थः। सुक्रतुः शुभः कल्याणमयः क्रतुः सङ्कल्पो यस्य सः। कृपा कृपया अमिमीत सर्वं जगत् त्रेधा पद्भ्यां परिमितं कृतवान्। किमर्थम्? प्रजाभ्यः प्रजाहिताय, अन्यथा सर्वमसुरायत्तं स्यात्, 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (वा. सं. ५.१५) इति मन्त्रवर्णात्। हे सोम साम्बसदाशिव, प्रजाः सर्वास्त्वामनुप्राणन्तु। त्वां प्राणन्तमनुप्राणन्तु, सर्वप्रजाजीवनस्य त्वज्जीवनाधीनत्वात्, सोपाधिकानां जीवानां निरुपाधिकब्रह्मैकजीवनत्वात्। त्वं च प्रजा अनुप्राणिहि प्रजाजनजीवनानुजीवातुर्भव प्रत्यगापरोक्ष्यपरप्रेमास्पदत्वायत्तापरोक्ष्यपरप्रेमास्पदत्ववान् भव, तत्पदार्थस्य त्वंपदार्थात्मनैवापरोक्षत्वपरप्रेमास्पदत्वसम्भवात्।

श्रीदयानन्दस्तु—'हे परमात्मन् समाध्यक्ष प्रजापुरुष वा, अहं यस्य सवीमन्यूर्ध्वा मतिर्या अदिद्युतत् कृपा स्वः सुखं करोति, यो हिरण्यपाणिः सुक्रतुः स्वरमिमीत दिव्यं वा निर्मितवान्, ओण्योः सवितारं कविक्रतुं रत्नधां सत्यसवं प्रियं मतिं कविं देवं त्वां प्रजाभ्योऽर्चामि, तं त्वा प्रजा अभि अनुप्राणन्तु कृपया त्वं प्रजा अनुप्राणिहि। त्यं जगदीश्वरं राजसभास्थजनसमूहं वा देवं सुखदातारं सवितारं देवानामग्न्यादीनां रसानां वा प्रसवितारमोण्योर्द्यावापृथिव्योः कविः सर्वज्ञा सर्वा च विद्या युक्ता। क्रतुः प्रज्ञा क्रमदर्शनं वा यस्य तम्, अर्चामि पूजयामि। सत्यं सवमैश्वर्यं जगद्वा यस्मिन् तम्, रत्नधां यो रत्नानि रमणीयानि विज्ञानानि हीरकादीनि भुवनानि वा दधातीति तम्, अभि आभिमुख्येन प्रियं यः प्रीणाति तम्, मतिं यो वेदादिशास्त्रैर्विद्वद्भिश्च मन्यते। कविं वेदविद्याया उपदेष्टारं निमित्तं वा। ऊर्ध्वा उत्कृष्टा यस्य सच्चिदानन्दस्वरूपस्य शुभगुणयुक्तस्य वा अमतिः स्वरूपम्। 'अमतिरिति रूपनामसु पठितम्' (निघ. ३.७.५)। भा यो भाति प्रकाशते सः, अदिद्युतत् प्रकाशितवान् प्रकाशयति। सवीमनि यः सूयते संसारस्तस्मिन्, हिरण्यपाणिः, हिरण्यानि ज्योतींषि सूर्यादीनि सुवर्णादीनि वा पाणौ व्यवहारे यस्य सः,

---

क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ की मैं अर्चना करता हूँ। जिस परमात्मा की नित्यज्ञानलक्षणा दीप्ति अचिन्त्य है तथा सूर्यादि के उद्गम प्रदेश में भी सर्वोत्कृष्ट होकर विद्योतित रहती है, स्वप्रकाशभूता है, वह हिरण्यबाहु परमात्मा शिव कल्याणमय संकल्प वाले अपनी कृपा से समस्त जगत् को प्रजा के हितार्थ परिमित कर चुके हैं। हे साम्ब सदाशिव! समग्र प्रजाएं आपके अधीन संजीवित रहें। आप प्रजाओं को संजीवित करें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मन्त्र से संगत न होने के कारण समीचीन नहीं है। परमेश्वर के साथ धार्मिक सभापति अथवा प्रजाजन का कोई प्रसंग नहीं है। 'अनुप्राणन' का 'आयुर्भोग' अर्थ करना भी शोचनीय है। प्रजाओं के लिये पूजन क्या है? शतपथ ब्राह्मण के व्याख्यान से भी सायणादि सम्मत अर्थ की ही संगति होती है, स्वामी दयानन्द के अर्थ की नहीं॥२५॥

अमिमीत निर्मितवान् निर्मिमीते वा। सुक्रतुः शोभनः क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा यस्य। कृपा करुणा। स्वसुखमादित्यं वा प्रजाभ्य उत्पन्नाभ्यः सृष्टिभ्यस्त्वा त्वां प्रजा मनुष्यादिसृष्टयस्त्वा त्वामनुप्राणन्तु आयुर्भुञ्जताम्। प्रजा, जगत्स्था त्वमयं वा अनुप्राणिहि जीवतोऽनुजीवनं धर धरति वा' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, मन्त्रासङ्गतेः, परमेश्वरस्य धार्मिक-सभापतेः प्रजाजनस्य वाऽप्रसङ्गात्। 'सवीमनि उत्पन्नसंसारे' इत्यसङ्गतिः, उत्पत्तिमतां प्रातिस्विकवस्तूनामपि ग्रहण-सम्भवात्। हिरण्यादीनि पाणौ व्यवहारे यस्येत्यप्यपव्याख्यानम्, कार्ष्णायसादीनामपि व्यवहारे सत्त्वाविशेषात्। 'कृपा करुणाऽनाश्रया सुखं करोति यस्य करुणा' इति व्याख्याने मूलं मृग्यम्, मन्त्रे द्वितीयस्य यस्येत्यस्य पाठाभावात्। एकस्य 'यस्य'पदस्य अमतिरित्यनेन सम्बद्धत्वेन गतार्थत्वात्। 'प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वानुप्राणन्तु' इत्यप्यस्पष्टमेव। अनुप्राणनस्य आयुर्भोगोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम्। प्रजाभ्यः पूजनं किम्? सृष्ट्यापि कथं पूजनम्? 'जीवतोऽनुजीवने धर धरति वा' इत्यपि यत्किञ्चित्।

'अथ वासः। द्विगुणं वा चतुर्गुणं वा प्राग्दशं वोदग्दशं वोपस्तृणाति तद्राजानं मिमीते स यद्राजानं मिमीते तस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रो यो चाप्यन्या मात्रा' (श. ३.३.२.९)। सोमोपनहनार्थं वासो द्विगुणं चतुर्गुणं प्राग्दशमुदग्दशं वा उपस्तृणाति। आस्तृते वाससि राजानं मिमीते। सोमोन्मानाद्धेतोर्मनुष्येषु मात्रा षण्णवत्यङ्गुल्यादिरूपा इदानीं वर्तते। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादिरीत्या सोमस्य जगत्कारणत्वात् सोमस्यैव मात्रा मनुष्यादिषु। न केवलं मनुष्यगतैव मात्रा, अपि तु पक्षिमृगवृक्षादिष्वपि या उ यैव खलु मात्रा सापि सोममात्रात्मिकैव। 'सावित्र्या मिमीते। सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्मा एष सवितृप्रसूत एव क्रयाय भवति' (श. ३.३.२.१०)। विधीयमानोन्मानमन्त्रं देवताद्वारा प्रशंसति—सावित्र्या मिमीत इति। देवानां प्रसविता सर्वकर्मविषयानुज्ञाप्रदो देवः सविता, तत्सम्बन्धिन्या सावित्र्या सोमोन्मानमतीव प्रशस्तमिति सर्वथाप्यत्र सोमस्य राज्ञः प्रसङ्गः। नात्र दयानन्दीयस्यार्थस्य लेशोऽपि सङ्गच्छते। 'अति-च्छन्दसा मिमीते। एषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तथो हास्यैव सर्वैरेव छन्दोभिर्मितो भवति तस्मादतिच्छन्दसा मिमीते'(श. ३.३.२.११)। मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति—अतिच्छन्दसेति। अष्टिरतिच्छन्द एवास्य छन्दोऽतोऽतिच्छन्दस्त्वम्। तस्मिन् छन्दसि चतुर्णां चतुर्णामक्षराणां परित्यागेनाधस्तनानां छन्दसामुत्पत्तेः सर्वछन्दस्त्वम्।

'स मिमीते। अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम् ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वरिति' (श. ३.३.२.१२)। उन्मानमन्त्रं विधत्ते—स मिमीत इति। तथा च सिद्धान्तानुसार्ययमर्थः सम्पद्यते—त्यं तं सवितारं देवम् अभ्यर्चामि आभिमुख्येन सर्वतो वा पूजयामि। कथंभूतम्? ओण्योर् अवित्र्योः क्लेशापनयित्र्योर्वा द्यावापृथिव्योर्वर्तमानम्। कविक्रतुं क्रान्त-कर्माणम्। सत्यसवम् अवितथानुज्ञम्। यस्य सवितुरमतिरन्येषामविषया मतिरमतिः। भा दीप्तिः। ऊर्ध्वा उत्कृष्टा। अदिद्युतद् द्योतते। कुत्र द्योतत इत्यत आह—सवीमनि नक्षत्रादीनां प्रवृत्तिस्थाने आकाशप्रदेशे। अथवा सवीमनि प्रसवे निमित्तभूते सत्यनुज्ञार्थमूर्ध्वा सती तदीया भा द्योतते। स स्वः स्वरणः शोभनगमन आदित्यः कृपा कृपया हिरण्यपाणिः स्वर्णमयहस्तः स्वर्णाभरणपवित्रपाणिर्वा सन् अमिमीत मिमीते सोमोन्मानं करोति, करोत्वित्यर्थः।

'एतया सर्वाभिः। एतया चतसृभिरेतया तिसृभिरेतया द्वाभ्यामेतयैकयैतयैवैकयैतया द्वाभ्यामेतया तिसृभि-रेतया चतसृभिरेतया सर्वाभिः समस्याञ्जलिनाऽध्यावपति' (श. ३.३.२.१३)। दशकृत्व उन्मानेऽप्ययमेव मन्त्र इत्यादिसमानप्रकारं दर्शयति—एतया सर्वाभिरिति। एतया 'अभि त्यं देवम्' इत्यनयैवाष्ट्या सर्वाभिरङ्गुलीभिः पञ्चभिर्मिमीते। एतयैव चतसृभिरप्यङ्गुलीभिर्मिमीते। एवमवरोहक्रमेणैकैकाङ्गुल्युत्सर्गेण पञ्चवारं मीत्वा पुनरारोह-

क्रमेणैकैकाङ्गुलिसंयोजनेन पुनरेतयैवर्चा पञ्चवारं मिमीते। एवं दशवारमुन्माय अनन्तरं पाणिद्वयं समस्याञ्जलिं कृत्वा तेनैकवारमभिमतस्य सोमस्योपरि आवपति। तथैव सूत्राणि— 'सर्वाभिः प्रथमम्, अङ्गुष्ठप्रभृति चैकोत्सर्गम्, द्विः कनिष्ठिकया, एकोपचयं च, अञ्जलिना दशमम्, अन्यद्वा अध्यावापश्रुतेः' (का. श्रौ. ७.७.११-१६)। अध्यावापश्रुत्या समन्त्रकं दशकृत्वो मानाद्बहिरेकादशं तूष्णीममानरूपमध्यावापं ब्रवीति सूत्रकारः। 'अन्यद्वाऽध्यावापश्रुतेः' (का. श्रौ. ७.७-१६) इत्यत्र याज्ञिकोऽनन्तदेवः—'दशभ्योऽन्यदिदमेकादशं मानमध्यावापोऽञ्जलिना। कुतः? अध्यावापश्रुतेः। अधीत्युपरिभाववचनोऽधिकवचनो वा। न चात्रोपरिभावोऽर्थः सम्भवति, वस्त्वन्तराभावात्। तेन सोमस्यावशिष्टं मानादेकत्र राशीकृत्याञ्जलिना गृहीत्वाऽधिकं मितादावपतीत्यर्थः। तथा चाधिकः स्याद्यदा दशकृत्वो मानादन्यदावपनं स्यात्। तस्मादेकादश एवाध्यावापः। यदा चोपरिभावार्थक एवाधीति स्यात्, तदापि नियताच्छास्त्रोदितादधिकं तदुपर्येव वर्तत एक इत्येकादशमेव।

नन्वेतया सर्वाभिः समस्याञ्जलिनाध्यावपतीति सामानाधिकरण्येन दशममेव प्रतीयते, तथा च सर्वं मानमभिधायोच्यते दशकृत्वो मिमीत इति, तेन दशममेव युक्तमिति चेदत्रोच्यते—एतयर्चा सर्वाभिरित्यारभ्य दशमान्तं पुनरेतया सर्वाभिरित्युक्ते मिमीत इत्यनेनैव निराकाङ्क्षीकृतम्। तेन मन्त्रयुक्तानि दश मानानि। तान्येवोपसंहारेऽथ दशकृत्वो मिमीत इति सम्पादनार्थं परामृश्यन्ते। अध्यावापस्य त्वावापरूपत्वेनामानरूपत्वान्न परिगणनम्, तेनाधिकमेव। अपि च, एतयैतस्य सर्वत्र मिमीत इत्यनेनासम्बद्धत्वान्नाध्यावापेन सम्बन्धाकाङ्क्षा। ततोऽप्यावापस्य स्वातन्त्र्यान्न पूर्वेणैकवाक्यता। सूत्रार्थस्तु—प्रथमवारं सोमस्य प्रक्षेपः साङ्गुष्ठाभिः सर्वाभिरङ्गुलीभिः कार्यः, द्वितीयादिप्रक्षेपेष्वङ्गुष्ठमारभ्य क्रमश एकैकामङ्गुलीमुत्सृजेत्, अर्थाद् द्वितीयोऽङ्गुष्ठवर्जिताभिश्चतसृभिरङ्गुलीभिः, तृतीयोऽङ्गुष्ठतर्जनीवर्जिताभिस्तिसृभिः, चतुर्थोऽनामिकाकनिष्ठिकाभ्यामिति, पञ्चमः षष्ठश्च प्रक्षेपः केवलकनिष्ठिकयैव कर्तव्यः, सप्तमादिदशमान्तः प्रक्षेप एकैकस्या अङ्गुल्या उपचयं कृत्वा कर्तव्यः। अर्थात् सप्तमः प्रक्षेपोऽनामिकयोपचितया कनिष्ठिकया, अष्टमः कनिष्ठिकानामिकामध्यमाभिः, नवमः प्रदेशिन्यादिचतसृभिः, दशमः प्रक्षेपोऽञ्जलिना कर्तव्यः। प्रसारितो हस्तः प्रसृतिः, प्रसृतिद्वयमञ्जलिः। एवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—अन्यद्वाध्यावापश्रुतेः। अत्र वाऽवधारणे। दशमप्रक्षेपादन्यद् एकादशः प्रक्षेपोऽञ्जलिना कार्यो न दशमः। कुतः? अध्यावापश्रुतेः। 'एतया' (श. ३.३.२.१३) इत्यादिना सर्वाभिरङ्गुलीभिः पृथक् पृथग् दशकृत्वः प्रक्षेपं विधाय ततोऽधिकस्यैव एकादशस्य प्रक्षेपस्य 'समस्याञ्जलिनाऽध्यावपति' (श. ३.३.२.१३) इति विधानादिति टिप्पणीकारेण श्रीधरेण समन्वय उक्तः।

'स वा उदाचं न्याचं मिमीते। स यदुदाचं न्याचं मिमीत इमा एवैतदङ्गुलीर्नानाजानाः करोति तस्मादिमा नाना जायन्तेऽथ यत्सह सर्वाभिर्मिमीते सश्ँश्लिष्टा इव हैवैमा जायेरंस्तस्माद्वा उदाचं न्याचं मिमीते' (श. ३.३.२.१४)। अङ्गुलीनां क्रमेणोत्सर्गे संयोजने च कृते योऽर्थसिद्धो मानविषयः समञ्चनप्रसारणभावस्तमनूद्य बहुधा प्रशंसति—स वा उदाचं न्याचमित्यादिना। उदाचं न्याचमङ्गुलीः समच्य प्रसार्य चेत्यर्थः। तेनोक्तप्रकारमानेन अङ्गुलीर्नानाजानाः पृथक् पृथग् जन्मयुक्ताः करोति, कर्मभोगार्थत्वात् सृष्टेः। व्यतिरेके दोषमाह—अथ यत्सह सर्वाभिर्मिमीत इति। सर्वाभिः संहताभिरङ्गुलीभिर्दशवारमपि मानं यदि कुर्यात्, तथा सति संश्लिष्टाः परस्परसंहता एवाङ्गुलयो जायेरन्, तस्मादुदाचं न्याचं मिमीते। 'यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते। इमा एवैतन्नानावीर्याः करोति तस्मादिमा नानावीर्यास्तस्माद्वा उदाचं न्याचं मिमीते' (श. ३.३.२.१५)। उक्तरीत्या मानेन नानावीर्याः पृथक् पृथक् कार्यसमर्थाः करोति। 'यद्वेवोदाचं न्याचं मिमीते। विराजमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति। पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहत्यर्वाची मनुष्यानवति तस्माद्वा उदाचं न्याचं

मिमीते' (श. ३.३.२.१६)। एतद् एतेन, अर्वाक् परागतेन विराट्छन्दोदेवतामेव संख्याद्वारा अवाक् च पराक् च सोमे योजितवान् भवत्यध्वर्युः। सा सोमयुक्ता विराट्। पराच्यहेति पराची पराग्भूता ऊर्ध्वमुखी सती उदञ्चनसामर्थ्येन यज्ञं सोमरसं देवेभ्यो वहति। तथैव अर्वाची अवाङ्मुखी सती समञ्चनसामर्थ्येन मनुष्यान् ऋत्विगादीन् अवति। 'अह इति विनिग्रहार्थो निपातः' (निरु. १.५)।

'अथ यद्दशकृत्वो मिमीते। दशाक्षरा वै विराट् वैराजः सोमस्तस्माद्दशकृत्वो मिमीते' (श. ३.३.२.१७)। मानगतसंख्यां प्रशंसति—अथ यद्दशकृत्व इति। विराजो दशाक्षरत्वं प्रसिद्धम्। सोमोऽपि दशसंख्याकैर्द्रव्यैः क्रीयमाणत्वात् संख्याद्वारा विराट्सम्बन्धाद् वैराजो भवति। 'अथ सोमोपनहनस्य समुत्पार्यान्तान्। उष्णीषेण विग्रथ्नाति प्रजाभ्यस्त्वेति प्रजाभ्यो ह्येनं क्रीणाति स यदेवेदꣳ शिरश्चाꣳसौ चान्तरोपेनितमिव तदेवास्यैतत्करोति' (श. ३.३.२.१८)। अथेति। अन्तान् समुत्पार्य अधः प्रसारितस्य वस्त्रस्य पर्यन्तप्रदेशानेकत्र उच्चं संगृह्य उष्णीषेण ग्रन्थिं कुर्यात्। तत्र मन्त्रः—प्रजाभ्यस्त्वेति। प्रजाभ्यः सदस्येभ्य ऋत्विग्भ्यो ह्येनं क्रीणाति। उष्णीषेण ग्रथनं प्रशंसति—स यदेवेदमिति। शिरसोंऽसयोश्चान्तरालप्रदेशो यथा विलग्न इव वर्तते, एवं ग्रन्थिकरणेन कृतवान् भवति। 'अथ मध्येऽङ्गुल्याकाशं करोति। प्रजाभ्यस्त्वानुप्राणन्त्विति तमयतीव वा एनमेतत् समायच्छन्नप्राणमिव करोति तत्यैतदत एव मध्यतः प्राणमुत्सृजति तं ततः प्राणन्तं प्रजा अनुप्राणन्ति तस्मादाह प्रजास्त्वानुप्राणन्त्विति तꣳ सोमविक्रयिणे प्रयच्छत्यथातः पणनस्यैव' (श. ३.३.२.१९)। ग्रन्थिमध्ये सुषिरं समन्त्रकं विधत्ते—अथ मध्येऽङ्गुल्यावकाशं करोतीति। मध्ये सोमग्रन्थिमध्ये सुषिरकरणेन प्राणन्तं त्वा सर्वाः प्रजा अपि प्राणन्त्विति समायच्छन् सोमोपहननवाससोऽन्तान् संगृह्णन् तमयतीव ग्लपयतीव, अप्राणं सोमं प्राणरहितमिव करोति। अत एवोपद्रवसम्भवाद्धेतोस्तत्परिहाराय देहमध्ये उच्छ्वासरूपं प्राणमुद्गमयति। तस्मात् प्रजास्त्वेत्यादिमन्त्रं पठेत्। तं सोमोपहननवस्त्रे बद्धं सोमं सोमविक्रयिणे प्रयच्छति। अथातः पणनस्य क्रयस्य विधिरुच्यत इति शेषः। अनेन शतपथीयवृत्तान्तेन सायणादिसम्मतस्यैवार्थस्य सङ्गतिर्भवति, न दयानन्दीयार्थस्य ॥२५॥

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणाऽमृतममृतेन। सग्मे ते गौरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम्॥२६॥

'शुक्रं त्वेति हिरण्यमालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.८.१५)। हे सोम, शुक्रमक्लिष्टकर्माणं दीप्यमानं वा त्वा त्वां शुक्रेण दीप्तिमता हिरण्येन क्रीणामि व्यवहारेण गृह्णामि। कीदृशं त्वाम्? चन्द्रं 'चदि आह्लादने' दिव्यफलहेतुत्वेनाह्लादकरम्, तथा अमृतम् अमृतत्वफलत्वात् स्वादुत्वेनामृतसमानम्। कीदृशेन शुक्रेण? चन्द्रेण सुवर्णेन

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम आह्लादकारक, अमृत के समान स्वादु और दीप्तिमान् हो, मैं तुम्हे दीप्तिमान् विनाशरहित आह्लादकारक सुवर्ण से खरीदता हूँ। हे सोम बेचने वाले! सोम के मूल्य में दी गई गौ अब तुम्हारी है, वह फिर लौटकर यजमान के घर न आ जाय। हे सोमविक्रेता! तुम्हें दिया हुआ सुवर्ण फिर हमारे पास न आ जाय। हे अजा! तुम पुण्य का शरीर, प्रजापति का शरीर हो। हे सोम! उत्तम लक्षण वाले इस अजा रूपी पशु के द्वारा तुम्हें खरीदा जाता है। तुम्हारे अनुग्रह से हमारे घर में पुत्र, पशु आदि की पुष्टि हो, जिससे कि मैं भी पुष्ट हो जाऊँ॥ इस मन्त्र का उच्चारण सोमविक्रेता को सुवर्ण देकर गाय को वापस लेते समय किया जाता है॥२६॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.८.१५-१९) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'शुक्रं त्वा' इस कण्डिका के द्वारा सोम खरीदने के लिये स्वर्ण तथा अजा-द्रव्यों से सोमविक्रेता को मूल्य निर्धारण हेतु प्रलोभन दिया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार ही मन्त्रार्थ का निर्देश शतपथ ब्राह्मण में किया गया है।

'चन्द्रमिति हिरण्यनामसु पठितम्' (निघ. १.२.२), चन्द्रवदाह्लादकरेण तथाऽमृतेन वह्निसंयोगादिनाप्यनाशिना। 'सग्मे त इति सोमविक्रयिणꣳ हिरण्येनाभिकम्पयति' (का. श्रौ. ७.८.१६)। सोमविक्रयिहस्ते हिरण्यं दत्तवा स्वीकुर्वंस्तं निराशं कुर्यात्। हे सोमविक्रयिन्, गोः गौः, सोममूल्यत्वेन तुभ्यं दत्ता। सा त्वदीया गौः पुनः प्रत्यावृत्य सग्मे मदीयसङ्गवति यजमाने तिष्ठतु। ऋत्विग्भिः सह गच्छति तत्तत्कर्मस्विति सग्मो यजमानः, 'सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह' (श. ३.३.३.७) इति श्रुतेः। तयैव श्रुत्या गोरिति गौरिति ज्ञातव्यम्। हिरण्यमेव तवास्तु गौर्मा भूत्। यद्वा ग्मा गौस्तया ग्मया सह वर्तत इति सग्मो यजमानस्तत्र गौस्तिष्ठतु। अनेन सोमविक्रयिणं निराशं करोति, हिरण्येन प्रलोभनमिति वा, 'गौः ग्मा ज्मा क्ष्मा क्षा क्षमा' (निघ. १.१) इत्युक्तेः। तथा च ते गौः गोरिति मन्त्रशेषः। औकारस्य स्थाने ओकारश्छान्दसः। 'अस्मे त इति यजमानसहितं निदधाति' (का. श्रौ. ७.८.१७)। यजमानेन प्रत्यर्पितं यद्वोद्रव्यं तत्पुनर्यजमानसहितं सोमविक्रयिणः पुरतो निदधाति। हे सोमविक्रयिन्, ते चन्द्राणि तुभ्यं दत्तानि यानि सुवर्णानि तान्यस्मे अस्मासु प्रत्यावृत्य तिष्ठन्तु। तव गौरेवास्तु सोममूल्यम्, हिरण्यानि मा भूवन्। 'अजां प्रत्यङ्मुखीमालभ्य वाचयति तपसस्तनूरिति' (का. श्रौ. ७.८.१९)। सोमविक्रयिणे सव्यहस्तेनाजां दत्वा दक्षिणहस्तेन स्वयं गृहीत्वाऽध्वर्यौ आगते सति यजमानस्य वैकल्पिकमुत्थानम्। अर्धे अजा देवतास्य यजुषोऽर्धे सोमः। हे अजे, त्वं तपसः पुण्यस्य तनूरसि देहोऽसि, तपोविग्रहोऽसीत्यर्थः। दिवि स्थितस्य यज्ञियस्य यज्ञनिष्पादकस्य सोमस्यानयनायाजां गृहीत्वा गायत्री देवता जगामेति तित्तिरिणा सोमाहरणोपाख्याने गदितत्वा-दजायाः पुण्यशरीरत्वम्। किञ्च, हे अजे, त्वं प्रजापतेर्वर्णोऽसि। वर्णोऽत्र देहः। यथा प्रजापतिः सर्वदेवताप्रियः, एवं त्वमपि, 'सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा' (तै. सं. ३.४.३.२) इति तैत्तिरीयोक्तेः। हे सोम, त्वं परमेणोत्तमेन पशुनाऽजेनानेन क्रीयसे। तपोविग्रहत्वेनाजपशोरुत्तमत्वमुक्तमेव। अतोऽस्य प्रसादात् सहस्रपोषं पुत्रपश्वादिसह-स्राणां यथा भवति तथा पुषेयं पुष्टो भूयासमिति सायणाचार्यः। यद्वा हे अजे, त्वं प्रजापतेस्तपसस्तनूरसि, तपस उत्पन्नत्वात् 'तपसो ह वा एषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा' (श. ३.३.३.८) इति श्रुतेः। किञ्च, त्वं प्रजापतेर्वर्णो रूपमसि। प्रजापतेस्त्रिगुणत्वात् त्रिरूपत्वम्। अजापि प्रतिसंवत्सरं त्रिवारं प्रसूते, तस्मात् प्रजापतेर्वर्णत्वम्, 'सा यत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन प्रजापतेर्वर्णः' (श. ३.३.३.८) इति श्रुतेः। एवमजां सोमसमक्षमभिष्टुत्य सोममाह—हे सोम, परमेणोत्कृष्टेन पशुनाऽजया त्वं क्रीयसे। ततोऽहं सहस्रपोषं सहस्रं प्राणिनां पुष्णातीति सहस्रपोषं धनं पुषेयं पुष्णीयाम्, वर्धयेयमित्यर्थः। पुष्णातेर्व्यत्ययेन शेप्रत्यये लिङि पुषेयमिति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सह वर्तत इति सोमस्तत्सम्बुद्धौ, शुक्रमक्लिष्टकर्माणं त्वामहं शुक्रेण दीप्तिमता स्वात्मना क्रीणामि, अर्थात् स्वात्मसमर्पणेन त्वामहं स्वायत्तं करोमि। चन्द्रं परमाह्लादकं त्वां चन्द्रेण परमप्रेमास्पदेनात्मना त्वां क्रीणामि। अमृतं सर्वविधभावविकारशून्यं त्वामव्ययमहममृतेन सुखरूपेण क्रीणामि। ग्मा गाव इन्द्रियाणि सन्ति यस्मिन्नसौ सग्मः साधकस्तस्मिन् ते तव गौर्धर्मरूपोऽस्तु। अस्मे अस्मासु ते तव सम्बन्धीनि चन्द्राणि हिरण्यानि तदुपलक्षितान्यैश्वर्याणि सन्तु। त्वं तपसस्तनूरसि शरीरमसि, तपसोऽपि तद्विभूति-

---

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे साम्ब सदाशिव, उत्तम कार्यों के सम्पादक! आपको मैं दीप्तिमान् स्वात्मतत्त्व के समर्पण द्वारा स्वायत्त करता हूँ। हे परमाह्लादक! आपको प्रेमास्पद स्वात्मतत्त्व के समर्पण से स्वायत्त करता हूँ। हे सर्वविकारशून्य अव्यय! आपको मैं अमृतत्व से स्वीकृत करता हूँ। इन्द्रियवान् साधक में आपका धर्मात्मक स्वरूप हो। हम लोगों में आपके

त्वात्। प्रजापतेः सर्वेश्वरस्य वर्णं रूपमसि, तवैव सर्वेश्वरत्वात्। हे सोम, त्वं परमेण उत्कृष्टेन पशुना मनोरूपेण क्रीयसे। सहस्रपोषं सहस्रं प्राणिनां यत्पुष्णाति तव प्रसादात्तदहं तादृशं धनं पुषेयं वर्धयेयम्।

दयानन्दस्तु—'शुक्रं शुद्धिकारकं त्वा तं क्रियामयं यज्ञं शुक्रेण शुक्रभावेन क्रीणामि गृह्णामि चन्द्रं सुवर्णं चन्द्रेण सुवर्णेन अमृतं मोक्षसुखममृतेन नाशरहितेन विज्ञानेन सग्मे गच्छतीति ग्मा पृथिवी, तया सह वर्तत इति सग्मस्तस्मिन् यज्ञे। 'ग्मेति पृथिवीनामसु पठितम्' (निघ. १.१.२)। ते तव गोः पृथिव्याः सकाशाद् अस्मे अस्मभ्यं ते तव सकाशाच्चन्द्राणि काञ्चनादयो धातवस्तपसो धर्मानुष्ठानस्याग्नेस्तापसस्य वा तनूः शरीरमसि अस्ति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। प्रजापतेः प्रजानां पतिः पालनहेतुः सूर्यस्तस्य वर्णो वरीतुं योग्यः परमेण प्रकृष्टेन पशुना व्यवहृते विक्रीतेन गवादिना क्रीयसे क्रीयते। सहस्रपोषम् असंख्यातपुष्टिं पुषेयं पुष्टो भवेयम्' इति। हिन्दीभाष्येऽस्यार्थो यथा—'यः पृथिव्या सह वर्तमाने यज्ञे तपसः प्रतापयुक्तस्याग्नेर्विदुषस्तपस्विनो वा तनूः शरीरमस्ति, तथा शिल्पविद्यायाः सत्योपदेशस्य च सिद्धये पशुना विक्रीतेन गवादिना प्रजापतेः सूर्यस्य वर्णः स्वीकारयोग्यं तेजः क्रीयते, तेन सहस्रपोषम् असंख्यातपुष्टिं प्राप्य पुष्टः स्यामहम्। हे विद्वन्, यत्ते तव गोः पृथिवीराज्यात् सुवर्णादिधातवः प्राप्यन्ते, ते अस्मे अस्मभ्यमपि सन्तु। यथाहं ते तव परमेण उत्तमेन शुक्रेण शुद्धभावेन शुक्रं शुद्धिकारकं यज्ञं चन्द्रेण सुवर्णेन चन्द्रं सुवर्णं तथा अमृतेन नाशरहितेन विज्ञानेन अमृतं मोक्षसुखं क्रीणामि गृह्णामि, तथैव त्वमपि तं गृहाण' इत्यादि, तदपि सर्वथा निःसारं निरर्थकमक्षरासम्बद्धं च, क्रीणामीत्यस्य ग्रहणार्थकत्वे मानाभावात्, चन्द्रेण चन्द्रमित्यस्य सुवर्णेन सुवर्णमित्यर्थकरणस्य निरर्थकत्वात्। अमृतेन नाशरहितेन विज्ञानेनेत्यपि निर्मूलम्, विज्ञानस्य नित्यत्वादर्शनात्। त्वद्रीत्या मोक्षस्यापि नाशरहितत्वं नास्ति, मुक्तेरावृत्त्यभ्युपगमात्। गम्यत्वादपि पृथिव्या ग्मात्वं सिद्ध्यतीति न तस्या गमनशीलत्वम्, 'ध्रुवा द्यौः' (अथर्व. ६.८८.१) इत्यादिमन्त्रविरोधात्। न वान्यस्य धातवोऽन्यस्य सम्भवन्ति, व्यवहारविरोधात्। पशुना विक्रीतेन गवादिनेत्यपि निरर्थकम्, अक्रीतस्यापि गवादेः पशुत्वाविशेषात्। तेन च कथं प्रजापतेर्वरीतुमर्हं तेजः क्रीयत इत्युपपादनीयमेव। कोऽत्र वक्ता? न परमेश्वरः, तस्यान्योपार्जितसुवर्णादिनिरपेक्षत्वात्। श्रुतिसूत्रविरोधाच्चानादेयोऽयमर्थः।

शतपथे सोमयज्ञप्रसङ्गे सोमक्रयः प्रकृतः। 'स वै राजानं पणते। स यद्राजानं पणते तस्मादिदꣳ सकृत्सर्वं पण्यꣳ स आह सोमविक्रयिन् क्रय्यस्ते सोमो राजा३ इति क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी तं वै ते क्रीणानीति क्रीणीहीत्याह सोमविक्रयी कलया ते क्रीणानीति भूयो वा अतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी भूय एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युः' (श. ३.३.३.१)। अत्र सोमक्रयार्थं व्यवहारं विधत्ते श्रुतिः—पणत इति। पणते व्यवहरते। तस्मात् सोमस्य व्यवहारभूतत्वादिदमिदानीमपि सर्वं दधिमधुघृतादिवस्तु सकृत् पण्यं पणितव्यं भवति। व्यवहारप्रकारं दर्शयति—स आहेति। सोऽध्वर्युः क्रय्यस्ते सोमो राजेति पृच्छेत्। क्रय्य इति

प्रदत्त ऐश्वर्य हों। आप तपोविग्रह हैं, सर्वेश्वर प्रजापति की मूर्ति हैं, हे साम्बशिव! आप सर्वोत्तम मनोरूप पशु से उपलब्ध होते हैं। आपकी कृपा से मैं सहस्रों प्राणियों के पोषणयोग्य धन से वर्धित होऊँ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ मन्त्राक्षरों से असम्बद्ध है। 'चन्द्रेण चन्द्रम्' का 'सुवर्णेन सुवर्णम्' इस प्रकार अर्थ करना निष्प्रयोजन है। अमृत का अर्थ 'नाशरहित विज्ञान' करना भी निर्मूल है, क्योंकि उनके मत में तो मोक्ष भी नाशरहित नहीं है। शतपथ श्रुति तथा सूत्र-ग्रन्थों के विरोध के कारण यह अर्थ ग्राह्य नहीं है ॥२६॥

सोमविक्रयी प्रतिब्रूयात्। क्रय्यः क्रयार्थं प्रसारितः, 'क्रय्यस्तदर्थे' (पा. सू. ६.१.८२) प्रश्नार्थे प्लुतिः। तत् तर्हि ते स्वभूतं सोमं क्रीणानीत्यध्वर्युर्ब्रूयात्। अथ तेन विक्रयिणा क्रीणीहीत्युक्तोऽध्वर्युर्ब्रूयात् कलया गोरेकदेशेन तव सोमं क्रीणानीति। स विक्रेता अतोऽस्मात् कलालक्षणान्मूल्यात् प्रभूतमधिकमूल्यमर्हति सोमो राजेति ब्रूयात्। अथ तेन तथोक्तोऽध्वर्युर्गोर्महत्त्वमाविष्करोति—महांस्त्वेवेति। यदि सोमो बहुमूल्यमर्हति, तर्हि कृत्स्ना गौर्दातव्या भवति। तथा सति गोर्महिमा महानिति ब्रूयात्।

'गौर्वै प्रतिधुक्। तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्' (श. ३.३.३.२)। गोर्महत्त्वमेव दर्शयति—गोर्वा इतिं। गोः सकाशात् प्रतिधुगादिकमुपलभ्यते। प्रतिधुक् सद्योदुग्धम्। इदमेकं वीर्यम्। तस्याः शृतं पक्वं पयः। शरः पक्वक्षीरस्योपरि सारभूतं मलायीपदवाच्यम्। तस्यै दधि घनीभूतमम्लास्वादं वस्तु। मस्तु दधिभवं सारभूतमुदकम्। आतञ्चनं दधिभावकारणं दध्येव। आमिक्षा तप्ते पयसि दध्यानयने सति यद् घनीभूतं वस्तु जायते सा आमिक्षा। द्रवात्मकं वस्तु वाजिनम्। एवंविधानि गोर्वीर्याणि प्रख्यापयेत्।

'शफेन ते क्रीणानीति। भूयो वा अतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी भूय एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युरितान्येव दश वीर्याण्युदाख्यायाह पदा तेऽर्धेन ते गवा ते क्रीणानीति क्रीतः सोमो राजेत्याह सोमविक्रयी वयाꣳसि प्रब्रूहीति (श. ३.३.३.३)। द्वितीयवारक्रये शफेन ते क्रीणामीति ब्रूयात्। शफः पादाग्रस्यार्धभागः। भूयो वाऽत इत्यादिकं स्पष्टम्। अध्वर्युरेतानि पूर्वोक्तान्येव प्रतिधुगादीनि दश वीर्याणि पुनर्ब्रूयात्। तृतीयवारक्रये पदा त इति ब्रूयात्। चतुर्थवारेऽर्धेन त इति ब्रूयात्। भूयो वेत्यादि पूर्ववत्। पञ्चमवारे गवा ते क्रीणामीति ब्रूयादध्वर्युः। एवमुक्ते सोमो राजा त्वया क्रीत उचितमूल्यस्य दत्तत्वादथ वयांसि ब्रूहीति सोमविक्रयी ब्रूयात्। 'स आह। चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ ते गावौ तिस्रस्ते अन्या इति स यदार्वाक् पणन्ते परः सम्पादयन्ति. . . अथ यदध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोमविक्रयी महितो वै सोमो देवो हि सोमोऽथैतदध्वर्युर्गां महयति तस्यै पश्यन् वीर्याणि क्रीणादिति तस्मादध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोमविक्रयी' (श. ३.३.३.४)। वयःशब्दार्थं स्वयमेवाह श्रुतिः—चन्द्रं त इत्यादिना।

कात्यायनोऽपि तथैवाह—'क्रीतः सोमो राजेत्यन्ते वयाꣳसि प्रब्रूहीत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.१३), 'पञ्चकृत्वः सोमं पणते' (का. श्रौ. ७.८.१), 'स आह सोमविक्रयिन् क्रय्यस्ते सोमो राजा३ इति' (का. श्रौ. ७.८.२), 'क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.३), 'तं वै ते क्रीणानीति' (का. श्रौ. ७.८.४), 'क्रीणीहीत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.५), 'कलया ते क्रीणानीति' (का. श्रौ. ७.८.६), 'भूयो वा अतः सोमो राजार्हतीत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.७), 'भूय एवातः सोमो राजार्हति महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युर्गोर्वै प्रतिधुक् तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनमिति' (का. श्रौ. ७.८.८), 'भूय एवेत्यतः प्रभृति चतुरावर्तयति' (का. श्रौ. ७.८.९), 'एकैकेनान्ते पणते शफेन पदार्धेन गवा' (का श्रौ. ७.८.१०), 'ते क्रीणामीत्यन्ततः' (का. श्रौ. ७.८.११), 'प्रश्नान्ते प्रश्नान्ते' (का. श्रौ. ७.८.१२)।

भूय एवेत्यादीनामयमर्थः—शफेन ते क्रीणामि, पदा ते क्रीणाम्रि, अर्धेन ते क्रीणामि। सोमक्रयिणा च भूयोऽत इत्याद्युक्ते भूय एवेत्यादिकमध्वर्युः पठति। एवमेकैकस्य प्रश्नस्यान्ते उक्त्वा ततोऽन्त्यपणनं गवा ते

क्रीणानीति कुर्यात्। एवं च 'भूयो वा' इत्यस्य विक्रेत्रा वारचतुष्टयं पठनं तत्प्रश्नस्यान्ते भूय एवेत्यध्वर्युणापि वारचतुष्टयं गवा ते क्रीणानीत्यतः पूर्वमिति फलितम्। 'क्रीतः सोमो राजेत्यन्ते वयाꣳसि प्रब्रूहीत्याह सोमविक्रयी' (का. श्रौ. ७.८.१३)। वयांसि अन्यान् पशून् प्रब्रूहीति। 'स आह चन्द्रं ते वस्त्रं ते छागा ते धेनुस्ते मिथुनौ ते गावौ तिस्रस्ते अन्या इति' (का. श्रौ. ७.८.१४)। व्यवहारपूर्वकक्रय्यं प्रशंसति—स यदर्वागित्यादि शतपथश्रुतिः। अर्वाक् सम्पादनात् प्राग् व्यवहारं कृत्वा परः परस्तात् सम्पादयन्ति, अथवा अर्वाग् अल्पमेव व्यवहारकाले व्यवहरन्ति, सम्पादनकाले तु परः देयं मूल्यमधिकं कृत्वा। तस्मादिदानीमपि सर्वं पण्यं वस्तु सकृद् एकवारम् अर्वाक् पणन्ते परः परस्तात् सम्पादयन्ति। तस्मात् पणनपूर्वक एव क्रयो युक्तः। गोर्वीर्याणामुदाख्यानवत् सोमवीर्याण्यप्युदाख्यातव्यानि। तथाऽकरणे कारणमाह—अथ यदध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्याचष्टे न सोमस्य वीर्याणि सोमविक्रयी आचष्टे, तस्येदं कारणं यत्सोमो राजा महितो महत्त्वोपेतः। तत्कथमित्याह—दिवि खलु दिवि वर्तमानस्य चन्द्रस्य सोमवल्लीरूपेण परिणामात्, 'दिवि वै सोम आसीत्' (श. ३.२.४.१) इत्युक्तत्वात्। अतो हेतोः सोमस्य महत्त्वोपेतत्वं प्रसिद्धेन तद्वीर्योदाख्यानेन युक्तमपेक्षितम्। अध्वर्युर्गां महयति तां पश्यन् तस्या वीर्याणि प्रतिधुगादीनि वर्णयति। तत्तु सोममनया क्रीणामीत्यभिप्रायेणेति। तस्मादध्वर्युरेव गोर्वीर्याण्युदाचष्टे न सोमस्य सोमविक्रयीति। 'अथ यत् पञ्चकृत्वः पणते। संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभि-राप्नोति। तस्मात् पञ्चकृत्वः पणते' (श. ३.३.३.५)। स्पष्टम्। 'अथ हिरण्ये वाचयति। शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामीति शुक्रꣳ ह्येतच्छुक्रेण क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येन चन्द्रं चन्द्रेणेति चन्द्रꣳ ह्येतच्चन्द्रेण क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येनामृतममृतेनेत्यमृतꣳ ह्येतदमृतेन क्रीणाति यत्सोमꣳ हिरण्येन' (श. ३.३.३.६)। एकहायन्या गवा सह देयेषु हिरण्यवस्त्रछागादिदशसु द्रव्येषु मध्ये हिरण्ये दीयमाने सति यजमानं वाचयति शुक्रं त्वेति मन्त्रम्। अत्र मन्त्रे शुक्रचन्द्रामृतपदानि तृतीयान्तानि हिरण्यनामानि, द्वितीयान्तानि सोमस्येति व्याचष्टे—शुक्रं ह्येतच्छुक्रेणेति।

'अथ सोमविक्रयिणमभिप्रकम्पयति। सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह तद्यजमानमभ्याहृत्य न्यस्यत्यस्मे ते चन्द्राणीति स आत्मन्येव वीर्यं धत्ते शरीरमेव सोमविक्रयी हरते तततः सोमविक्रय्यादत्ते' (श. ३.३.३.७)। समन्त्रकं सोमविक्रयिणो हिरण्येनाभिप्रकम्पनं विधत्ते—अथ सोमविक्रयिणमिति। अभिप्रकम्पनं नाम प्रलोभनम्। मन्त्रगतं सग्मपदं व्याचष्टे—सग्मे ते गोरिति यजमाने ते गौरित्येवैतदाह। तद्यजमानमभ्याहृत्य न्यस्यति। एतेन गोरिति न पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं वा, किन्तु प्रथमान्तमेव ज्ञातव्यम्। तच्चौकारस्योकारादेशेन वा विपरिणामेन वा। सग्मपदमपि यजमानपरम्, न दयानन्दोक्तरीत्या पृथिवीसहितयज्ञपरम्, प्रकृतशतपथश्रुतिविरोधात्। तथा च सायणाचार्यरीत्या ऋत्विग्भिः सह गच्छति तत्तत्कर्मस्विति सग्मो यजमान इत्येव युक्तम्। तथा च सग्मे यजमाने ते गौरस्तु इति सोमविक्रयिणं हिरण्येन प्रलोभयति। तत्प्रलोभनसाधनं हिरण्यं यजमानं प्रत्यानीय 'अस्मे ते' इति मन्त्रेण स्थापयेत्, अस्मे अस्मदीये यजमान इत्यर्थः। हिरण्यस्य वीर्यरूपत्वात् तत्स्वीकारेणात्मनि वीर्यधारणं कृतं भवति। मन्त्रसामर्थ्येन वीर्यस्य स्वीकारमुक्त्वा हिरण्यशरीरमात्रमेव सोमविक्रयी हरते, ततो यजमानसमर्पणानन्तरं तद्यजमानसमीपे न्यस्तं सोमविक्रयी स्वीकुर्यात्। 'सोमविक्रय्येतदादत्ते' (का. श्रौ. ७.८.१८), 'अस्मे त इति यजमान्सहितं निदधाति' (का. श्रौ. ७.८.१७) अस्मे त इति मन्त्रेण यजमानसमीपे निदधाति। तेन यजमाने हिरण्यगतं वीर्यं निदधाति। ततो यजमानसमीपे स्थितं हिरण्यं हिरण्यमात्रं वीर्यरहितं सोमविक्रयी आदत्ते।

'अथाजायां प्रतीचीनमुख्यां वाचयति। तपसस्तनूरसीति तपसो ह वा एषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा तस्मादाह तपसस्तनूरसीति प्रजापतेर्वर्ण इति सा यत्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयस इति सा यत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमः पशुः सहस्रपोषं पुषेयमित्याशिषमेवैतदाशास्ते भूमा वै सहस्रं भूमानं गच्छानीत्येवैतदाह' (श. ३.३.३.८)। अथाजायामिति। क्रयाय दत्तामजां प्रतीचीनमुखीं कृत्वाऽध्वर्युस्तामालभ्य स्थितं यजमानं तपसस्तनूरिति मन्त्रं वाचयेत्। तथैव सूत्रमप्याह। मन्त्रार्थस्तु—हे अजे, त्वं प्रजापतेस्तपसस्तनूः शरीरमसि, तत्परिणामरूपत्वात्। 'संवत्सरो वै प्रजापतिः' (ऐ. ब्रा. १.१) इति श्रुत्या संवत्सररूपः प्रजापतिः संवत्सरसम्बन्धिनि काले त्रिर्जायमानत्वेन संवत्सरद्वारा त्रिगुणात्मकसंवत्सररूपप्रजापतिशरीरसारूप्यात् प्रजापतिवर्णात्मकत्वम्। संवत्सरे त्रिर्जायमानत्वादेवेतरपशोरप्यजाया उत्कर्षः। अजा परमः पशुः, तेन क्रीयसे। हे सोम! अतोऽहं तवानुग्रहात् सहस्रपोषं पुत्रपौत्रादिरूपेण बहुविधपुष्टिं प्राप्नवानीति ॥२६॥

मित्रो न एहि सुमित्रध इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तꣳ स्योनः स्योनम्। स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान् रक्षध्वं मा वो दभन्॥२७॥

'सव्येनाजां प्रयच्छन् मित्रो न इति दक्षिणेन सोममादायागत उत्तिष्ठति वा' (का. श्रौ. ७. ८. २०)। सोमविक्रयिणे सव्यहस्तेनाजां मित्रो न इति प्रयच्छन् दक्षिणेन सोममादायागतेऽध्वर्यौ यजमान उत्तिष्ठति न वेति विकल्पः। मन्त्रार्थस्तु—हे सोम, त्वं नोऽस्माकं मित्रः प्रीतियुक्तो भूत्वा सुमित्रध शोभनानां मित्राणां धारकः सन् एहि आगच्छ। शोभनानि मित्राणि दधाति पुष्यतीति सुमित्रधः। यद्वा नोऽस्मान् प्रति एहि। उव्वटाचार्यरीत्या पुंल्लिङ्गत्वात् मित्रोऽत्र सूर्यरूपः। वाससा बद्धस्य क्रीतस्य सोमस्य वरुणदेवताकत्वेन क्रूरत्वात् तच्छान्त्यर्थं मित्रत्वादिना प्रार्थनम्। तदुक्तं तित्तिरिणा—'वारुणो वै क्रीतः सोम उपनद्धो मित्रो न एहि सुमित्रध इत्याह शान्त्या' (तै. सं. ६.१.११.१)। 'दीक्षितोरौ दक्षिणे प्रत्युह्य वासो निदधातीन्द्रस्योरुमिति' (का. श्रौ. ७.८.२१)। अध्वर्युर्दीक्षितस्य दक्षिण उरौ तत्रस्थं वासोऽपसार्य सोमं निदध्यादिति सूत्रार्थः। सायणाचार्यरीत्या तु उपवस्त्रमुपरि स्थाप्य सोमं निदध्यात्। यजनरूपेण परमैश्वर्येणोपेतत्वादत्रेन्द्रशब्देन यजमानो विवक्षितः, 'एष वा अत्रेन्द्रो भवति यद् यजमानः' (श. ३.३.३.१०) इति श्रुतेः।

मन्त्रार्थ—हे सोमसखा!-प्रीतियुक्त मित्रों के पोषक हमारे पास आओ। हे सोम! ऊरु की इच्छा करने वाले सुखरूप तुम ऐश्वर्यवान् सोम के इच्छुक यजमान की सुखकारी दाहिनी जंघा पर विश्राम करो। हे सोम के रक्षक देवताओं! आप सब शास्त्र का उपदेश करने वाले, प्रकाशवान्, पाप के शत्रु, विश्व के पोषक, सर्वदा प्रसन्नचित्त, सुन्दर हाथ वाले और दुर्बल की रक्षा करने वाले हो। यहां स्थापित सभी पदार्थों की आप लोग रक्षा करें, शत्रु आप लोगों को किसी प्रकार की हानि न पहुंचावे॥ इस मन्त्र से बांये हाथ से सोमविक्रेता को अजा देकर दाहिने हाथ से सोम लिया जाता है और इस सोम द्रव्य की रक्षा के लिये देवताओं से प्रार्थना की जाती है॥२७॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.८.२०-२२) के याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'मित्रो नः' मन्त्र से क्रीत सोम का ग्रहण, 'इन्द्रस्योरुम्' मन्त्र से यजमान की गोद में सोम का संस्थापन तथा 'स्वान भ्राज' मन्त्र से सोमविक्रेता का ईक्षण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में इस विनियोग के अनुसार अर्थ उपदिष्ट है।

तथा चायं मन्त्रार्थः— हे सोम, त्वमिन्द्रस्य यजमानस्य दक्षिणमूरुं विश दक्षिणेऽस्मिन्नूरावुपविश। कीदृशस्त्वम्? उशन् दक्षिणमूरुं कामयमानः। स्योनः सुखरूपः। कथम्भूतमूरुम्? उशन्तं त्वद्विषयककामनोपेतं स्योनं सुखकरम्। 'वश कान्तौ'। कामयमानस्त्वं कामयमानमेव यजमानस्य दक्षिणमूरुमुपविशेत्यर्थः। परस्परं प्रीत्याऽवियुक्तौ भवेतामित्यभिप्रायः। पुरा देवाः क्रीतं सोममिन्द्रस्योरावुपावेशयन्। तस्मादत्र यजमानस्येन्द्रशब्देन व्यवहार इति। तदुक्तं तित्तिरिणा—'देवा वैवꣳ सोममक्रीणन् तमिन्द्रस्योरौ दक्षिण आसादयन्नेष खलु वा एतर्हीन्द्रो यो यजते तस्मादेवमाह' (तै. सं. ६.१.११.१) इति। 'स्वान भ्राजेति जपति सोमविक्रयिणमीक्षमाणः' (का. श्रौ. ७.८.२२), यजमान इति शेषः। हे स्वानादयो धिष्ण्याधिष्ठातारः सप्त देवाः, वो युष्माकं सोमक्रयणान् सोमं क्रेतुमानीता नो हिरण्यादिपदार्था एते पुरतः स्थापितास्तान् पदार्थान् यूयं रक्षध्वम्। मा वो दभन् वो युष्मान् तेऽपि वैरिणो मा हिंसिषत। स्वानादीनां द्युलोके सोमरक्षकत्वं तित्तिरिर्दर्शयति—'स्वान भ्राजेत्याहैते वामुष्मिल्लोके सोममरक्षन्' (तै. सं. ६.१.१०.९) इति। के ते स्वानादय इत्याह—स्वान भ्राजेति। स्वनतीति स्वानः। भ्राजते शोभते यः स भ्राजः। अङ्घस्य पापस्यारिः। बिभर्ति पुष्णाति विश्वमिति बम्भारिः। हसतीति हस्तः, सर्वदा हृष्टरूपः। शोभनौ हस्तौ यस्य स सुहस्तः। कृशं दुर्बलमनिति जीवतीति कृशानुः। एते स्वानादयः सप्त देवाः सोमरक्षकाः। अथवा स्वानभ्राजसप्तदशानां मध्यात् सप्त तावत् सोमक्रयणाननुदिशति—हे स्वान, भ्राज, अङ्घारे, बम्भारे, हस्त, सुहस्त, कृशानो! एवं सप्त धिष्ण्यान् सम्बोध्य अथेतरानाह—एते वः सोमक्रयणाः, एते वो युष्माकं मध्ये सोमक्रयणाः, यैर्हिरण्यादिभिः सोमः क्रीयते, तदभिमानिनः स्वानादयस्तान् रक्षध्वं गोपायत। एते होतृका वो युष्मान् स्वानादीन् मा दभन् मा हिंसिषत। 'धिष्ण्यानां वा एते भाजनेनैतानि वै धिष्ण्यानां नामानि तान्येवैभ्य एतदन्वदिक्षत्' (श. ३.३.३.११)। भाजयतीति भाजनं स्थानम्, तेन तत्स्थानेनोपाधिना एते स्वानादयो धिष्ण्यानां सम्बन्धिनः। कथं तेषां धिष्ण्यसम्बन्ध इति तत्राह—एतानि वै धिष्ण्यानां नामानि। नन्वेते गवादिपदार्था धिष्ण्यानामेव, न तु स्वानादयः सोमरक्षकाः, अतस्तेषामेवानुदेश इति, तत्राह—एतानि वा इति। तथा चोत्तरत्र वक्ष्यति—'तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षका जुगुपुः। इमे धिष्ण्या इमा होत्राः' (श. ३.६.२.९)। सोमरक्षका एते गन्धर्वास्तं सोमं जुगुपुः। ते के? य इमे सदसि वर्तमाना धिष्ण्याः, इमा होत्रा इमे होत्रकाः, होतृवर्जमैत्रावरुणादय इत्यर्थः। तान्येव दशक्रयद्रव्याण्येतद् एतेन एते वः सोमक्रमणा इति पाठेन एभ्यो धिष्ण्यभूतेभ्यः स्वानादिभ्योऽन्वदिक्षन् अनुदिष्टवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वं समेषां भूतानां मित्रः सुहृद्भूतः, अज्ञानान्धकारनाशको मित्रः सूर्यरूपो वा अस्मान् आ समन्ताद् इहि प्राप्नुहि, प्रत्यक्चैतन्याभेदेनाभिव्यक्तो भवेत्यर्थः। कीदृशस्त्वम्? सुमित्रधः शोभनानि मित्राणि दधाति पुष्णातीति। इन्द्रस्येदं सर्वं स्वात्मत्वेन दृष्टवानिति इदन्द्रः, इदन्द्र एव परोक्षेणन्द्र इत्याख्यायते। श्रुतिषु इन्द्रो ब्रह्मवित्, तस्य दक्षिणमुत्कृष्टं तदुपलक्षितमुशन्तं कामयमानमङ्कं हृदयं वा उशन् कामयानो विश। कीदृशस्त्वम्? स्योनः सुखरूपः। कीदृशं चोरुम्? स्योनं सुखकरम्। उशन्नुशन्तं स्योनः स्योनं विशेत्युक्त्या शिवः शिवं शान्तः शान्तं सुखात्मकः सुखात्मकं विश, तेन साजात्यमुभयोर्विवक्षितम्, 'देवो भूत्वा यजेद्देवान्' इत्युक्तेः। दिव्यो दिव्यमुपैति। तत एव भूभूतादिशुद्धियज्ञमहायज्ञादिभिर्दिव्यत्वापादने प्रयासो भवति। स्वानः स्वनति ब्रह्मात्मतत्त्वमुपदिशतीति स्वानो गुरुः। भ्राजते प्रकाशते परमात्मतत्त्वं यत्र स भ्राजस्तत्त्वबोधः।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे साम्बमहेश्वर ! आप समस्त जीवों के सुहृद् अथवा अज्ञानान्धकार के विनाशक हैं, आप हमारे पास आवें। कल्याणकारी मित्रों के पोषक, सुखप्रदाता आप स्वात्मज्ञ हैं, आपकी कामना रखने वाले सुखकर हृदय में प्रविष्ट

अङ्गारिः, भगवन्नामात्मकः शब्दः। बम्भारिः, बिभर्ति विश्वमिति बम्भारिर्धर्मः। हस्तो मनःप्रसादः। सुहस्तः शोभनो हस्तः करो येन स दानधर्मः। कृशं दुर्बलमनिति जीवतीति कृशानुर्दयाधर्मः। सम्बोधने ते तथोक्ताः। हे स्वानादयः, वो युष्माकमेते उपदेशादयो धर्माः स्वरूपाश्च सोमक्रयणाः सोमः साम्बशिवः क्रीयत एभिस्ते सोमक्रयणाः, अतस्तान् रक्षध्वम्। वो युष्मान् अहङ्काररागादयो मा दभन् मा हिंसिषत। यत्तु 'दुष्टान् कृशतीति कृशानुः' इति, तन्न, कृशधातोरकर्मकत्वेनार्थासङ्गतेः। यत्तु—'कृशाननतीति धातुद्वयापत्तिः' इति, तदपि न, तस्येष्टत्वात्। न चोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वापत्तिरिति वाच्यम्, व्यत्ययेनाभीष्टस्वरसिद्धेः।

स्वामिदयानन्दस्तु—'मित्रः सुहृत् सन् नोऽस्मान् एहि प्राप्नुहि। यः शोभनानि मित्राणि दधाति सः। इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य सभाध्यक्षस्य विदुष ऊरू बह्वाच्छादनं स्वीकरणं आसमन्ताद् विश। दक्षिणमुत्तमाङ्गं दक्षिणभागमुशन् कामयमान उशन्तं कामयमानं स्योनः सुखकारकः स्योनं सुखकारकम्। 'स्योनमिति सुखनामसु पठितम्'(निघ. ३.६.१५)। स्वान स्वनत्युपदिशति यतस्तत्सम्बुद्धौ। भ्राज यो भ्राजते प्रकाशते तत्सम्बुद्धौ। अङ्घस्य छलस्यारिः शत्रुस्तत्सम्बुद्धौ। बम्भारे बन्धानां सुविचारनिरोधकानामरिः शत्रुः। अत्र वर्णव्यत्ययेन धस्य भः। हस्त हसन्ति प्रसन्ना भवन्ति यस्मात्तत्सम्बुद्धौ। सुहस्त शोभना हस्तक्रिया यस्य तत्सम्बुद्धौ। कृशानो कृशति यस्तत्सम्बुद्धौ। एते सर्वे धार्मिकाः प्रजास्था भृत्या वा वो युष्मान् सोमक्रयणाः, ये सोमानुत्तमान् पदार्थान् क्रीणन्ति ते तान् सर्वान् रक्षध्वं सततं पालयत। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम्। वो युष्मान् मा दभन् मा हिंसेयुः। अत्र विकरणप्रत्ययो लिङर्थे लुङ् च। अर्थाद् हे उपदेशक, हे प्रकाशक, हे छलारे, हे विचारविरोधिशत्रो, हे प्रसन्न, हे समीचीनहस्तक्रियावित्, हे दुष्टदुर्बलकारक, हे सुमित्रधारक, हे सर्वमित्र, सुखकाम सभाध्यक्ष, त्वमस्मानेहि तथा दक्षिणमुत्तमाङ्गयुक्तमुरुं बहुगुणयुक्तपदार्थयुक्तं स्वीकारार्हं वा कामयितव्यं स्योनं सुखमाविश। हे मनुष्याः, एते ये इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य विदुषः सोमक्रयणा उत्तमपदार्थक्रेतारः प्रजाजना भृत्या वा वो युष्मान् रक्षन्तु। भवन्तोऽपि तान् रक्षध्वम्। यथा ते शत्रवो युष्मान् हन्तुं समर्था न भवेयुस्तथा सम्यक् प्रीत्या परस्परं वर्तध्वमिति हिन्दीभाष्यार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राष्ट्रे बहूनां तादृशानां सम्भवात्, एकवचनेन सम्बोधयितुमशक्यत्वात्। न वा जात्या तथा सम्बोधनम्, सङ्करादिना जात्यसम्भवात्, उपाधिभिर्व्यवहारसम्भवात्, हस्त-सुहस्तादीनामन्यथार्थत्वोपपत्तेः। न च सभाध्यक्ष एव सुखकामयिता सम्भवति, अन्येषामपि तथात्वोपपत्तेः। उशन्तमित्यस्य कामनायोग्यमिति नार्थः सम्भवति, कर्तृशतुर्विरोधात्। सोमपदस्य उत्तमपदार्थ इति कथमर्थः? कथं च तत्क्रेतारो रक्षकास्ते च कथं सभाध्यक्षीयाः। सभाध्यक्ष एव कथमिन्द्रपदार्थः? श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव। तत्रेन्द्रपदेन याग-कर्तुर्यजमानस्योक्तत्वात्।

शतपथे तु—'स वा अनेनैवाजां प्रयच्छति। अनेन राजानमादत्त आजा ह वै नामैषा यदजैतया ह्येनमन्तत आजति तामेतत्परोक्षमजेत्याचक्षते' (श. ३.३.३.९)। अत्र वामदक्षिणबाहू क्रमेण अजाप्रदाने सोमादाने च निर्दिशति

होइये। हे गुरुदेव! तत्त्वज्ञान, नाम-शब्द, धर्म, चित्तप्रसाद, दानधर्म, दयाधर्म आदि तत्त्वगण आप लोगों के उपदेशादि धर्म और स्वरूप ही साम्बशिव को प्राप्त करने के उपाय हैं। अतः उनकी रक्षा करें। आपको अहंकार आदि दोष अभिभूत न करें।

स्वामी दयानन्द के संस्कृत एवं हिन्दी अर्थ ठीक नहीं हैं। सभाध्यक्ष ही सुखकामयिता नहीं हो सकता, अन्य भी सुख चाहने वाले होते हैं। सोम शब्द का अर्थ उत्तम पदार्थ कैसे है? उसके क्रेतागण रक्षक कैसे हो गये? सभाध्यक्ष ही इन्द्र पद का अर्थ कैसे है? इसके अतिरिक्त श्रुति एवं सूत्र के वाक्यों का विरोध इस अर्थ में स्पष्टतः है॥२७॥

—स वा अनेनैवाजां प्रयच्छतीति। 'सव्येनाजां प्रयच्छन् मित्रो न इति दक्षिणेन सोममादायागत उत्तिष्ठति वा' (७.८.२०) इति कात्यायनेनोक्तत्वात्। अजाप्रदानेन सोमादानं तन्निर्वचनद्वारेण प्रशंसति—अजा ह वा इति। यस्मादेतयाऽजया एनं सोममेकाहनि हिरण्यादिक्रयं द्रव्याणामन्तत आजद् आभिमुखेनागच्छति, आजनसाधनत्वादाजा वस्तुतस्तां परोक्षेण अजेत्याचक्षते। 'अथ राजानमादत्ते। मित्रो न एहि सुमित्रध इति शिवो नः शान्त एहीत्येवैतदाह' (श. ३.३.३.१०)। सोमस्यादाने मन्त्रं विधत्ते—अथ राजानमादत्ते मित्रो न एहीति। हे सोम, त्वं सुमित्रधः शोभनमित्रधारकः, त्वं मित्रो मित्रभूतः प्रियभूतः सन् आगच्छेत्यर्थः। अस्मिन् मन्त्रे मित्रशब्दार्थमाह श्रुतिः—शिवो नः शान्त इति। शिवशब्दस्य व्याख्यानं शान्त इति। तं सोमं यजमानस्य दक्षिण ऊरौ प्रत्युह्य वासो निदधाति, ऊरुप्रदेशे तत्रान्तर्धायकं वासः प्रत्युह्य प्रसार्य तत्र सोमं निदध्यात्। एष वा अत्रेन्द्रो भवति यजमान इति। मन्त्रेऽस्मिन् इन्द्रपदेन यजमानो विवक्षितः, यजनेन परमैश्वर्येण युक्तत्वात्। उशन्नुशन्तमित्यस्याभिप्रायमाह—प्रियः प्रियमित्येवैतदाह। एवमेव स्योनः स्योनमित्यस्य शिवः शिवमित्येवैतदाहेति। एतेन सिद्धान्तानुसार्यर्थ एव श्रुतिसूत्रसम्मत इति।

'अथ सोमक्रयणाननुदिशति। स्वान. . . दभन्निति धिष्ण्यानां वा एते भाजनेनैतानि वै धिष्ण्यानां नामानि तान्येवैभ्य एतमन्वदिक्षत्' (श. ३.३.३.११)। सोमक्रयसाधनपदार्थानामनु पश्चाद् देशनं निर्देशनमनुदेशनम्। स्वान-भ्राजादिशब्देन त एवानुदेश्यन्ते। एते वो युष्माकं मध्यात् सोमक्रमणाः, तान् रक्षध्वम्, हे स्वानादयः, तत्सम्बन्धिदेवास्तान् सोमक्रयणान् हिरण्यादिपदार्थान् रक्षध्वम्। मा वो दभन् वो युष्मानपि शत्रवो मा दभन् मा दभ्नुयुः। एते धिष्ण्यानां वा एते सम्बन्धिनः, भाजनेन भाजयतीति भाजनं स्थानम्, तत्तत्स्थानेनोपाधिना एते स्वानादयो धिष्ण्यानां सम्बन्धिनः खलु। कथं तेषां धिष्ण्यसम्बन्ध इति तत्राह—एतानि वै धिष्ण्यानां नामानीति। अथवा अनुदेशनार्हा एते सोमक्रयणा गवादिपदार्था धिष्ण्यानामेव सम्बन्धिनः, न स्वानादयः सोमरक्षकाः। अतस्तेषामेवैते न धिष्ण्यानामिति तत्राह—एतानि वा इति। शेषं मन्त्रव्याख्यानप्रसङ्गे पूर्वं द्रष्टव्यम् ॥२७॥

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२॥ अनु ॥२८॥

'गृहीतसोमं परि माग्न इति वाचयति, उत्तरे च' (का. श्रौ. ७.९.१-२)। परि माग्न इति मन्त्रेणोत्थानमनः प्रति गमनं च गृहीतसोमो यजमान एव कुर्यात्। अग्निदेवत्या पुरस्ताद्बृहती। यस्या आद्यो द्वादशाक्षरः, त्रयोऽष्टाक्षराः पादाः, सा पुरस्ताद्बृहती 'आद्यश्चेत् पुरस्ताद्बृहती' इत्युक्तेः। हे अग्ने, दुश्चरिताद् दुष्टं चरितं चरणं दुश्चरितं पापं तस्मात्, मा मां परिबाधस्व परित्रायस्व, सर्वतो निवारय पाणदित्यर्थः। सुष्ठु चरितं पुण्याचरणं तत्र सदाचाररूपे पुण्ये मा मां

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! मुझे आप सब तरह के पापों से हटाइये, मुझ यजमान को सदाचार रूपी पुण्य कार्य में सदा सब तरह से स्थापित कीजिये। उत्तम चिरजीवन रूप आयु से तथा यज्ञ, दान आदि के द्वारा शोभित होता हुआ मैं सोम आदि देवताओं को लेकर उठता हूँ॥ सोम ग्रहण करने वाला यजमान इस मन्त्र को पढ़ता है॥२८॥

भाष्यसार — क्रीत सोम का ग्रहण करके 'परि मा' इस ऋचा का उच्चारण करते हुए यजमान उठ कर शकट के प्रति प्रस्थान का उद्यम करे। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.१-२) में प्रतिपादित इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार शतपथ ब्राह्मण में मन्त्र का अर्थ उपदिष्ट है।

यजमानमा भज सर्वतो भज भाजय स्थापय। सुचरिते वर्तमानं मां वा आभज आसेवस्व वा अनुगृहाण। देवता-प्रसादादेवानिष्टकर्मणो निवृत्तिः सत्कर्मणि स्थितिश्च सम्भवति। सत्कर्मणि वर्तमानमेव देवताऽभीष्टप्रदानादिभिः साधकमाभजति, अनुगृह्णातीत्यर्थः। 'उदायुषेत्युत्थानꣳ शीर्ष्णि सोमं कृत्वा पाणिमन्तर्धाय' (का. श्रौ. ७.९.३)। यजमानः स्वशिरस्यधोमुखं स्वकीयं पाणिं निधाय पाण्यन्तर्हिते शिरसि सोमं (वाससा बद्धम्) निधाय उदायुषेति मन्त्रेणोत्तिष्ठेतेति सूत्रार्थः। अथ मन्त्रार्थः—उदायुषा उत्कृष्टेन चिरजीवनलक्षणेन आयुषा निमित्तभूतेन अमृतान् अमरणधर्मान् सोमाधिदेवाननुसृत्य उदस्थाम् अहमुत्थितवानस्मि। देवाननुसृत्योत्थानं दर्शयति तित्तिरिश्रुतिः— 'उदायुषा स्वायुषेत्याह देवता एवान्वारभ्योत्तिष्ठति' (तै. सं. ६.१.११.३)। आयुःसाधनेनायुष्करणेन सोमेन वा सह उदस्थामहमुत्थितवानस्मि वा। अमृतान् सोमांशून् वा अनुसृत्याहमुत्थितवानस्मि।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने परमेश्वर, मा मां दुश्चरितात् पातकात् परिबाधस्व परित्रायस्व। सुचरिते आभज आभाजय प्रतिष्ठापय। सुचरिते सदाचारे वर्तमानं मामाभज अनुगृहाण। उदायुषा उत्कृष्टेन दीर्घकालिकेन जीवनेन स्वायुषा ज्ञानध्यानादिनिष्ठेन शोभनेन जीवनेन अमृतान्, पूजायां बहुवचनम्, भगवन्तमनुलक्ष्याहमुत्तिष्ठेय परमात्मप्राप्तये सफलोत्थानः स्यामित्याशिषं पूरयितुमनुगृहाणेत्यर्थः।

श्रीदयानन्दस्तु—'अग्ने विज्ञानस्वरूप, परि सर्वतो मा बाधस्व निवर्तय। आसमन्ताद् मां सुचरिते यस्मिन् शोभनानि चरितानि धर्म्ये व्यवहारे तस्मिन् भज स्थापय। उद् अपि आयुषा जीवनेन स्वायुषा शोभनमायुर्जीवनं प्राणधारणं यस्मिंस्तेन सह उदस्थामुत्तिष्ठेयम्, अमृतान् प्राप्तमोक्षान् सदेहान् विगतदेहान् वा विदुषः, मुक्त्यानन्दानुत्तमान् भोगान् वा अनु आनुकूल्येन' इति, तदपि न युक्तम्, अग्निपदस्य विज्ञानार्थत्वे मानाभावात्। उच्छब्दोऽप्यर्थकोऽभिप्रेतः। तथा च आयुषापि स्वायुषेति केन किं श्लिष्यते? वस्तुतस्तु न हलन्तोच्छब्दोऽप्यर्थकः, अदन्तस्यैव तथात्वात्। किञ्च, शोभनमायुर्जीवनं प्राणधारणं यस्मिन् तेन सहेत्यत्र यत्तत्पदार्थः कः? हिन्दीभाष्ये तु जीवनमित्युक्तम्। जीवनमपि प्राणधारणमेव। प्राणधारणे किमन्यत् प्राणधारणम्?अमृतान् प्राप्तमोक्षान् सदेहानित्यपि न सङ्गतम्, त्वद्रीत्या मोक्षो देहपातानन्तरभावी भवति, न देहकाले, देहसद्भावे दुःखप्राप्तेरनिवार्यत्वात्। नहि ब्रह्मात्मसाक्षात्कारलक्षणं ज्ञानमेव मोक्षः, तथात्वे मोक्षादावृत्त्यनुपपत्तेः। न चेष्टापत्तिः, अपसिद्धान्तापातात्।

अत्र शतपथश्रुतिः—'अथात्रापोर्णुते। गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते प्रावृता वै गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव तमत्राजीजनत तस्मादपोर्णुत एष वा अत्र गर्भो भवति तस्मात् परिवृतो भवति परिवृता इव हि गर्भा उल्बेनेव जरायुणेव' (श. ३.३.३.१२)। दीक्षासमये धृतस्य शिरःप्रावरणस्यापवारणं विधत्ते—अथेति। धृतस्य शिरःप्रावरणस्यापवारणं प्रशंसति—प्रावृता वा इति। उल्बं गर्भस्यान्तरमावरणम्, जरायुर्बाह्यमावरणम्। 'अन्तरं वा

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है— हे परमेश्वर अग्नि, पाप से मेरी रक्षा करें तथा सदाचार में मेरी स्थापना करें, सदाचार में अवस्थित मुझे अंगीकृत करें। उत्कृष्ट दीर्घजीवन से तथा सुन्दर जीवनायुष्य द्वारा अमृतमय परमेश्वर के प्रति मैं सन्नद्ध होऊँ।

श्री दयानन्द का अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि अग्नि पद विज्ञानार्थक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'उत्' शब्द 'अपि' के अर्थ में माना है, परन्तु वस्तुतः हलन्त 'उत्' अपि के अर्थ में नहीं होता, अदन्त 'उत' ही अप्यर्थक है। 'अमृतान्' का अर्थ 'मोक्ष प्राप्त कर चुके सदेह विद्वान्' यह करना भी असंगत है, क्योंकि उस मत में देहपात के अनन्तर ही मोक्ष सम्भव है, सदेह सम्भव नहीं है। देह रहने पर दुःखप्राप्ति अनिवार्य है ॥२८॥

उल्बं जरायुणो भवति' (श. ३.२.१.११)। उभयत्र इवशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। अन्यत् स्पष्टम्। तं गर्भभूतं यजमानम्, अत्र सोमविक्रयसमनन्तरकाले अजीजनत् प्रादुरभावयदध्वर्युः। उत्पन्नस्यावरणयोगादपवरणं युक्तम्। पूर्वं सति प्रावरणे पश्चादपवरणं युज्यते। तदेव कुत इत्यत आह—एष वा अत्र गर्भो भवतीति। 'अथ वाचयति। परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भजेत्यासीनं वा एनमेष आगच्छति स आगत उत्तिष्ठति तन्मिथ्याकरोति व्रतं प्रमीणाति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हास्यैतन्न मिथ्याकृतं भवति न व्रतं प्रमीणाति तस्मादाह परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भजेति' (श. ३.३.३.१३)। अध्वर्युः परि माग्न इति मन्त्रं यजमानं वाचयति। मां दुश्चरितात् सकाशात् परिबाधस्व परित्रायस्व। सुचरिते सदाचारे आभज आभाजय, सुचरिते वर्तमानं मामनुगृहाणेति वा। मन्त्रतात्पर्यं स्वयमेव श्रुतिराह—आसीनं वेति। आसीनं वा एनं यजमानमेष सोमो राजा आगच्छति। श्रेष्ठस्यागमनात् प्रागेवोत्थानेन भाव्यम्। तद्वैपरीत्यान्मिथ्याकरणं तदनुत्थानलक्षणं मिथ्याकरणं व्रतं प्रमीणाति प्रहिनस्ति, तदनेन मन्त्रवाचनेन समाधीयत इति। 'अथ राजानमादायोत्तिष्ठति। उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ २॥ अन्वित्यमृतं वा एषोऽनूत्तिष्ठति यः सोमं क्रीतं तस्मादाहोदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ २॥ अन्विति' (श. ३.३.३.१४)। उत्थानमन्त्रस्यार्थमाह—उदायुषेति। आयुषा स्वायुषा च सह तत्साधनत्वेन आयुष्करणेन सोमेन सह उदस्थाम् उत्तिष्ठामि। आयुषा स्वायुषा निमित्तेन चिरजीवनेन निमित्तभूतेन यागदानहोमादियुक्तेन शोभनेन जीवनेन प्राणधारणेन निमित्तभूतेन उदस्थाम्। अमृतान् सोमांशून्, अवयवापेक्षया बहुवचनम्, अनुसृत्य उदस्थाम्। अमृत-शब्दस्य तात्पर्यमाह—अमृतं वेति। अमृतं वा एषोऽनूत्तिष्ठति यः सोमं क्रीतमनूत्तिष्ठतीति शेषः ॥२८॥

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्ति गामनेहसम्।

येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥२९॥

'शीर्ष्णि सोमं कृत्वा पाणिमन्तर्धाय, प्रति पन्थामित्यनोऽभ्येति दक्षिणतस्तिष्ठंश्छन्नꣳ समङ्गि धौतं प्रउगाच्चोद्धते फलके' (का. श्रौ. ७.९.३-४)। यजमानः प्रति पन्थामिति मन्त्रेण सोमक्रयदेशस्य दक्षिणतोऽवस्थितमाच्छादितं युगयोक्त्रानुडुदादिभिः सर्वाङ्गैर्युक्तं प्रक्षालितशकटमभिलक्ष्य तत्सम्मुखो गच्छेत् प्रउगादिति। शकटे प्रागपरायतः काष्ठविशेष ईषा यत्र युगं सम्बद्ध्यते। तस्या ईषायाः पार्श्वद्वयेऽपि काष्ठद्वयं सङ्घटितं भवति। तयोरीषायाश्च योऽन्तरालदेशः स प्रउगसंज्ञकः। तस्मात् प्रउगात् शकटस्य मध्यभागादुपरि काष्ठमयं फलकं सन्तर्दनीयं तादृशमनः शकटमभिगच्छेर्दिति सूत्रार्थः। अनुष्टुप् पथिदेवत्या। मन्त्रार्थस्तु—पन्थां पन्थानं मार्गं प्रत्यपद्महि वयं प्रतिपद्येमहि, प्रतिपन्नाः प्राप्ता अभूमेत्यर्थः। 'पद् गतौ' इत्यस्य व्यत्ययेन शपि लुप्ते लङि रूपम्। विभक्तेः पूर्वसवर्णे पन्थामिति रूपम्। कीदृशं पन्थानम्? स्वस्तिगां शोभनगमनम्। स्वस्ति क्षेमेण गम्यते यत्र स

मन्त्रार्थ—क्षेमपूर्वक गमन करने योग्य, चोर आदि की बाधाओं से रहित, पथिकों के सुखदायक उस मार्ग को हम प्राप्त हों, जिस मार्ग से पुरुष मार्ग की चोर आदि की सब बाधाओं को दूर करता है, धन और मोक्ष को पाता है॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए यजमान अपने सिर पर सोम को रखकर और सिर पर अपना हाथ रखकर शकट की ओर जाता है ॥२९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.३-४) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुसार 'प्रति पन्थाम्' ऋचा से गृहीत सोम को सिर पर रख कर शकट की ओर गमन करे। शतपथ ब्राह्मण में इसी के अनुसार अर्थ निर्दिष्ट है।

तं क्षेमेण गन्तुं योग्यम्। गमेः 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा. सू. ६.४.४१) इति मकारस्याकारे रूपम्। तथा अनेहसम् एहः पापम्, पापश्चोरादिबाधो न विद्यते यत्र तादृशम्। यद्वा एह इत्यपराधनाम। यत्र गतानामपराधो न भवति तादृशम्। येन पथा गच्छन् पुरुषो विश्वा विश्वान् सर्वान् द्विषो द्वेष्टृन् द्विषतः शत्रून् परिवृणक्ति परिवर्जयति, 'वृजी वर्जने', वसु धनं च लभते, तं पन्थानं प्रतिपन्नाः स्मेत्यर्थः। इति पथिस्तुतिः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमात्मन्, पन्थां तत्त्वज्ञानलक्षणं पन्थानं प्रतिपद्येमहि प्राप्नुयाम, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा. सं. ३१.१८) इति मन्त्रवर्णात्। कीदृशं पन्थानम्? स्वस्तिगां स्वस्ति परमकल्याणमयं ब्रह्म गम्यते प्राप्यते येन तम्, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (वा. सं. ३१.१८) इति श्रुतेः। अनेहसम् एहो हननादिलक्षणं पापं न भवति येन तम्। एहोऽत्र पुण्यस्याप्युपलक्षणम्, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु. उ. २.२.८) इति श्रुतेः। येन ज्ञानमार्गेण पुरुषो विश्वा विश्वान् अज्ञानाहङ्कारादिरूपान् द्विषतः परिवृणक्ति परिबाधते ब्रह्मात्मरूपं वसु लोकोत्तरं धनं च विन्दते लभते।

स्वामिदयानन्दस्तु—'प्रति पक्षे वीप्सायां च पन्थां मार्गं मार्गमपद्महि प्राप्नुयाम स्वस्ति सुखं गच्छति येन तम्। अविध्यमानानि एहांसि हननानि यस्मिन्, 'नञि हन एह च' (उ. सू. ४. २२४) इति सूत्रात्। येन मार्गेण विश्वाः सर्वाः परितः सर्वतो द्विषो द्विषन्त्यप्रीणयन्ति याभ्यः शत्रुसेनाभ्यो दुःखक्रियाभ्यो वा ताः। 'कृतो बहुलम्' (पा. सू. ३.३.११३ भाष्यवा.) इति हेतौ क्विप्। वृणक्ति वर्जयति, अन्तर्भावितण्यर्थः, विन्दते लभते वसु धनम्। हे जगदीश्वराग्ने त्वदनुगृहीताः पुरुषार्थिनो भूत्वा वयं येन विद्वान् विश्वा द्विषः परिवृणक्ति वस्तु विन्दते, तमनेहसं स्वस्तिगां पन्थां प्रत्यपद्महि प्रत्यक्षतया व्याप्त्या प्राप्नुयाम' इति, तदपि तुच्छम्, निष्प्रमाणमध्याहारादिदोषबाहुल्यात्। त्वदनुगृतीताः, विद्वान्, तमित्यादीनि पदानि न सन्त्येव मूले, न वा तदर्थकानि पदान्तराणि। किञ्च, विद्वान् कथं शत्रुसेनाः परिवर्जयति? विद्यामात्रेण तद्वर्जनासम्भवात्। मनुष्यैर्द्वेषादित्यागाय विद्याधनप्राप्तये धर्ममार्गप्रकाशनायेश्वरप्रार्थना धर्मविद्वत्सेवा च नित्यं कार्येति भावार्थस्तु ततोऽप्यसम्बद्ध एव। शतपथविरोधश्च स्पष्टः।

तथाहि—'अथ राजानमादायारोहणमभिप्रैति। प्रतिपन्थां . . . वस्विति' (श. ३.३.३.१५)। आरोहन्त्यत्रेत्यारोहणं शकटमभिलक्ष्य प्रैति गच्छति। तथा शकटाभिमुखगमनेऽयं मन्त्रो विनियुक्तः। तेन तदनुसार्येवार्थः। मन्त्रार्थस्तु सिद्धान्तानुसार्येव। अमुं मन्त्रमाख्यायिकया प्रशंसति श्रुतिः—'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्त एतद्यजुः स्वस्त्ययनं ददृशुस्त एतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपहत्यै तस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समाश्नुवत तथो एवैष एतेन यजुषा नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपहत्यैतस्य यजुषोऽभयेऽनाष्ट्रे निवाते स्वस्ति समश्नुते तस्मादाह प्रतिपन्थामपद्महि. . . वस्विति' (श. ३.३.३.१६)। पुरा किल देवा देवत्वप्राप्तये यज्ञं तन्वाना

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे परमात्मन्! कल्याणमय ब्रह्म के प्रापक, निष्पाप, बन्धनकारक कर्मों से रहित, तत्त्वज्ञानात्मक पथ को मैं प्राप्त करूँ, जिस ज्ञानमार्ग के द्वारा पुरुष समस्त अज्ञान, अहंकार आदि शत्रुओं को विनष्ट करता है तथा ब्रह्मात्मरूपी लोकोत्तर धन को प्राप्त करता है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ प्रमाणरहित होने के कारण तथा अध्याहार आदि दोषों से ग्रस्त होने के कारण अयुक्त है। विद्वान् आदि पद मूल मन्त्रपाठ में नहीं हैं और उनके समानार्थक दूसरे पद भी मूल में नहीं हैं। विद्वान् शत्रुसेनाओं का निराकरण कैसे कर सकता है, क्योंकि मात्र विद्या से सैन्य-निराकरण सम्भव नहीं है। इस अर्थ में शतपथ श्रुति का तो स्पष्टतः विरोध होता ही है॥२९॥

असुराद्यासङ्गेन भीतास्तत्परिहारोपायत्वेन क्षेमप्रापकमेतद्यजुरिमं मन्त्रं दृष्ट्वा प्रयुज्य नाष्ट्रा रक्षांसि नाशकारिणो राक्षसान् घातयित्वा एतन्मन्त्रसम्बन्धिनि भयरहिते बाधरहिते स्थाने विनाशरहितं क्षेमं प्राप्ताः। तस्मादिदानीमपि तद्यजुःप्रयोगेण पुरुषः क्षेमं विन्दते। यस्मादस्य मन्त्रस्य सामर्थ्यमेवंविधम्, तस्माच्छकटसमीपं गच्छन् प्रतिपन्थामिति मन्त्रं ब्रूयादिति ब्राह्मणाभिप्रायः। चार्वाकप्रायो मन्त्रसामर्थ्ये विश्वासरहितः कथं कश्चित् शत्रुसेनाः परिवर्जयितुं शक्नोति? आस्तिकस्तु मन्त्रप्रभावाद् द्विषः परिवृणक्त्येव। 'तं वा इति हरन्ति। अनसा परिवहन्ति महयन्त्येवैनमेतत्तस्माच्छीर्ष्णा बीजꣳ हरन्त्यनसोदावहन्ति' (श. ३.३.३.१७)। अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण शिरसा धृत्वा हरन्ति प्रथमं क्रयात् पर्वतात् पश्चात्त्वनसा शकटेन परिवहन्ति। अनेन सोमं महयन्ति सत्कुर्वन्ति। यस्मात् पूर्वमेवं कृतम्, तस्मादिदानीमप्यावापसमये कृष्टक्षेत्रं प्रति बीजं शीर्ष्णा हरन्ति, पश्चात् फलितानामानयनसमयेऽनसा उदावहन्ति। उदकुम्भसमीपे क्रयं प्रशंसति—'अथ यदपामन्ते क्रीणाति। रसो वा आपः सरसमेतत्क्रीणाति' (श. ३.३.३.१८) इति। हिरण्यादिदशरूपं द्रव्यं क्रमेणानूद्य प्रशंसति—'अथ यद्धिरण्यं भवति सशुक्रमेवैतत् क्रीणात्यथ यद्वासो भवति सत्वचसमेवैतत् क्रीणात्यथ यदजा भवति सतपसमेवैतत् क्रीणात्यथ यद्धेनुर्भवति सशिरमेवैतत् क्रीणात्यथ यन्मिथुनौ भवतः समिथुनमेवैतत्क्रीणाति तं वै दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिर्दशाक्षरा वै विराड् वैराजः सोमस्तस्माद्दशभिरेव क्रीणीयान्नादशभिः' (श. ३.३.३.१८)। स्पष्टमत्र सिद्धान्तव्याख्यानं समर्थ्यते, न दयानन्दीयमिति ॥२९ ॥

अदि॑त्या॒स्त्वग॒स्यदि॑त्यै॒ सद॒ आसी॑द। अस्त॑भ्ना॒द् द्यां वृ॑ष॒भो अ॒न्तरि॑क्षममि॑मीत वरि॒माणं॑ पृथि॒व्याः। आसी॑द॒द्विश्वा॒ भुव॑नानि स॒म्राड् विश्वेत्तानि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑ ॥३० ॥

'कृष्णाजिनमस्मिन्नास्तृणात्यदित्यास्त्वगिति' (का. श्रौ. ७.९.५), 'तस्मिन् सोमं निदधात्यदित्यै सद इति' (का. श्रौ. ७.९.६)। तस्मिन् कृष्णाजिने। हे कृष्णाजिन! त्वमदित्यास्त्वगसि, अखण्डितायाः पृथिव्यास्त्वग्रूपं भवसि। हे सोम, त्वमदित्यै अदित्याः सदोऽदित्या भूमेः सम्बन्धि सदनं स्थानम् आसीद सर्वतः प्राप्नुहि, तत्रोपविशेत्यर्थः। 'अस्तभ्नाद् द्यामिति सोममालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.७)। वरुणदेवते त्रिष्टुभौ क्रीतसोमस्य वरुणदेवताकत्वाद् वरुणो ब्रह्मरूपेण स्तूयते। सोम एव वा सर्वदेवश्रेष्ठत्वादिना स्तूयते—वृषभः श्रेष्ठो वरुणः, अपां वर्षिता कामानां वा वर्षिता, द्यामस्तभ्नाद् द्युलोकं धारितवान्, द्युलोको यथा न पतति तथा स्वकीययाऽऽज्ञया स्तम्भितवान्। सर्वप्राणिरक्षणाय तथान्तरिक्षमप्यस्तभ्नात्। तथा पृथिव्या वरिमाणं गुरुत्वं भूमेरुरुत्वं वा, उरोर्भावो वरिमा, तममिमीत मिमीते, एतावती भूमिरिति तत्परिमाणमहत्त्वं जानाति। तथा सम्राट् लोकत्रयेऽपि सम्यग्राजमानो वरुणो

मन्त्रार्थ—हे कृष्णाजिन! तुम पृथ्वी के त्वचा रूप हो, इस पवित्र भूमि पर आराम से बैठो। पृथ्वी के विस्तार को जानने वाला सम्यक् प्रकाशमान ब्रह्म वरुण, आकाश और अन्तरिक्ष को स्थिर करता हुआ संसार को नियमित करता है। यह सब कुछ जगत् का सृष्टि आदि कार्य वरुण देव ही करता है॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए यजमान शकट पर मृगचर्म बिछाता है ॥३० ॥

भाष्यसार—याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अदित्यास्त्वक्' इस मन्त्र से कृष्ण मृगचर्म बिछा कर उस पर 'अदित्यै' मन्त्र से सोम का स्थापन किया जाता है। तदनन्तर सोम का स्पर्श करते हुए 'अस्तभ्नात्' मन्त्र का पाठ करता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.५-७) में प्रतिपादित इस विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है।

विश्वानि सर्वाणि भुवनानि लोकान् भूतजातानि वा आसीदद् व्याप्नोति। यद्वा इदित्यव्यय इत्थमर्थे। इद् इत्थं तानि द्युलोकस्तम्भनादीनि वरुणस्य व्रतानि व्रतवन्नियतानि, सर्वदैव वरुणस्तानि करोतीत्यर्थः। अथवा यश्च सम्राड् आसीदद्विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि आत्मत्वेनाधिपत्येन च आसीदति प्राप्नोति, अधितिष्ठति वा। विश्वेत्तानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि, इद् एव सर्वाण्येव तानि द्युस्तम्भनादीनि वरुणस्य सर्वपापनिवारकस्य सोमस्य वा व्रतानि कर्माणि, अर्थाद् य इमांल्लोकान् स्तभ्नुवन्ति, ये च सर्वजनान् व्याप्नुवन्ति, तेऽपि वरुणस्याज्ञामेवानुसरन्तीति परब्रह्मरूपेण वरुणस्तुतिः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वमदित्याः पृथिव्यास्तदुपलक्षितस्य सर्वस्यैव, त्वगसि त्वग्वत् परिवृत्य स्थितोऽसि। अदित्याः सम्बन्धि सदः सदनं स्थानमा समन्तात् सीद प्राप्नोषि। किञ्च, त्वं वृषभः कामानां वर्षयिता सर्वश्रेष्ठो वा। सर्वप्राणिनां हिताय द्यां दिवमस्तभ्नाद् धारितवानसि, अन्तरिक्षं चाऽस्तभ्नात्, पृथिव्याश्च वरिमाणं परिमाणमहत्त्वम् अमिमीत मिमीते। तथा सम्राट् सर्वत्र स्वप्रकाशत्वेन राजमानो विश्वानि इत् सर्वाण्यपि, भुवनान्यासीदद् लोकान् व्याप्नोषि। इद् इत्थं तानि सर्वाण्यपि पूर्वोक्तानि व्रतानि कर्माणि वरुणस्य सर्वपापनिवारकस्य सर्ववरणीयस्य तव सम्बन्धीनि।

दयानन्दस्तु—'अदित्याः पृथिव्यादेः, त्वग् यस्त्वचति संवृणोति सः, असि अस्ति वा। अत्र पक्षे सर्वत्र व्यत्ययः। अदित्यै पृथिव्यादिसृष्टये सदः स्थापनम् आसमन्तात् सीद सादयति सादयसि वा, व्यत्ययः। अस्तभ्नात् स्तभ्नासि स्तभ्नाति धरति वा। द्यां सूर्यादिकं प्रकाशं वा। वृषभः श्रेष्ठः, अन्तरिक्षमवकाशम्, अमिमीत निर्मिमीते वा निर्मिमीषे वा। वरिमाणं वरस्य भावम्। पृथिव्या अन्तरिक्षस्य आकाशस्य मध्ये, 'पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु' (निघ. १.३.९)। आ सर्वतः, असीदत् सादयसि, सादयत्यवसादयति वा। विश्वा सर्वाणि भुवनानि लोकान् सम्राड् यः सम्यग्राजते स विश्वा अखिलानि इद् एव तान्येतानि वरुणस्य परमेश्वरस्य सूर्यस्य वायोर्वा व्रतानि शीलानि' इति। अन्वयस्तु—'हे जगदीश्वर, यतो वृषभस्त्वमदित्यास्त्वगसि अस्ति, अदित्यै सद आसीद आसादयसि, द्यामस्तभ्नात् स्तभ्नासि, वरिमाणमन्तरिक्षममिमीत निर्मिमीषे, सम्राट् सन् पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनान्यासीद आसादयसि, अस्मात्तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य सूर्यस्य वायोश्च तव देवव्रतानि शीलानि सन्तीति वयमपद्महि विजानीयामेत्येकः, यो वृषभः सम्राट् सूर्यो वायुश्चादित्यास्त्वगसि अस्ति, संवृणोत्यदित्यै सद आसीद आसादयति, द्यामस्तभ्नात् स्तभ्नाति वरिमाणमन्तरिक्षमवकाशममिमीत निर्मिमीते, पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनानि आसीद आसादयति, तस्य तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य सूर्यस्य वायोश्चैतान्येव व्रतानि शीलानि सन्तीति वयमपद्महीति द्वितीयः' इति, तदेतदसङ्गतमेव, परमेश्वरस्य त्वक्त्वानुपपत्तेः। न च सर्वव्यापकस्य सर्वावरकत्वेन पृथिव्या अपि तथात्वेनादित्यास्त्वक्त्वोपपत्तिरिति वाच्यम्, सर्वव्यापकत्वेन सर्वत्वक्त्वोपपत्त्या पृथिव्या इति

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है— हे साम्बशिव! आप पृथिवी एवं समस्त पदार्थों को त्वचा की भाँति व्याप्त करके स्थित हैं, अदिति के आश्रय हैं, कामनाओं के पूरयिता अथवा सर्वोत्कृष्ट हैं। प्राणियों के हितार्थ द्युलोक तथा अन्तरिक्ष को आपने धारण किया है, पृथिवी के महत्त्व का निर्माण किया है। सर्वत्र स्वयंप्रकाश के रूप में प्रदीप्त रहते हुए समस्त लोकों को आप व्याप्त करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पापों का निवारण करने वाले पूर्वोक्त समस्त विशिष्ट कार्य आपके ही हैं।

स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत है, क्योंकि परमेश्वर का त्वचा होना युक्तियुक्त नहीं है। 'अदित्यै' का 'पृथिवी आदि पदार्थों की सृष्टि के लिये' यह अर्थ भी उचित नहीं है। लोक-व्यवस्था की स्थापना परमेश्वर का स्वभाव होने के कारण प्रलय की

विशेष्योक्तेरयोगात्। 'अदित्यै' इत्यस्य पृथिव्यादिसृष्टय इत्यर्थोऽपि नोपपद्यते, अदितिशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। तथा च लक्षणापि नोपपद्यते, अन्वयाद्यनुपपत्तेरभावात्। हिन्दीव्याख्यारीत्या—'सद आसीद' इत्यस्य व्यवस्थापनमपि नार्थः, मानाभावात्। 'सदः स्थापनं सीद सादयसि' इत्यपि न किञ्चित्, स्थापनस्यासादनासङ्गतेः। स्थापनमित्यस्य स्थापनयोग्यमित्यपि नार्थः, सदः स्थापन इत्युभयोरपि तद्योग्यता नार्थः, पदयोस्तत्राशक्तेः। अन्तरिक्षस्य वरिमत्वं कथम्, तदपेक्षयापि दिवो वरिमत्वोपपत्तेः। पृथिव्या इत्यस्य अन्तरिक्षार्थत्वेऽपि 'मध्ये' इति पदं कुतः समानीतम्? मूले तदभावात्। सूर्यस्य वायोश्चापि त्वक्त्वानुपपत्तौ पूर्वोक्त एव न्यायः। किञ्च, लोकव्यवस्थापनस्य तच्छीलत्वे प्रलयानुपपत्तौ सदैव सृष्ट्यापत्तिः, तथात्वे प्रलयप्रतिपादकशास्त्रविरोधश्च। अतः सिद्धान्तानुसार्येवार्थः समीचीनः।

शतपथेऽपि सिद्धान्तसम्मत एवार्थः समर्थितः। तथाहि—'नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति। अदित्यास्त्वगसीति सोऽसावेव बन्धुरथैनमासादयत्यदित्यै सद आसीदेतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं प्रतिष्ठा तदस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति तस्मादाहादित्यै सद आसीदेति' (श. ३.३.४.१)। शकटमध्ये सोमस्थापनाय कृष्णाजिनास्तरणं समन्त्रकं विधत्ते—कृष्णाजिनमिति। 'उद्धते प्रउग्ये फलके भवतः' (श. ३.३.४.९)। तदुद्धतप्रउग्ये फलकद्वयोपेतस्यानसो नीडे, परितः प्रावृतः शकटमध्यदेशो नीडम्, अस्मिन् कृष्णाजिनं प्रसारयेत्। तत्रैवायं मन्त्रो विनियुक्तः। तस्मादयमेव मन्त्रार्थः—हे कृष्णाजिन, त्वमदित्या भूमेस्त्वग्रूपमसि, यद्यत् पृथिव्या उपरि स्तृतं तत्सर्वं तस्यास्त्वक्स्थानीयमित्यर्थः। अर्थवादरूपत्वात् कृष्णाजिनमास्तृणातीति विधिस्तुतावेवास्य तात्पर्यम्। दर्शपौर्णमासगतं कृष्णाजिनस्तरणब्राह्मणम् (श. १.१.४.५) अतिदिशति—सोऽसावेव बन्धुरिति। स एवास्य समानार्थकोऽर्थवादो ज्ञेय इत्यर्थः। अथैनं सोममासादयति—अदित्यै सद इत्यनेन मन्त्रेण। तदर्थस्तु—हे सोम, त्वमदित्यै अदित्याः सम्बन्धि सदः सदनं स्थानम्, आसीद सर्वतः प्राप्नुहि, तत्रोपविशेत्यर्थः। पृथिव्याः पार्थिवादिसर्वास्पदत्वेन प्रतिष्ठात्वम्। तस्मात् प्रतिष्ठात्मकत्वादिति भावनया कृष्णाजिने आसादितोऽपि सोमोऽदित्यां प्रतिष्ठापितो भवति। तेनामुं मन्त्रं पठेत्। [1]'अथैवमभिपद्य वाचयति। अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षमिति देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्त एनमेतज्ज्यायाꣳसमेव वधाच्चक्रुर्यदाहास्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽन्तरिक्षमिति' (श. ३.३.४.२)। अथैनमिति। एनं सोममभिपद्य आलभ्य अस्तभ्नादिति मन्त्रं वाचयत्यध्वर्युः। 'सोममालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.७) इति सूत्रमपि तथैवाह। मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्तरीत्यैव ज्ञेयः। वृषभोऽपां वर्षिता सोमः, अथवा सर्वदेवश्रेष्ठः सोमः , उपरि द्यां दिवमस्तभ्नात् सर्वप्राणिरक्षणाय स्तम्भितवान्। किञ्च, पृथिव्या वरिमाणं परिमाणमहत्त्वमप्यमिमीत इयती पृथिवीति मानं कृतवान्। स तादृशः सम्राट् सम्यग् राजमानः सोमो विश्वा विश्वानि भूतजातानि आसीददधिपतित्वेन अधिष्ठितवान्। तानीमानि विश्वानि सर्वाणि इद् अपि व्रतानि द्युस्तम्भनादीनि वरुणस्य पापनिवारकस्य सोमदेवस्य सम्बन्धीनि, सर्वे देवादयस्तमेवानुसरन्तीत्यर्थः। द्वयोरप्यनुष्टुभोर्वरुणदेवताकत्वेन क्रीतसोमस्य वरुणदेवताकत्वेन च वरुणो वा परब्रह्मबुद्ध्या स्तूयते। अमुं मन्त्रं चतुर्धा विभज्य व्याचष्टे—देवा ह वै यज्ञमित्यादिना। पुरा देवा एनमेव सोमम्, एतद् एतस्मिन् प्रस्तुते कर्मणि, वधाद् असुररक्षःकृतोद्वेगात्,

---

सिद्धि नहीं होती तथा सर्वदा ही सृष्टि की स्थिति रहती है। ऐसी स्थिति में प्रलय प्रतिपादक शास्त्रों का विरोध भी होता है, अतः हमारे सिद्धान्तपक्ष के अनुसार अर्थ करना ही ठीक है ॥३०॥

---

(१) अथैनमिति सायणसम्मतः पाठः। तथैव च व्याख्यायते ब्राह्मणम्।

तत्परिहाराय ज्यायांसं प्रशस्यतरं श्रेष्ठं चक्रुः। यदाह मन्त्रः— अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽन्तरिक्षमिति। स पूर्वोक्त-ब्राह्मणोक्तप्रकारेण देवैः कृतत्वादाहेत्यर्थः। तस्मिन् मन्त्रभागे श्रेष्ठवाचकवृषभशब्दस्य श्रवणान्मन्त्रप्रभावाद्यशोवर्ण-नाच्च सोमस्य प्रतापवृद्धेरसुरादिपराभवाच्च।

'अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः' इत्यत्र श्रुत्या अमिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति सम्बन्धप्रदर्शनेन पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनान्यासादयतीति व्याख्यानमपास्तम्, 'अथैनमभिपद्य वाचयति' (श. ३.३.३.२) इति श्रुत्या सोमस्तुतौ मन्त्रस्य विनियुक्तत्वात्। हे जगदीश्वरेत्यादि सम्बोधनमप्यसङ्गतमेव, 'आसीदद्विश्वा भूतानि सम्रा-डिति। तदेनेनेदꣳ सर्वमास्पृणोति तस्य हि न हन्तास्ति न वधो येनेदꣳ सर्वमास्पृतं तस्मादाहासीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति' (श. ३.३.४.४)। तत् तस्मात् सोमेन पृथिव्या मितत्वात्। एनेन बलप्रकाशनमन्त्रपाठेन, अथवा एनेन पृथिवीमानकर्त्रा सोमेन, इमान् द्युलोकादीन् त्रीनपि लोकान्, आस्पृणोति सर्वतो बलिनः कारयति। सोमस्य बलवत्त्वमर्थापत्त्या द्रढयति—तस्य हि न हन्तास्तीति। हन्तुर्हननस्य च लोकत्रयान्तःपातित्वात् तस्य चैतदार्थापत्यं येनेमे लोका आस्पृता बलिनः कृतास्तस्य सोमस्य सुतरां परमबलवत्त्वान्न कोऽपि हन्ता, न वा तस्य वधः सम्भवति। यस्मादेवं तस्मादमिमीत वरिमाणं पृथिव्या इति मन्त्रभागस्तमर्थमाह। अथवा तस्मात्तं मन्त्रभागं ब्रूयात्, 'सोममालभ्य' (का. श्रौ. ७.९.७) इति सूत्रात्। तृतीयपादस्यापि बलप्रकाशनार्थत्वात् पूर्वमेव ब्राह्मणं पुनः पठितम्- 'सर्वमास्पृणोति . . . येनेदꣳ सर्वमास्पृतमित्येव तस्माद् ब्राह्मणाद् विशेषः। 'विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति। तदस्मा इदꣳ सर्वमनुवर्त्म करोति यदिदं किञ्च न कश्चन प्रत्युद्यामिनं तस्मादाह विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति' (श. ३.३.४.५)। चतुर्थपादार्थमाह—तदस्मा इति। इदं सर्वं भूतजातमनुवर्त्म तदधीनस्थितिकं कृतवान् भवति। प्रत्युद्यामः प्रतिकूलोद्योगः, तत्कर्तारं प्रत्युद्यामिनं न करोतीति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव ॥३०॥

वने॑षु॒ व्य॑न्तरि॑क्षं ततान॒ वाज॒मर्व॑त्सु॒ पय॑ उ॒स्रिया॑सु।
हृ॒त्सु क्रतुं॒ वरु॑णो वि॒क्ष्व॒ग्निं दि॒वि सूर्य॑मदधा॒त् सोम॒मद्रौ॑ ॥३१॥

'वनेषु व्यन्तरिक्षमिति सोमपर्याणहनेन परितत्य कृष्णाजिनं पुरस्तादासजति सूर्यस्य चक्षुरिति' (का. श्रौ. ७.९.८)। वनेषु व्यन्तरिक्षमिति मन्त्रेण सोमपर्याणहनेन सोमबन्धनेन वाससा बद्धं सोममत्यन्तं वेष्टयित्वा सूर्यस्य चक्षुरिति मन्त्रेण आसनार्थयोः कृष्णाजिनयोर्मध्ये एकं कृष्णाजिनं ध्वजस्थानीयं शकटस्य पूर्वभागे युगसमीपे उच्छ्रितदण्डेऽवगलयेत्। 'अथैनं वाससा परितनोति वनेषु' इति बौधायनोऽपि तथैवाह। वरुणः सर्वावरणसमर्थः सोऽग्रेषु वनेषु वनगतवृक्षाग्रेष्वन्तरिक्षं विततान। वीत्युपसर्गस्तताननेति क्रियापदेन सम्बद्ध्यते। तत्रावरणद्रव्याभावा-

---

मन्त्रार्थ—वरुणस्वरूप विष्णु ने वन के वृक्षों के ऊपर आकाश को फैलाया है। पुरुषों में वीर्य को, गायों में दूध को, हृदय में संकल्पात्मक मन को, प्रजाओं में जाठर अग्नि को, द्युलोक में सूर्य को, पर्वतों पर वल्ली (लता) रूप सोम को स्थापित करने वाला वरुण देवता ही है॥ इस मन्त्र से यजमान सोम को वस्त्र में बांध कर रखता है॥३१॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'वनेषु' इस कण्डिका के द्वारा सोम का बन्धन किया जाता है। तैत्तिरीय श्रुति तथा शतपथ ब्राह्मण आदि में इस विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपलब्ध होता है।

दत्यन्तं विस्तारितवान्। तथा अर्वत्सु अश्वेषु। 'अर्वेत्यश्वनामसु पठितम्' (निघ. १.१४.३)। बलं वितताने त्यनुवृत्तिः। यद्वा अर्वत्सु पुरुषेषु वाजं वीर्यं ततान, 'वीर्यं वै वाजाः पुमाꣳसोऽर्वन्तः' (श. ३.३.४.७) इति श्रुतेः। उस्रियासु गोषु। 'उस्रियेति गोनामसु पठितम्' (निघ. २.११.३)। पयः क्षीरं विततान। हृत्सु हृदयेषु क्रतुं सङ्कल्पशक्तियुतं मनो विततान। विक्षु प्रजास्वग्निं जाठराग्निं विततान। द्युलोके सूर्यं विततान। अद्रौ पर्वते सोमवल्लीरूपमदधात् स्थापितवान्, परमेश्वरस्यैव सोमदेवतारूपेणावतीर्णत्वात्। मन्त्रद्वयोक्तं द्युलोकस्तम्भनादिसामर्थ्यं विज्ञेयम्। पर्वतगतानां पाषाणानां सन्धिषु सोमवल्ल्या उत्पद्यमानत्वाददद्रौ सोमस्थापनमपि द्रष्टव्यम्। तदुक्तं तित्तिरिणा—'सोममद्रावित्याह ग्रावाणो वा अद्रयस्तेषु वा एष सोमं दधाति' (तै. सं. ६.१.११.४) इति।

अध्यात्मपक्षेऽपि तथैवार्थो योजयितुं शक्यते—उमया परया शक्त्या सहितो देवः सोमः परमेश्वरो वनेषु वृक्षसमूहेष्वन्तरिक्षं विस्तारितवान्। अर्वत्सु पुरुषेषु वीर्यं विततान। उस्रियासु पयः, हृत्सु क्रतुं सङ्कल्पं तद्विशिष्टं मनो विततान। विक्षु जाठराग्निं पर्वतपाषाणसन्धिषु सोमं वल्लीरूपमदधात्। परमेश्वरस्यैव सर्वकारणत्वात् तेषां तेषां वस्तूनां तेषु तेषु योग्यस्थानेषु तस्यैव विधातृत्वमुपपद्यते। शेषं पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

श्रीदयानन्दस्तु—'वनेषु रश्मिषु वृक्षसमूहेषु वा, 'वनमिति रश्मिनामसु पठितम्' (निघ. १.५.८), अन्तरिक्षमाकाशं विशेषेण ततान। वाजं वेगमर्वत्सु अश्वेषु प्राप्तवेगगुणेषु विद्युदादिषु उस्रियासु गोषु हृत्सु क्रतुं प्रज्ञां कर्म वा वरुणः परमेश्वरः सूर्यो वायुर्वा विक्षु प्रजासु अग्निं विद्युतं प्रसिद्धमग्निं वा दिवि प्रकाशे सूर्यमदधात्। सोमममृतात्मकं रसं सोमवल्ल्याद्योषधिगणं वा अद्रौ मेघे शैले वा' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, श्रुत्यादिविरोधात्। शतपथानुसारेण सोमस्यैव प्रकृतत्वात्, सोमवेष्टने मन्त्रस्य विनियोगाच्च तदनुगुण एवार्थो युक्तः। न च हृदयेषु प्रज्ञा कर्म वा वितन्यते। किञ्च, हृदये सङ्कल्पशक्तियुतस्य मनस एव विततिसम्भवः।

शतपथे तु—'अथ सोमपर्याणहनेन पर्याणह्यति। नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि प्रमृशानिति गर्भो वा एष भवति तिर इव वै गर्भास्तिर इवैतद् यत्पर्याणद्धं तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यस्तिर इवैतद्यत्पर्याणद्धं तस्माद्वै पर्याणह्यति' (श. ३.३.४.६)। शकटेन सार्धं सोमस्य वेष्टनसाधनं वासः पर्याणहनम्। तत्प्रयोजनं कथयति—नेदेनं राष्ट्रा रक्षांसीति। नेद् इति परिभये। 'नेत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये' (निरु. १.१०)। यदि पर्याणहनं न कुर्यात्तदा नाष्ट्रा नाशकराणि रक्षांस्येनं प्रमृशान् प्रमृशेयुः। तदेतद् भयकरम्। तस्मात्तत्परिहाराय पर्याणहनमावश्यकम्। प्रकारान्तरेण तदेव प्रशंसति—गर्भो वा एष भवतीति। तिर इव वै गर्भा अन्तर्हिता वर्तन्ते। यस्माद्गर्भाणां तिरोधानमपेक्षितम्, यस्माच्च मनुष्येभ्यो देवास्तिर इव भवन्ति, तस्मात् सोमस्य देवस्य पर्याणहनं युक्तमेव। मन्त्रे

अध्यात्मपक्ष में भी उसी रीति से अर्थयोजना की जा सकती है। परा शक्ति उमा के सहित परमेश्वर ने वनों में अन्तरिक्ष का विस्तार किया है, पुरुषों में बल का संचार किया है, गायों में दुग्ध, हृदयों में संकल्प शक्ति, प्राणियों में जाठराग्नि, द्युलोक में सूर्य तथा पर्वतों में सोमवल्ली के रूप में वह प्रकाशित हुआ है। यह परमेश्वर ही सर्वकारणभूत है। तत्तद् वस्तुओं के तत्तद् योग्य स्थानों में उसी परमेश्वर का विधातृत्व सिद्ध होता है।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या श्रुतिवाक्यों के विरुद्ध होने के कारण अनुपयोगी है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मन्त्रार्थ में सोम ही प्रसंगानुकूल है। सोम के बन्धन में मन्त्र का विनियोग होने के कारण उसके अनुकूल अर्थ करना ही उपयुक्त है। हृदयों में प्रज्ञा अथवा कर्म का विस्तार नहीं होता। हृदय में संकल्पशक्ति से युक्त मन का विस्तार ही सम्भव है। 'वनेषु' का अर्थ रश्मियों में तथा 'अश्वेषु' का अर्थ विद्युदादि में, इस प्रकार करना शतपथ ब्राह्मण के विरुद्ध है ॥३१॥

विधाय प्रशंसति—स पर्याणह्यति वनेषु व्यन्तरिक्षमित्यादिना। वनेषु वृक्षसमूहेष्वन्तरिक्षं वितत्वन सोमो विस्तारितवान्। तद् यद् वाजं वेगं बलं वा अर्वत्सु अरणवत्सु पुरुषेषु अश्वेषु वा व्यदधात्, उस्रियासु गोषु पयः क्षीरम्, हृत्सु हृदयेषु, प्राणिबहुत्वापेक्षया बहुवचनम्, क्रतुं सङ्कल्पम्, विक्षु प्रजास्वग्निं भुक्तपीतान्नपानादिपाकसाधनम्, दिवि सूर्यम्, अद्रौ पर्वतेषु सोमम्, वरुणः पापनिवारकः सोमो देवः, अदधात्। वनशब्दस्यार्थान्तरभ्रमं निवारयन् वनेष्वन्तरिक्षविस्तरणं लोकसिद्धमित्याह—वनेषु हीदं विततमन्तरिक्षं वृक्षाग्रेषु, यद्यपि सर्वत्रान्तरिक्षं विततम्, तथापि सामान्यजनदृष्ट्या सान्द्रवृक्षाग्रेषु पटास्तरणवत् प्रतिभासात् तथोक्तिः। अर्वत्सु पुंस्त्वसम्भवाद् वाजस्य वीर्यत्वात् पुंस्वेव वीर्यं स्थापितवान्। उस्रियाहृदादिषु पयःक्रत्वादिस्थितेर्लोकप्रसिद्धिरिति हृत्सु ह्ययमिति हिकारेण द्योत्यते। एतेन वनेषु रश्मिष्वश्वेषु विद्युदादिष्विति विवरणं शतपथविरुद्धमेव। परमेश्वरस्यैव तत्तद्देवतात्मना विराजमानत्वादत्र सोमदेवोपलक्षितः परमात्मैवान्तरिक्षादिविततिहेतुत्वेनोक्तः ॥३१ ॥

सूर्यस्य चक्षुरारोहाऽग्नेरक्ष्णः कनीनकम्।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ॥३२ ॥

'कृष्णाजिनं पुरस्तादासजति सूर्यस्य चक्षुरिति' (का. श्रौ. ७.९.८)। शकटस्य पूर्वभागे युगसमीपे उच्छ्रिते दण्डे एकं कृष्णाजिनं ध्वजस्थानीयं संल्लगयेत्। उव्वटादिरीत्या कृष्णाजिनदेवत्याऽनुष्टुप्। हे कृष्णाजिन, त्वं सूर्यस्य सवितुश्चक्षुर्नेत्रमारोह, तथाभ्युच्छ्रितो भव यथा सूर्यश्चक्षुषा त्वां पश्येत्। अग्नेर्वैश्वानरस्य देवस्य अक्ष्णो नेत्रस्य कनीनिकां तारिकामारोह, यथाग्निः स्वचक्षुस्तारिकया त्वां पश्येत्। यत्र यस्मिन्नेतयोर्दर्शने विपश्चिता सर्वज्ञेन सूर्येणाग्निना च सहितो भ्राजमानो दीप्यमानः, एतशेभिरश्वैः, ईयसे नीयसे गच्छसि। 'ई गतौ' आत्मनेपदी। एतशैरिति करणे तृतीया। यदि ईयस इति कर्मणि रूपं चेत्, तदा एतशैरिति कर्तरि तृतीया। यत्राश्वैस्त्वं नीयस इत्यर्थः। भ्राजमान इति पुंस्त्वं कृष्णाजिनस्य पुंस्त्वविवक्षया। सूर्याग्निदृष्टिविषयत्वेन मार्गोऽसुरराक्षसादिनाष्ट्रोबाधरहितो भवति, 'एष खलु वा अरक्षोहतः पन्था योऽग्नेश्च सूर्यस्य च' (तै. सं. ६.१.७.३) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। इत्युव्वटमहीधरयोराशयः।

काण्वसंहितायां सायणाचार्यस्तु—'हे सोम, त्वं सूर्यसम्बन्धि यच्चक्षुरस्ति तदारोह, तत्समानचक्षुर्युक्तो भव। तथाग्नेः सम्बन्धि यदक्षि विद्यते, तस्याक्ष्णः सम्बन्धिनी या कनीनिका तारिका, तामारोहेत्यनुवर्तते, तत्समानदृष्टिपाटवयुक्तो भवेत्यर्थः। यत्र यस्मिन् देवयजने एतशेभिरश्वैर्गच्छसि, 'एतश इत्यश्वनामसु पठितम्' (निघ. १.१४.१०), तत्रेत्यध्याहारः। तस्मिन् देवयजने विपश्चिता विदुषा सर्वज्ञेनाग्निना सह भ्राजमानो दीप्यमानस्तिष्ठेति शेषः।

मन्त्रार्थ—हे कृष्णाजिन! तुम सूर्य के नेत्र और अग्नि के नेत्र की पलकों पर आरोहण करो, जहां इन दोनों के दर्शन या प्रकाश से सर्वज्ञ सूर्य या अग्नि से प्रकाशित होता हुआ अश्वों के द्वारा गमन करता है। सूर्य और अग्नि की दृष्टि पड़ने से ही मार्ग राक्षसों की बाधा से मुक्त होता है॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए यजमान आसन के लिये बिछाये दो मृगचर्मों में से एक को शकट के पूर्व भाग में जुए के समीप ऊँचे दण्ड में लगावे। यदि आसन का मृगचर्म एक ही हो, तो उसकी ग्रीवा की ओर के भाग को अलग करके शकट के पूर्व भाग में लगाते हैं॥३२॥

भाष्यसार—'सूर्यस्य चक्षुः' ऋचा के द्वारा कृष्णाजिन को ध्वजा की भांति शकट पर लगाया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.८) में प्रतिपादित इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उव्वट, महीधर तथा काण्वसंहिता के भाष्य में सायणाचार्य ने किया है। शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या में भी सायणाचार्य ने कृष्णाजिन को सम्बोधित करते हुए इस मन्त्र का अर्थ किया है।

कृष्णाजिनं सोमस्य चिह्नरूपं ध्वजस्थानीयमिति तद्द्वारापि सोमस्यैव स्तुतिः। शतपथव्याख्यानप्रसङ्गे तु कृष्णाजिनमेव सम्बोध्यायं मन्त्रः सायणाचार्येणापि व्याख्यातः। तथाहि—'हे कृष्णाजिन, त्वं सूर्यस्य चक्षुश्चक्षुस्थानीयम्, प्रकाशस्थानमित्यर्थः। उपरि हि सूर्यः प्रकाशते, अतस्त्वमनसि ऊर्ध्वदिशमारोह। तथाग्नेर्देवस्याक्ष्णः सम्बन्धि कनीनकमक्षिमध्यगतः कृष्णप्रदेशः कनीनिका, तामारोह, अग्नेरक्ष्णः कनीनिकास्थानमन्तरिक्षं नीलं नभ इति प्रसिद्धेः। कृष्णाजिनस्य सोमध्वजस्थानीयस्य अनस उपर्यारोहे सत्येतदुभयारोहणं सम्पद्यते, उपर्येव सुर्यचक्षरूपस्य प्रकाशस्याग्नेरक्ष्णः कनीनिकारूपस्य नीलान्तरिक्षस्य सत्त्वात्। यत्र यस्मिन्नारोहे सत्येतशेभिरश्वैः, ईयसे गच्छसि, विपश्चिता मेधाविना सोमेन सह भ्राजमानो दीप्यमानः सन्' इति।

अध्यात्मपक्षेऽपि— हे आत्मन्, त्वं सूर्यस्य सर्वप्रकाशकस्य परमेश्वरस्य चक्षुरारोह तदीयानुग्रहपूर्णदृष्टिगोचरो भव। ज्ञानाग्निमतां ज्ञानिनामक्ष्णः कनीनकं तारकमारोह तदीयानुग्रहभाजनं भव। 'यस्यानुग्रहपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वार्थगोचरा। तद्दृष्टिगोचराः सर्वे पूता एव न संशयः॥' इति वचनात्। यत्र ययोर्दर्शने सत्येतशेभिरश्वैरिव तयोः कृपाकटाक्षकिरणैः परमपदमीयसे गच्छसि विपश्चिता सर्वसाक्षिणा परमेश्वरेण तद्रूपतया भ्राजमानो दीप्यमानः सन् तिष्ठसि।

दयानन्दस्तु—'सूर्यस्य सवितृमण्डलस्य विद्युतो वा चक्षुर्दर्शकम् आ समन्ताद् रोह दर्शयसि दर्शयति वा। अग्नेर्भौतिकस्य अक्ष्णो दर्शनसाधकस्य कनीनकं कनति प्रकाशते येन तद् यत्र यस्मिन् एतशेभिर्विज्ञाने वेगादिभिरागन्तुकैर्गुणैरश्वैश्च ईयसे विज्ञायसे विज्ञायते वा, भ्राजमानः प्रकाशमानो विपश्चिता। हे परमेश्वर, यत्र त्वमेतशैर्भ्राजमानो विपश्चिता परो यत्र वा प्राणो विद्युद्वैतशेभिर्विपश्चिता भ्राजमानो विज्ञायते, यत्र त्वं स सा च सूर्याग्नेरक्ष्णः कनीनकं समन्ताद् दर्शयति, तत्र वयं त्वां तं चोपासीमहि युञ्ज्याम वा' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, एतशैरित्यनेन विज्ञानवेगादिभिरागन्तुकैर्गुणैरित्यर्थग्रहणे मानाभावात्, 'एतश इत्यश्वनामसु' (निघ. १.१४.१०) इत्यश्वनामत्वेऽपि विज्ञानाद्यर्थकत्वस्य निर्मूलत्वात्। चक्षुरित्यस्य दर्शकमित्यर्थोऽपि निर्मूलः। तथैव रोहेत्यस्य दर्शयतीत्यर्थोऽपि निर्मूलः। अग्नेरक्ष्णो दर्शनसाधकस्य कनीनकमित्यस्यापि न सङ्गतिः, भौतिकाग्नेर्भिन्नस्य दर्शनसाधनस्य तत्रानुपलब्धेः। कनीनकमित्यस्यापि प्रकाशकत्वमेवार्थः। तथा चाग्नेरक्ष्णः कनीनकमित्यत्र कथं नाम दयानन्दीयैः सम्बन्धः साध्यते? एतस्य हिन्दीभाष्यमपि न सङ्गच्छते। तथाहि—'अग्नि भौतिक अग्नि के (अक्ष्णः) देखने के साधन (कनीनकं) प्रकाश करने वाले (चक्षु) नेत्रों को (आरोह) देखने योग्य कराते हो।' कोऽस्य वाक्यस्यार्थः? सिद्धान्ते तु विशिष्टैश्वर्यशालिनोऽग्नेर्देवस्य विग्रहवतोऽक्षि नेत्रगोलकं भवति। तत्र नीलं कनीनकं तारिकापदवाच्यं भवति, यत्रेन्द्रियं विशेषतो व्यज्यते। ऐतशपदमश्वपरम्। अश्वश्च गमनसाधनं भवति। तस्मादीयसे गच्छसीत्येवार्थः, 'ई गतौ' इति धातोर्निष्पत्तेः। कृष्णाजिनदेवत्याऽनुष्टुबियम्।

अध्यात्मपक्ष में भी मन्त्रार्थ प्रायः उसी प्रकार है। हे आत्मन्! तुम सर्वप्रकाशक परमेश्वर की अनुग्रहपूर्ण दृष्टि में उन्नत रहो, ज्ञानियों के नेत्रगोलक में अनुग्रहपात्र बनो। इनका दर्शन हो जाने पर (तुम) अश्वों के समान उनकी कृपादृष्टि की रश्मियों से अनुत्तम पद को प्राप्त करते हो तथा सर्वसाक्षी परमेश्वर के साथ तद्रूप होकर प्रकाशित होते हो।

स्वामी दयानन्द का अर्थ उचित नहीं है। 'एतश' शब्द से 'विज्ञान, वेग आदि आगन्तुक गुण' इस अर्थ को ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि 'एतश' शब्द अश्व के नामों के अन्तर्गत निघण्टु में पठित होने के कारण उसके विज्ञान आदि अर्थों की कल्पना निर्मूल है। 'चक्षु' शब्द का 'दर्शक' अर्थ करना भी निर्मूल है। इसकी हिन्दी व्याख्या भी संगत नहीं है। जैसे — '(अग्नि) — भौतिक अग्नि के (अक्ष्णः) देखने के साधन (कनीनकं) प्रकाश करनेवाले (चक्षु) नेत्रों को आरोह देखने योग्य कराते हो' इस वाक्य का क्या अर्थ है? शतपथ श्रुति तथा सूत्र आदि का विरोध तो इस अर्थ में स्पष्ट ही है ॥३२॥

तस्मात् कृष्णाजिनमेव सम्बोधयतीयम्। शकटयुगसमीपस्थोच्छ्रितदण्डे सोमध्वजरूपस्य कृष्णाजिनस्यासजने विनियुक्तत्वात् सोमो वा सम्बोधनीयः। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव।

तथाहि—'अथ यदि द्वे कृष्णाजिने भवतः। तयोरन्यतरत् प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनं यद्यु एकं भवति कृष्णाजिनग्रीवा एवावकृत्य प्रत्यानह्यति प्रतीनाहभाजनꣳ सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकं यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चितेति सूर्यमेवैतत्पुरस्तात् करोति सूर्यः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण परिवहन्ति' (श. ३.३.४.८)। अथ यदि द्वे इति। दीक्षाप्रसङ्गे यदि द्वे कृष्णाजिने स्वीकृते, तयोरेकं कृष्णाजिनं प्रतिनाहभाजनं भवति। नद्धस्य सोमस्य पुरोदेशे प्रसारितो ध्वजः प्रतिनाहः, तद्भाजनं तत्स्थानीयं भवतीत्यर्थः। द्वितीयालाभे उपायमाह—यद्यु एकं भवतीति। कृष्णाजिनग्रीवा एवावकृत्य प्रत्यानह्यतीति। तत्र प्रतिनाहमन्त्रः— सूर्यस्य चक्षुरिति। तथा च कात्यायनः—'कृष्णाजिनं पुरस्तादासजति सूर्यस्य चक्षुरिति. . . एकं चेद् ग्रीवा अवकृत्य' (का. श्रौ. ७.९.८-९)। आसनार्थमेकमेव कृष्णाजिनं यदि स्यात्, तदा तस्य कृष्णाजिनस्य ग्रीवाः कण्ठं छित्त्वा शकटस्य पुरस्तादासजेत्। उत्तमाङ्गे त्वादरार्थं बहुवचनम्। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। सर्वथाप्यत्र सोमस्य सोमध्वजस्य कृष्णाजिनस्यैव स्तुतिर्विद्यते। एतन्मन्त्रपाठं स्तौति—सूर्यमेवैतत् पुरस्तादिति। मन्त्रे सूर्यस्य चक्षुरित्यभिधानेन सूर्यमेव सोमस्य पुरस्तात् कृतवान् भवति। ततः किमित्यथ—सूर्यः पुरस्तान्नाष्ट्रेति। सूर्यो नाष्ट्राणि यज्ञनाशकानि रक्षांस्यपघ्नन् हिंसन् पुरो गच्छति। तस्मिन् सत्यभयेन नाशकरहितेन मार्गेण सोमं परिवहन्ति। वोढारोऽश्वा अनड्वाहो वा ॥३२ ॥

उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ। स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥३३ ॥

'अनड्वाहौ युनक्त्युस्रावेतमिति युगपत् तद्वचनत्वात्' (का. श्रौ. ७.९.१०)। अनसि युगपदनड्वाहौ योजयेत्, कुतः? तद्वचनत्वात्, उस्रावेतमिति मन्त्रे द्विवचनश्रवणात्। आनडुही ऊर्ध्वबृहती। यस्यास्त्रयः पादा द्वादशाक्षरा सोर्ध्वबृहती, 'त्रिजागतोर्ध्वबृहती' इत्युक्तेः। अत्राद्यो दशार्णः, द्वितीयस्त्रयोदशार्णः, तेनैकोना। हे उस्रौ! अनड्वाहौ, 'उस्रेति गोनामसु' (निघ. २.११.२)। आ इतं युवां वहनाय प्रत्यागच्छतम्। एत्य च स्वयमेव युज्येथां रथे युक्तौ भवतम्। कथंभूतावस्रौ? धूर्षाहौ धुरं सहेते इति धूर्षाहौ, 'षह मर्षणे' शकटस्य धुरं वोढुं समर्थौ, अनश्रू नेत्राश्रुरहितौ, अनार्तौ सोत्साहौ हृष्टौ, अवीरहणौ न वीरान् भ्रातृपुत्रादीन् शिशूंश्च हत इति अवीरहणौ शृङ्गादिभिरहन्तारौ प्रशान्तौ, ब्रह्मचोदनौ ब्राह्मणानां धर्मब्रह्मणी प्रति प्रेरकौ, ब्रह्मणो विप्रान् चोदयतः प्रेरयतस्तौ, ब्रह्मणा मन्त्रेण प्रेरितौ वा, एवंविशेषणविशिष्टौ युवां क्षेमेण यजमानस्य गृहं सोममादाय गच्छतम्।

मन्त्रार्थ—हे शकट में जुड़े बैलों! तुम शकट की धुरा को धारण करने में समर्थ हो, उत्साहसम्पन्न हो, सींगों से बालकों को न मारने वाले, ब्राह्मण को यज्ञ में प्रेरित करने वाले तुम दोनों इस शकट में जुत जाओ, कुशलतापूर्वक यजमान के घर की तरफ जाओ॥ यजमान इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए बैलों को शकट (गाड़ी) में जोतता है ॥३३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.१०-१२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'उस्रावेतम्' ऋचा के द्वारा शकट में बैलों को संयोजित करके उन्हें गमन के लिये प्रेरित किया जाता है।

अध्यात्मपक्षे—उस्रौ सत्त्वक्षेत्रज्ञरूपौ बलीवर्दौ संसारशकटस्य धुरो वोढारौ युवामेतं संसारभारवहनाय आगच्छतम्, एत्य च कर्मानुसारं युक्तौ भवतम्। कीदृशौ तौ? अनश्रू अनार्तौ संसारसम्बन्धेनार्तिप्राप्तावपि तत्त्वज्ञान-महिम्नाऽव्यथौ सोत्साहौ, अवीरहणौ अपापकृतौ तत्त्वज्ञानेन दग्धशुभाशुभकर्माणौ, ब्रह्मचोदनौ ब्रह्मणा वेदेन चोदितौ धर्मब्रह्मणोः प्रति प्रेरितौ, स्वस्ति यथा स्यात्तथा यजमानस्य धर्मानुष्ठातुर्विशुद्धसत्त्वस्य गृहान् शरणान् मुक्तोपसृप्यस्वरूपान्, प्राप्तृभेदेन प्राप्तव्येऽपि भेदोपचाराद् बहुवचनम्, गच्छतं प्रतिगच्छतम्। तत्त्वज्ञानेन सत्त्वस्य बाधसामानाधिकरण्येन मुक्तोपसृप्यब्रह्मप्राप्तिरिति।

सूत्रदृष्ट्याप्युस्राविति बलीवर्दाविव जिघृक्षितौ। 'अनड्वाहौ युनक्ति' (का. श्रौ. ७.९.१०), 'भेदे मन्त्रावृत्तिः सान्निपातितत्वात्' (का. श्रौ. ७.९.११)। भेदेन योजनं कर्तव्यं न युगपत्। कुतः? अनडुहः कण्ठे योक्त्रपरिणहनस्यैव योजनपदार्थत्वात्, तस्य दक्षिणेनैकपाणिना कर्तुमशक्यत्वात्। भेदेन योजने क्रियमाणे मन्त्रस्यावृत्तिः कर्तव्या। कुतः? मन्त्रस्य सान्निपातितत्वात् समवेतार्थत्वाद् द्विवचनमविवक्षितम्, प्रातिपदिकार्थस्यैव विवक्षितत्वात्।

दयानन्दस्तु—'उस्रौ रश्मिमन्तौ निवासहेतू सूर्यवायू। 'उस्रा इति रश्मिनामसु पठितम्' (निघ. १.५.९)। आ इतं प्राप्नुतः। धूर्षाहौ यौ धुरं पृथिव्याः शरीरस्य ज्ञानानां च धारणं सहेते, तौ युज्येथां युज्येते युक्तौ कुरुतः। अनश्रू अव्यापिनौ। अवीरहणौ वीरहननरहितौ ब्रह्मचोदनौ आत्मान्नप्राप्तिप्रेरकौ। स्वस्ति सुखं सुखेन वा यजमानस्य धार्मिकस्य जीवस्य गृहान् गृहाणि गच्छतो गमयतः' इति, तदपि न किञ्चित्, विसङ्गतेः। उस्रावित्यस्य रश्मिवाचकत्वेऽपि सूर्यस्य रश्मिमत्त्वेऽपि वायोस्तदयोगेन वायुसूर्ययो रश्मिपदेनोस्रपदेन वा ग्रहणासम्भवात्, जीवैस्तयोरनियोज्यत्वाच्च, त्वया तयोर्जडत्वाभ्युपगमाच्च, पृथिव्याकाशयोर्निवासहेतुत्वव्यभिचाराच्च, पृथिवी-शरीर-ज्ञानादिषु धुरोऽप्रसिद्धत्वात् शकटस्य प्रसिद्धत्वाच्च, जडयोस्तयोर्धूर्षहत्वासम्भवाच्च, युज्येथामिति यथाश्रुतोपपत्तौ णिजन्तकल्पनानुपपत्तेश्च। प्रशंसाप्रसङ्गेऽन-श्रुपदेनाव्यापकत्वनिरूपणमप्यनर्थकमेव, तयोः सर्वानुग्राहकत्वेन वीरहननस्याप्रसक्तत्वेनावीरहणत्वकथनमपि तथाविध-मेव। जडत्वादेवात्मान्नप्राप्तिप्रेरकत्वं गृहगमयितृत्वं चापि नोपपद्येते।

'उद्धते प्रउग्ये फलके भवतः। तदन्तेरण तिष्ठन् सुब्रह्मण्यः प्राजति श्रेयान् वा एषोऽभ्यारोहाद् भवति को ह्येतमर्हत्यभ्यारोढुं तस्मादन्तरेण तिष्ठन् प्राजति' (श. ३.३.४.९)। प्रउग्ये फलके युगसम्बन्धिफलके उद्धते प्रउगादप्युन्नते चुबुकप्रमाणे भवतः 'प्रउगाच्चोद्धते फलके भवतः' (का. श्रौ. ७.९.४)। तदन्तरेण तत् तयोः फलकयोरन्तरेण मध्ये तिष्ठन् सुब्रह्मण्यनामक ऋत्विक् 'ईषान्तरे भूमिष्ठः सुब्रह्मण्यः पलाशशाखया प्राजति' (का. श्रौ. ७.९.१२)। ईषान्तराले

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है — सत्त्व तथा क्षेत्रज्ञ रूपी संसारात्मक शकट का वहन करने वाले हे दो वृषभों, आप लोग संसार-वहन के लिये आवें। आर्ति से रहित, तत्त्वज्ञान के कारण शुभाशुभ कर्मों से निवृत्त, वेद से प्रवर्तित आप दोनों कल्याणपथ से विशुद्धसत्त्व धर्मानुष्ठान करने वाले यजमान के अधिष्ठानों के प्रति आवें।

कात्यायन श्रौतसूत्र की दृष्टि से भी यहां 'उस्रौ' शब्द से दो वृषभ ही वाञ्छित हैं। स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत होने के कारण समीचीन नहीं है। वायु तथा सूर्य का 'उस्र' पद से ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि वे जीवों के द्वारा नियोक्तव्य नहीं है। इस मत में वायु तथा सूर्य का जडत्व भी प्राप्त हो जायगा। पृथ्वी, शरीर, ज्ञान आदि अर्थों में 'धुर' शब्द प्रसिद्ध नहीं है। अपितु शकट के एक भाग लिये धुर शब्द की प्रसिद्धि है। वायु एवं सूर्य के सर्वहितैषी होने के कारण उनमें हिंसा की प्राप्ति ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उनके लिये 'अवीरहणौ' विशेषण का कथन भी असंगत है। शतपथ श्रुति के द्वारा भी उस्र शब्द से वृषभ ही प्रतिपादित है, सूर्य तथा वायु का कथन नहीं है। अतः हमारा सिद्धान्तपक्ष-सम्मत अर्थ ही श्रुति प्रतिपादित है॥३३॥

भूमौ तिष्ठन् सुब्रह्मण्यः पलाशशाखया अनड्वाहौ गमनाय प्रेरयेत्, भूमिष्ठ एव सन् प्राजति प्रेरयत्यनड्वाहौ । अधःस्थितिं प्रशंसति—श्रेयान् वेति । करितुरगाद्यारूढस्य प्रशस्तत्वं लोकप्रसिद्धम्, अतस्तदभ्यारोहात् सोमः श्रेयान् भवति । अतस्तदधिष्ठितं शकटमभ्यारोढुं कोऽर्हति ? न कोऽपीत्यर्थः । 'पलाशशाखया प्राजति । यत्र वै गायत्री सोममच्छापततदस्या आहरन्त्या अपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात् पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मात् पलाशशाखया प्राजति' (श. ३.३.४.१०) । पलाशशाखया प्राजति भूमिष्ठास्वेव प्राजनयोग्यासु सतीष्वन्यशाखासु पलाशशाखायाः कोऽतिशय इति जिज्ञासायां तस्याः सोमस्य सम्बन्धं दर्शयति—यत्र वै गायत्रीति । व्याख्यातमिदं पूर्वत्र । यदेव सोमस्याङ्गं न्यक्तमवाङ्निपतितमासीत्, तदङ्गमिहाप्यस्मिन् सोम एव असद् भवेदिति पलाशशाखया प्राजनस्याभिप्रायः ।

'अथानड्वाहावाजति । तौ यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णस्तत्र विद्याद्वर्षिष्यत्यैषमः पर्जन्यो वृष्टिमान् भविष्यतीत्येतदु विज्ञानम्' (श. ३.३.४.११) । अनडुहोर्वर्णविशेषमभिधातुं पुनरनुवदति—अथानड्वाहाविति । आजति युगवहनाय प्रेरयति । उभयोरन्यतरस्य वा यदि कृष्णत्वं लभ्येत, तत्र पर्जन्यवर्णसाम्यादनुडुत्कृष्णत्वेन निमित्तेन ऐषमोऽस्मिन् संवत्सरे पर्जन्यो बहुवृष्टिप्रदो भविष्यतीति एतद् उ विज्ञानं वृष्टेः परिज्ञानं तदुपाय इत्यर्थः । अत्र श्रुतौ — 'अनड्वाहावाजति तौ यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णः' इत्युक्त्या उस्रावित्यनड्वाहावेवोक्तौ न सूर्यवायू । अथ युनक्तीति तयोरेव शकटस्य धूर्वहने योजनमुच्यते । तस्मात् सिद्धान्तसम्मत एवार्थः श्रौत इति । 'अथ युनक्ति । उस्रावेतं धूर्षाहावित्युस्रौ हि भवतो धूर्षाहाविति धूर्षाहौ हि भवतो युज्येथामनश्रू इति युज्येते ह्यनश्रू इत्यनार्ताविति तदवीरहणावित्यपापकृताविति तद्ब्रह्मचोदनाविति ब्रह्मचोदनौ हि भवतः स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतमिति यथैनावन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न हिꣳस्युरेवमेतदाह' (श. ३.३.४.१२) । इदानीं समन्त्रकमुस्रयोजनं विधत्ते — अथ युनक्तीति । मन्त्रार्थस्तूक्त एव । श्रुतिरपि मन्त्रं विभज्य व्याचष्टे—उस्रौ हि भवत इत्यादिना । उस्राविणावनयोर्भोगावित्युस्रौ । एषा प्रसिद्धिर्हिशब्देन द्योत्यते । धूर्षाहावित्यस्य तात्पर्यमाह — धूर्षाहाविति । अनश्रू अनार्तौ, आर्तेषु अश्रुपातस्य दर्शनात् । एतेन अनश्रू अव्यापकावित्यपास्तम् । वीरहत्यायाः पापसाधनत्वादपापकृतावित्यवीरहणावित्यस्य तात्पर्याख्यानम् । ब्रह्मणा उस्राविति मन्त्रेणेदानीं चोद्यमानत्वाद् ब्रह्मचोदनाप्रसिद्धिः । स्वस्तिशब्दाभिप्रायमाह — यथैनावन्तरेति । यथा एनावनड्वाहौ अन्तरा मध्ये मार्गे नाष्ट्रा हिंस्रा न हिंस्युस्तथा भवेदिति मन्त्रे स्वस्तिशब्दस्याभिप्रायः ॥३३॥

भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि । मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन् । श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सꣳस्कृतम् ॥३४॥

सौम्यं यजुः । 'भद्रो म इति वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.१६) । हे सोम, मे मह्यं मम यजमानस्योपकाराय भद्रोऽसि कल्याणरूपोऽसि कल्याणकरो वासि । 'भदि कल्याणे सुखे च' इति धातोर्भद्र इति रूपम् । भन्दनीय इत्यर्थः । मे

मन्त्रार्थ—हे सोम ! तुम मुझ यजमान के लिये कल्याणरूप हो । अध्वर्यु आदि के प्रतिपालक हे यजमान ! तुम पत्नीशाला, हविर्धान आदि स्थानों को देख कर चलो । तुमको सब ओर फिरने वाले तस्कर (चोर) न जानें, यज्ञद्रोही तुमको न जानें, दूसरों का अपराध करने वाले दुर्जन तुमको न जानें । श्येन (बाज) के समान तीव्रगामी होकर सामने चलो, यजमान के घर चलो । वह यज्ञस्थान हम तुम दोनों के लिये सब सामग्री से परिपूर्ण है ॥ सोम लेकर यज्ञशाला की तरफ जाने वाले यजमान से अध्वर्यु यह मन्त्र कहलवावे ॥३४॥

मम भन्दनीयः स्तुत्यस्त्वमसि। हे भुवस्पते भुवनानां पालक ! यद्वात्र भुवस्पदेन भूमौ स्थितानि भूतानि यजमानाध्वर्युप्रभृतीन्युपलक्ष्यन्ते। तेषां भूतानां पालकत्वाद् भुवस्पतिः। 'प्रच्यवस्व भुवस्पत इत्याह भूतानाᳩं ह्येष पतिः' (तै. सं. ६.१.११.११)। तथाविध हे सोम, विश्वानि सर्वाणि धामानि स्थानानि पत्नीशालाहविर्धानप्रभृतीनि ग्रहचमसादीनि वा 'अङ्गानि वै विश्वानि धामानि' (श. ब्रा. ३.३.४.१४) इति श्रुतेः। प्रच्यवस्व, प्रकर्षेण गच्छ। 'च्युङ् गतौ' प्रच्यवमानं त्वा त्वां परिपरिणो माविदन् सोमं मा जानन्तु। परिपरिण इत्यनेन सर्वत्र सञ्चरन्तस्तस्करविशेषा उच्यन्ते। तथा परिपन्थिनो यजमानयागस्य बाधका विद्वेषिणः, त्वा त्वां मा विदन्, 'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि' (पा. सू. ५.२.८९) इति निपातनात्। अघायवोऽघं पापं हिंसारूपमिच्छन्तो वृका विकर्तनशीला अरण्यश्वानः परिणेतारो दुर्जना वा त्वा माविदन् यजमानगृहं गच्छन्तं मा जानन्तु। किञ्च, श्येनः शंसनीयगमनः पक्षी भूत्वा त्वमपि श्येनपक्षिवत् शीघ्रगामी भूत्वा बलिष्ठोत्पतनशीलः सन्नस्मदीयस्य यजमानस्य गृहान् परापत शीघ्रं गच्छ। तत्र गृहेषु नौ आवयोस्तव मम च संस्कृतं सर्वोपस्करणसंयुक्तं स्थानं विद्यत इति शेषः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वं मे भद्रोऽसि कल्याणकरोऽसि। हे भुवस्पते भुवनानां सर्वेषां लोकानां पालक, विश्वानि सर्वाणि धामानि स्थानानि वैकुण्ठकैलाशादीन्यभिलक्ष्य प्रच्यवस्व प्रगच्छसि। लट्स्थाने लोट्। यद्वा विश्वानि सर्वाणि धामानि भक्तानां हृदयान्यभिलक्ष्य प्रच्यवस्व प्रगच्छ, तेष्वभिव्यक्तो भवेत्यर्थः। मा त्वा परिपरिणो परस्वापहारिणो विदन् जानन्तु। परिपन्थिनो वृका धर्मद्विषो विकर्तनशालिनोऽघायवः परस्याघं विनाशमिच्छवो मा त्वा विदन् जानन्तु। हृदयेषु परमेश्वरप्राकट्ये बाधका इमे दोषा इति ज्ञात्वा तद्राहित्यं सम्पादनीयमित्यर्थः। हे सोम, श्येनो भूत्वा श्येनपक्षिवदोजसा वेगेन च सर्वान् विघ्नानविगणय्य यजमानस्योपासकस्य धार्मिकस्य गृहान् गन्तव्यानि स्थानानि हृदयानि परापत गच्छ। तत् तत्र नौ तवेश्वरस्य ममोपासकस्य यजमानस्य च संस्कृतं सर्वोपस्करणयुक्तं स्थानं विद्यत इति शेषः। तत्रैव तत्त्वमर्थयोरभेदेन जीवस्य पूर्णत्वमपरिच्छिन्नत्वं परमेश्वरस्यापरोक्षत्वं परप्रेमास्पदत्वमानन्दरूपत्वं च व्यज्यते।

स्वामिदयानन्दस्तु—'हे भुवस्पते ! भुवः पृथिव्याः पते स्वामिन् विद्वन्, त्वं मम भद्रोऽसि सुखकार्यसि। यन्नौ तव मम च संस्कृतं शिल्पविद्यासंस्कारयुक्तं सर्वर्तुकं यानमस्ति, तत् तेन विश्वानि धामानि स्थानान्यभिप्रच्यवस्व अभि प्रकृष्टतया गच्छ। यथा सर्वत्राभिगच्छन्तं त्वां परिपरिणश्चौरा वृका मा विदन् मा लभन्तां तथा प्रयतस्व परदेशसेविनं त्वां यथा परिपन्थिन उत्कोचका दस्यवो वृकाः स्तेना मा विदन् तथानुतिष्ठ। यथा परदेशसेविनं त्वाम् अघायवः

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.१६) में निरूपित याज्ञिक विनियोग के अनुसार यजमान 'भद्रो मे' इस मन्त्र का वाचन करता है। सोम को सम्बोधित करते हुए इस मन्त्र का व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे साम्बसदाशिव ! आप मेरे लिये कल्याणकारी हैं। हे समस्त लोकों के पालनकर्ता ! आप समस्त वैकुण्ठ, कैलास आदि धामों के प्रति प्रस्थान करते हैं, अथवा समस्त भक्तों के हृदयों में गमन करते हैं। आपको दूसरों के अपकारक जन न जानें। धर्म के द्वेषी, अपकारक, दूसरों के विनाश की इच्छा रखने वाले आपको न जानें। अर्थात् हृदयों में परमेश्वर के साक्षात्कार में ये दोष बाधक हैं, यह जानकर उनका निराकरण सम्पादित करना चाहिये। हे साम्बशिव ! श्येन (बाज) पक्षी के समान अत्यन्त वेग से समस्त विघ्नों की गणना न करते हुए उपासक यजमान के हृदय के प्रति आवें। वह परमेश्वर आपका तथा मेरा भी समग्र उपकरणों से युक्त स्थान है।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या तथा भावार्थ दोनों ही विसंगत होने के कारण उचित नहीं हैं। उस अर्थ के अनुसार यहां परमेश्वर अथवा जीव में से कौन वक्ता है ? परमेश्वर नहीं हो सकते, क्योंकि 'नौ' अर्थात् 'तुम्हारा एवं मेरा संस्कृत यान' यह अर्थ

पापिनो मनुष्या यथा मा विदन् तथानुजानीहि। त्वं श्येनो भूत्वा तेभ्यः परापत गच्छैतान् वा परापत दूरे गमय। एवं कृत्वा यजमानस्य योग्यस्य पूज्यस्य संगमं कर्तुं गृहान् द्वीपखण्डानि देशान्तरस्थानि गच्छ, यतो मार्गे किञ्चिदपि दुःखं न स्यात्' इति। भावार्थस्तु— 'मनुष्यैरुत्तमानि विमानादीनि यानानि निर्माय तत्र स्थित्वा यथायोग्यं प्रचाल्य श्येन इव द्वीपाद्यन्तरं देशं गत्वा धनं प्राप्य तस्मादागत्य दुष्टेभ्यः प्राणिभ्यो दूरे स्थित्वा सर्वदा सुखं भोक्तव्यम्' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः। तथाहि—कोऽयमुपदेष्टा? परमेश्वरो जीवो वा? न तावत् परमेश्वरः, नौ तव मम च संस्कृतं यानमित्यसङ्गतेः, सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्य यानानपेक्षणात्। न खलु जीवः, तस्योपदेष्टव्यत्वाविशेषात्। 'धामानि द्वीपान्तरस्थानानि' इत्यप्यसङ्गतम्। 'न जनमियान्नान्तमियात्' (बृ. उ. १.३.१०) इति श्रुत्या प्रत्यन्तगमनस्य निषेधात्। सर्वत्राभिगच्छन्तं चोरा मा विदन्त्वित्यप्यसङ्गतम्, भुवस्पतेर्द्वीपान्तराणि गत्वा प्रभूतधनान्याहरतोऽज्ञानासम्भवात्। किञ्च, किमेतद् वरशापादिवद् अलौकिकशक्तिकृतं चोरादिकर्तृकं भुवस्पतिविषयं ज्ञानं वार्यते, नियोगविशेषाद्वा? नाद्यः, तथानभ्युपगमात्। नान्त्यः, वस्तुतन्त्रे ज्ञाने पुरुषस्वातन्त्र्यायोगात्। किञ्च, न ज्ञानानि नियुज्यन्ते, किन्तु कर्तैव नियोक्तव्यः स्यात्, परिपरिणः परिपन्थिनो वृका इति पदानां चोरबोधकत्वे पदान्तरवैयर्थ्यापाताच्च। तेभ्यः परापत इत्यप्यसङ्गतम्, भुवस्पतेश्चोरेभ्यो दूरगमनं पलायनमेव स्यात्। यजमानस्य गृहान् पूज्यस्य द्वीपान्तरस्थगृहान् गच्छेत्याद्यपि प्रमत्तप्रलपितमेव, तथार्थग्रहणे बीजाभावात्। मनुस्तु— एतद्देशप्रसूतादग्रजन्मनो द्वीपान्तरस्था अपि मनुष्याः स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्नित्याह। त्वया तु द्वीपान्तरस्थानां सङ्गमार्थं वायुयानादिना आर्याणां वैदिकानां गमनमुच्यते। तथात्वे यजमानस्येत्येकवचनस्य किं तात्पर्यमित्यपि वक्तव्यम्। श्रुतिसूत्रविरुद्धं चैतत्।

तथाहि शतपथे—'अथ पश्चात् परिक्रम्य। अपालम्ब .... मभिपद्याह सोमाय क्रीतायानुब्रूहीति सोमाय पर्युह्यमाणायेति वाऽतो यतरथा कामयेत' (श. ३.३.४.१३) इति। शकटस्य पश्चाद्भागं गत्वा अपकृष्य आलम्ब्यत इत्यपालम्बः शकटस्य पश्चाद्भागः, तमालम्ब्य ब्रूयात्। 'अपालम्बशब्देन पश्चाद्बद्धा रज्जुरभिधीयते। ययाऽवतारेऽनः प्रवर्तमानं निवार्यते' इति कर्काचार्यः। 'पश्चाद्भागे लम्बमानं काष्ठमपालम्बः। येनोर्ध्वप्रदेशे प्रचलतः शकटस्य पर्यावर्तनं वार्यते' इति हरिस्वामिनः। सोमाय क्रीताय पर्युह्यमाणाय इति वाऽनुब्रूहि। अनुवचनविकल्पस्याभिप्रायमाह—सोमे क्रीते सत्यनन्तरं यत्कर्तव्यं तत्परिवहणमेव। तच्च क्रयानन्तरभावीत्यन्यतरोपादानेऽन्यतरस्यार्थात् सिद्धिः। ऐतरेयब्राह्मणे तु समुच्चयोपदेश उक्तः। सोमाय क्रीताय प्रोह्यमाणायानुब्रूहीत्याहाध्वर्युरिति। अयं विकल्पो न व्यवस्थितः, किन्त्वैच्छिक इत्याह—अतो यतरथेति। अतोऽनयोः पक्षयोर्मध्ये यतरथा कामयेत तथेति। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'पश्चात् परीत्यापालम्बं गृहीत्वा सोमाय क्रीतायानुवाचयति पर्युह्यमाणायेति वा' (का. श्रौ. ७.९.१३)। अध्वर्युरनसः पश्चाद्भागे आगत्य पूर्वोक्तमपालम्बं गृहीत्वा होतारं वाचयेत।

'अथ वाचयति। भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पत इति भद्रो ह्यस्यैष भवति तस्मान्नान्यमाद्रियतेऽप्यस्य राजानः सभागा आगच्छन्ति पूर्वो राज्ञोऽभिवदति भद्रो हि भवति तस्मादाह भद्रो मेऽसीति प्रच्यवस्व भुवस्पत इति भुवनानाꣳ ह्येष पतिर्विश्वान्यभि धामानीत्यङ्गानि वै विश्वानि धामान्यङ्गान्येवैतदभ्याह मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृका अघायवो विदन्निति यथैनमन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न विन्देयुरेवमेतदाह' (श. ३.३.४.१४)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। भद्रो मेऽसीत्यत्र भद्रशब्दस्य तात्पर्यमाह—भद्रो ह्यस्यैष भवतीति। अस्य यजमानस्य एष सोमो यस्माद्भद्रो

संगत नहीं होगा। सर्वव्यापी परमेश्वर को यान की अपेक्षा नहीं है। जीव भी वक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि उसका उपदेष्टा होना असंगत है। 'यजमान के गृहों को' इसका अर्थ 'पूज्य के दूसरे द्वीपों में स्थित गृहों के प्रति जाओ' इत्यादि करना भी असंगत है, क्योंकि इस प्रकार का अर्थ करने में कोई मूल नहीं है ॥३४॥

भवति, तस्मान्मन्त्रभाग एवमाह। यतोऽसावेव यजमानस्य भद्रकारी तस्मादन्यं सोमव्यतिरिक्तमयं यजमानो नाद्रियते आदरं न करोति। अन्यशब्दार्थं विशिनष्टि—अप्यस्य राजान इति। सभागा इत्यनेन राज्ञोऽनतिक्रमणीयत्वमुक्तम्। अपिः सम्भावनायाम्। 'मधुपर्कमाहरेद्राज्ञे चाचार्यर्त्विक्स्नातकप्रियातिथिश्वसुरमातुलानां च' इति सम्भावनीयानां मध्ये राज्ञां प्रथमतो निर्देशेन श्रैष्ठ्यावगमादितरपूज्योपलक्षकत्वेनाप्यस्य राजानः सभागाः सभाजनीया आगच्छन्ति। राज्ञ आगमनात् स्वयमप्रह्व एव सन् पूर्वस्तेभ्यः प्रागेवाभिवदति वाग्व्यवहारं करोति किमिति भद्रो हि भवति तस्माद् भद्रो मेऽसीति युक्तम्। भुवस्पत इत्यत्र भूशब्देन सर्वाण्यपि भुवनान्युपलक्षितानीति व्याचष्टे—भुवनानां ह्येष पतिरिति। धामशब्दतात्पर्यमाह—अङ्गानि वै विश्वानि धामानीति। अत्राङ्गानि ग्रहचमसादीन्येव धामानि स्थानानि, क्रयप्रदेशादागमनस्य तदर्थत्वात्। परिपरि-परिपन्थि-वृकशब्दानामवयवार्थभेदेऽपि पर्यवसितार्थमाह—यथैनमन्तरा नाष्ट्रा रक्षांसि न विन्देयुरिति।

'श्येनो भूत्वा परापतेति। वय एवैनमेतद्भूतं प्रपातयति यद्वा उग्रं तन्नाष्ट्रा रक्षाᳬसि नान्ववयन्त्येतद्वै वयसामोजिष्ठं बलिष्ठं यच्छ्येनस्तमेवैतद्भूतं प्रपातयति यदाह श्येनो भूत्वा परापतेति' (श. ३.३.४.१५)। श्येनो भूत्वेत्यस्य तात्पर्यमाह—वय एवैनमिति। एतेन पाठेन पक्षिरूपमेव सन्तं सोमं प्रापितवान् भवति। यद्वै उग्रं भवति तन्नाष्ट्रा रक्षांसि नान्ववयन्ति हन्तुं नानुगच्छन्ति। वयसां पक्षिणां मध्ये यदोजिष्ठं बलिष्ठं च भवति तद्वै श्येनः। एतन्मन्त्रपाठेन श्येनभूतमेवौजिष्ठं बलिष्ठं च सोमं प्रपातयति यजमानस्य गृहं प्रापयति नाष्ट्रा रक्षाᳬसि च नैनं हन्तुमनुगच्छन्ति। 'अथ शरीरमेवान्ववहन्ति। यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सᳬस्कृतमिति नात्र तिरोहितमिवास्ति' (श. ३.३.४.१६)। अथ शरीरमिति। यदि प्रमादात् सोमं रक्षादिर्हन्यात्, तदानीं श्येनो भूत्वेति मन्त्रसामर्थ्याच्छ्येनीभावादुपादेयस्य सारांशस्य बाधाभावाद् हन्ता स्वशरीरमेवानुगत्य हन्ति न सोममित्यर्थः। यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतमिति स्पष्टमेवेत्याह—नात्र तिरोहितमिवेति। एवं श्रुतिसूत्रानुसारेण सोमस्य यजमानगृहप्रापणे नाष्ट्रराक्षसादिकृतबाधादिनिवारण एवास्य मन्त्रस्य पाठो विनियुक्तः। तस्मान्नात्र भुवस्पती राजा वायुयानादिनिर्माणाय नियुज्यते ॥३४॥

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तᳬ स॑पर्यत। दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शᳬसत॥३५॥

'शालां पूर्वेण प्रतिप्रस्थाताऽग्नीषोमीयं पशुमादाय तिष्ठति कृष्णसारङ्गं मेध्यमभावे लोहितसारङ्गम्, नमो मित्रस्येत्येनमालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.१८-१९)। शालां पूर्वेण प्रतिप्रस्थाता कृष्णसारङ्गं कृष्णवर्णेन कर्बुरं मेध्यं मेदुरं मत्तं तदभावे लोहितसारङ्गं मित्रस्येति मन्त्रेणैनं पशुमालभ्य वाचयति। सौरी जगती द्वादशाक्षरचतुःपादा जगती सूर्यदृष्टा। सोमोऽत्र सूर्यरूपेण स्तूयते। मित्रस्य वरुणस्येति चतुर्थ्यर्थे षष्ठ्यौ। मित्राय मितेस्त्राता मित्रः सूर्यस्तस्मै

मन्त्रार्थ—चराचर के मित्र, सबके दुःखों को दूर करने वाले सूर्य देवता के सम्मुख महान् तेजःस्वरूप प्रकाशमान, सब जगत् को दूर से ही देखने वाले, देवताओं पर अनुग्रह करने के लिये उत्पन्न हुए, प्रज्ञानघन, द्युलोक के पुत्रवत् प्रिय सूर्य देवता के लिये मैं नमस्कार करता हूँ। हमें उस सत्य ब्रह्म का भजन करना चाहिये, उसकी स्तुति करनी चाहिये॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए प्रतिप्रस्थाता यज्ञशाला के पूर्व में कृष्ण सारंग पशु को ले आवे। उसके अभाव में लोहित सारंग को लावे ॥३५॥

भाष्यसार—'नमो मित्रस्य' इस मन्त्र का प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विक् अग्नीषोमीय पशु का स्पर्श करते हुए वाचन करता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.१८-१९) की इस याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुकूल ही मन्त्रार्थ शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित है।

मित्राय सूर्यरूपाय सोमाय नमोऽस्तु। कीदृशाय मित्राय? वरुणाय स्वरश्मिभिर्जगदावृणोतीति वरुणस्तस्मै तमोनिवारकाय। पुनः कीदृशाय मित्राय? चक्षसे, चष्टे इति चक्षास्तस्मै चक्षुष्मते द्रष्ट्रे। 'मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रिः' (तै. सं. २.२.७.३) इति रीत्या अहरभिमानिदेवाय मित्राय रात्र्यभिमानिदेवाय वरुणाय च नमः। महो महते महसे तेजोरूपाय वा देवाय द्योतमानाय। हे ऋत्विजः, तं ज्योतिष्टोमरूपमृतं सत्यमवश्यफलप्रदम्, कर्मानुष्ठायेति शेषः, सपर्यत सपर्यया परिचर्यां कुरुत। किञ्च, दूरेदृशे दूरे द्युलोकात्मके दृश्यते प्राणिभिरिति दूरदृक्, तस्मै। देवजाताय देवाद् द्योतमानात् परमात्मनो जात उत्पन्नो देवजातः, तस्मै। केतवे अक्ष्णो लक्षणरूपाय दिवस्पुत्राय द्युलोकस्य पुत्राय सुतायेव प्रियाय सूर्याय शंसत सूर्यप्रीत्यर्थं शंसनं प्रशंसनं कुरुत। यद्वा परब्रह्मरूपेणादित्यमवगम्य नमस्कारं कृत्वाऽन्येभ्यः कथयति—नमः सूर्यायेति। स्वरत्येक एवाकाश उपतापयति गच्छति वेति सूर्यः, 'स्वृ गत्युपतापयोः' तस्मै। कीदृशाय? मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे। उपलक्षणमेतद् द्यावापृथिवीनिवासिसर्वलोकस्य, 'अयं वै लोको मित्रोऽसौ वरुणः' (श. १२.९.२.१२) इति श्रुतेः। चक्षसे सर्वस्यैव जगतो द्रष्ट्रे परमेश्वररूपेण सर्वाध्यक्षाय, सर्वसाक्षिण इत्यर्थः। 'महोदेवाय तदृतꣳ सपर्यत' महते देवाय द्योतमानाय हे ब्राह्मणास्तत्सत्यं सपर्यत पूजयत। दूरेदृशे दूरे स्थितो दृश्यते प्राणिभिरिति दूरेदृक्, तस्मै। दूरे स्थितैर्वा दृश्यते। दूरे पश्यतीति वा दूरेदृक्, तस्मै। नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। दूरेऽतीतानागतवर्तमानकालिकान् प्राणिनः पदार्थांश्च पश्यतीति दूरेदृक्, तस्मै। देवजाताय देवानुग्रहार्थं जाताय। जाता देवा अस्माद्वेति देवजातस्तस्मै। 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' (पा. सू. २.२.३७) इति बहुव्रीहौ जातशब्दस्य परनिपातः। केतवे प्रज्ञारूपाय विज्ञानघनाय। 'केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्' (निघ. ३.९.१)। दिवस्पुत्राय द्युलोकात् सूर्यस्योत्पन्नत्वात्, दिवः पुरुधा त्रायत इति दिवस्पुत्रस्तस्मै दिवः पालकायेति वा। एवंविधाय सूर्याय शंसत स्तुतीः कुरुत, शस्त्राणि पठत, यागे तदपेक्षणात्, 'शंसु स्तुतौ'।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम सदाशिव, मित्राय सूर्यरूपाय वरुणाय तमोनिवारकाय तुभ्यं नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। चतुर्थ्यर्थे षष्ठ्यौ। यद्वा मित्रस्य वरुणस्य तदुपलक्षितस्य सर्वस्यैव जगतश्चक्षसे द्रष्ट्रे तुभ्यं सर्वज्ञाय परमात्मने नमः। महो महसे तेजःस्वरूपाय महतेऽपरिच्छिन्नाय। पुनः कीदृशाय? देवाय जगदुत्पत्त्यादिक्रीडाकर्त्रे तादृशाय देवाय परमात्मने सोमाय स्वयं नत्वाऽन्येभ्यो मन्त्रद्रष्टोपदिशति—हे ब्राह्मणा ऋत्विजः, तत्तोषणाय तदृतं ज्योतिष्टोमाख्यं यज्ञमनुष्ठाय सपर्यत तं पूजयत। कीदृशाय तस्मै? दूरेदृशे दूरे दुर्लभं दर्शनं यस्य तस्मै, विप्रकृष्टव्यवहितद्रष्ट्रे वा, अतीतादिद्रष्ट्रे वा। देवजाताय देवानामनुग्रहाय जाताय लीलाविग्रहधारिणे देवोत्पत्तिहेतवे वा केतवे विज्ञानानन्दस्वरूपिणे दिवस्पुत्राय द्युलोकादेः पुरुधा त्रात्रे सूर्याय सूर्यार्थं शंसत स्तुतिं कुरुतेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं यन्मित्रस्य वरुणस्य दिव ऋतं सत्यं स्वरूपमस्ति, तद् यूयमपि सपर्यत। यस्य महो महसे दूरदृशे चक्षसे देवजाताय केतवे देवाय पुत्राय पवित्रकर्त्रे सूर्याय परमात्मने वयं नमस्कुर्मः, तथा

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है — हे साम्बसदाशिव! मित्ररूप तथा तमोनिवारक आपके लिये नमस्कार है। अथवा मित्र-वरुणादि सम्पूर्ण जगत् के द्रष्टा हे सर्वज्ञ परमात्मा! आपको नमस्कार है। तेजःस्वरूप, अपरिच्छिन्न, जगदुत्पत्त्यादि क्रीडा करने वाले परमात्मा को नमस्कार है। हे ऋत्विग्गण! आप लोग उस परमेश्वर की सन्तुष्टि के लिये यज्ञों द्वारा उसकी पूजा करें। दुर्लभ दर्शन वाले अथवा अतीन्द्रिय दृष्टि रखने वाले देवताओं की कृपा के लिये अवतार धारण करने वाले, विज्ञानानन्द स्वरूप, द्युलोकादि की सर्वविध रक्षा करने वाले उस तेजःस्वरूप के लिये स्तुति करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा कथित प्रथम अन्वय में परमेश्वर की स्तुति है तथा द्वितीय में सूर्यलोक की स्तुति है। यह परस्पर विसंगति के कारण अनुपयुक्त है। प्रसंगानुगत 'नमः' शब्द का अत्र अर्थ युक्त नहीं है। सूर्य के पक्ष में 'सत्कार करना' यह अर्थ

यूयमपि शंसत कुरुत इत्येकः, नमः सत्करणमन्नं वा, नम इत्यन्ननामसु पठितम्। मित्रस्य सर्वसुहृदः प्रकाशकस्य वा वरुणस्य श्रेष्ठस्य चक्षसे सर्वद्रष्टुर्दर्शयितुर्वा, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महो महसे, देवाय दिव्यगुणाय। तत् चेतनस्वरूपं प्रकाशस्वरूपम् ऋतं सत्यं सपर्यत परिचरत। दूरेदृशे दूरे स्थितान् दर्शयति तस्मै। देवजाताय दिव्यगुणैः प्रसिद्धाय। केतवे विज्ञानस्वरूपाय ज्ञापकाय वा। दिवः प्रकाशस्वरूपस्य पुत्राय पवित्रकारकाय अग्निपुत्राय वा सूर्याय चराचरात्मने परमैश्वर्यहेतवे शंसत प्रशंसत इति पदार्थः। हे मनुष्याः, यथा वयं यन्मित्रस्य वरुणस्य दिवः प्रकाशस्वरूपस्य सूर्यलोकस्य यथार्थस्वरूपं सेवेमहि तद् यूयमपि विद्यया सपर्यत। यथा वयं यस्मै चक्षसे देवजाताय केतवे दिवोऽग्नेः पुत्राय दूरेदृशे महो देवाय सूर्याय लोकाय प्राप्त्यर्थं प्रवर्तेमहि,तथा यूयमपि प्रवर्तध्वमिति द्वितीयोऽन्वयः। प्रथमान्वये परमेश्वरस्य स्तुतिः, द्वितीये सूर्यलोकस्य' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः, नम इत्यस्य प्रकृतेऽन्नार्थतानुपपत्तेश्च। सूर्यपक्षे सत्करणमप्यसङ्गतम्, त्वया तस्य जडत्वाभ्युपगमात्, जडपूजाया अपसिद्धान्ताच्च। दिव्यगुणैः प्रसिद्धायेत्यप्यसङ्गतम्, जातपदस्य प्रसिद्धार्थतासङ्गतेः। दिवस्पुत्रायाग्निपुत्रायेत्यप्यसङ्गतम्, तस्याग्निवाचकत्वे प्रमाणाभावात्। द्योतनात्मकत्वं तु विद्युत्सूर्यादिषु व्यभिचरति। यथा वयं तथा यूयमित्यादिलुप्तोपमालङ्काराश्रयणमपि निर्मूलमेव, श्रुतिसूत्रविरोधाच्चेति।

शतपथे तु—'अथ सुब्रह्मण्यामाह्वयति। यथा येभ्यः पक्ष्यन् स्यात्तान् ब्रूयादित्यहे वः पक्ताऽस्मीत्येवमेवैतद् देवेभ्यो यज्ञं निवेदयति सुब्रह्मण्योꣳ३ सुब्रह्मण्योꣳ३मिति ब्रह्म हि देवान् प्रच्यावयति त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः' (श. ३.३.४.१७)। देवानामाह्वानसाधनो मन्त्रोऽत्र ब्रह्मपदेनोच्यते। शोभनं ब्रह्म सुब्रह्म, तदर्हतीति सुब्रह्मण्या काचन देवता, तामाह्वयति सुब्रह्मण्यो३मिति निगदेन त्रिराह्वानम्। यथा लोके येभ्योऽर्थाय पक्ष्यन् पाकं कर्तुमिच्छन् भवति तान् ब्रूयाद् इत्यहे वः पक्तास्मीति। इतो द्वितीये तृतीये वा दिवस इत्येवंरूपेण तथैव देवेभ्यो वक्तव्यम्। ननु मन्त्रेणाह्वानेऽपि परमैश्वर्यशाली इन्द्रः कथमेष्यतीति तत्राह—ब्रह्म देवान् प्रच्यावयतीति, 'वायवायाहि दर्शत' (ऋ. सं. १.२.१) इति मन्त्रवर्णात्। सवनत्रयापेक्षया यज्ञस्य त्रिवृत्त्वम्। 'इन्द्रागच्छेति। इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रागच्छेति हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेषवृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत् प्रमुमोदयिषति' (श. ३.३.४.१८)। इन्द्रागच्छेत्यादिभिरिन्द्रस्याह्वानम्। सवितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्यापदवाच्यायाः क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज्जीर्यत्यस्मादित्यहल्यायै जार इन्द्र उच्यते। पुराणप्रसिद्धाहल्यायाः परस्त्रियः सम्बन्धेन वा देवराजस्याहल्याजारत्वप्रसिद्धिः। तस्य ब्रह्मविद्याप्रशंसार्थमुच्यते—'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्, अवाङ्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्। तस्य मे तत्र न लोम च नामीयत' (कौ. ब्रा. उ. ३.१) इति ब्रह्मविद्याप्रभावेण निषिद्धादपि कर्मणस्तस्य लोमापि च न विकृतमिति तदीयतथाचरणवर्णनापि स्तुतिरेव। 'कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति' (श. ३.३.४.१९)। यान्येव चरणानि चरित्राणि पूर्वपक्षापरपक्षलक्षणाभ्यामभिमतस्य वस्तुनो हरणं मेधातिथेः काण्वायनेर्मेषो भूत्वा हरणम्, तैरेवैनं प्रमुमोदयितुमिच्छति, 'देवा ब्रह्माण आगच्छतेति' (श. ३.३.४.२०)। तद्देवांश्च ब्राह्मणांश्चात्रास्मिन् यज्ञे द्विविधैरुभयैर्देवैर्ब्राह्मणैश्च यष्टव्यत्वेन याजकत्वेनार्थः प्रयोजनं यज्ञसिद्धिर्यजमानस्येति द्विविधानामपि देवानामाह्वानं भवति। 'अथ प्रतिप्रस्थाता। अग्रेण शालामग्नीषोमीयेण पशुना प्रत्युपतिष्ठतेऽग्नीषोमौ वा एतमन्तर्जम्भ आदधाते यो दीक्षत आग्नावैष्णवꣳ ह्यदो दीक्षणीयꣳ हविर्भवति यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वा एष देवानां भवति यो दीक्षते तदेनमन्तर्जम्भ आदधाते तत्पशुनात्मानं निष्क्रीणीते' (श. ३.३.४.२१)। अथ सुब्रह्मण्याह्वानानन्तरं प्रतिप्रस्थाताऽग्नीषोमीयेण पशुना

भी असंगत है, क्योंकि उनके मत में सूर्य जड है तथा इस प्रकार का अर्थ करने पर जडपूजा का सिद्धान्त स्वीकार करना होगा, जो कि उनको अभीष्ट नहीं है। 'दिवस्पुत्राय' का अर्थ 'अग्निपुत्र के लिये' करना भी असंगत है, क्योंकि इस शब्द के अग्निवाचकत्व में कोई प्रमाण नहीं है ॥३५॥

प्रत्युपतिष्ठते । प्रतिप्रस्थाता शालायाः पुरो देशेऽग्नीषोमीयं पशुमादाय गच्छतः सोमस्याभिमुखं स्थापयेत् । अग्नीषोमीयस्यावस्थितिं यजमानस्यात्मनिष्क्रयरूपेण प्रशंसति—'यो दीक्षते अग्नीषोमौ वेति । एतं दीक्षितमन्तर्जम्भे, अन्नखादनस्थानं जम्भः, दन्तपङ्क्त्योरन्तराले आदधाते । तदेवोपपादयति—आग्नावैष्णवं ह्यद इति । यस्मादस्य यजमानस्य अदो विप्रकृष्टकाले दीक्षणीयेष्टौ हविरभूत् । अस्तु किं तत इत्याह—तत्र विष्णुर्योऽस्ति स सोमः । सोमस्य यागनिर्वर्तकत्वेन यज्ञत्वम् । यज्ञस्य च विष्णुत्वं प्रसिद्धमेव, 'यज्ञो वै विष्णुः' (श. १.१.२.१३) इति श्रुतेः । दीक्षा संस्कारः । दीक्षणीयेष्टिसंस्कृतत्वादेव दीक्षणीयेष्टिदेवतयोश्च हविश्च एनं जम्भे स्थितं यजमानम्, अतो जम्भाद्विमोक्षायाग्नीषोमीयं पशुं दत्त्वा आत्मनिष्क्रयणं कृतवान् भवतीत्यर्थः ।

'तद्धैके । आहवनीयादुल्मुकमाहरन्त्ययमग्निरयꣳ सोमस्ताभ्याꣳ सहसद्भ्यां निष्क्रेष्यामह इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात् यत्र वा एतौ क्व च तत्सहैव' (श. ३.३.४.२२) । अयमुल्मुकरूपोऽग्निः, अयं सोमः, ताभ्यां सकाशादात्मानं निष्क्रेष्यामह इत्युल्मुकस्याहर्तुरभिप्रायः । अमुं पक्षं निराकरोति—तदु तथा न कुर्यादिति । तर्हि कथं सहभाव इति, तत्राह—यत्र वा एतौ क्व च तत्सहैव । एतौ अग्नीषोमौ यत्र क्व च स्थाने वर्तेते तत्तादृग्रूपा स्थितिरेव सहभावः । 'स वै द्विरूपो भवति । द्विदेवत्यो हि भवति देवतयोरसमदे कृष्णसारङ्गः स्यात्' (श. ३.३.४.२३) । द्वैरूप्यसिद्धयेऽपेक्षितौ वर्णावाह—कृष्णसारङ्गः स्यादित्याहुरिति । देवतयोरसमदेऽविरोधाय । सारङ्गः शबलवर्णः । कृष्णत्वं शबलत्वमेतयोरग्नीषोमयो रूपतममिवात्यन्तमभिमतं रूपम्, 'आग्नेयः कृष्णग्रीवः' (वा. सं. २४.१), 'कृष्णग्रीवा आग्नेयाः' (वा. स. २४.६,९,१४) इत्यादावग्नेः कार्ष्ण्यसम्बन्धश्रवणात् तदेव तदुचितं रूपम् । सारङ्गरूपस्य सोमयोग्यत्वमपि श्राद्धावल्यां द्रष्टव्यम् । तदलाभे वा लोहितसारङ्गः, लोहितस्याग्निवर्णसाम्यं प्रसिद्धम् । 'तस्मिन् वाचयति नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय... शꣳसतेति नम एवास्मा एतत्करोति मित्रधेयमेवैनेनैतत्कुरुते' (श. ३.३.४.२४) । तस्मिन् कृष्णसारङ्गे, आगत इति शेषः । 'नमो मित्रस्येत्येनमालभ्य वाचयति' (का. श्रौ. ७.९.१९) इति कात्यायनः । मन्त्रार्थस्तूक्त एव । अनेन मन्त्रेणास्मानेवं करोति, एनं मित्रधेयमेव करोति ॥३५ ॥

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥३६ ॥

'समीपेऽन उपस्थाप्योत्तम्भनेनोपस्तभ्नाति वरुणस्योत्तम्भनमिति' (का. श्रौ. ७.९.२२) । शालायाः समीपे शकटमुपस्थाप्य उत्तम्भनकाष्ठेन निरुणद्धि वरुणस्योत्तम्भनमिति मन्त्रेण । मन्त्रार्थस्तु—उत्तम्भनम्, उत्तभ्यते शक-

---

मन्त्रार्थ—हे काष्ठाभिमानी देवता! तुम वरुण देवता की प्रीति के लिये इस शकट में वस्त्र से बँधे सोम के उन्नायक हो। हे शम्या! तुम दोनों वरुण को रोकने वाली हो। हे आसनादि! तुम वरुण देवता की प्रीति के लिये यज्ञ की प्रीति का स्थान हो। हे कृष्णाजिन! तुम वरुण की प्रीति के लिये अथवा कपड़े में बंधे सोम के यज्ञ के निमित्त बैठने के स्थान हो। हे सोम! तुम वरुण देवता की प्रीति के लिये लाये गये हो। तुम यज्ञसंबन्धी आसनादि पर बिछे हुए मृगचर्म पर आराम से बैठो॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए यजमान यज्ञशाला के नजदीक शकट को पूर्वमुख या उत्तरमुख खड़ा करता है और बैलों को जुए से अलग कर देता है। बाद में आसनादि पर मृगचर्म बिछा कर उस पर सोमवल्ली की गांठ को रखता है॥३६ ॥

भाष्यसार — कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.२२-२७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'वरुणस्य' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों का शकट के स्थापन, सोम को स्थापित करने के लिये गूलर की आसन्दी (मंचिका) के आहरण एवं स्पर्श, उस मंचिका (चौकी) पर कृष्ण मृगचर्म के आस्तरण, सोम के स्थापन- इन कार्यों में विनियोग है।

टस्य मुखाग्रमुन्नतत्वेन स्थाप्यते यस्मिन् काष्ठे तत्काष्ठमुत्तम्भनम्। हे काष्ठ, त्वं वरुणस्य व्रियते वेष्ट्यते वस्त्रादिनेति वरुणः सोमः। वरुणदैवतत्वाच्च पञ्चस्वपि मन्त्रेषु वरुणपदेन सोमो गृह्यते। उपचाराच्च सायणाचार्येण शकटोऽपि वरुणशब्देन गृहीतः। वरुणस्य बन्धकारित्वाद् वस्त्रादिबद्धः सोमोऽपि वरुणशब्देनोच्यते। तस्य शकटे स्थितत्वाद् वरुणशब्देन शकटमुपचर्यते। यद्वा वरुणस्य वस्त्रबद्धस्य सोमस्यैवोत्तम्भनमसि न शकटस्य। उपनह्य स्थापितस्य सोमस्य त्वमुत्तम्भनमसि। यद्यप्युपस्तम्भनकाष्ठस्य शकटेनैव सम्बन्धः, तथापि शकटस्योत्तम्भकत्वात् तद्द्वारा वरुणस्योपनह्य तत्र स्थापितस्य सोमस्याप्युपस्तम्भकत्वमिति। 'शम्ये चोद्वृहति वरुणस्य स्कम्भसर्जनी-स्थेति' (का. श्रौ. ७.९.२३) इति शम्ये युगकीलके ऊर्ध्वं निष्काशयेत्। वरुणस्य शकटस्य युगे बद्धयोर्बलीवर्दयो-र्गलस्य बहिर्भागे काष्ठनिर्मिते शम्ये स्थाप्येते। ताभ्यां बलीवर्दयोरितस्ततो गमननिवारणं भवति। ते ततः स्कम्भशब्देनोच्येते। हे शम्ये, वरुणस्य शकटस्य बद्धस्य सोमस्य वा युवां स्कम्भनी स्कम्भितुमवरोद्धुं सृज्यमाने भवथः। 'स्कम्भ रोधने, सर्ज अर्जने'। स्कम्भनं स्कम्भो रोधः, सर्ज्यते क्रियते याभ्यां ते स्कम्भसर्जन्यौ। विभक्तेः पूर्वसवर्णः। यद्वा स्कम्भशब्देन युगमुच्यते, तस्य सर्जनी वशीकरण्यौ वरुणस्य युवां हे शम्यौ स्कम्भसर्जनी स्थो भवथः। 'औदुम्बरीमासन्दीं नाभिदघ्नामरत्निमात्राङ्गीमूतामाहरन्ति चत्वारः, अभिमृशत्येनां वरुणस्य ऋतसदन्यसीति' (का. श्रौ. ७.९.२४-२५), 'अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थातृ-नेष्टृ-नेतारः' (आप. श्रौ. १०.२९.७)। नाभिप्रमाणपादयुतामरत्नि-मात्राङ्गीं मुञ्जरज्ज्वा व्यूतामौदुम्बरीमासन्दीं मञ्चिकामानयेयुः। एनामासन्दीं हस्तेन स्पृशति यजमानो वरुणस्य ऋतसदन्यसीति मन्त्रेण। वरुणशब्देनात्र बद्धः सोम उपलक्ष्यते। हे आसन्दि, त्वं वरुणस्य वस्त्रादिना बद्धस्य सोमस्य सम्बन्धिनी ऋतसदनी ऋतं यज्ञस्तन्निष्पत्त्यर्थमुपवेशनस्थानभूतासि। ऋताय यज्ञाय सद्यत उपविश्यते यस्यां सा ऋतसदनी, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा. सू. ३.३.११७) इति ल्युटि रूपम्। 'कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति वरुणस्य ऋतसदनमसीति' (का. श्रौ. ७.९.२६)। हे कृष्णाजिन, त्वं वरुणस्य बद्धस्य सोमस्य सम्बन्धि ऋतसदन-मसि यज्ञार्थमुपवेशनस्थानमसीति। 'तस्मिन् सोमं निदधाति वरुणस्य ऋतसदनमासीदेति' (का. श्रौ. ७.९.२७)। तस्मिन् कृष्णाजिने हे सोम, त्वं वरुणस्य वस्त्रबद्धस्य तव सम्बन्धिनीमृतसदनीं यज्ञार्थमुपवेशनस्थानभूतामासन्दीं प्राप्य आसीद सुखेनोपविश।

अध्यात्मपक्षे तु—'हे सोम परमेश्वर, त्वं वरुणस्य वरणीयस्य मोक्षादेरुत्तम्भनमसि धारकोऽसि। हे चितिप्रकृती, युवां स्कम्भस्य दोषाणामवरोधाय सृष्टे स्थः। उभयोरनादित्वेऽपि तत्तदुपाधिभिः सृष्टत्वव्यवहारः। यद्वा स्कभ्नोति निगृह्णाति सर्वान् दोषान् सर्वाणि कर्माणि सर्वान् संशयानिति स्कम्भो ब्रह्मात्मसाक्षात्कारः, तस्य सर्जन्यौ निर्मात्र्यौ स्थः, चरमवृत्तिरूपस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्योभयात्मकत्वात्। हे चिते, त्वं वरुणस्य वरणीयस्य मोक्षस्य ऋताय अबा-धितपदप्राप्तये सद्यत उपविश्यते तादात्म्येन यस्यां सा ऋतसदनी असि। हे जीवात्मन्, त्वं ऋतस्य **ब्रह्मणः सत्यस्य** सदनमावासस्थानमसि, प्रत्यक्चैतन्याभेदेन तस्य परमानन्दात्मनाऽभिव्यञ्जनात्। हे ब्रह्मन्, ऋतसदन**मृतस्य सत्यादे-र्गुणसमूहस्य सदनं जीवात्मानमभिलक्ष्य तदभेदेन चासीद प्रादुर्भूय स्थिरो भव।**

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है — हे साम्बपरमेश्वर! आप प्राप्तव्य वांछित मोक्षादि के धारक हैं। हे चिति एवं प्रकृति शक्तियों, आप दोनों दोषों के अवरोध के लिये बनाई गई है अथवा ब्रह्मात्मसाक्षात्कार की निर्मात्री हैं। हे चिति! तुम प्राप्तव्य मोक्ष की प्राप्ति की स्थानभूता हो। हे जीवात्मा! तुम सत्य ब्रह्म के आवासस्थान हो! हे ब्रह्मन्! आप सत्यादि गुणसमूह के स्थान जीवात्मा के प्रति सुस्थिर हों।

श्रीदयानन्दस्तु—'वरुणस्य वरितुं प्राप्तुं योग्यस्य श्रेष्ठस्य जगत उत्तम्भनम् उत्कृष्टं बन्धनमसि, अस्ति वा। वरुणस्य वायोः, 'वरुण इति पदनामसु' (निरु. ५.४), अनेन ज्ञानप्राप्तिगमनवतोऽर्थस्य ग्रहणम्। स्कम्भसर्जनी या क्रिया स्कम्भानामाधारकाणां सर्जनी उत्पादिका सा स्थः स्तः। वरुणस्य सूर्यस्य ऋतसदनी या क्रिया ऋतानां जलानां सदनी गमनागमनकारिणी असि, अस्ति वा। वरुणस्य वरपदार्थसमूहस्य ऋतसदनम् ऋतानां यथार्थानां पदार्थानां सदनं स्थानम्। वरुणस्य उत्कृष्टगुणसमूहस्य ऋतसदनं यदृतानां सत्यानां बोधानां स्थानम्, तत आसमन्तात् सीद प्रापयसि, प्रापयति वा' इत्यादिकम्, तदपि मोहमूलकमेव, शब्दमर्यादातिक्रमणात्। तथाहि—वरितुं प्राप्तुं योग्यस्य जगतो वरुणत्वे मोक्षाकाङ्क्षानुपपत्तेः। परमेश्वरं सम्बोध्य हे परमेश्वर, त्वं वरुणस्य श्रेष्ठस्य जगत उत्कृष्टं प्रतिबन्धनमसीति निरर्थकं वचः। नहीश्वरः श्रेष्ठस्य जगतः प्रतिबन्धनं भवति, प्रत्युत निकृष्टस्यैव प्रतिबन्धनमस्ति। तथैव वरुणपदस्य पदनामत्वेऽपि ज्ञानप्राप्तिगमनवान् पदार्थः कथं गृह्येत? यदि तु 'वरुणपदेन वायुपदं गृह्यते, वायुपदेन 'वा गतिगन्धनयोः' इति निष्पन्नेन गत्यर्थतायां प्राप्तिज्ञाने गृह्येते' इति, तदपि रिक्तं वचः, इन्द्रपदादिग्रहणे विनिगमनाविरहात्। एवं 'हे जगदीश्वर, या क्रिया स्कम्भानामाधारकाणां सर्जनी सा त्वमसि' इत्यप्यसङ्गतम्, ईश्वरस्य क्रियारूपत्वेऽनित्यत्वापत्तेः। क्रियायाः साश्रयत्वनियमादीश्वरस्याप्यन्याश्रयत्वापत्तिः। तथात्वे आधेयानां सर्जनी काचिदन्या क्रिया वक्तव्या। सा च नोपपद्यते, परमेश्वरस्यैव सर्वोत्पादकत्वाङ्गीकारविरोधात्। यद्यपि 'वरुण एव सविता' (जै. उ. ४.२७.३), 'स वा एष अपः प्रविश्य वरुणो भवति' (कौ. १८.९), 'वरुणो वै देवानां राजा' (श. १२.८.३.११) इत्यादिभिर्वरुणपदस्य सूर्यादयोऽर्थाः सम्भवन्ति, तथापि सूर्यस्य ऋतानां जलानां सदनी गमनागमनकारिणी क्रियापि परमेश्वर एव चेत्, तदा तस्यानेकरूपत्वापत्तिः स्यात्। तथात्वे तवापसिद्धान्तापातः, परमात्मनः सर्वरूपत्वेऽद्वैतप्रसक्तिश्च। एवं वरपदार्थसमूहस्य ऋतानां यथार्थानां पदार्थानां सदनं स्थानमसीत्यप्यपव्याख्यानम्, वरपदार्थेषु वरपदार्थान्तरासम्भवात्। नहि वरपदार्थेषु यथार्थाः पदार्था अन्ये सम्भवन्ति, तथात्वे वरपदार्थानामयथार्थपदार्थत्वापातात्। सीदेत्यस्य प्रापयसीत्यर्थोऽप्यसङ्गतः, लक्षणायां बीजाभावात्। द्वितीयान्वयेऽपि 'यो वरुणस्योत्तम्भनं धारकोऽस्ति, या वरुणस्य स्कम्भसर्जनी, या च वरुणस्य ऋतसदनी क्रिये स्थः, तयोर्धारकोऽस्ति' इत्यत्र स क इति न निरूपितम्, ईश्वरस्याभिन्ननिमित्तोपादानकत्ववादिरीत्या सर्वात्मत्वे सम्भवत्यपि तदन्यस्य तदनुपपत्तेः। किञ्च, 'स्थः' इति क्रियापदं 'स्कम्भसर्जनी' इति पदेन सम्बद्ध्यते, न ऋतसदनीति पदेन, 'ऋतसदन्यसीति' विरोधात्। तस्मात् सर्वथा पदपदार्थसम्बन्धबोधविधुरस्यैव तादृशं व्याख्यानं शोभते। एवं पदे पदे स्खलन्नपि परमाचार्याणामुव्वटसायणमहीधराणां दोषाभासानुद्घाटयन्न जिह्रेतीत्याश्चर्यमेव।

शतपथश्रुतिस्तु सिद्धान्तसम्मतमेव व्याख्यानं समर्थयते। तथाहि—'अथाध्वर्युरारोहणं विमुञ्चति। वरुणस्योत्तम्भनमसीत्युपस्तम्भनेनोपस्तभ्नाति वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थ इति शम्ये उद्वृहति स यदाह वरुणस्य

स्वामी दयानन्द का अर्थ शब्दों की मर्यादा का अतिक्रमण करने के कारण अज्ञानजन्य ही है। उस अर्थ के अनुसार वरणीय प्राप्तव्य जगत् के वरुण होने पर मोक्ष की आकांक्षा ही संगत नहीं होती। परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए—'हे परमेश्वर, आप वरुण अर्थात् श्रेष्ठ जगत् के उत्कृष्ट प्रतिबन्धक हैं' यह वाक्यरचना निरर्थक है, क्योंकि ईश्वर श्रेष्ठ जगत् का प्रतिबन्धक नहीं होता, अपितु निकृष्ट का ही प्रतिबन्धक है। इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रत्येक पद पर त्रुटि करते हुए भी प्राचीन आचार्यों—उव्वट, सायण, महीधर आदि के वृथा दोषों का उल्लेख करते हुए इनको संकोच नहीं होता, यह आश्चर्य ही है। शतपथ श्रुति भी हमारे सिद्धान्त-सम्मत व्याख्यान का ही समर्थन करती है ॥३६ ॥

स्कम्भसर्जनी स्थ इति वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति यत्सोमः क्रीतः' (श. ३.३.४.२५)। अथाध्वर्युरारोहणमारुह्यतेऽस्मिन्नित्यारोहणं शकटं विमुञ्चति बलीवर्दस्कन्धाभ्यां शकटयुगात् शम्ये ऊर्ध्वं निष्काश्य बलीवर्दौ पृथक्कृत्य शकटाग्रमुपस्तम्भनेनोपस्तभ्नाति। उपस्तभ्यते प्रतिबध्यत इत्युपस्तम्भः शकटाग्राधारकाष्ठम्, तेनोपस्तभ्नाति शकटाग्रम्। हे काष्ठ, त्वमुपनह्य स्थापितस्य सोमस्योत्तम्भनमसि शकटस्योत्तम्भकत्वात् तद्द्वारा वरुणस्याप्युत्तम्भकत्वमिति। 'हे शम्ये' इति द्विवचनेन सम्बोध्य 'स्कम्भसर्जनी स्थ' इति शम्ययोः समन्त्रकमुद्धरणं विधत्ते—वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः। वरुणस्य सोमस्य तदाश्रयभूतस्य शकटस्याङ्गस्य यत्स्कम्भनं तस्य सर्जन्यौ स्रष्ट्र्यौ स्थः, तस्यावरोधार्थं वा सृष्टे स्थः। तादृश्यौ युवामुद्गृह्णामीत्यर्थः। ततः 'स्थः' इति द्विवचनान्तक्रिया सङ्गच्छते। एतेन स्कम्भसर्जनी आधारकाणामुत्पादिका क्रियेत्यादिव्याख्यानमज्ञानमूलकमेव। 'वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति यत्सोमः' (श. ३.३.४.२५) (एतस्मिन्नवसरे क्रीतावसरे सोमो वरुण्यो भवति) इति श्रुत्या क्रीतस्य वाससा वेष्टितस्य सोमस्य वरुण्योक्त्या मन्त्रे वरुणपदेन सोमो गृह्यते। एतेन 'वरुणपदेन श्रेष्ठं जगत्, वायुर्वा सूर्यो वा, उत्कृष्टगुणसमूहः श्रेष्ठपदार्थसमूहो वा' इत्यादिव्याख्यानमप्यपव्याख्यानमेव मन्तव्यम्, स्वेच्छाचारमूलकत्वात्।

'अथ चत्वारो राजासन्दीमाददते। द्वौ वा अस्मै मानुषाय राज्ञ आददाते अथैतां चत्वारो योऽस्य सकृत् सर्वस्येष्टे' (श. ३.३.४.२६)। कात्यायनादिसूत्राणि ब्राह्मणानुसारीण्येव। तेष्वप्रामाण्यशङ्कोत्थापनमप्यनभिज्ञतामूलकमेव। चत्वारोऽत्राध्वर्युप्रतिप्रस्थात्रादयोऽध्वर्युवर्ग्या एव। तथा चापस्तम्बः—'तां सर्वेऽध्वर्यवोऽग्रेण प्राग्वंशं राजन्योद्गृह्यमान उद्गृह्णन्ति' (आप. श्रौ. १०.२९.७)। व्यतिरेकप्रदर्शनमुखेन ऋत्विक्चतुष्ट्वं प्रशंसति—द्वौ वेति। मानुषाय राज्ञ आन्दोलिकां द्वौ पुरुषा आददाते। योऽस्य प्रतीयमानस्य सर्वस्यैव जगतः सकृद् उपायेनैव ईष्टे ईश्वरो भवति। अथ एतामेतदीयां सोमसम्बन्धिनीमासन्दीं चत्वार आददते।

'औदुम्बरी भवति। अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरी भवति' (श. ३.३.४.२७)। आसन्द्या औदुम्बरीत्वविधानं प्रशंसति—औदुम्बरीति। 'देवा इषमूर्जं व्यभजन्त' (ऐ. ब्रा. ५.२४)। अन्नमूर्क्, ऊर्गुदुम्बरो भवति। तस्मादन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै वशीकाराय औदुम्बरी आसन्दी भवति। नन्वन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै इत्युदुम्बरस्य फलविधानम्, कुतः? 'अवरुद्ध्यै' इति चतुर्थ्या फलत्वप्रतिभानादिति चेन्न, औदुम्बरी भवतीत्यत्र वर्तमानव्यपदेशेन विधिप्रत्ययाभावेन विध्यभावात्। किन्त्वर्थवादेन विधिः कल्पनीयः, औदुम्बरस्य विधातुमशक्यत्वात् तत्फलत्वानुपपत्तेः। न च फलं स्तुतिं चार्थवाद एव सम्पादयत्विति वाच्यम्, वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तेन स्तावकमेवेदं वचनम्। 'नाभिदघ्ना भवति। अत्र वा अन्नं प्रतितिष्ठत्यन्नꣳ सोमस्तस्मान्नाभिदघ्ना भवत्यत्रो एव रेतस आशयो रेतः सोमस्तस्मादन्नदघ्ना भवति' (श. ३.३.४.२८)। नाभिप्रमाणा आसन्दी। 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (पा. सू. ५.२.३७) इति दघ्नञ्प्रत्ययः। अत्रेति पदेन नाभेरभिनयः। कुत एतदिति तत्राह—अत्र वान्नं प्रतितिष्ठतीति। नन्वन्नस्य प्रतिष्ठितत्वेऽपि सोमस्य किमायातमिति चेत्तत्राह—अन्नं सोम इति। सोमस्याप्यन्नत्वात्तस्य नाभिदघ्नायामासन्द्यां प्रतिष्ठितत्वं युक्तमेव। प्रकारान्तरेण नाभिदघ्नत्वं प्रशंसति—अत्रो एव रेतस इति। अत्रो अत्रैव। नाभावेव रेतस आशयो भवति। सोमोऽपि रेत एव। तस्मादपि नाभिदघ्ना सा युक्ता। 'तामभिमृशति। वरुणस्य ऋतसदन्यसीत्यथ कृष्णाजिनमास्तृणाति वरुणस्य ऋतसदनमसीत्यथैनमासादयति वरुणस्य ऋतसदनमासीदेति स यदाह वरुणस्य ऋतसदनमासीदेति वरुण्यो ह्येष एतर्हि भवति' (श. ३.३.४.२९)। तस्या अभिमर्शनं समन्त्रकं विधत्ते—तामभिमृशतीति। तामासन्दीम्। कृष्णाजिनमास्तृणाति। हे आसन्दि, त्वं वरुणस्य ऋतसदनम-

सीति, ऋतमिति यज्ञनाम, 'सत्यं वा यज्ञं वा' (निरु. ४.१९), यज्ञार्हं स्थानमसीत्यर्थः। आसन्दीवत् कृष्णाजिनस्य सोमासादनार्हत्वाद् आसन्दीस्पर्शनमन्त्र एव कृष्णाजिनस्पर्शेऽपि विनियुक्तः। सोमासादनमन्त्रे त्वासीदेति विशेषः। अत्रापि स यदाह—वरुणस्य ऋतसदनमिति वरुण्यो ह्येष एतर्हीत्यपि प्राग्वद् व्याख्येयम् ॥३६ ॥

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान् ॥३७॥

इति वाजसनेयसंहितायां चतुर्थोऽध्यायः ।।

'शालां प्रवेशयन्ति दीक्षितसञ्चरेण, या त इति वाचयति' (का. ७.९.२८-२९)। आसन्दीस्थं सोमं पूर्वोक्तेन यजमानसञ्चरेण नयेयुरध्वर्यवः। तदानीं या त इति मन्त्रं वाचयति यजमानमध्वर्युः। सोमदेवत्या त्रिष्टुप्। गौतमस्यार्षम्। हे सोम, ते तव या यानि प्रातःसवनादीनि स्थानानि, प्राप्येति शेषः। हविषा यजन्ति ऋत्विजस्त्वदीयरसरूपेण हविषा यागं कुर्वन्ति, अतो यज्ञमभिलक्ष्येति शेषः। ते तव सम्बन्धीनि ता तानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि स्थानानि परिभूरस्तु भवान् परितः प्राप्तवान् भवतु, यत्र ऋत्विजो यजन्ति तानि स्थानानि त्वं प्राप्नुहि। यद्वा—ऋत्विजो यानि धामानि प्राप्य यजन्ति तानि सर्वाणि ते तव यज्ञं परिभूरस्तु यज्ञमभिलक्ष्य परितो भवितॄणि यज्ञव्यापकानि सन्तु। किञ्च, गयस्फानो गयान् गृहान् स्फाययति पशुपुत्रहिरण्यादिभिर्वर्धयति यः स गयस्फानः, 'गय इति गृहनामसु' (निघ. ३.४.१), 'स्फायी वृद्धौ', गृहाभिवर्धकः। प्रतरणः प्रतारयति यज्ञपारं प्रापयतीति प्रकर्षेण यज्ञपारं प्रत्यस्मांस्तारयिता, यद्वा प्रकर्षेण तरन्त्यापदो येन स प्रतरणः। सुवीरः शोभनास्त्वत्प्रसादाल्लब्धा वीरा अस्मत्पुत्रपौत्रादयो यस्य स सुवीरस्त्वम्। अवीरहा यो वीराणां महतां पालकः। हे सोम, यथोक्तगुणयुक्तः सन् दुर्यान् गृहान् प्रचर प्राप्नुहि। 'दुर्या इति गृहनामसु' (निघ. ३.४.९)। यद्वा हे सोम, या यानि ते तव सम्बन्धीनि धामानि नामानि स्थानानि जन्मानि, त्रीण्यपि वा। 'धामानि त्रयाणि भवन्ति—स्थानानि, नामानि, जन्मानि च' (निरु. ९.२८) इति यास्कोक्तेः। हविषा यजन्ति यष्टारः। ता तानि ते तव विश्वा विश्वानि सर्वाणि परिभूः सर्वतो भवितॄणि। नपुंसकबहुवचनस्थाने पुंल्लिङ्गैकवचनं छान्दसम्। अस्तु सन्तु। बहुवचनान्तकर्तृकारकसंयोगात् क्रियाया अपि बहुवचनोपपत्तेः, यज्ञं यज्ञं प्रति व्याप्नुवन्तीत्यर्थः। सोमस्य परमेश्वरात्मत्वेन स्तुतिः। परमेश्वरस्य च नामानि स्थानानि जन्मानि त्रीण्यपि व्यापकान्येव भवन्ति। यद्वा यज्ञमिति प्रथमार्थे द्वितीया। ते तव यानि विश्वानि धामानि नामानि, तानि यज्ञः परिभूरस्तु यज्ञः परिगृह्य वर्तताम्। शेषं पूर्ववत्।

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम्हारे जिन प्रातःसोम आदि स्थानों को पाकर तुम्हारे रसरूप हवि से हम यज्ञरूप हवि का भोजन करते हैं, तुम्हारे वह सम्पूर्ण स्थान तुमसे सब ओर से व्याप्त हों। घर की वृद्धि करने वाले यज्ञ को प्राप्त कराने वाले हम ऋत्विग् और यजमान पुत्र-पौत्र आदि से सम्पन्न हों, तुम वीर पुरुष आदि को पालने वाले हो। हमारे यज्ञगृह में तुम आओ॥ सोम को स्थापित कर अध्वर्यु यजमान से इस मन्त्र को पढ़वाता है ॥३७॥

भाष्यसार—'या ते धामानि' इस ऋचा द्वारा अध्वर्यु आदि ऋत्विग्गण यजमान को यज्ञशाला में ले जाते हैं तथा इस ऋचा का वाचन अध्वर्यु यजमान से कराता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (७.९.२८-२९) में निरूपित इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होता है।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम परमेश्वर, या यानि तव धामानि स्थानानि नामानि जन्मानि च यष्टारो हविषा चरुपुराडाशसोमादिभिर्यजन्ति पञ्च-दश-षोडश-चतुःषष्ट्युपचारैः पूजयन्ति, ता तानि विश्वा सर्वाणि यज्ञं यज्ञं प्रति यजनं परिभूः परिभूरीणि, अस्तु सन्तु, तानि सर्वाणि व्यापकानि सन्तीत्यर्थः। तथाहि—नहि परमेश्वरस्य स्थानं तद्भिन्नं भवति, सर्वाधारस्य स्वयमनाधारत्वेन स्वप्रतिष्ठितत्वात्, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा. उ. ७.२४.१) इति श्रुतेः। नामानि तत्तद्रूपेण जन्मानि च तद्रूपाण्येव। यथा वैयाकरणानां रीत्या शब्दा अर्थाश्च बौद्धा एव, तथैव वेदान्तिरीत्या रूपाणि नामानि च परमेश्वरस्य चिन्मयान्येव। 'ओम् इत्येत दक्षरमिदꣳ सर्वम्' (माण्डू. उ. १), 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' (मु. २.२.११) इति माण्डूक्यादिश्रुतिभ्यः। यद्वा यज्ञं यज्ञः परमेश्वरार्चनम्, तानि धामानि परिगृह्य वर्तताम्। कीदृशस्त्वम्? गयस्फानो गृहस्थानामर्थे गृहस्य धनपुत्रादिभिर्वर्धयिता। आर्तानामापन्नानामार्तिभ्य आपद्भ्यस्तारयिता, मुमुक्षूणां संसारसिन्धुतारकः। भक्तानां मदमानादिनिवारणाय शोभनाः शमदमादयो वीरा यस्य स सुवीरः। अवीरहा अहन्ता रक्षको वीराणां स्वपक्षीयाणाम्। इत्थंभूतस्त्वं हे भगवन्, भक्तानां दुर्यान् हृदयगृहाणि प्रचर प्रविश्य स्थिरो भव।

दयानन्दस्तु—'या यानि ते तव तस्य वा धामान्यधिकरणद्रव्याणि हविषा ग्राह्येण दातव्येन पदार्थेन साधकेन वा यजन्ति पूजयन्ति संगमयन्ति वा, ता तानि ते तव तस्य वा विश्वा सर्वाणि परिभूः परितो भवतीति परिभूः, अस्तु भवतु। यज्ञं यष्टुमर्हं गयस्फानो गयानामपत्यधनगृहाणां स्फानो वर्धयिता, गय इत्यपत्यनामसु (निघ. २.२.८), धननामसु (निघ. २.१०.१२), गृहनामसु (निघ. ३.४.१)। प्रतरणः प्रतरन्ति दुःखानि येन सः। सुवीरः। अवीरहा अवीरान् कातरान् हन्ति येन सः। प्रचर विजानीहि, अनुतिष्ठ। हे सोम, सोमविद्यासम्पादक विद्वन्, दुर्यान् गृहाणि' इति। अन्वयस्तु—'हे जगदीश्वर, यथा विद्वांसो यानि ते नामानि हविषा यजन्ति, तथा तानि विश्वा वयमपि यजेम। एतेषां यथा यस्ते तव गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा परिभूर्यज्ञः सुखप्रदोऽस्ति, तथा भवत्कृपयाऽस्मभ्यमपि सुखकार्यस्तु। हे सोम विद्वन्, यथा वयमेतं यज्ञमनुष्ठाय गृहेषु प्रचरेम विजानीयामानुतिष्ठेम, तथा त्वमप्येतं दुर्या गृहाणि प्रचर विजानीह्यनुतिष्ठ। श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारस्य प्रकृतमन्त्रे सत्त्वे मानाभावात्। अत एव 'यथा विद्वांसो धामानि यजन्ति, तथा वयमपि' इत्यादि निर्मूलमेव। किञ्च, विदुषामनुकरणं कथञ्चित् सङ्गच्छेतापि, किन्तु विद्वत्कर्तृकमविद्वदनुकरणं तु सर्वथाऽसङ्गतमेव।

शतपथे तु—'अथैनꣳ शालां प्रपादयति। स प्रपादयन् वाचयति या ते धामानि .... दुर्यानिति गृहा वै दुर्या गृहान्नः शिवः शान्तोऽपापकृत् प्रचरेत्येवैतदाह' (श. ३.३.४.३०)। अथैनं शालामिति प्राग्वंशस्य पुरोदेशे

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे उमासहित परमेश्वर! आपके जिन स्थानों, नामों तथा जन्मावतारों का उपासकगण चरु, पुरोडाश, सोम आदि हविर्द्रव्यों से यजन करते हैं, अथवा पांच, दस, सोलह, चौंसठ आदि उपचारों से पूजन करते हैं, वे सभी प्रत्येक यजन, अर्चन परिपूर्ण, व्यापक हों। अथवा यजन, परमेश्वरार्चन उन स्थानों को प्राप्त करके स्थित रहें। धनपुत्रादि गृह्य पदार्थों को बढ़ाने वाले, आपत्तियों से तारने वाले अथवा मुमुक्षु जनों को संसाररूपी सिन्धु से पार कराने वाले, शम-दम आदि सुन्दर बलों से युक्त, वीरों के संरक्षणकर्ता हे भगवन्, आप भक्तों के हृदयावास में प्रविष्ट होकर स्थिर रहें।

स्वामी दयानन्द का अर्थ इस मन्त्र में लुप्तोपमा अलंकार की स्थिति के लिये प्रमाण न होने के कारण उचित नहीं है। इस मन्त्रार्थ में विद्वानों का अनुकरण तो किसी प्रकार उचित माना भी जा सकता है, किन्तु विद्वान् (सोम) द्वारा अविद्वान् साधारण जनों का अनुकरण करना सर्वथा असंगत है ॥३७॥

आसन्द्यां स्थापितं सोममासन्द्या सह प्राचीनवंशं गमयेदित्यर्थः। प्रपादन(प्रापण)समये या ते धामानीति मन्त्रं यजमानो वाचयेत्। अध्वर्योः प्राधान्यात्तदपेक्षया एकवचनम्। वस्तुतस्तु चत्वारोऽध्वर्युवर्ग्या ऋत्विजः प्रपादयन्तीत्येवार्थः, सूत्रकारेण तथैवोक्तत्वात्, 'आहवनीयं दक्षिणेन स्थापयन्ति' (का. श्रौ. ७.९.३०) इति, आसन्दीमिति शेषः। तथा च सिद्धान्तानुसार्ययमर्थः—हे सोम, ते या यानि धामानि स्थानानि नामानि जन्मानि त्रीण्यपि (निरु. ९.२८) धामशब्दवाच्यानि हविषा त्वदीयरसेन यजन्ति, ते तव तानि सम्बन्धीनि विश्वा विश्वान्यपि, 'यज्ञम्', व्यत्ययेन अयं यज्ञः, परिभूः परितो भावयिता अस्तु भवतु। त्वं च गयस्फानः पशुपुत्रादिना गृहस्य वर्धयिता, प्रतरण आपद्भ्यस्तारयिता, सुवीरः शोभनवीरोपेतस्तत्प्रदः, अवीरहा पुत्रादेरहन्ता सन् दुर्यान् गृहान् प्रचर प्रकरोषि। चतुर्थपादगतदुर्यशब्दार्थं ब्रुवन् कृत्स्नमन्त्रतात्पर्यमाह—गृहा वै दुर्या इत्यादिना ॥३७॥

इति वेदार्थपारिजातभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे॒ त्वाऽति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ऽग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा ॥१ ॥

अथ ज्योतिष्टोमप्रकरणम् । तत्र यजमानो यथाविधि द्रव्यविनिमयेन सोमं (लतां) क्रीत्वा तं शकटयोः समारोप्य शकटाभ्यामृत्विग्भिश्च सह शालां प्राग्वंशाभिधां प्रविशेत्। ऐतत्सम्बन्धिनो मन्त्राश्चतुर्थाध्याय उक्ताः । पञ्चमेऽस्मिन्नध्याये आतिथ्येष्टेर्हविषो ग्रहणमन्त्रा आदावुच्यन्ते । आतिथ्येष्टौ विष्णुर्देवता नवकपालः पुरोडाशश्च द्रव्यम्, 'वैष्णवो भवति' (ऐ. ब्रा. १.१५), 'नवकपालो भवति' (ऐ. ब्रा. १.१५) इति विधेः । इयमिष्टिः सोमस्य राज्ञो यजमानगृहानागतस्यातिथेः सत्कारायानुष्ठीयते, 'अतिथेरातिथ्यमसि' इति मन्त्रलिङ्गात् । तत्र प्रथमं हविर्निर्वापः प्राप्नोति, 'तूर्णमेकविमुक्ते[1] वा निर्वपेत्' (का. श्रौ. ८.१.२) इति सौत्रविधेः । अतो निर्वापाङ्गमयं मन्त्रः । अत एव 'निर्वपामि' अथवा 'गृह्णामि' इत्यध्याहारेण पूरणीयोऽयं मन्त्रभागः, [2]अर्थैकत्वाधिकरणन्यायात् । अत्र त्वान्ताः पञ्च मन्त्रा आम्नाताः । तथा च 'अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि' (गृह्णामि), 'सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादयः पञ्च मन्त्रा जायन्ते । प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोः 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्' इति निर्वापमन्त्रः । सोऽयमत्रातिदेशेन प्राप्तः प्रकृतमन्त्रेण बाध्यत इति केचनाचार्या आशेरते, त्वाशब्दद्वयविरोधात् । प्राकृतसवितृमन्त्रेऽपि

मन्त्रार्थ — हे सोम! तुम अग्नि के शरीर हो, परमात्मा की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। तुम सोम देवता के शरीर हो, विष्णु के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे सोम! तुम यज्ञमण्डप में आये अतिथि को अतिथिसत्कार से सन्तुष्ट करने वाले हो, विष्णुदेव की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। सोम को लाने वाले, शत्रु के दमन करने को श्येन (बाज) के समान उद्योगी मुझ यजमान के कल्याणार्थ, यज्ञाधिष्ठात्री विष्णु देवता की प्रसन्नता के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे धनसम्बन्धी पुष्टि देने वाले, अग्नि के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ, यज्ञदेव विष्णु की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ॥ चौथे अध्याय में ऋत्विक् सहित यजमान के शाला-प्रवेश से लेकर सोमक्रय करके शाला-आगमन तक के मन्त्र कहे गये हैं। इस पाँचवे अध्याय में पहले आतिथ्येष्टि , हविर्ग्रहण आदि के मन्त्रों का वर्णन है। यहाँ प्रथम मन्त्र से हवि का ग्रहण किया जाता है ॥१ ॥

भाष्यसार—ज्योतिष्टोम यज्ञ के प्रकरण में यजमान विधि के अनुसार द्रव्यों का विनिमय करते हुए सोमलता खरीदता है। तदनन्तर सोमलता को गाड़ियों पर रख कर ऋत्विग्गणों तथा गाड़ियों के साथ 'प्राग्वंशशाला' में आता है। इस यज्ञप्रक्रिया से सम्बद्ध मन्त्र चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादित किये गये हैं।

---

१. सोमं क्रीत्वा तं द्वयोः शकटयोः समारोप्य शालामानीयोत्तरदक्षिणपार्श्वयोः शकटाववस्थाप्य शकटादनड्वाहौ मोचनीयौ । तत्र विकल्पः— 'एकविमुक्ते वा' (का. श्रौ. ८.१.२) इति । उभयोर्मोचनानन्तरं निर्वापश्चेत् कदाचिद्विलम्बः स्यादिति पक्षान्तरमभिहितम् ।

२. 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्' (मी. सू. २.१.४६) इत्यधिकरणे विभागे साकाङ्क्षे सत्येकार्थप्रतिपादकत्वमेकवाक्यत्वमिति यजुर्मन्त्रपरिमाणं व्यवस्थापितं जैमिनिना ।

'देवस्य त्वा' इति त्वाशब्दः। वैकृतमन्त्रेऽपि 'विष्णवे त्वा' इति त्वाशब्दः। उभयोरप्येकार्थत्वात् प्रयोगो नोचित इति तेषामाशयः। 'पञ्चसु सावित्रं जुष्टं चानुषजतिनोत्तरयोरित्येके' इति सूत्रयन्त आपस्तम्बाचार्याः प्राकृतमन्त्रस्य समुच्चयमभिप्रयन्ति। तत्र त्वाशब्दद्वयविरोधस्तु नाशङ्कनीयः, तथाविधविधेः सत्त्वात्, 'श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा' इति वैकृतमन्त्रे त्वाशब्दद्वयश्रवणाच्च। कर्काचार्या अपि समुच्चयपक्षमेव समर्थयन्ते। तथा च समुच्चयपक्षे 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा जुष्टं निर्वपामि' इत्यादय आकारा मन्त्राणां जायन्त इति स्थितिः। अस्यां स्थितौ महीधरभाष्यं प्रवृत्तम्।

सोमस्य राज्ञः पञ्चानुचराः— १. अग्निः, २. सोमः, ३. अतिथिः, ४. श्येनः, ५. रायस्पोषदोऽग्निश्चेति। तत्राद्याश्चत्वारः क्रमेण गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-गायत्रीच्छन्दोऽधिष्ठातारः, अन्त्यस्तु सर्वच्छन्दोऽधिष्ठाता। अत आद्यस्याग्नेरन्तिमस्य चाग्नेर्भेदः। मन्त्रे 'असि' इति मध्यमपुरुषैकवचनश्रवणात्तदनुकूलं प्रकृतं हविःपदं सम्बुद्ध्यन्तमध्याह्रियते, वाक्यपूरणाय च 'निर्वपामि, गृह्णामि' इति वाऽध्याह्रियते। तथा च मन्त्रस्यायमर्थः— हे हविः, त्वं सोमस्य राज्ञोऽनुचरस्याग्निसंज्ञकस्य तनूः शरीरमसि, तृप्तिजनकत्वात्। अतस्त्वा त्वां विष्णवे व्यापनशीलाय प्रकृतसोमाय प्रीतिजननार्थं निर्वपामि निर्वापसंस्कारेण संस्करोमि। तथैव सोमसंज्ञः कश्चित् सोमस्य राज्ञो भृत्यस्त्रिष्टुप्छन्दोऽधिष्ठाता। हे हविः! तस्य त्वं तनूरसि, तृप्तिहेतुत्वादेव। एवमतिथिसंज्ञोऽपि सोमानुचरस्तस्यातिथ्यमसि, आतिथ्यसंस्काररूपमसि। 'निर्णीततिथिविशेषं विनैवागते विप्रादौ तत्सत्काराय क्रियमाणः पादप्रक्षालनभोजनसंवहनादिसंस्कार आतिथ्यमुच्यते' इति सायणः। तथाविधत्वं हविषोऽत्र विवक्ष्यते। विष्णवे त्वा निर्वपामि। श्येनाय त्वा निर्वपामि। श्येनसंज्ञको देवः सोमराजानुचरः स्वर्गात् सोमहर्ता श्येनरूपधारिगायत्र्यधिष्ठातेति महीधरः। स च नानाविधोपपन्नादिसमर्पणेन सोमराजानं बिभर्तीति सोमभृत्, तस्मै सोमभृते श्येनाय हे हविस्त्वां निर्वपामि। यद्वा सोमं हरतीति सोमहृत्, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा. सू. ३.१.८४) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन हस्य भः। सोमानयनकर्त्रे श्येनाय देवाय त्वां निर्वपामीति, 'सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममहरत्' (श. ३.४.१.१२) इति श्रुतेः। अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वेत्यपरोऽपि कश्चिदग्निनामकः सोमराजानुचरो रायस्पोषदः, रायस्पोषं तुष्टिं ददातीति रायस्पोषदस्तस्मै। राज्ञो गृहे यद्धनमस्ति तत्क्रयविक्रयादिना बहुधा पोषयित्वा राज्ञे समर्पयतीति। तथाविधायाग्नये रायस्पोषदे हे हविस्त्वां निर्वपामि। 'रायस्पोषदे' इति क्विप्प्रत्ययान्तश्चतुर्थ्यन्तः। स चानुक्तच्छन्दोऽधिष्ठाता। विष्णुशब्दाभिधेयस्य सोमस्य राज्ञो हविषा तदनुचराणामग्न्यादिदेवानां तद्द्वारा तत्सम्बन्धिगायत्र्यादिच्छन्दोदेवतानां च तृप्तिर्भवति। तदेतदभिप्रेत्य लौकिकन्यायवचनेन तित्तिरिर्विस्पष्टमाह— 'यावद्भिर्वै राजानुचरैरागच्छति सर्वेभ्यो वैतेभ्य आतिथ्यं क्रियते छन्दांꣳसि खलु वै सोमस्य राज्ञोऽनुचराणीति' (तै. सं. ६.२.१.३) इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः।

इस पञ्चम अध्याय में यज्ञप्रक्रिया की दृष्टि से 'आतिथ्या' नामक इष्टि के मन्त्र हैं। प्रारम्भ में आतिथ्येष्टि में हविर्द्रव्य के ग्रहण के मन्त्र उपदिष्ट हैं। आतिथ्येष्टि में प्रधान देवता विष्णु के लिये नवकपाल पुरोडाश हविर्द्रव्य प्रदान किया जाता है। यह इष्टि यजमान के घर में आये हुए अतिथियों के राजा सोम के सत्कार के लिये अनुष्ठित की जाती है।

कात्यायान श्रौतसूत्र (८.१.२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार इस मन्त्र से हविर्द्रव्य का निर्वाप (ग्रहण) किया जाता है। इस हेतु से 'निर्वपामि' अथवा 'गृह्णामि' इस प्रकार पद के अध्याहार से इस कण्डिका के मन्त्रभाग पूर्ण किये जाते हैं। इसमें 'त्वा' अन्तिम पद वाले पांच मन्त्र कहे गये हैं।

आध्यात्मिकोऽर्थो यथा— भक्तिसिद्धान्ते स्वसर्वस्वात्मनिवेदनं देवतायै क्रियते। ज्ञानयज्ञे च ब्रह्मैव यज्ञो भवति, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' (भ. गी. ४.२४) इति गीतोक्तेः। तथा च स्वात्मानमेव हविष्ट्वेन भावयित्वा यः स्थितः स स्वात्मानमेव हविष्ट्वेन सम्बोधयति। हे हविस्त्वमग्नेस्तनूः स्वरूपमसि। अग्निरत्र परमात्मैव। यः परमात्मने हविष्ट्वेन भावयित्वात्मानं जुहोति स परमात्मस्वरूप एव भवति। विष्णवे तदाराधनभूताय यज्ञाय त्वा गृह्णामि भावयामि। सोमस्य विमर्शात्मकस्य तनूः स्वरूपमसि। अग्नीषोमौ पुरुषप्रकृत्यात्मकौ जगत्कारणभूतौ, सोपाधिकस्य जीवस्योभयात्मत्वात्। अतिथेरतिथित्वेन सत्करणीयस्येष्टदेवस्यातिथ्यमसि सत्करणरूपमसि। यज्ञाय त्वा गृह्णामि। सोमभृते सोमाहरणकर्त्रे गायत्र्यधिष्ठायिने देवाय त्वा अग्नये त्वा रायस्पोषाय धनपोषाय तद्विशेषणविशिष्टाय श्येनाय पातकपोतकपक्षिसंहर्त्रे त्वा गृह्णामि, साङ्गोपाङ्गाय भगवते त्वा समर्पणीयहविष्ट्वेन भावयामीत्यर्थः।

अत्र मन्त्रे दयानन्देन मन्त्रगतपदानामर्थाः, तेषामन्वयः, भावार्थश्च पृथक् पृथग् निर्दिष्टाः। मध्यमपुरुषैकवचनम् 'असि' पदं प्रथमपुरुषैकवचनान्ततया व्यत्यस्य 'त्वा'पदस्य तच्छब्दार्थकत्वं स्वीकृत्य पदार्था वर्णिताः। अग्नेः प्रसिद्धस्य ज्वलनस्य, तनूः शरीरवद् भवति, विष्णवे यज्ञानुष्ठानाय त्वा तद्धविरिति। अन्वयप्रतिपादनावसरे— हे मनुष्याः! यथाहं यद्धविरग्नेस्तनूरसि भवति, त्वा तद्धविर्विष्णवे यज्ञानुष्ठानाय स्वीकरोमि। तथैवैतत्सर्वं यूयमपि सेवध्वमिति वाक्यार्थः प्रतिपादितः। एवं सोमस्य या तनूः सामग्री वर्तते त्वा तां विष्णवे उपयुञ्जेऽहं यथा तथा यूयमप्युपयुङ्ध्वमित्यादयो वाक्यार्थाः प्रदर्शिताः। अत्र त्वाशब्दस्य तच्छब्दार्थकत्वं तस्य हविःपरामर्शकत्वं च कथमवधृतं दयानन्देन? तनूशब्दः शरीरवाची प्रसिद्धः। 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' (अ. को. २.६.७१), 'तनुर्वपुस्त्वचोः। विरलेऽल्पे कृशे' (अ. चि. २.२७०), 'तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात् त्रिष्वल्पे विरले कृशे' इत्यादिकोशेभ्यः। तस्य क्वचिच्छरीरवदिति क्वचिच्च विस्तारकमिति चार्थो लक्षणयैव वाच्यः। लक्षणायाश्चान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा बीजम्। अग्नेस्तनूः शरीरं त्वमसि, अतस्त्वां गृह्णामीत्यन्वयोपपत्तेः। तात्पर्यानुपपत्तौ किमत्र मन्त्रतात्पर्यानुपपत्तिः, दयानन्दतात्पर्यानुपपत्तिर्वा? मन्त्रतात्पर्यं

इस कण्डिका का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है — भक्तिसिद्धान्त में देवता के लिये अपने सर्वस्व सहित आत्मनिवेदन किया जाता है। ज्ञानयज्ञ में तो ब्रह्म ही यज्ञ होता है। श्रीमद्भगवद्गीता (४.२४) में भी यह कहा गया है। इस प्रकार स्वात्मतत्त्व को ही हविर्द्रव्य के रूप में मानकर जो साधक अवस्थित है, वह स्वात्मा को ही हवि के रूप में सम्बोधित करता है कि—हे हविर्द्रव्य, तुम अग्नि के स्वरूप हो। अग्नि तो परमात्मा ही है। जो परमात्मा के प्रति हविर्द्रव्य के रूप में स्वयं को समर्पित करता है, वह परमात्म-स्वरूप ही हो जाता है। विष्णु के आराधनात्मक यज्ञ के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। तुम विमर्शात्मक सोम के स्वरूप हो, क्योंकि पुरुष एवं प्रकृत्यात्मक अग्नि तथा सोम सोपाधिक जीव के उभयात्मक होने के कारण जगत् के हेतुभूत हैं। तुम अतिथि के रूप में सत्कार करने योग्य इष्टदेव के सत्कारभूत हो। यज्ञ के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। सोम का आहरण करने वाले गायत्री के अधिष्ठाता देव, अग्नि के लिये धनपुष्टि से विशिष्ट पापरूपी पक्षी का संहार करने वाले देव के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। अर्थात् अङ्ग, उपाङ्गों के सहित भगवान् के लिये समर्पणीय हविर्द्रव्य के रूप में तुमको निवेदित करता हूँ।

इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द ने मन्त्रगत पदों का अर्थ, उनका अन्वय, तथा भावार्थ अलग-अलग किया है। इसमें 'त्वा' शब्द का अर्थ 'तत्' करना तथा उससे हवि का बोधन होना स्वामी दयानन्द ने कैसे माना है? 'तनु' शब्द का कहीं शरीर अर्थ तथा कहीं विस्तारक अर्थ लक्षणा के द्वारा ही किया जा सकता है। लक्षणा करने में अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति ही कारण होते हैं। यहां मन्त्रतात्पर्य में क्या अनुपपत्ति है? इसमें उपमान-उपमेय का सम्बन्ध भी प्रदर्शित किया गया है। 'अहम्' यह उपमान है तथा 'यूयम्' उपमेय है। इसमें 'अहं' पदार्थ क्या है? अध्वर्यु है, यजमान है, अथवा स्वामी दयानन्द? हिन्दीभाष्य भी मन्त्रगत पदों के कहे गये उन उन अर्थों के खण्डित हो जाने के कारण बालोक्ति की भाँति ही है ॥१॥

च निर्वापसंस्कारेण संस्क्रियमाणे हविषि वर्तते, तत्र न काचिदनुपपत्तिर्येन लक्षणा स्यात्। दयानन्दतात्पर्यं चेत्, तत्र व्यवस्थितम्, अप्रयोजकं च। वेदस्य तात्पर्यनिर्णायकत्वेन षट् प्रमाणानि परिगणितानि — 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये'॥ इति।

किञ्च, त्वाशब्दस्य तच्छब्दार्थकत्वमाश्रित्य तस्य हविःपरामर्शकत्वं वर्ण्यते— त्वा तद्धविरिति। किञ्च तद्धविः? केन च प्रमाणेन तत्प्राप्तम्? यदत्र त्वाशब्देन परामृश्यते। सर्वनाम्नां बुद्धिस्थत्वावच्छिन्नपदार्थे शक्तिः। बुद्धिस्थत्वं च प्रापकप्रमाणेन वक्तव्यम्। सिद्धान्तपक्षे तत्प्रापकं प्रमाणं ब्राह्मणवाक्यं वा सूत्रं वा मन्त्रगततनूःपदं वा। तदेव चेत्प्रमाणं दयानन्दस्य न तर्हि त्वाशब्दस्य तच्छब्दार्थकत्वम्, त्वा त्वां हविर्गृह्णामीत्युपपत्तेः। "सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा' इत्यत्राप्येवमेव वाक्यार्थे सम्पद्यमाने किं निष्प्रमाणकेन क्लेशेन। 'अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा' इत्यत्रापि विपरिणामाध्याहारादिक्लेशोऽनुचित एव। किञ्चात्र 'स्वीकरोमि, उपयुञ्जे, परिगृह्णामि, प्रक्षिपामि, आददे, स्वीकरोमि, संगृह्णामि' इति सप्त क्रियापदान्यध्याहृत्य वाक्यार्थाः प्रदर्शिताः। एवं च तत्तत्क्रियायां तत्तन्मन्त्रस्य विनियोग इत्यापतति। आसु क्रियास्वन्यतः प्राप्तासु तत्र मन्त्रा अङ्गमिति सिद्ध्यति। कस्मादिमाः क्रियाः प्राप्ता इति प्रश्नस्य किमुत्तरं भवेत्? यथेच्छं स्वेनोन्नीतासु क्रियासु नहि मन्त्राणामङ्गत्वम्। मन्त्राणामङ्गत्वग्राहकं प्रमाणं लिङ्गं वा वाक्यं वेति शास्त्रमर्यादा। तदत्र किं प्रमाणमिति वक्तव्यम्।

किञ्च, यथाहं - - - तथैवैतत्सर्वं यूयमपि, इत्युपमानोपमेयभावः प्रदर्शितः। अहमित्युपमानम्, यूयमिति चोपमेयम्। तत्राहंपदार्थः कः? किमध्वर्युः, उत यजमानः, आहोस्विद्दयानन्दः? अध्वर्युस्तु हविर्निर्वपति, न स्वीकरोति नाप्युपयुङ्क्ते। नहीमानि कार्याणि विहितान्यध्वर्योः। यानि विहितानि निर्वापप्रोक्षणावहननादीनि, तान्येव करोत्यध्वर्युः। यजमानश्चेदहं पदार्थः, तर्हि स्वयं स्वीकृत्य तदुपयुज्य कथं देवेभ्यः प्रदद्यात्? यदि दयानन्दोऽहंपदार्थः, स यद्यत्करोति तत्तन्मनुष्यैः कर्तव्यमिति न निर्बन्धः। अतो नात्र क्वचिदुपमानं प्रसिद्धं पश्यामः। प्रसिद्धमेव भवत्युपमानम्। अतः सर्वथोपमानोपमेयभावोऽसङ्गतः। किञ्च, वाचकलुप्तोपमालङ्कार इति दयानन्दः कथयति। वाचकं तु इवादिपदम्। तदत्र मन्त्रे नास्तीति तु सत्यम्, किन्तूपमानोपमेयसाधारणधर्मा अप्यत्र मन्त्रे न सन्ति। सर्वलुप्तोपमालङ्कारश्च न कैश्चनालङ्कारिकैः परिगणितः। 'यथाहं तथा यूयम्' इति दयानन्दकृतविवरणे वर्तते। वाचकलुप्तोपमालङ्कारः किं मन्त्रस्य? उत दयानन्दविवरणस्य? मन्त्रस्येति तु न सङ्गतम्, तत्र कस्याप्यसत्त्वात्। दयानन्दविवरणस्येति चेन्न, तस्यानुपादेयत्वात्। अतः सर्वथा दयानन्दकृतमिदं मन्त्रविवरणमप्रामाणिकं निर्युक्तिकं च। किञ्च, भावार्थतया लिखितम्—'मनुष्यैरेतत्फलप्राप्तये' इति। न खलु मन्त्रे किञ्चित्फलमभिहितमुपलभामहे, यदवाप्तये मनुष्यास्तत्र प्रवर्तेरन्, त्रिविधं यज्ञं चानुतिष्ठेयुः। यज्ञानामनुष्ठेयत्वं विधिद्वारा सिद्ध्यति। कोऽयं विधिः? यश्च त्रिविधान् यज्ञान् विधत्ते। दयानन्दवाक्यं चेद् विधिः, सोऽनादेय एव।

किञ्च, पदार्थनिरूपणावसरे—'श्येनाय श्येनवदितस्ततः सद्यो गमनाय, त्वा तद्धवनं कर्म' इत्यभिधाय वाक्यार्थनिरूपणावसरे स लिखति—'यत् श्येनाय श्येनवच्छीघ्रगमनाय प्रवर्तते त्वा तद् अग्न्यादिषु प्रक्षिपामि' इति। पदैरभिहिताः पदार्था वाक्यार्थे भासन्त इति शास्त्रीया सरणिः। त्वापदस्यार्थः 'तद्धवनं कर्म' इति। वाक्यार्थेऽपि 'त्वा तत्' इति तच्छब्देन तदेव हवनं कर्म वक्तव्यम्। तस्य हवनस्य कर्मणः 'अग्न्यादिषु प्रक्षिपामि' इत्यग्नौ प्रक्षेपः कथमुपपद्येत? नहि कर्म अग्न्यादिषु प्रक्षेप्तुं शक्यते, अतः सर्वथा विसङ्गतमेवेदं विवरणं दयानन्दस्य।

किञ्च, भावार्थे त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय इति लिखितम्। त्रैविध्यं च यज्ञस्यान्वयप्रतिपादितमिति टिप्पण्यां परिदृश्यते। अन्वये च—'तथैवैतत्सर्वं यूयमपि सेवध्वम्' इति वाक्ये 'सेवध्वम्' इति विधिना यज्ञो विधातव्यः। स

च यज्ञः 'एतत् सर्वम्' इत्यनेनोच्यत इति स्वीकर्तव्यम्। तत्रैतच्छब्दः पूर्वोक्तानि परामृशति। पूर्वोक्तानि स्वीकारादीनि सप्त कर्माणि दृश्यन्ते। एतेषां कर्मणामेव किं यज्ञत्वमभिप्रेतं दयानन्दस्य? यद्योमिति, तर्हि तानि सप्त सन्तीति कथं त्रैविध्यम्? यद्याध्यात्मिकाधिदैविकाधियाज्ञिकरूपेण यज्ञानां त्रैविध्यमभिप्रेतम्, तर्हि तेषां प्रापकं प्रमाणं किमिति वक्त-व्यम्? 'विष्णवे' इत्यस्य यज्ञानुष्ठानायेत्यपि गौण एवार्थः। सोमस्य जगदुत्पन्नस्य पदार्थसमूहस्येत्यर्थापनेऽपि किं मूलम्? 'विष्णवे व्यापनशीलस्य वायोश्च शुद्धये' इत्यत्रापि मूलं चिन्त्यम्। कथञ्चिद् विष्णुपदस्य वाय्वर्थकत्वेऽपि शुद्धिः कस्य पदस्यार्थः? वस्तुतस्तु न वायोर्व्यापकत्वम्, आकाशाहमादौ तदभावात्। विज्ञानप्राप्तेरपि न व्यापकत्वं सम्भवति। 'अग्नये पावकवर्धनाय, त्वा तदिदं धनादिकम्' इत्यादिकमपि न शब्दमर्यादामनुरुणद्धि। 'हे मनुष्याः, यथाहमग्नेः शरीरवत्प्रसिद्धं हविर्यज्ञसिद्धये स्वीकरोमि, यथा च पदार्थसमूहस्य विस्तारकसामग्री विष्णवे वायुशुद्धये उपयुञ्जे, यथा चातिथेरातिथ्यं सेवाकर्म विज्ञानप्राप्तये गृह्णामि, श्येनपक्षिवच्छीघ्रगमनागमनशीलं द्रव्यमग्न्यादिषु प्रक्षि-पामि, यच्च विष्णवे सर्वविद्याकर्मसोमधारिणो यजमानस्य सुखमस्ति तद् गृह्णामि, अग्निवर्धनाय काष्ठादिकं स्वीकरोमि, ये च रायस्पोषदे धनपुष्टिदानाय विष्णवे उत्तमगुणविद्याव्याप्तये पदार्थाः सन्ति, तान् गृह्णामि, तथैव यूयमपि सेवध्वम्' इत्यादिकं हिन्दीभाष्यमपि बालभाषितमेव, मन्त्रपदानां तत्तदुक्तार्थकत्वस्य खण्डितत्वात्।

शतपथे त्वातिथ्येष्टिप्रसङ्गेऽयं मन्त्रो व्याख्यातः। 'अथ यस्मादातिथ्यं नाम। अतिथिर्वा एष एतस्यागच्छति यत्सोमः क्रीतस्तस्मा एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुषꣳ हविर्देवानामेवमस्मा एतदातिथ्यं करोति' (श. ३.४.१.२)। यत्सम्बन्धादिदं हविरातिथ्यं तस्य सोमस्य कथमतिथित्वमिति निर्वचनेन दर्श-यति—यस्मादातिथ्यं नामेति। एतस्य यजमानस्य वसतिं योऽतिथिः सन् यस्मादागच्छति, न विद्यते नियता तिथिर्यस्य सोऽतिथिस्तस्मादतिथये सोमाय राज्ञे चैतद्धविर्निरुप्यत इत्यातिथ्यं नाम सम्पन्नम्। राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा, महोक्षं वृषभोत्पादितं व्रीहियवादिकम्, महाजं वा पचेत्। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ. सं. ९.४६.४) इत्यत्र यथा गोपदं गोविकारे दुग्धे प्रयुज्यते, तथैव महोक्षशब्दोऽपि महोक्षोत्पादिते व्रीहियवादौ प्रयुज्यते, अघ्न्यादिश्रुतिवि-रोधात्। तदह तदेव। मानुषमातिथ्यम्। देवानां तु हविरेवातिथ्यम्। अत एव तस्मै सोमाय राज्ञ एतदातिथ्यं करोति।

'स गृह्णाति। अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वेत्यग्निर्वै गायत्री तद्गायत्रीमन्वाभजति॥ सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वेति। क्षत्रं वै सोमः क्षत्रं त्रिष्टुप् त्रिष्टुभमन्वाभजति॥ अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वेति। सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धार एवमस्यैष ऋते छन्दोभ्यः॥ श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वेति। तद्गायत्रीमन्वाभजति सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्तेन सा श्येनः सोमभृत्तेनैवैनामेतद्वीर्येण द्वितीयमन्वाभजति॥ अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वेति। पशवो वै रायस्पोषः पशवो जगती तज्जगतीमन्वाभजति॥ अथ यत्पञ्चकृत्वो गृह्णाति। संवत्सरसम्मितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्चकृत्वो गृह्णात्यथ यद्विष्णवे त्वा विष्णवे त्वेति गृह्णाति विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति॥' (श. ३.४.१.९-१४)।

हविर्ग्रहणे मन्त्रं विधत्ते—अग्नेस्तनूरसीति। स्वं शरीरं भवति शरीरोपचयहेतुत्वात्तनूवदाच्छादकत्वाद्वा तनूत्वम्। सवनत्रयव्यापित्वात् सोमो विष्णुः सोमाय त्वा गृह्णामि, अथवा 'विष्णवे हि गृह्णाति यो यज्ञाय गृह्णाति' (श. ३.४.१.१४) इति श्रुत्या यज्ञाय त्वा गृह्णामीत्यर्थः। मन्त्रगतमग्निपदं गायत्र्यन्वाभक्तिसाधनत्वेन प्रशंसति—अग्निर्वै गायत्रीत्यादिना। अग्नेर्गायत्रीरूपत्वं तु प्रजापतेर्मुखात् सहोत्पन्नत्वात्, 'तमग्निर्देवोऽन्वसृज्यत गायत्री छन्दः' (तै. सं. ७.१.१.४) इति श्रुतेः। सोमस्यान्नत्वात् साक्षाच्छरीरोपचयहेतुत्वात् तनूत्वम्। सोमस्य राज्ञः क्षत्रत्वमसकृदुक्तम्। प्रजा-

पतेरुरसो बाहुभ्यां च राजन्येन सह त्रिष्टुभोऽप्युत्पत्तेः क्षत्रत्वम् (तै. सं. ७.१.१.४)। अतिथिशब्दस्य तात्पर्यमाह—सोऽस्योद्धार इति। उद्ध्रियतेऽसाधारण्येन विभज्यत इत्युद्धारः प्रतिनियतभागः। गायत्र्या अन्वाभजनरूपतया श्येनशब्दं प्रशंसति—गायत्री श्येनो भूत्वेति। श्येनरूपं धृत्वा सोमाहरणाद् गायत्री सोमभृत् श्येनः। तदेवाह—सा यद्गायत्रीति। तेनैव वीर्येण हेतुना एनां गायत्रीं द्वितीयं भागं प्रत्यन्वाभजत्यध्वर्युरितद्भागपाठेनेत्यर्थः। अग्नये त्वेति। अङ्गनादिगुणविशिष्टाय रायस्पोषदे धनपोषप्रदात्रे विष्णवे सोमाय हे हविस्त्वां गृह्णामि। जगत्यन्वाभजनरूपतया मन्त्रभागं प्रशंसति—पशवो वै रायस्पोष इति। पशूनामेव वर्धमानधनरूपत्वात् पशवो रायस्पोष इत्युक्तिः। पशूनां जगतीत्वं जगत्या सोमाहरणसमये आहृतत्वात्। 'सा पशुभिश्च दीक्षया चागच्छदिति' (तै. सं. ६.१.६.२)। प्रकृतौ चतुःकृत्वो ग्रहणादत्रापि चोदकेन तत्प्राप्त्या पञ्चसंख्यां विधाय प्रशंसति—अथ यत्पञ्चकृत्व इति। यज्ञस्य संवत्सरसम्मितत्वं गवामयनादिसत्ररूपस्य यज्ञस्य संवत्सरसाध्यत्वाद्वा संवत्सरात्मकप्रजापतिसम्मितत्वाद्वा, 'द्वादशास्तोत्राण्यग्निष्टोमः' (ता. म. ब्रा. ४.२.१२) इति श्रुतेस्तद्गतसंख्यया संवत्सरसाम्याद्वा द्रष्टव्यम्। ग्रहणमन्त्रेषु सर्वत्र विष्णुशब्दोपादानं प्रशंसति—अथ यद्विष्णव इति। यत्र यत्र हविर्गृह्यते तत्र तत्र यज्ञार्थत्वनियमात् सोमस्य हविष्ट्वेन यज्ञार्थत्वाद् विष्णवे ग्रहणं युक्तमित्यर्थः।

एवं शतपथेनापि सायणादिसम्मत एवार्थः समर्थ्यते—'आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा। तान् समदवियन् ते चतुर्धा व्यद्रवन्नन्योऽन्यस्य श्रिया अतिष्ठमाना अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैर्वरुण आदित्यैरिन्द्रो मरुद्भिर्बृहस्पतिर्विश्वैर्देवैरित्यु हैक आहुरेतो ह त्वेव ते विश्वे देवा ये ते चतुर्धा व्यद्रवंस्तान् विद्रुतानसुररक्षसान्यनुव्यवेयुः' (श. ३.४.२.१)। तान् विद्रुतानसुरराक्षसांश्चायमवसर इति निश्चित्यानुप्राप्ता इत्यर्थः ॥१॥

अ॒ग्नेर्ज॒नित्र॑मसि॒ वृष॑णौ स्थ उ॒र्वश्य॑स्या॒युर॑सि पु॒रू॒रवा॑ असि। गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि ॥२॥

[१]ब्राह्मणविहितानि षट्कर्माणि—(१) शकलस्य वेद्यां निधानम्, (२) तदुपरि द्वयोः कुशयोर्निधानम्, (३) तयोरुपर्यधरारणिनिधानम्, (४) उत्तरारण्या आज्यस्य संस्पर्शनम्, (५) तस्या अधरारणेरुपरि निधानम्, (६) अग्निमन्थनं चेति। षडिमानि कर्माणि सम्पादयितुं 'अग्नेः' इति मन्त्रः प्रवृत्तः। यथाब्राह्मणं [२]सूत्रकारोऽपीमानि कर्माणि प्रदर्श्य तत्र

मन्त्रार्थ — हे काष्ठखण्ड! तुम अग्नि को उत्पन्न करने वाले हो। हे कुशों! तुम सींचने वाले, अर्थात् अरणि-काष्ठों में अग्नि उत्पन्न करने की शक्ति देने वाले हो। हे नीचे की अरणि! अग्नि की उत्पत्ति के लिये हमने तुमको स्त्रीरूप माना है, अब तुम उर्वशी नाम वाली हो। हे स्थाली के घृत! तुम अग्नि की आयु हो। हे उत्तरारणि! हम अग्नि उत्पन्न करने के निमित्त तुम्हारी पुरुषरूप में कल्पना करते हैं, अतः तुम पुरूरवा नाम के हो। हे अग्नि! गायत्री छन्द के अधिष्ठाता अग्नि देवता के बल से तुमको मन्थन से प्रकट करता हूँ, त्रिष्टुप् छन्द के अधिष्ठाता इन्द्रदेवता के बल से तुमको दो अरणियों के द्वारा मथता हूँ। हे अग्निदेव! जगती छन्द के अधिष्ठाता विश्वेदेवों के बल से तुमको दो अरणियों के द्वारा मथता हूँ॥२॥

भाष्यसार—'अग्नेर्जनित्रमसि' इस कण्डिका द्वारा शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित छः कार्य किये जाते हैं— वेदि पर काष्ठखण्ड का स्थापन, दो कुशाओं का स्थापन, उन पर अधरारणि का स्थापन, उत्तरारणि द्वारा घृत का स्पर्श, अधरारणि पर उत्तरारणि द्वारा घृत

---

१. 'शकलमादत्ते, दर्भतरुणके निदधाति, अथाधरारणिं निदधाति, उत्तरारण्याज्यविलापनीमुपस्पृशति, तामभिनिदधाति, स मन्थति' (श. ३.४.१.२०-२३) इति विषयः।

२. का. श्रौ. ५.१.२२-२५, ५.२.२

मन्त्रान् विनियुङ्क्ते। अग्निमन्थनार्थमधरारणिरुत्तरारणिरित्यरणिद्वयम्। तत्राधरारणेर्वेद्यां निक्षेपणात् पूर्वं शकलमेकं निक्षिप्य तदुपरि द्वौ कुशौ प्रागग्रतया प्रसारणीयौ। तदुपर्यधरारणिः, तदुपरि चोत्तरारणिः, ततश्च मन्थानमिति प्रक्रिया।

'अग्नेर्जनित्रमिति शकलमादाय तूष्णीं वेद्यां करोति' (का. श्रौ. ५.१.२२)। हे शकल ! त्वमग्नेर्जनित्रमसि, जायतेऽस्मिन्निति जनित्रम्, अग्निजननाधारभूतमसि। 'वृषणाविति कुशतरुणे तस्मिन्' (का. श्रौ. ५.१.२३) इति कात्यायनः। आदायेत्यनुवर्तते। तस्मिन् शकले द्वे दर्भतृणे प्रागग्रे निदध्यात्। हे दर्भौ, युवां वृषणौ सेक्तारौ भवतः। यथा पुत्रजननाय स्त्रीपुरुषौ वीर्यस्य सेक्तारौ तद्वद् युवामप्यरण्योरग्निजननसामर्थ्यसम्पादकौ स्त इत्यर्थः। 'उर्वशीत्यधरारणिं तयोः' (का. श्रौ. ५.१.२४)। तयोर्दर्भतरुणयोरुपरि उत्तराग्रामधरारणिं निदध्यात्। हे अधरारणे, त्वमुर्वश्यसि यथोर्वशी पुरुषभोगायाधस्ताच्छेते तद्वत्त्वमधोऽवस्थितासीत्यर्थः। 'आयुरसीत्युत्तरयाज्यस्थालीꣳ सꣳस्पृश्य पुरूरवा इत्यभिनिधानं तया' (का. श्रौ. ५.१.२५) येयमुत्तरारणिर्निधास्यते तया आजस्थालीस्थमाज्यं स्पृशेत्। स्पृष्ट्वा पुरूरवा इति मन्त्रेण तया उत्तरया अरण्या अभिनिधानं कुर्यात्, अधरारणेरुपरि उत्तरारणिं निदध्यादिति सूत्रार्थः। हे स्थालीगताज्य, त्वमायुरसि। अरणिद्वयेन जायमानस्याग्नेरायुःप्रदमसीत्यर्थः। हे उत्तरारणे, त्वं पुरूरवा असि। यथा पुरूरवा इति शब्दाभिधेयः पुरुष उर्वश्या अभिमुखत्वेनोपरि वर्तते, तथा त्वमपीत्यर्थः। तथैवापस्तम्बोऽपि—'अग्नेर्जनित्रमसीत्यधिमन्थनशकलं निदधाति, वृषणौ स्थ इति प्राञ्चौ दर्भावुर्वश्यसीत्यधरारणिमादत्ते पुरूरवा इत्युत्तरारणिमिति' (आप. श्रौ. ७.१२)। 'मन्थति गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रं त्रिः प्रदक्षिणम्' (का. श्रौ. ५.२.२)। अध्वर्युर्गायत्रेति मन्त्रत्रयेणारण्योर्मन्थनं कुर्यात्। प्रदक्षिणमप्रदक्षिणं च मन्थनं भवति। तत्राह—प्रदक्षिणमिति। त्रिः प्रदक्षिणं मन्थनं कुर्यात्। हे अग्ने, गायत्रीच्छन्दोऽभिमानिना देवेनाहं त्वां मन्थामि अरण्योर्मन्थनेनोत्पादयामि।

दयानन्दस्तु—'अग्नेराग्नेयास्त्रादेः सिद्धिकरस्य पावकस्य जनित्रं जनकं हविः, असि भवति' इति पदार्थः। तत्रेदं वक्तव्यम्—अग्निस्तु पाकस्यापि सिद्धिकरः, तर्हि आग्नेयास्त्रादेरिति कुतो लब्धम्? जनित्रपदेनात्र हविरभिप्रेतम्। 'आग्नेयास्त्रादेः' इति पदघटकादिपदेन पाकोऽपि चेदभिप्रेयते, तर्हि तज्जनकं हविरिति कथं सिद्ध्यति? किं हविरग्नौ हुत्वाऽग्निं सम्पाद्य ततः पाक इति स्यात्? विनैव हविषो होमेनाग्निं सम्पाद्य तेन किं पाको न सिद्ध्येत्? यदि हविर्होमो नियम्यते, हविर्होमेनैवाग्निं सम्पाद्य पाकः कर्तव्य इति, तर्हि नेदं भवदभिमतयज्ञस्वरूपं सिद्ध्येत्। सर्वथाऽप्यसम्बद्धः पदार्थः। सत्यं वृषणौ वर्षयितारौ भवतः, किन्तु तौ कौ कस्येति न प्रतिपादितं दयानन्देन। महीधरमते तु वृषणौ कुशौ भवतः, 'दर्भतरुणके निदधाति' (श. ३.४.१.२१) इति ब्राह्मणात्। यथा वृषणयोर्वर्षयितृत्वं तथा कुशयोरपीति न किमप्यसामञ्जस्यम्। दयानन्दमते तु सर्वथाऽनन्वित एव मन्त्रार्थः। उर्वशीशब्दः पुरूरवःशब्दश्च यौगिकव्युत्पत्त्या

का स्पर्श, अधरारणि पर उत्तरारणि का स्थापन तथा अग्निमन्थन। ब्राह्मणोक्ति के अनुसार सूत्रकार कात्यायन ने भी (का. श्रौ. ५.१.२२-२५, ५.२.२) इन्हीं कर्मों को प्रदर्शित करते हुए उनमें मन्त्रों का विनियोग किया है।

तदनुसार मन्त्रार्थ इस प्रकार है — हे काष्ठशकल, तुम अग्नि के उत्पादनाधार हो। हे दर्भद्वय, तुम अग्नि के उत्पादन हेतु सामर्थ्य के सम्पादक हो। हे अधरारणि, तुम उर्वशी के समान हो। हे उत्तरारणि, तुम पुरूरवा के स्वरूप हो। हे अग्निदेव, मैं गायत्री छन्द से मन्थन करता हुआ आपका प्रादुर्भाव करता हूँ, त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा मन्थन करता हुआ आपको प्रादुर्भूत करता हूँ तथा जगती छन्द के द्वारा मन्थन से आपको प्रादुर्भूत करता हूँ।

स्वामी दयानन्द ने अग्नि का 'आग्नेयास्त्र आदि का साधक' अर्थ किया है। अग्नि तो पाक का भी साधक है, अतः आग्नेयास्त्रादि अर्थ ही कैसे प्राप्त हुआ। 'वृषणौ' का अर्थ वर्षण करने वाले हैं, यह तो ठीक है, किन्तु वे कौन हैं? किसके

यज्ञक्रियायाः शास्त्रोपदेशकगुरोश्च बोधकौ। आयुःशब्दश्च एति जीवनं येनेति व्युत्पत्त्या घृताद्यभिधायी। एवं च या यज्ञक्रिया यश्च तादृशो गुरुः, यश्च जीवनप्रापको घृतादिः, त्वा तं गायत्र-त्रैष्टुभ-जागतैश्छन्दोभिर्मन्थामीति निष्पद्यते। तत्र 'त्वा'शब्दस्य प्रथममग्निः, अनन्तरं सोमाद्योषधिसमूहः, तृतीय'त्वा'शब्दस्य सामग्रीसमूहः, शत्रुदुःखसमूहो वाऽर्था निर्दिष्टाः। छन्दःशब्दस्यानन्दकर्तरि, सुखकारके, सुखसम्पादके च प्रयोगः कृतः। मन्थामिशब्दस्य च सर्वत्र विलोडन-क्रियाकरणकनिष्पादनं निवारणं चार्थः। तथा चायमर्थः सम्पद्यते—यद्धविः, यौ वृषणौ, या यज्ञक्रिया, यश्चायुःप्रापकपदार्थः, यश्च शास्त्रोपदेशको गुरुस्तमग्निं तं सोमाद्योषधिसमूहं तं सामग्रीसमूहं शत्रुदुःखसमूहं वा आनन्दकर्त्रा सुखकारकेण सुखसम्पादकेन च विलोडनक्रियया निष्पादयामि निवारयामि च। यच्छब्देन यस्य ग्रहणं तस्यैव तच्छब्दो वक्ता भवतीति सर्वसम्प्रतिपन्नम्। प्रथमं यदग्नेर्जनित्रं हविरित्युक्त्वाऽनन्तरं त्वा तमग्निं मन्थामि विलोडनक्रियया निष्पादयामीति प्रति-पादिते किं केन सम्बद्धमिति विचारयन्तु सुधियः। उर्वशी यज्ञक्रिया, पुरूरवाः शास्त्रोपदेशको गुरुः, अनयोर्विलोडन-क्रियया निष्पादनम्, आयुष्करस्य वस्तुनस्तादृशं निष्पादनं कीदृशमिति न बुद्धिमारोहति। 'यौ वृषणौ स्थो भवतः' इत्यभिधाय तयोर्मन्थनं परित्यक्तम्। अत्रापि वाचकलुप्तोपमालङ्कारोऽसङ्गत एव, पूर्वमेवासङ्गतेः प्रदर्शितत्वात्। भावार्थस्तु सर्वथाऽसङ्गतः। हविषो यज्ञक्रियायाः, गुरोः, आयुःप्रापकपदार्थस्य च मन्थनेन कः परोपकारः स्यात्? अतः सर्वांशेन दयानन्दविवरणमिदमसम्बद्धम्, अनन्वितम्, निष्प्रमाणकं चेति सिद्धम्।

यदपि च—'अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु। उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाऽभ्यूर्णवाना प्रभृथस्यायोः॥' (ऋ. सं. ५.४१.१९), 'अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वशिष्ठः' (ऋ. सं. १०.९५.१७) एभिः प्रमाणैरुर्वशी विद्युत्। नैरुक्तपक्षे तु पुरूरवा मध्यस्थानो वाय्वादीनामन्यतमः। पुरु रौतीति पुरूरवाः। उर्वशी विद्युत्, उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमश्नुत इत्युर्वशी। वर्षाकाले विद्युति विनष्टायां तया वियुक्तः स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं कुर्वन् विलपति। 'तस्याग्नेः (औषाधयोऽप्सरसः)' (वा. सं. १८.३८; श. १३.४.३.८), 'तस्य चन्द्रमसः (नक्षत्राण्यप्सरसः) (वा. सं. १८.४०; श. ९.४.१.९), 'तस्य मनस ऋक्सामान्यप्सरसः' (वा. सं. १८.४३; श. ९.४.१.१२), सूर्यस्य मरीचयो रश्मयः, अप्सरसोऽपो जलानि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रार्थानवगमात्। मन्त्रार्थस्तु—अभिगृणातु नोऽस्मान् इला भूमिः, यूथस्य गोसङ्घस्य माता निर्मात्री, यद्वा इडा गोरूपधरा मनोः पुत्री, यद्वा यूथस्य मरुद्गणस्य निर्मात्रीडा माध्यमिकी वाग्, नदीभिः गङ्गादिभिः सह गृणातु, स्मच्छब्दः प्रशस्तवचनः, प्राशस्त्यं गृणातु। अथवा उर्वशी बृहद्दिवा प्रभूतदीप्तिः, गृणाना शब्दयन्ती अस्मदीयं कर्म प्रशंसन्ती अभ्यूर्णवाना आच्छादयन्ती, आयोरायुं मनुष्यो यजमानः केन प्रभृथस्य तेजसो वोदकस्य दानेन 'प्रभृथस्य. . . . ज्योतिषो वोदकस्य' (निरु. ११.४९), अथवा प्रभृथस्य प्रभरणवत आयो-र्यज्ञमभ्यूर्णवानाच्छादयन्ती। नहि विद्युद्रूपोर्वशी गृणाना शब्दयन्ती वा भवति।

किञ्च, तत्तद्ब्राह्मणानुसारेण काममन्यत्रान्येऽप्यर्था भवन्तूर्वश्यादिशब्दानाम्, प्रकृते त्वधरोत्तरारण्योरुर्वशीपुरू-रवस्त्वदृष्ट्या तज्जनिते यज्ञसाधनोऽग्नौ चोर्वशीपुरूरवोमिथुनादुत्पन्नायुर्दृष्ट्या वर्णनम्। तथाहि—'स मन्थति। गाय-त्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामीति तं वै छन्दोभिरेव मन्थति छन्दाꣳसि मथ्यमानायान्वाह छन्दाꣳस्येवैतद्यज्ञमन्वायातयति यथामुमादित्यꣳ रश्मयो जातायानुब्रूहीत्याह यदा जायते प्रह्रियमाणायेत्यनुप्रहरन्' (श. ३.४.१.२३)। समन्त्रकं मन्थनं विधत्ते—स मन्थतीति- - - - तं छन्दोभिरेवेति। यद्यप्यन्यैः

वर्षक हैं? यह स्वामी दयानन्द ने प्रतिपादित नहीं किया। भावार्थ भी सर्वथा असंगत है, अतः स्वामी दयानन्द का अर्थ पूर्णतः असम्बद्ध है॥२॥

साधनैर्मथ्नाति, तथापि गायत्रेण त्वेति मन्त्रसामर्थ्येन छन्दोभिरेव साधनैर्मन्थनं कृतवान् भवति। अस्त्वेवं छन्दसां किं फलमिति तत्राह — छन्दांस्येवैतं यज्ञमन्वायातयति। छन्दसामनुप्रवेशनं न केवलं छन्दोलिङ्गकैर्मन्त्रैर्मन्थनाद् भवति, अपि तु तस्मिन् काले होत्रा छन्दसामनुवचनादपि भवतीत्याह। तत्र दृष्टान्तः— यथामुमादित्यमिति। यथादित्यं रश्मयोऽन्वायन्ति, तथा छन्दांसि यज्ञमन्वायत्तानीत्याहवनीये प्रह्रियमाणाय प्रक्षिप्यमाणायानुप्रहरन्ननुब्रूहीत्यनुषज्यते।

शतपथे तु—'सोऽधिमन्थनꣳ शकलमादत्ते। अग्नेर्जनित्रमसीत्यत्र ह्यग्निर्जायते तस्मादाहाग्नेर्जनित्रमसीति' (श. ३.४.१.२०)। यूपतक्षणोत्पन्नोऽधरारण्या अधः स्थाप्यमानः शकलोऽधिमन्थनशकलः। यस्योपरि मथ्यते, तमादत्ते। हे शकल! त्वमग्नेर्जनित्रमुत्पादकमसि। कथमस्य जनित्रत्वमिति तत्राह—अत्र हीति। अत्र ह्यधरारणिव्यवहिते शकलेऽग्निर्जायते। नात्र व्याख्यानेऽप्याग्नेयास्त्रादिकमुक्तम्। 'अथ दर्भतरुणके निदधाति। वृषणौ स्थ इति तद्यावेवेमौ स्त्रियै साकञ्जावेतावेवैतौ' (श. ३.४.१.२१)। अत्र दर्भतरुणके कोमलौ परस्परसदृशौ दर्भावुद्दिश्य वृषणौ स्थ इत्याह। नात्र सूर्यवायू विवक्षितौ, श्रुतिविरुद्धत्वात्। हे दर्भौ, युवां वृषणौ अभिमतवर्षितारौ स्थः। तौ प्रशंसति—तद्याविति। स्त्रियै स्त्रियाः सकाशात् साकञ्जौ सहोत्पन्नौ याविमौ परस्परसदृशौ पुत्रौ, तावेव युगलौ पुत्रावेव, रूपकोपन्यासेनात्यन्तसादृश्यमभिमतमिति। 'अथाधरारणिं निदधाति। उर्वश्यसीत्यथोत्तरारण्याज्यविलापनीमुपस्पृशत्यायुरसीति तामभिनिदधाति पुरूरवा असीत्युर्वशी वा अप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुरेवमेवैष एतस्मान्मिथुनाद्यज्ञं जनयत्यथाहाग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीति' (श. ३.४.१.२२)। अधरारणिनिधाने मन्त्रः— उर्वश्यसीति। हे अधरारणे! त्वमुर्वशी भवसि। आज्यं विलाप्यते यस्यां सा आज्यविलापनी स्थाली, तामुत्तरारण्या संस्पृशेद् आयुरसीति मन्त्रेण। तामुत्तरारणिं पुरूरवा असीति मन्त्रेण तस्या उपरि निदध्यात्। अरण्योराज्यविलापन्याश्च यदुर्वश्याद्यात्मकत्वम्, तत् त्रयं प्रशंसितुं पुरावृत्तदृष्टान्तमाह—उर्वशी वा अप्सराः पत्नी आसीत् पुरूरवाः पतिरभवत्। अन्यत्रोर्वशीशब्दस्य कामं भवत्वन्योऽर्थः, परं प्रकृते तु शतपथप्रामाण्यात् पुरूरवाः पतिरुर्वशी च तत्पत्न्येवाभिप्रेता, पतिसम्बन्धस्यान्यत्रासम्भवात्। तस्मान्मिथुनादायुर्नामा पुत्रोऽजायत। तत्सर्वमग्रे समाम्नास्यते —'उर्वशी हाप्सराः पुरूरवसमैलं चकमे' (श. ११.५.१.१-१७) इति। एवमेवैष इति दार्ष्टान्तिकाभिधानम्। एतस्मान्मिथुनाद् यज्ञमग्निं जनयति, यज्ञसाधनत्वादग्नेः। अथारण्योरासादनानन्तरमग्नये मथ्यमानाय अनुब्रूहीति होतारमाह ॥ २ ॥

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥३॥

मन्थनानन्तरं निष्पन्नस्याग्नेराहवनीयाग्निना योजनम्—'सोऽनुप्रहरति भवतं नः' (श. ३.४.१.२४) इति विधेः, 'भवतं न इति प्रास्यति' (का. श्रौ. ५.२.५) इति कात्यायनसूत्राच्च। एतेनाहवनीयाग्निः, निर्मथ्याग्निश्चेति द्वावग्नी सिद्ध्यतः।

मन्त्रार्थ — हे दोनों अग्नियों! हमारी कार्यसिद्धि के लिये एकाग्र मन, समान चित्त वाले होइये, हम पर क्रोध न कीजिये। यज्ञ को नष्ट न होने दीजिये, यज्ञपति (यजमान) को क्षतिग्रस्त न होने दीजिये। आज आप लोग हमारे निमित्त कल्याणकारक होइये॥ पहले मन्त्र से अरणि-मन्थन द्वारा उत्पन्न की गई अग्नि को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए आहवनीय अग्नि के साथ संयुक्त कर यज्ञ और यज्ञपति के कल्याण के लिये प्रार्थना की जाती है॥३॥

भाष्यसार—'भवतं नः' इस मन्त्र से याज्ञिक विनियोग के अनुसार अरणिमन्थन से उद्भूत अग्नि को आहवनीय अग्नि से संयुक्त किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (५.२.५) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

'तत्र भवतम्' इत्यादयो मन्त्रगता द्विवचनान्ताः शब्दा उपपन्ना भवन्ति। यद्यप्याहवनीयेऽपि निर्मन्थ्यत्वमस्ति, तथापि निर्मन्थ्याधिकरणन्यायेन[1] (मी. सू. १.४.१०) अचिरनिर्मथिताग्नावेव निर्मन्थ्यशब्दस्य प्रवृत्तिरिति द्वावग्नी सिद्ध्यतः। प्रार्थनायां लोट्। हे जातवेदसौ मन्त्रोक्तगुणयुक्तौ, युवां कल्याणकारिणौ भवतमिति। सुगममन्यत्। 'भवतमिति प्रास्यति' (का. श्रौ. ५.२.५)। आहवनीये जातमग्निं प्रक्षिपेदध्वर्युः। पङ्क्तिश्छन्दः। यस्या अष्टार्णाः पञ्चपादाः सा पङ्क्तिरिति। अत्र तु तृतीयः षडक्षरः, चतुर्थो दशार्णः। निर्मथ्याहवनीयावग्नी देवते इति महीधरः। भवतं नः समनसावित्यग्रेणोत्तरं परिधिमाहवनीये प्रहरतीत्यापस्तम्बः। भवतं नः समनसावित्यग्रेणोत्तरं परिधिमाहवनीये प्रहरतीति सायणः। प्रहरति प्रास्यतीत्यर्थः। योऽयमाहवनीयोऽग्निः, यश्चायं मथितोऽग्निस्तावुभौ हे जातवेदसौ, नोऽस्मदर्थं समनसौ मनसा सहितौ (सचेतसौ) समानप्रज्ञौ परस्परसमानचित्तौ वा अन्यविषयं मनः परित्यज्यास्मदनुग्रहाभिमुखत्वं समनस्त्वं तत्रानुग्रहं परस्परविप्रतिपत्तिराहित्यं वा सचेतस्त्वमित्यपुनरुक्तता। अरेपसौ पापरहितौ। रेप इति पापनाम। अस्मद्विषये प्रामादिकेनापराधेनापि कोपाभावः पापराहित्यम्। यथोक्तगुणयुक्तावुभौ तिष्ठतम्। तदेव स्पष्टयति—'यज्ञं मा हिꣳसिष्टम्' अस्मदीयं कर्म मा विनाशयतम्। हे जातवेदसा उभावग्नी, अद्य अस्मिन्ननुष्ठानदिने नोऽस्मदर्थं शिवौ शान्तौ भवतमिति सायणाद्यनुसारि व्याख्यानम्। शतपथे च—'सोऽनुप्रहरति। भवतं नः समनसौ. . . भवतमद्य न इति शान्तिमेवाभ्यामेतद्वदति यथा नान्योऽन्यꣳ हिꣳस्याताम्' (श.३.४.१.२४)। व्याख्यानं तूक्तमेव। तात्पर्यमाह— शान्तिमेवाभ्यामेतन्मन्त्रवचनं वदति। कुतस्तत्प्रसङ्ग इति तत्राह— नान्योन्यं हिंस्याताममिति।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदसौ, जातो वेदो ज्ञानं याभ्यां तौ जातवेदसौ ज्ञानोत्पादकौ शमदमौ, युवां समनसौ अन्यविषयत्वं परिहृत्य मदभिमुखौ अनुग्रहवैमत्यराहित्येनैकमत्येन अरेपसौ प्रमादेऽपि कोपरहितौ मम यज्ञमुपासनालक्षणं ज्ञानलक्षणं वा यज्ञं मा विनाशयतम्। यज्ञपतिमुपासकं ज्ञानाभ्यासिनं वा मा विनाशयतम्। नोऽस्मभ्यं हिताय शिवौ कल्याणकारिणौ भवतम्।

'यजमानयज्ञसम्पादकौ कीदृशौ भवेतामित्युपदिश्यते' इत्युपक्रम्य दयानन्दो मन्त्रं व्याख्यातवान्। तत्र यज्ञसम्पादकशब्देन किं यज्ञानुष्ठाताभिमतः? उत यज्ञसामग्रीसम्पादकः? आद्ये द्विवचनानुपपत्तिः, यजमानयज्ञानुष्ठात्रोरभेदात्। द्वितीयेऽपि स एव दोषः, सामग्रीसम्पादकानां बहूनामपि सम्भवात्। अत्र मन्त्रे द्विवचनान्तानां पदानामुपपादनाय 'यजमान-यज्ञसम्पादकौ' इति निर्दिष्टं दयानन्देन। मन्त्रे च 'यज्ञम्' इति, 'यज्ञपतिम्' इति च पदद्वयोल्लेखो दृश्यते। एत-

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ज्ञानोत्पादक शम तथा दम, आप दोनों अन्यविषयकत्व का परित्याग करके मेरे अभिमुख एकमत रहते हुए मेरे प्रमाद में भी कोपरहित होकर मेरे उपासनात्मक अथवा ज्ञानात्मक यज्ञ को हीन न करें, उपासक अथवा ज्ञान का अभ्यास करने वाले मुझको हिंसित न करें तथा हमारे लिये कल्याणकारी हों।

यजमान तथा यज्ञ के सम्पादक कैसे हों? इस आशय से स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या की है। यज्ञसम्पादक शब्द का अभिप्राय यज्ञ का अनुष्ठाता है अथवा यज्ञ की सामग्री को जुटाने वाला है। यज्ञानुष्ठाता होने पर मन्त्रोक्त द्विवचन से विसंगति होती है, क्योंकि यजमान तथा यज्ञानुष्ठाता एक ही हैं। सामग्रीसम्पादक अर्थ में भी वही दोष है, क्योंकि सामग्री का

---

१. प्रथमः - चतुर्थ-दशमाधिकरणे 'निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति' इति वाक्यमुदाहृत्य विचारः प्रवर्तितः—किं निर्मन्थ्यशब्दः संस्कारप्रवृत्तिनिमित्तकः? उत जातिप्रवृत्तिनिमित्तको बर्हिराज्यादिवत्? आहोस्विदचिरमन्थनक्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकः? इति त्रेधा सन्दिह्य 'निर्मन्थ्यमानायोदनं पक्ष्यामहे' इति जातौ लौकिकप्रयोगदर्शनात् संस्कारनिमित्तत्वं निरस्य जातिप्रवृत्तिनिमित्तत्वमेवेति पूर्वपक्षयित्वा निष्पूर्वाद् मन्थतेः 'ऋहलोर्ण्यत्' (पा. सू. ३.१.१२४) इति कर्मणि ण्यति निष्पन्नस्य निर्मन्थ्यशब्दस्यावयवार्थयोगेन मन्थनकर्मतावाचित्वसम्भवाद् यौगिकत्वमेवेति सिद्धान्तितम्।

त्स्वारस्येनापि यजमानयज्ञसम्पादकयोर्लाभो न भवति, 'यज्ञम्' इत्यस्य 'अध्ययनाध्यापनाख्यं कर्म' इति, 'यज्ञपतिम्' इत्यस्य 'एतद्यज्ञपालयितारम्' इति च तेन स्वयं व्याख्यातत्वात्। 'एष वाव प्रथमो यज्ञानाम्' ।(ताण्ड्यब्रा. १६.१.२), 'तं न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात्' (श. १४.२.२.४४), 'तस्माद्दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः' (तै. ब्रा. २.३.६.२), 'यज्ञो वै देवेभ्यः' (ताण्ड्यब्रा. १४.३.१०) इत्यादिश्रुतिवाक्येषु यज्ञशब्दस्यान्यार्थकत्वदर्शनात्, अध्ययनाध्यापनाख्ये कर्मणि क्वापि यज्ञशब्दप्रयोगादर्शनाच्च यज्ञपदार्थोऽयमनुपपन्नः। 'उरु प्रथस्वेति प्रथयत्येवैनमेतदुरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' (श. १.२.२.८) इत्यादिश्रुतिषु यज्ञपतिशब्दो नाध्ययनाध्यापनाख्यकर्मपरिपालयितरि प्रयुक्तः, तत्र तस्यान्यार्थकत्वात्। यथेच्छं शब्दानामर्थविवरणं न खलु समुचितम्। मनःशब्दस्य विज्ञानम्, चेतःशब्दस्य च संज्ञानं विज्ञापनमिति चार्थः कृतः। विज्ञानस्य मनः साधनं भवति, न तु तद् विज्ञानमेव भवति, मनसा विज्ञायत इति प्रयोगात्। ज्ञानस्य प्रकारा विज्ञानसंज्ञानादयः, तत्साधनं च मनश्चेतः। साध्यसाधनयोरेकरूपत्वं न खलु सङ्गतम्। जातवेदःशब्दोऽग्निवाची प्रसिद्धः। 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्' (ऋ. सं. १.९९.१) इत्यादिमन्त्रेषु तस्याग्निरेवार्थो गृहीतः शास्त्रकारैः। व्युत्पत्तिरस्तीति यथा तथा वार्थकथनं न शोभायै स्यात्। 'जातवेदा' इत्यस्य व्युत्पत्तिरस्ति—जातं वेदो धनं यस्मादिति। यस्माद् धनं जातं स जातवेदा आढ्यः। तस्य द्विवचने आढ्याविति सम्पद्यते। आढ्यौ समनसौ सचेतसावरेपसौ सन्तौ यज्ञं यज्ञपतिं च मा हिंसिष्टमिति मन्त्रविवरणं किं रोचेत दयानन्दाय? प्रकरणेऽत्र द्वावग्नी भवतः— आहवनीयो निर्मन्थ्यश्च। उभावपि तौ जातवेदःपदेन निर्दिश्य मन्त्रार्थवर्णने या सङ्गतिर्न सा दयानन्दविवरण इति पश्यामः ॥३॥

अ॒ग्नाव॒ग्निश्च॑रति॒ प्रवि॑ष्ट॒ ऋषी॑णां पु॒त्रो अ॑भिशस्ति॒पावा॑। स नः॑ स्यो॒नः सु॒यजा॑ यजे॒ह दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यꣳ सद॒मप्र॑युच्छ॒न् स्वाहा॑ ॥४॥

'अग्नावग्निरिति जुहोति स्थाल्याः स्रुवेण' (का. श्रौ. ५.२.६)। स्थाल्या आज्यं गृहीत्वा स्रुवेण जुहुयादध्वर्युः। विराट् छन्दः। दशाक्षरैश्चतुर्भिः पादैर्विराट्। अत्र तु द्वितीयतुर्यावेकादशार्णौ ततो द्व्यधिका। अग्नावाहवनीयाख्ये यः प्रविष्टोऽग्निर्मथ्यमानः, सोऽयं चरति हविर्भक्षयति, इतस्ततो ज्वालाभिः सञ्चरति वा, 'चर गतिभक्षणयोः' इति धातोः। कीदृशोऽग्निरित्याह—ऋषीणां पुत्र इति। ऋत्विजो वेदविदश्चात्र ऋषय उच्यन्ते। तैरुत्पादितत्वात् पुत्र इव पुत्रः। अभिशस्तिपावा, अभिशस्तिर्वैकल्यनिमित्तोऽभिशापो निन्दालक्षणो वा शापः, तस्मात् पाति रक्षतीत्यभिशस्तिपावा। 'आतो मनिन्. . .' (पा. सू. ३.२.७४) इति वनिप्प्रत्ययः। हे अग्ने, स तथाविधस्त्वं नोऽस्माकं स्योनः सुखरूपो भूत्वा सुयजा

संकलन करनेवाले बहुत भी हो सकते हैं। जातवेद शब्द अग्निवाचक ही प्रसिद्ध है। शास्त्रकारों ने इसका अग्नि अर्थ ही लिया है। अन्य व्युत्पत्ति भी हो सकती है, इसके लिये जैसे तैसे अर्थ कर देना शोभनीय नहीं है ॥३॥

मन्त्रार्थ— वेदवेत्ता ऋषियों के द्वारा उत्पन्न किया हुआ अग्निरूप ऋषिकुमार अथवा वैकल्य-निमित्तक अभिशाप से या दुष्टों के आक्रमण से रक्षा करने वाला मथित अग्नि आहवनीय अग्नि में प्रविष्ट हुआ हवि को भक्षण करता है। हे अग्निदेव! वह तुम ही हो। तुम हमारे लिये सुखरूप हो कर इस सुन्दर यज्ञस्थान में सदा प्रमादरहित होकर इन्द्रादि देवताओं के निमित्त हवि ले जाओ। मैं तुम्हें यह घृत की श्रेष्ठ आहुति देता हूँ॥ इस मन्त्र को बोलते हुए स्रुवे से आज्यस्थाली का घी लेकर अग्नि में आहुति दी जाती है ॥४॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (५.२.६) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'अग्नावग्निः' इस मन्त्र द्वारा अध्वर्यु आज्यस्थाली से घृत लेकर स्रुव से हवन करे। शतपथ ब्राह्मण में भी इस स्रुवाहुति का विधान किया गया है।

शोभनेन यागेन इह स्थाने देवेभ्य इन्द्रादिभ्यो हव्यं सोमादिरूपं यज देहि सङ्गमय वा। अस्माभिर्दत्तं हविर्देवान् प्रापय। किं कुर्वन्? सदं सदा अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन्, उच्छिष्टेषु देवेषु कमप्यपरित्यजन्, 'युच्छ प्रमादे'। स्वाहा तुभ्यमिदमाज्यं हुतमस्तु। यद्वा सोऽग्निर्नो हविर्देवेभ्यो यज यजतु ददातु। पुरुषव्यत्ययः।

निर्मन्थ्यमाहवनीये प्रक्षिपेदित्युक्तम्। द्वयोरग्न्योर्निमन्थ्याहवनीययोर्मेलनेनानिष्टोत्पत्तिर्मा भूदिति तावग्नी सम्प्रार्थितौ—'जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः' (श. ३.४.१.२४) इति। तदूर्ध्वं तत्र स्रुवाहुतिर्विहिता—'अग्निमभिजुहोति' (श. ३.४.१.२५) इति। तत्रायं मन्त्रो विनियुक्तः—अग्नावग्निश्चरतीति। अत्र कात्यायनः— 'अग्नावग्निरिति जुहोति स्थाल्याः स्रुवेण' (का. श्रौ. ५.२.६) इति। आज्यस्थालीतः स्रुवेणाज्यमादायाऽग्नावग्निरिति मन्त्रेण जुहुयादित्यर्थः। आरादुपकारकोऽयं होमः, यागीयद्रव्यदेवताद्यनुद्दिश्य विहितत्वात्। तथा च—आहवनीयाग्नौ निर्मन्थ्याग्निरयं प्रविष्टोऽस्माभिर्दीयमानं हविश्चरति भक्षयति। अयं च ऋत्विग्रूपेभ्य ऋषिभ्य उत्पन्नः, अत एव तेषां पुत्र इव, अपि चाभिशस्तिपावा अभिशापात्पालकः। एतादृशः सोऽस्मदर्थमिह यज्ञे देवेभ्य इन्द्रादिभ्योऽस्मद्धुतमाज्यादिकं हविः प्रापयतु।

अध्यात्मपक्षेऽपि — जीवः परमात्मानमुपास्ते। तदग्निश्चिद्रूपो जीवोऽग्नौ परमात्मनि चरति विहरति। उपासकस्य उपास्यतत्त्वे मनसा सञ्चार एवोपासनप्रयोजनम्। तथा च कारिकासु 'देवो भूत्वा यजेद्देवान्' इति। तदर्थमेव भूशुद्धि-भूतशुद्ध्यादिभिर्जीवरूपस्य साधकस्य देवात्मभावापादनम्। स उपासक ऋषीणां वेदविदामुपदेशेन संस्कृतः सन् नवीनं जन्म प्राप्य तत्पुत्रो भूत्वा अभिशस्तेर्निन्दिताद् असुर्याद् भावादात्मनः पाता भूत्वा स्योनः सुखस्वरूपब्रह्मरूपः सन् हे साधक, त्वं सुयजा शोभनेन उपासनालक्षणेन यागेन नः सर्वेभ्यो हिताय इहास्यां व्यवहारभूमौ देवेभ्य उपास्यतदङ्गोपाङ्गेभ्यो हव्यं समर्पणीयं बाह्यमान्तरं मनोमयं विविधं समर्पणीयमात्मरूपं च यज सङ्गमय।

दयानन्दस्तु—'अत्र महीधरेण विराडित्यशुद्धं व्याख्यातम्' इत्युक्त्वा स्वयं 'आर्षी त्रिष्टुप्' इति वदति। तत्पूर्वं विचारणीयम्। 'तानि त्रीणि समागम्य सनामानि सनाम तत्' इति, 'एकं भवत्यृषिश्छन्दस्तथा गच्छति सम्पदम्' इति ऋक्प्रातिशाख्ये षोडशे पटले सप्तमं सूत्रम्। एवम् 'प्राग्यजुषामार्ष्यः' (२.१५) इति च पिङ्गलसूत्रम्। छन्दोनिर्णये प्रातिशाख्यं वा पिङ्गलसूत्रं वा न प्रमाणमिति न कोऽपि हृदयवान् विद्वान् कथयेत्। अनयोः सन्दर्भयोरयमर्थः—[१]गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि प्राजापत्यानि, दैवानि, आसुराणि, आर्षाणीति चतुर्धा विभक्तानि। प्राजापत्या गायत्री, दैवी गायत्री, आसुरी गायत्री, आर्षी गायत्रीत्येवं सप्तानामपि छन्दसां विभागः। तत्र प्राजापत्या गायत्री अष्टाक्षरा। तदूर्ध्व-

---

अध्यात्मपक्ष में इस मन्त्र से जीव परमात्मा की उपासना करता है। चिद्रूप जीव अग्निरूपी परमात्मा में विहरण करता है। उपास्य तत्त्व में उपासक का मानसिक संचार ही उपासना का प्रयोजन है। एतदर्थ ही भूशुद्धि, भूतशुद्धि आदि के द्वारा जीवरूपी साधक का देवात्मभाव सम्पादित होता है। वह उपासक वेदवेत्ताओं के उपदेश से संस्कृत होकर नवीन जन्म प्राप्त करके उनका पुत्र होकर निन्दित आसुर भाव से अपनी रक्षा करता है। तदनन्तर सुखस्वरूप ब्रह्मरूप होकर हे साधक! तुम सुन्दर उपासनात्मक यज्ञ से हम सबके हितार्थ इस कर्मभूमि पर देवताओं तथा उनके उपास्य अंगों-उपांगों के लिये समर्पणीय बाह्य तथा आभ्यन्तर मनोमय आत्मरूपी हविर्द्रव्य का यजन करो।

स्वामी दयानन्द ने—'यहाँ महीधर द्वारा 'विराट्' यह त्रुटिपूर्ण व्याख्या की गयी है' कह कर स्वयं यहाँ आर्षी त्रिष्टुप् छन्द प्रतिपादित किया है। चारों पादों के समानाक्षर होने पर ही 'आर्षी' इत्यादि का निर्देश करना शास्त्रसम्मत है। अतः आर्षी त्रिष्टुप्

---

१. गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्तिः, त्रिष्टुप्, जगती इति सप्त।

मुष्णिगादिछन्दस्सु 'चतुर्भूयः परं परम्' (ऋ. प्रा. १६.२) इति सूत्रेण पूर्वस्मात् पूर्वस्माच्छन्दस उत्तरमुत्तरं चतुर्भिरक्षरैर्भूयो भवतीत्यर्थकेण चतुर्णां चतुर्णामक्षराणामाधिक्ये प्राजापत्या उष्णिक्, प्राजापत्या अनुष्टुबित्येवं सप्त प्राजापत्यानि छन्दांसि भवन्ति। एवं दैवान्यपि सप्त छन्दांसि, तानि चैकोत्तराणि। दैवी गायत्र्या एकमक्षरम्, दैव्युष्णिहोऽक्षरद्वयम्, दैव्यनुष्टुभोऽक्षरत्रयमित्येवं दैवानि सप्त छन्दांसि। आसुराण्यपि छन्दांसि सप्त। तत्र आसुरीगायत्र्याः पञ्चदशाक्षराणि, आसुर्या उष्णिहश्चतुर्दश, आसुर्या अनुष्टुभस्त्रयोदशेत्येवमेकन्यूनान्यक्षराणि सप्तानां छन्दसां भवन्ति, 'एकावमान्यसुराणां ततः पञ्चदशाक्षरात्' (ऋ. प्रा. १६.६) इत्युक्तत्वात्। इदं सर्वमभिधायानन्तरमिदं सूत्रम्—'तानि त्रीणि' इति। तानि पूर्वोक्तानि प्राजापत्यदैवासुराणि त्रीणि समाननामानि समागम्य एकीभूय सनाम तदेकमृषिच्छन्दो भवति, अर्थात् प्राजापत्यगायत्र्या अष्टावक्षराणि, दैवीगायत्र्या एकमक्षरम्, आसुरीगायत्र्याः पञ्चदशाक्षराणि। एतेषामक्षराणां योगेन चतुर्विंशत्यक्षराणि भवन्ति। चतुर्विंशत्यक्षरयुक्ता गायत्री आर्षी भवति। उत्तरमुत्तरं चतुःसंख्यावर्धनेन आर्षी उष्णिग् अष्टाविंशत्यक्षरा, आर्षी अनुष्टुब् द्वात्रिंशदक्षरा, आर्षी बृहती षट्त्रिंशदक्षरा, आर्षी पङ्क्तिश्चत्वारिंशदक्षरा, आर्षी त्रिष्टुप् चतुश्चत्वारिंशदक्षरा, आर्षी जगती अष्टाचत्वारिंशदक्षरा इति। अयमेवार्थः पिङ्गलसूत्रस्यापि। एवं च चतुश्चत्वारिंशदक्षरात्मिकायास्त्रिष्टुभ एव आर्षीत्वमायाति। अस्मिंश्च मन्त्रे चतुश्चत्वारिंशदक्षराणि सन्तीति भ्रान्त इव दयानन्दो भाति। एकैकस्य पादस्यैकादशाक्षरवत्त्वनियमस्तेन विस्मृत इव। चतुर्णां पादानां समानाक्षरवत्त्वे एवार्षीत्वादिव्यवहारः शास्त्रसम्मतः। अतः सर्वथा आर्षी त्रिष्टुबित्यशुद्धमेव।

अथ महीधरोक्तिं विमृशामः—'विराट्। दशाक्षरैश्चतुर्भिः पादैर्विराट्' इति विराट्छन्दसः स्थितिमभिधाय 'अत्र द्वितीयचतुर्थावेकादशार्णौ, ततो द्व्यधिका' इति महीधराचार्यो वदति। प्रथम-तृतीयपादयोर्दश दशाक्षराणि, तृतीयचतुर्थपादयोरेकादशैकादशाक्षराणि। चतुर्थपादेऽक्षरद्वयमधिकमित्यर्थो महीधरभाष्यस्य। तत्तच्छन्दसो नियतानामक्षराणां न्यूनाधिकभावे जाते तत्र संज्ञान्तरव्यवहारश्छन्दोविचितेः। प्रकृते त्रिष्टुभो नियतानां चतुश्चत्वारिंशदक्षराणां सत्त्वेऽपि द्वयोः पादयोर्विराण्णियताक्षरवत्त्वाद्विराडिति व्यवहारः कृतः। 'विराट्' इत्यस्य 'विराट्स्थाना'[1] इति तात्पर्यम्। तदिदमृक्प्रातिशाख्ये स्पष्टम्। प्रकृतमन्त्रे विराट्त्वं त्वस्ति, आर्षीत्वं तु सर्वथा नास्तीति दयानन्दवचनमेवाशुद्धम्।

'विद्युद्विद्वदग्नी कीदृशावित्युपदिश्यते' इत्यवतरणिकापङ्क्तिः। तत्र मन्त्रगतं सप्तम्यन्तं 'अग्नौ' इति पदं विद्युतो बोधकम्, प्रथमान्तं च 'अग्निः' इति पदं विदुषो बोधकम्। तत्र विदुष एव कीदृक्त्वं मन्त्रेण बोध्यते, विद्युच्च कीदृशीति न मन्त्रः प्रतिपादयति। विद्युदग्नेर्विद्वदग्नेश्च प्राप्तौ सत्यां तौ कीदृशाविति कथनमुचितम्। तयोः प्राप्तिस्तु दयानन्देन न प्रदर्शिता। अतोऽवतरणिकैवानन्विता।

'मन्त्रोक्तविशेषणविशिष्टोऽग्निर्विद्वान् नोऽस्मभ्यं देवेभ्यः स्योनः सुखकारी, सुयजा सुष्ठु यजन्ति यस्मिन् यज्ञे तेन हव्यं दातुं ग्रहीतुं योग्यं पदार्थं स्वाहा यज सङ्गमयतु' इति पदार्थो निरूपितः। अत्र हव्यमिति शब्दस्य दातुं ग्रहीतुं योग्यं पदार्थमित्यर्थकस्य दयानन्दाभिमतस्वाहाशब्दार्थस्यान्नस्यापि बोधकत्वे सम्भवति पृथङ्मन्त्रे स्वाहाशब्दोपादानं

कहना सर्वथा अशुद्ध है। विराट् का तात्पर्य विराट्स्थाना है। यह ऋक्प्रातिशाख्य में स्पष्ट है। हव्य शब्द देवताओं के लिये दातव्य पदार्थ के लिये प्रयुक्त किया जाता है, अन्यत्र नहीं। दयानन्द भाष्य के अनुसार 'हव्य' पद से जो भी अभिलषित हो, सबका बोधन किया जायगा। यह अर्थ सर्वथा असंगत है ॥४॥

---

१. नवको दशको वा स्यादेकोऽनेकोऽपि त्रिष्टुभः।
एकादशाक्षरश्चापि विराट्स्थानाह नाम सा ॥ (ऋ.प्रा.१६ . ६३)

कस्मै प्रयोजनाय भवेत्? विद्वदग्निर्विद्युदग्नौ प्रविष्टो हव्यमन्नं च प्रयच्छति। एवं प्रयच्छन् 'स भवान् यज यजतु' इति किं केन सम्बद्धम्? असम्बद्धमेव किमप्युच्यत इति चेत्, जोषम्भावमाश्रयामः। सम्बद्धमुच्यत इति चेत्, वक्तव्यं 'यज यजतु' किमिति। 'यजतु' इति किं प्रार्थनायामाहोस्विद् विधौ? प्रार्थनायामिति चेत्, कः प्रार्थ्यते? किं विद्वदग्निः? उतान्यः? यदि विद्वदग्निस्तर्हि स विद्युदग्नौ प्रविष्ट एव सन्नन्नं प्रयच्छति, तर्हि स किमर्थं यजतु? यदि द्वितीयः कल्पः, तर्हि नास्ति सोऽन्यो मन्त्रे यः प्रार्थ्येत। विधौ वर्तत इति चेद्वक्तव्यं कोऽयं यागः? किञ्चात्र द्रव्यम्? का च देवता? कश्च यागानुष्ठानप्रकारः? मन्त्रे च विधेः कः प्रसर इति?

किञ्च, विद्युदग्नौ 'विज्ञानेन प्रविश्य' इति विज्ञानपदप्रयोगमात्रेण नहि वेदस्य विज्ञानार्थप्रतिपादकता सिद्ध्येत्। अधुना वैज्ञानिकाः सुचिरं परिश्रम्य नैकविधान् पदार्थानाविष्कुर्वन्ति। तैश्च पदार्थैर्भूयान् लाभोऽनुभूयते। अतस्तथाविधानि वैज्ञानिकानि कर्माणि कर्तव्यानीत्येतावन्मात्रकथनेन नहि मन्त्रस्य विज्ञानसम्बन्ध्यर्थप्रकाशकता सिद्ध्यति। लोकान् केवलं सम्मोहयितुमेव दयानन्दो मन्त्रस्य तादृशमर्थं ब्रवीति। न चात्र काञ्चन सङ्गतिं पश्यामः। किञ्च, दानादनार्थकहुधातोर्यत्प्रत्यये कृते हव्यशब्दो निष्पद्यते, 'हु दानादनयोः' इति पाठात्। सत्यं हव्यशब्दो दातुं ग्रहीतुं वा योग्यं पदार्थमवबोधयति, किन्तु हव्यपदेन जलवासआदिकः पदार्थो न ग्रहीतुं शक्यते, नहि 'हव्यमानय मुखं प्रक्षालयामि', 'हव्यं परिधत्स्व' इत्यादयः प्रयोगा भवन्ति। हव्यशब्दस्तु देवान्ने प्रयुज्यते नान्यत्र। दयानन्दविवरणेन हव्यपदं यद्यदभिलष्यते तत्सर्वं बोधयेत्। स्वाहाशब्दस्य 'सुहुतं हविरन्नादिकम्' इत्यर्थः कृतो दयानन्देन। सर्वथाऽयमर्थोऽसङ्गतः। 'सुष्ठु आहूयन्ते देवा अनया' इति डप्रत्ययान्तः स्वाहाशब्दोऽग्नेः प्रियाया वाचकः, 'अथाग्नायी स्वाहा च हुतभुक्प्रिया' (अ. को. २.७.२१) इति कोशात्। असङ्गतोऽयं सर्वोऽपि सन्दर्भो दयानन्दस्य।

शतपथे तु—'अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम्। अग्निमभिजुहोत्यग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा। स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्रयुच्छन् स्वाहेत्याहुत्यै वा एतमजीजनत तमेतयाऽऽहुत्याऽप्रैषीत्तस्मादेवमभिजुहोति' (श. ३.४.१.२५)। अनुप्रहृतेऽग्नौ समन्त्रकं होमं विधत्ते—अथ स्रुवेणेति। उपहत्यावदाय। अग्निमभिप्रहृत्य अग्नेरुपरि जुहुयात्। अग्नावाहवनीये निर्मथितः प्रविष्टः सन् चरति, इतस्ततो ज्वालाभिः सञ्चरति, ऋषीणां पुत्रः। अभिशस्तेर्निन्दातः पाता। स त्वं नोऽस्मदर्थं हविरिह स्थाने सुयजा शोभनेन यागेन यज संगमय। केभ्यः? देवेभ्यः। सदं सदा। अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन्। उद्दिष्टेषु देवेषु कमप्यपरित्यजन्। स्वाहा इदं घृतात्मकं द्रव्यं सुहुतमस्तु। आहुत्यै वा एतमग्निमध्वर्युरजीजनत उदपादयत्। अप्रैषीत् तर्पितवान् भवति ॥४॥

आप॑तये त्वा॒ परि॑पतये गृह्णामि॒ तनू॒नप्त्रे॑ शाक्व॒राय॒ शक्व॑न॒ ओजि॑ष्ठाय। अना॑धृष्टमस्यनाधृ॒ष्यं दे॒वाना॒मोजोऽन॑भिशस्त्यभिशस्ति॒पा अ॑नभिशस्ते॒न्यमञ्ज॑सा स॒त्यमु॒प॑गेषꣳ स्वि॒ते मा॑ धाः ॥५॥

तानूनप्त्रमाज्यं गृह्णातीत्युव्वटाचार्यः। 'ध्रौवं व्रतप्रदाने गृह्णात्यापतय इति' (का. श्रौ. ८.१.१४), 'द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण तनूनप्त्रे शाक्वरायेति शक्वन ओजिष्ठायेति' (का. श्रौ. ८.१.१५)। येन पात्रेण यजमानाय व्रतं प्रदीयते तद्

मन्त्रार्थ — हे आज्य (घृत), तुमको सर्वज्ञ, सब जगत् के विस्तारकर्ता, आत्मा के पौत्र, आकाश के पुत्र, सब कर्मों में समर्थ बलवान् सदागति वायुदेवता के लिये ग्रहण करता हूँ। हे आज्य! तुम आज तक किसी से तिरस्कार न पाने वाले,

व्रतप्रदानम्। तस्मिन् ध्रुवास्थमाज्यं गृह्णीयात् सशेषमध्वर्युः सकृत् स्थालीतोऽपि व्रतप्रदाने पात्रे द्विवारमाज्यं गृह्णीयान्मन्त्रद्वयेन। पूर्वेण मन्त्रेण 'अग्नावग्निश्चरति' इत्यनेन दर्विहोमरूपा स्रुवाहुतिरारादुपकारिका प्रतिपादिता। दर्शपूर्णमासविकृतिरियमातिथ्येष्टिः। प्रकृतितो ये विशेषाः पदार्था हविर्निर्वाप-तदासादन- अग्निमन्थन- तद्धोम- स्रुवाहुतिरूपास्तेऽभिहिताः। सम्प्रति सौमिका ये तानूनप्त्रादयस्तत्सम्बन्धिनो मन्त्रा व्याख्यायन्ते। 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य', 'यवागू राजन्यस्य' (तै. सं. ६.२.५.४) इत्यादिना व्रतं विहितम्। येन पात्रेण यजमानाय व्रतं पयआदिकं प्रदीयते तद् व्रतप्रदानम्। तस्मिन् 'सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' (तै. ब्रा. ३.३.५.५.) इति विध्यनुसारेण ध्रौवस्याज्यस्य सकृद् ग्रहणम्, 'द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण' (का. श्रौ. ८.१.१५) इति वारद्वयं चाज्यग्रहणं कात्यायनेन विहितम्। इदमाज्यग्रहणं न केवलमध्वर्योरेव, किन्तु वरणक्रमेण सर्वैरेव ब्रह्मादिभिः समन्त्रकमाज्यग्रहणं कर्तव्यम्। तदिदं गृहीतमाज्यं तानूनप्त्रमित्युच्यते। तानूनप्त्रमिति वैदिकी समाख्येति स्थितिः। चतुर्थ्यन्तैः 'आपतये' इत्यादिविशेषणैर्वायुदेवताकत्वं यजुषोऽवगम्यते। 'गृह्णामि' इति पदेन च ग्रहणसाधनता मन्त्रस्य प्रतीयते। एवं च मन्त्रोक्तविशेषणविशिष्टाय वायवे त्वा त्वामाज्यं गृह्णामीति मन्त्रवाक्यार्थः पर्यवसन्नः। एवं व्रतप्रदाने गृहीतं तानूनप्त्रसंज्ञकमाज्यं दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधाय तत् सयजमाना ऋत्विजः स्पृशेयुः। तत्र 'अनाधृष्टमसि' इत्यादिमन्त्रस्य विनियोगः। हे आज्य ! त्वमनाधृष्टमित्यादिविशेषणैर्विशिष्टमसि, अतस्त्वामहमवमृशामीत्येकैकोऽपि ऋत्विगवमृशेदिति मन्त्रसङ्गतिः।

अथ मन्त्रार्थः— आपतये आसमन्तात् पतति गच्छतीत्यापतिः सततगतिर्वायुस्तस्मै। पुनः कीदृशाय ? परिपतये परितः पततीति परिपतिस्तस्मै सर्वव्यापिने, तथा तनूनप्त्रे तनोति विस्तारयति विश्वमिति तनूरात्मा, तस्य नप्त्रे पौत्राय, शाक्वराय शक्नुवन्ति स्थातुं यत्र स शक्वर आकाशस्तस्यापत्यं शाक्वरस्तस्मै, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' (तै. उ. ८.१) इति श्रुतेः। तथा शक्वने शक्नोति सर्वं कर्तुमिति शक्वा तस्मै, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा. सू. ३.२.७५) इति वनिप्प्रत्ययः। ओजिष्ठाय ओजो बलमस्यास्तीत्योजस्वी, अतिशयेन ओजस्वीत्योजिष्ठस्तस्मै। अस्मिन् सर्वैरापत्यादिशब्दैर्वायुरेव गृह्यते। अत एवोव्वटः— 'उभयगुणविशिष्टाय वायवे, शक्वरादाकाशाज्जातत्वात् शाक्वरोऽपि वायुः। आत्मनः पौत्रत्वात् तनूनप्ता वायुः' इति। तित्तिरिरीत्या त्वापतिः प्राणस्तत्प्रीतये पात्रे स्वीकरोमि। यद्वा 'प्राणो वा आतिः प्राणमेव प्रीणातीति'। हे आज्य, आपतये प्राणदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि, अस्मिन् पात्रे स्वीकरोमीत्यर्थः। यद्वा इष्टप्राप्त्युपायमनिष्टपरिहारोपायं च चिन्तयित्वा परितः पाति पालयतीति परिपतिर्मनः, तस्मै तत्प्रीत्यै गृह्णामि। तदप्याह तित्तिरिः— 'मनो वै परिपतिर्मन एव प्रीणातीति' (तै. सं. ६.२.२.३)। हे आज्य, त्वा परिपतये मनोदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि। तनूं शरीरं न पातयति विनाशयति, अपि तु जाठररूपेण धारयतीति तनूनप्ता जाठरोऽग्निः। हे आज्य, त्वां तनूनप्त्रे जाठराग्नये तद्देवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि। शाक्वराय शाकनशीलः शाक्वरः शक्तिमान् पुरुषः, तत्सम्बन्धि शाक्वरम्। शक्तिस्वरूप हे आज्य, त्वां शाक्वराय शक्तिस्वरूपाभिमानिदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि। 'शक्वने' इति चतुर्थी सप्तम्यर्थे।

आगे भी किसी से तिरस्कार न पाने वाले देवताओं के सार पदार्थ हो, स्वयं अनिन्दनीय हो और हमारी भी निन्दित कर्मों से रक्षा करने वाले हो। इसी कारण तुम हमें मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले हो। आज हम सरल अन्तःकरण से तुमको स्पर्श कर शपथपूर्वक यज्ञ करने का भार लेते हैं। इस शुभ यज्ञानुष्ठान में आप मुझे प्रेरित करें॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए स्रुवे से दो बार घृत लेकर वेदि के नैर्ऋत्य कोण पर आज्य पात्र रखकर ऋत्विक् और यजमान मिलकर पात्र का स्पर्श करते हैं ॥५॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.१.१४-२१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'आपतये त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से तानूनप्त्र आज्य का ग्रहण किया जाता है तथा गृहीत आज्य को वेदि के दक्षिण की ओर रख कर यजमान और ऋत्विक्गण उसका स्पर्श करते हैं। तैत्तिरीय एवं शतपथ श्रुतियों में याज्ञिक विनियोग के अनुसार अर्थ उपदिष्ट है।

तथा च शक्तिमत्पुरुषे यदोजिष्ठं तस्मै त्वां गृह्णामि। ओजो नामाष्टमो धातुः। तस्य सारमोजिष्ठम्। तदवष्टम्भेनैव शरीरे शक्तिरवतिष्ठते। ओजःसाराभिमानिदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामीत्यर्थः। तनूनप्त्रसंज्ञकजाठराग्निदेवताविषयस्य शपथकर्मणो हेतुभूतमाज्यं तनूनप्त्रसंज्ञकम्। तदेतदुक्तैः पञ्चभिर्मन्त्रैर्गृहीतमिति सायणाचार्यः।

कात्यायनरीत्या—'गृह्णामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वात्' (का. श्रौ. ८.१.१६) मन्त्रेषु सर्वत्र गृह्णामीत्यस्यानुषङ्गः कर्तव्यः। 'पूर्वशेषौ वौत्तरौ' (का. श्रौ. ८.१.१७)। वाऽवधारणे। तनूनप्त्र इत्यादि न पृथङ्मन्त्रद्वयम्, पूर्वमन्त्रेणैव सहानयोरपि मन्त्रयोरेकवाक्यतासम्भवे वाक्यभेदस्यान्याय्यत्वात्, अनेकविशेषणविशिष्टस्य वायोरेवानेन मन्त्रेण स्तुतेरवगमात्, 'यो वा अयं पवते' (श. ३.४.२.१०) इति श्रुत्या एकस्यैव वायोः स्तुत्यवगमात्। 'प्रतिपुरुषं च ग्रहणमाज्यानि गृह्णाना इति श्रुतेः' (का. श्रौ. ८.१.१८)। सर्वैर्ब्रह्मादिभिर्वरणक्रमेणाज्यग्रहणं कार्यम्, 'आज्यान्येव गृह्णाना' (श. ३.४.२.९) इति ग्रहणकर्तृषु बहुत्वश्रवणात् सर्वेषामाज्यग्रहणं मन्त्रेणैव। 'दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधायावमृशन्त्यृत्विजो यजमानश्चानाधृष्टमिति' (का. श्रौ. ८.१.२०)। तानूनप्त्रमाज्यं दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ स्थापयित्वा हिरण्यहस्तावरणक्रमेण ऋत्विजो यजमानश्च युगपदभिमृशेयुः, न क्रमशः। 'अद्रोहस्तेभ्यो न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यम्' (श. ३.४.२.९) इति श्रुतेः' (का. श्रौ. ८.१.२१)। यैः सह तानूनप्त्रमाज्यं स्पृष्टं तैः परस्परं द्रोहो (अपकारः) न कर्तव्यः। कुतः? श्रुतेः। समानं साधारणं तानूनप्त्रमस्य विद्यत इति स तानूनप्त्री, तस्मै।

शिष्टमन्त्रार्थस्तु—हे आज्य, त्वमनाधृष्टमसि, इतः पूर्वं केनाप्यतिरस्कृतमसि, आधर्षणमप्राप्तं भवसि। अनाधृष्यमितः परमप्यतिरस्कार्यमसि। देवानामोजोऽग्न्यादीनां सम्बन्धि सारमसि। अनभिशस्ति, अभिपूर्वः शंसतिर्गर्हायां वर्तते, तद्रहितमनभिशस्ति त्वमसि। अभिशस्तिपा ऋत्विजां परस्परविरोधेन निन्दनमभिशस्तिस्तस्याः पातीत्यभिशस्तिपाः, लिङ्गव्यत्ययादभिशस्तिपम्। अनभिशस्तेन्यमनभिशस्तमनभिनिन्दितं यत् स्वर्गादिफलं तद्धेतुत्वादनभिशस्तेन्यम्। अथवाऽनभिशस्ते स्वर्गादौ नयतीत्यनभिशस्तेनीस्तम्, द्वितीया प्रथमार्थे, पुंस्त्वं व्यत्ययेन। यद्वाऽनभिशस्तेन्यमहिंस्यम्। 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (पा. सू. ३.४.१४) इति केन्यप्रत्ययः। तथा च यस्त्वमीदृशमसि, अतो हे तानूनप्त्र आज्य, अहमृत्विग् अञ्जसा प्रगुणेन मुख्यया वृत्त्या ऋजुमार्गेण मानसकौटिल्यरहितेन वा सत्यमाज्यस्पर्शरूपं शपथमुपगेषमुपगच्छेयम्। उपपूर्वस्य गायतेर्लट्युत्तमैकवचने 'सिब्बहुलं लेटि' (पा. सू. ३.१.३४) इति सिपि इडागमे 'लेटोऽडाटौ' (पा. सू. ३.४.९४) इत्यडागमे 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा.सू. ३.४.९७) इतीकारलोपे च रूपम्। 'गाङ् गतौ' इत्यस्य वा 'लिङर्थे लेट्' (पा. सू.३.४.७) इत्यादिना लेटि पूर्ववदेव प्रयोगसिद्धिः। उपगेषम् उपपूर्वकाद् गाधातोर्लेट्युत्तमपुरुषैकवचने मिपीकारलोपे 'सिब्बहुलं लेटि' इति सिप्प्रत्यये तस्येडागमे गुणे षत्वे च 'उपगेषम्' इति सिद्धम्। यत्तु केनचिदत्राक्षिप्यते—'केनचिदवैयाकरणेन सिप इटं कृत्वाऽयं प्रयोगः साधितः। स तु साधनप्रकारः सर्वथाऽनुचितः, गाधातोरनिट्कत्वात्, 'आतो लोपः' इत्यस्य प्रसङ्गाच्च। अतो लिङ्लकारेऽस्य साधुता करणीया' इति। स चायमाक्षेप आक्षेप्तुरेवावैयाकरणत्वं नितान्तं सूचयति। तथा हि—गाधातोरनुदात्तत्वेनानिट्कत्वेऽपि वेदेऽनुदात्तस्थाने उदात्तस्वरः स्वीकर्तव्यः, ततश्चेडागमस्योपपत्तिर्निराबाधा स्यात्। भवति च छन्दसि स्वरव्यत्ययः। तदुक्तं 'व्यत्ययो बहुलम्' इति सूत्रे—'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥' इति। सूत्रकृता भगवता पाणिनिना लौकिकप्रयोगेऽप्यादन्तानां धातूनां लुङि लकारे 'यमरमनमातां सक् च' (पा. सू. ७.२.७३) इति सूत्रेण सिच इटं विधायाकारान्तधातूनामुदात्तत्वं तस्मिन् प्रयोगे स्वीकृतप्रायम्, आंशिकं तदित्यन्यत्। अत एवातो लोपशङ्काऽपि निराकृता, अनुदात्तस्यैवाकारस्य तेन सर्वत्र 'पपिथ' इत्यादौ लोपविधानात्।

अस्मात् सरलो लघीयान् साधनप्रकारोऽन्यो नास्तीति सर्वथा समुचितोऽयमेव प्रकार इति। हे तानूनप्त्राज्य, स्विते शोभनमार्गे यज्ञकर्मणि मा मां त्वं धा धेहि स्थापय।

अध्यात्मपक्षे तु—हे ब्रह्मन्, आपतये सततगतये वायवे परिपतये सर्वव्यापिने तनूनप्त्रे ब्रह्मणः पौत्ररूपाय आकाशापत्याय ओजिष्ठाय सर्वबलसाररूपाय सर्वकरणसमर्थाय वायवे वायुवशीकाराय त्वां गृह्णामि मनसा धारयामि, परमेश्वरकृपया वायुवशीकारेण योगादिसर्वसिद्धिप्राप्तिसम्भवात्। यद्वा सायणरीत्या प्रशस्तप्राणमनआदीनां प्राप्तये वा त्वां गृह्णामि। त्वं चानाधृष्टमसि, असङ्गकूटस्थाद् आधर्षितुमशक्यमसि, सर्वात्मत्वात् सर्वक्रियाया अविषयत्वाच्च देवानामग्निवाय्वादीनामोजोऽसि, त्वद्बलेनैव तेषां बलवत्त्वात्। केनोपनिषदि ब्रह्मणः समक्षेऽग्निवाय्वोर्नगण्यतृणस्यापि दग्धुमुत्पातयितुं च अशक्यता जाता। अनभिशस्त्यमनिन्द्यम्, सर्वप्रपञ्चातीतत्वेन निर्मलत्वात्।

अत्र दयानन्दो मन्त्रस्यास्य विद्युद्देवतां पूर्वस्य मन्त्रस्य च आर्षीमुष्णिजं छन्दो मनुते। तत्रेदमवधेयम्—शास्त्रकारैर्देवतानिर्णायकानि प्रमाणानि तावत्—'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन चेष्यते। देवता सङ्गतिस्तत्र' (जै. सू. २.२.२३ तन्त्रवार्त्तिके) इत्यवधृतानि। मन्त्रे च 'आपतये, परिपतये' इत्यादीनि चतुर्थ्यन्तानि सन्ति पदानि। इमानि च विशेषणानि। अत्र विशेष्यं किमिति पूर्वं तावन्निश्चेतव्यम्। विशेषणानि यत्र सङ्गतार्थानि तत्र विशेष्यत्वमवधारणीयम्। 'आपतये आसमन्तात् पतिः पालको यस्मिंस्तस्मै, त्वा परमेश्वरं विद्युतं वा, परिपतये परितः सर्वतः पतयो यस्मिंस्तस्मै' इति पदद्वयार्थौ वर्ण्यते दयानन्देन। तत्र 'आपतये परिपतये' इति शब्दयोर्विग्रहवाक्ये यच्छब्दार्थः कः? किं गृहम्? उत ग्रामः? अथवा नगरम्? आहोस्विद् देशः? अपि वा कर्म? यस्मिन्नासमन्तात् पतिः पालकः परितश्च पतयः पालकाः, तस्मा इत्युक्ते सर्व इमे पूर्वोक्ताः सम्भवितुमर्हन्ति। 'तस्मै फलाय त्वा परमेश्वरं विद्युतं वा गृह्णामि स्वीकरोमि' इति वाक्यार्थः सम्पद्यते। गृह्णामिपदार्थस्य स्वीकारस्य परमेश्वरो विद्युद्वा कर्म ईप्सिततमरूपम्। फलमेव खल्वीप्सिततमं भवति। फलं च न क्वापि देवतात्वेन परिगण्यते। 'आपतये, परिपतये' इति चतुर्थ्यपि फलमेव बोधयति। एवं सत्यापतिपरिपत्योर्देवतात्वं कुतो नोच्यते? दयानन्दमते खलु विद्युत्परमेश्वरयोः कर्मत्वम्। तत्र परमेश्वरो देवता विद्युद्वेति कुतो नोक्तम्? विद्युतैव किं सुकृतमनुष्ठितम्, येन तस्या एव देवतात्वमभिधीयते। सायणमहीधरमते वायुर्देवता प्राणो देवतेत्यत्र प्रमाणमस्ति। आपतिशब्दस्य सततगतिशीलोऽर्थः। स च वायुर्वा प्राणो वा भवति। तत्र च 'यो वा अयं पवत एष आ च पतति परि च पतत्येतस्मा उ हि गृह्णाति' (श. ३.४.२.१०) इति ब्राह्मणमनुकूलम्। मीमांसाशास्त्रपरिज्ञानेन सम्प्रदायपरिज्ञानेन च विमुखो दयानन्दो यद्यन्मनसि समागच्छति, तत्तत्प्रलपतीत्येव स्वीकर्तव्यम्।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ब्रह्मन्! सतत गतिशील, सर्वव्यापी, ब्रह्म के पौत्रस्वरूप, आकाश के पुत्र, समस्त बलों के सारभूत, सर्वसमर्थ वायु के वशीकरण के लिये आपको मन से धारण करता हूँ। परमेश्वर की कृपा से वायुवशीकरण के द्वारा योगादि समस्त सिद्धियों की प्राप्ति सम्भव है। अथवा सायण के अनुसार प्रशस्त प्राण, मन आदि की प्राप्ति के लिये आपका ग्रहण करता हूँ। आप असंग कूटस्थ होने के कारण अधर्षित हैं, समस्त क्रियाकलाप के विषय न होने के कारण अग्नि, वायु आदि देवों के भी बल हैं। सर्वप्रपंचातीत होने के कारण अनिन्द्य हैं।

दयानन्द के अनुसार इस मन्त्र की देवता विद्युत् तथा मन्त्र का आर्षी उष्णिक् छन्द है। स्वामी दयानन्द के मत में इस मन्त्र में विद्युत् तथा परमेश्वर दोनों कर्म हैं। अतः परमेश्वर अथवा विद्युत् देवता है, इस प्रकार क्यों नहीं कहा जा सकता। मुद्रित पुस्तकों में पूर्णविराम देखकर प्रथम मन्त्र का छन्द लिखा गया है। यह भ्रममूलक है। केवल मन्त्रोक्त 'त्वा' शब्द के दो अर्थ प्रदर्शित किये गये हैं। ये दोनों अर्थ वस्तुतः भिन्न हैं, किन्तु 'वा' शब्द के कारण एक ही अर्थ अभिमत है, यह प्रतीत होता है। अतः वहां श्लेषालंकार की स्थिति नहीं है। धातु के अर्थभेद को भी श्लेषालंकार का प्रयोजक आलंकारिकों ने कहीं नहीं माना ॥५॥

'पूर्वस्यार्ष्युष्णिक् छन्दः, अनाधृष्टमित्यग्रस्य भूरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः' इत्यनालोच्यैव शास्त्राणि लिखति दयानन्दः। मुद्रितपुस्तकेषु पूर्णविराममवलोक्य ब्रवीति 'पूर्वस्य' इति। 'आपतये' इत्यारभ्य 'ओजिष्ठाय' इत्यन्तभागेऽस्ति पूर्णविरामः। पूर्णविराम एव पूर्णमन्त्रस्य परिचायक इति मन्यते दयानन्दः। अत एव 'ओजिष्ठाय' इत्यन्तं भागमेकं पूर्णं मन्त्रं मत्वा पूर्वस्येति लिखति। पूर्णविरामान्ते सन्दर्भे सत्यं सन्त्यष्टाविंशत्यक्षराणि। उष्णिक् चाष्टाविंशत्यक्षरा। अतो वदति 'पूर्वस्य' इति। सर्वथा भ्रममूलकमिदं कथनं दयानन्दस्य। आश्वलायनादयः सूत्रकारा मन्त्राणां विनियोगं प्रदर्शयन्तो मन्त्रप्रतीकं गृह्णन्ति। प्रथमप्रतीकग्रहणानन्तरं द्वितीयं प्रतीकं यत आरभ्यते तावत्पर्यन्तं प्रथमो मन्त्रः, यतश्च तृतीयं प्रतीकं तत्पर्यन्तं द्वितीयो मन्त्रः, एवमुत्तरत्रापि। शुक्लयजुःशाखायाः प्रामाणिकः सूत्रकारः कात्यायनः। स सूत्रयति—'ध्रौवं व्रतप्रदाने गृह्णात्यापतय इति' (का. श्रौ. ८.१.१४), 'द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण तनूनप्त्रे शाक्वरायेति शक्वन ओजिष्ठायेति (८.१.१५)। तत्रानुषङ्गाधिकरणन्यायेन त्वा गृह्णामीति पदयोरनुषङ्गे जाते 'आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि', 'तनूनप्त्रे शाक्वराय त्वा गृह्णामि', 'शक्वन ओजिष्ठाय त्वा गृह्णामि' इति मन्त्रत्रयं सिध्यति। अस्यां प्रामाणिक्यां स्थितौ विद्यमानायां दयानन्दः—'पूर्वस्यार्ष्युष्णिक् छन्दः' इति निःसङ्कोचं लिखति। विनियोगानुसारेण मन्त्राणां भवन्ति छन्दांसि। विनियोगश्च सम्प्रदायतः सिद्धो न स्वेच्छानुसारेण। सर्वथा श्रौतप्रक्रियानभिज्ञो दयानन्दः।

'अनाधृष्टमित्यग्रस्य भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः' इति दयानन्दः। तस्य तस्य छन्दसो नियतेषु पादेष्वक्षराणां न्यूनाधिकभावे 'भुरिक्' इत्यादयः संज्ञा भवन्ति। यथा गायत्र्याः पादत्रयं नियतम्। तत्राक्षराणि प्रतिपादमष्टौ नियतानि। अत्र यदि क्वचिल्लक्ष्ये न्यूनाधिकभावः, तदा भुरिग्गायत्रीति संज्ञा, 'अष्टको दशकः सप्तको विद्वांसाविति सा भुरिक्' (ऋ. प्रा. १६.१७) इति प्रातिशाख्यात्। यत्र च छन्दसि नियतान्यक्षराणि तत्रार्षीत्वव्यवहारः। भुरिक्त्वस्य आर्षीत्वस्य च सामानाधिकरण्यं सर्वथानुपपन्नम्—'भुरिगार्षीति'। प्रकृतमन्त्रे एकचत्वारिंशदक्षराणि सन्ति। आर्ष्याः पङ्क्तेश्चत्वारिंशदक्षराणि नियतानि। अतो भुरिक्पङ्क्तिरित्येव वक्तव्यम्, न तु भुरिगार्षीति। यत्तु 'उपगेषम्' इत्यधिकृत्य 'इदं पदमवैयाकरणेन महीधरेण लेट्लकारस्य रूपमित्यशुद्धं व्याख्यातम्' इत्युक्तं दयानन्देन, तत्तुच्छम्, 'गै शब्दे' इत्यस्माल्लिङर्थे लेटि मिपि 'सिब्बहुलं लेटि' इति सिपि बाहुलकादिटि, आतो लोपाभावे च उपगेषमिति रूपसिद्धौ बाधाभावात्। अन्यथा तवापि कथं सार्वधातुकत्वादङ्, आर्धधातुकत्वाच्च सलोपाभावः स्यात्। 'छन्दस्युभयथा' (पा. सू. ३.४.११७) इत्यनेनापि युगपदेकस्यैव सार्वधातुकत्वमार्धधातुकत्वं च कथं स्यात्?

अस्मिन् मन्त्रे श्लेषालङ्कारं मनुते दयानन्दः। अहो अलङ्कारप्रियता ग्रन्थकर्तुः। अलङ्कारशब्दोपादानमात्रेण कामं पामरा जना आकृष्टा भवेयुः, न विद्वज्जनाः। पदार्थनिरूपणावसरे केवलं मन्त्रगतस्य त्वाशब्दस्यार्थद्वयं प्रदर्शितम् — 'त्वा परमेश्वरं विद्युतं वा' इति। अर्थद्वयमिदं वस्तुतो भिन्नम्। किन्तु वाशब्दग्रहणेनैक एवार्थोऽभिमत इति प्रतिभाति। तत्र न श्लेषस्यावसरः। युष्मच्छब्दस्य द्वितीयायां त्वेति। तस्य चार्थद्वयं नाभिधया भवितुमर्हति। यदि च तस्यार्थद्वये तात्पर्यं तर्हि तद्विशेषणद्वारा वक्तव्यम्। मन्त्रे च त्वापदस्यैकमपि विशेषणं नास्ति, येन विशेषणगतार्थभेदेन विशेष्यस्य त्वेत्यस्यार्थद्वयमापतेत्। अतस्त्वाशब्दद्वारा श्लेष इति न सिद्ध्यति। त्वाशब्दं विहाय मन्त्रगतस्य कस्यापि पदस्यार्थद्वयं न निरूपितम्। 'अन्वयः' इत्यारभ्य 'उपगेषम्' प्राप्नुयामित्येक इति, 'उपगेषम्' विजानीयामिति द्वितीय इति द्वावन्वयौ प्रदर्शितौ। धातूनामनेकार्थत्वमिति न्यायेन 'उपगेषम्' इत्यस्य प्राप्तिरेकोऽर्थः, विज्ञानं च द्वितीय इत्यर्थद्वयं निर्दिष्टम्। नहि धात्वर्थभेदस्य श्लेषालङ्कारप्रयोजकत्वमालङ्कारिकैः क्वचित् साधितम्।

अत्र टिप्पणकारो ब्रह्मदत्तजिज्ञासुर्लिखति—'श्लेषालङ्कारेणाध्यात्मिकाधिदैविकार्थौ प्रदर्शिताविति। मन्त्रगत-पदानामर्थं निरूपयन् दयानन्दो न कस्यापि पदस्याध्यात्मिकाधिदैविकार्थपरतां प्रदर्शयति। अन्वयप्रदर्शनावसरे मन्त्रपदानि वारद्वयं प्रदर्श्य 'प्राप्नुयाम्, विजानीयाम्' इति निरूपयति। नहि 'प्राप्नुयाम्' इत्यस्याध्यात्मिकार्थपरत्वम्, 'विजानीयाम्' इत्यस्याधिदैविकार्थपरत्वमिति सङ्गच्छते। केवलं लोकप्रतारणायैवायमाडम्बरो दयानन्दस्य ब्रह्मदत्तजिज्ञासोश्चेति प्रतीयते। समग्रस्य दयानन्दग्रन्थसन्दर्भस्य असङ्गत्यलङ्कारः स्यात्, न तु मन्त्रस्य श्लेषालङ्कारः।

शतपथे च—'अथातो गृह्णात्येव। आपतये त्वा परिपतये गृह्णामीति यो वा अयं पवत एष आ च पतति परि च पतत्येतस्मा उ हि गृह्णाति तस्मादाहापतये त्वा... गृह्णामीति' (श. ३.४.२.१०)। अथ तानूनप्त्रार्थमाज्यग्रहणं समन्त्रकं विधत्ते—अथातो गृह्णातीति। अत्र गृह्णामीत्यन्त एको मन्त्रो माध्यन्दिनरीत्या, 'तनूनप्त्रे शाक्वराय' इति द्वितीयः, 'शक्वन ओजिष्ठाय' इति तृतीयः। अस्मिन् पक्षे गृह्णामीत्ययमुत्तरयोरपि मन्त्रयोरनुषज्यते। तत्र स्रुवेण सर्वस्य ध्रौवाज्यस्यैकवारं ग्रहणम्, स्थाल्याः स्रुवेण द्विर्ग्रहणम्। अथवा 'तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय' इत्येतौ पूर्वमन्त्रशेषौ। तथा सत्येक एव मन्त्रः। 'तनूनप्त्रे शाक्वरायेति यो वा अयं पवत एष तनूनप्ता शाक्वर एतस्मा उ हि गृह्णाति तस्मादाह तनूनप्त्रे शाक्वरायेति' (श. ३.४.२.११), 'शक्वन ओजिष्ठायेति। एष वै शक्वौजिष्ठ एतस्मा उ हि गृह्णाति तस्मादाह शक्वन ओजिष्ठायेति' (श. ३.४.२.१२)। शक्वने सर्वत्र शक्ताय। ओजिष्ठाय अतिशयेन बलवते। 'अथातः समवमृशन्त्येव। एतद्ध देवा भूयः समामिर इत्थं नः सोऽमुथाऽसद्यो न एतदतिक्रामादिति तथो एवैत एतत् सममन्त इत्थं नः सोऽमुथाऽसद्यो न एतदतिक्रामादिति' (श. ३.४.२.१३)। गृहीतस्याज्यस्य सर्वैरवमर्शनं विधत्ते—अथातः समवमृशन्त्येवेति। स्पर्शकाले देवैः कृतमन्यसंकेतं दर्शयति—एतद्ध वै देवा भूयः समामिर इति। एतद्वक्ष्यमाणं भूयः समामिरे पूर्वोक्तसङ्केतमन्तरेण पुनः सङ्गता अभवन्, 'अम गत्यादिषु'। यो नोऽस्माकं मध्ये एतदतिक्रामाद् अतिक्रामेत्, स इत्थं देवभूत एव सन् अमुथा अन्यथा प्रकारेण असद् देवभावाद् विनश्येदित्यर्थः। न केवलं देवानामयं सङ्केतः, किन्त्विदानीन्तनानुष्ठातॄणामित्याह— तथो इति। 'ते समवमृशन्ति। अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोज इत्यनाधृष्टा हे देवा आसन्ननाधृष्याः सह सन्तः समानं वदन्तः समानं दध्राणा देवानामोज इति देवानां वै जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामान्यनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमिति सर्वाꣳ हि देवा अभिशस्तिं तीर्णा अञ्जसा सत्यमुपगेषमिति सत्यं वदानि मेदमतिक्रमिषमित्येवैतदाह स्विते मा धा इति स्विते हि तद्देवा आत्मानमदधत यत्सत्यमवदन् यत्सत्यमकुर्वंस्तस्मादाह स्विते मा धा इति' (श. ३.४.२.१४)। ते समवमृशन्ति। अवमर्शनमन्त्रस्याभिप्रायमाह—अनाधृष्टा हि देवा आसन्ननाधृष्या इति। पूर्वं कैरप्यनाधृष्टा अपि देवाः परस्परापरागेणाधर्मविषया अपि सन्तः पश्चात् सङ्केतपूर्वकेणाज्यग्रहणेन स्वशरीराण्यवमर्शन्तः पुनरनाधृष्या आसन्। अतो हे आज्य, त्वमनाधृष्टानां पुनरनाधर्षहेतुत्वात् तद्रूपमसि। सह सन्त इत्यादिपदत्रयमनाधृष्यत्वे हेतुत्वेन निर्दिष्टम्। सह सन्तः परस्परमैकमत्येन वर्तमानास्तथा समानं वदन्तः, यदेको ब्रूते तदन्येऽप्यनुकुर्वन्तः समानमेकमेव कार्यं मनसि दध्राणा धारयमाणा आसन्नतो देवा अनाधृष्या जाता इत्यर्थः। द्वितीयभागस्य तात्पर्यमाह—देवानामोज इति। देवानां वै जुष्टास्तन्वः प्रियाणि धामानि, ओजोरूपाणां प्रियधाम्नामाज्ये स्थापनात्। अनभिशस्त्यादिपदत्रयस्यैकतात्पर्यतामाह —यदवमर्शात् सर्वां हि देवा अभिशस्तिं तीर्णा इति। तस्य सत्यस्य यथार्थस्वरूपस्यावमर्शनेनाहमृत्विक् सत्यमुपगेषमित्येतस्य सत्यप्राप्तेः प्रतिज्ञारूपत्वेन वागात्मकत्वात् सत्यं वदानीत्येवंरूपा सत्यप्राप्तिरुक्ता। मेदमतिक्रमिषमित्येवैतदाहेति। स्वितशब्दार्थमाह—स्विते हि तद्देवा इति। सुष्ठु प्राप्तव्यं स्वितम्। तदत्र सत्यमेव वदानीति प्रतिज्ञापूर्वकं तदनुष्ठानमेव। अनाधृष्टा अपि देवाः परस्परापरागेण कदाचिद्वैमत्येन पराभवमिव प्राप्ताः प्रकृततानूनप्त्राज्यावमर्शनेन तत्प्रभावात् सह सन्तः समानं वदन्त एकमेव कार्यं मनसि

दधाणा अनाधृष्या जाताः। यानि प्रियाणि धामानि देवानां जुष्टा देवैर्जुष्टास्तन्वः, देवैः सेवितानि शरीराणि, तेषामोजोरूपाणां देवानां प्रियधाम्नामाज्ये स्थापनात् तदवमर्शनपूर्वकं परस्परमद्रोहेण सत्यं वदानीति प्रतिज्ञापूर्वकं सोमयागानुष्ठाने हे आज्य, मामृत्विजं यजमानं वा धेहि। तदेवाह— 'स्विते हि तद्देवा आत्मानमदधन् यत्सत्यमवदन् यत्सत्यमकुर्वंस्तस्मादाह स्विते मा धा इति' (श. ३.४.२.१४), 'अथ यास्तद्देवाः। जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवददिरे तदिन्द्रे सन्यदधतैष वा इन्द्रो ए एष तपति। न ह वा एषोऽग्रे तताप यथा हैवेदमन्यत् कृष्णमेवꣳ हैवास तेनैवैतद्वीर्येण तपति तस्माद्यदि बहवो दीक्षेरन् गृहपतय एव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छेयुः स हि तेषामिन्द्रभाजनं भवति यद्यु दक्षिणावता दीक्षेत यजमानायैव व्रतमभ्युत्सिच्य प्रयच्छेयुरिदꣳ ह्याहुरिन्द्रो यजमान इति' (श. ३.४.२.१५)। तानूनप्त्रमाज्यं सर्वैः स्पृष्टमपि सद् यजमानायैव दातव्यमिति विधातुमाह—अथ या इति। इन्द्रशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—देवा जुष्टा तनूरेति। प्रियाणि धामानि सार्धमेव समवददिरे संकलितवन्तः। तदिन्द्रे सन्यदधत सन्निहितवन्तः। कोऽयमिन्द्र इत्याह—य एष तपतीति। कोऽतिशयस्तत्र जात इति तत्राह—न ह वा एष अग्रे पूर्वं तताप, तापकतया न ततापेत्यर्थः। यथा ह एव इदमिदानीं परिदृश्यमानं तपनम्। तर्हि कथमास—कृष्णमेव। कृष्णरूपमेवास। तस्मात्तेनैव तानूनप्त्राज्यस्वीकारजनितेनैव वीर्येण दुर्धर्षः सन् तपति। तस्माद्यदि बहवो गृहपतयो दीक्षेरन् अभ्युत्सिच्य उपरि तदाज्यमासिच्य। स हि तेषामिन्द्रभाजनं भवति, इन्द्रस्थानीयो भवतीत्यर्थः। फलस्य साम्येऽपि गृहपतित्वेन वरणे प्राधान्यादिन्द्रत्वम्। यद्यु यदि तु दक्षिणायुक्तेनैकाहादिना सोमयागेन दीक्षेत, यजमानायैव व्रतमुत्सिच्य प्रयच्छेयुरिन्द्रो यजमान इति। 'अथ यास्तद्देवाः। जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धꣳ समवददिरे तत्सार्धꣳ संजघ्ने तत्सामाऽभवत्तस्मादाहुः सत्यꣳ साम देवजꣳ सामेति' (श. ३.४.२.१६)। यजमानेन क्रियमाणस्य सामोपायस्य देवैः कृतं साम मूलमित्याह— अथ यास्तद्देवा इत्यादिना। जुष्टास्तनूः प्रियाणि धामानि सार्धं समवत्तानि। तद् अवत्तं सार्धं संजघ्ने तदाज्येन साकं प्रक्षिप्तं शरीरकदम्बकं संहतमेकमभूत्, तत्सामाऽभवत्। देवानां सत्येनोत्पन्नत्वात् सत्यं देवजं च साम ॥५॥

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा॒ या तव॑ त॒नूरि॒यꣳ सा मयि॒ या मम॑ त॒नूरे॒षा सा त्वयि॑। स॒ह नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒र्मन्य॑ता॒मनु॒ तप॒स्तप॑स्पतिः ॥६॥

'अग्ने व्रतपा इत्याहवनीये समिधमादधाति' (का. श्रौ. ८.२.४)। आग्नेयं यजुः। यजमानोऽनेन यजुषाऽग्निशरीरात्मशरीरयोर्व्यत्ययं करोति। हे व्रतपा, सर्वेषां व्रतानां पालकाग्ने, त्वे त्वमस्मदीयस्य व्रतस्य पालकः, भवसीति शेषः। विभक्तेः शे आदेशे 'त्वे' इति रूपम्। तव तथाविधस्य व्रतपालकस्य या तनूः शरीरमस्ति, सेयं तनूर्मयि, भवत्विति शेषः। या उ या च मम तनूर्मदीयं शरीरम्, सैषा तनूस्त्वयि भवतु। तथा सति हे व्रतपते, व्रतान्यनुष्ठेयानि कर्माणि नौ आवयोरग्नियजमानयोः, सह प्रवर्तन्तामिति शेषः। यावानेव व्रतेषु ममादरस्तावानेव तवापि भवत्वित्यर्थः।

मन्त्रार्थ — हे सब व्रतों के रक्षक अग्निदेव। तुम हमारे व्रत की रक्षा करो। तुम्हारा यह जो शरीर है, वह मुझमें हो और जो मेरा शरीर है, वह तुममें हो। हे व्रतरक्षक! हम दोनों के अनुष्ठित कर्म साथ हों। दीक्षा का रक्षक सोम मेरी दीक्षा को माने। उस सद्रूप तप का रक्षक सोम देवता मेरे सद्रूप तप को माने॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुये आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि में समिधा दी जाती है ॥६॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.२.४) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अग्ने व्रतपाः' इस यजुर्मन्त्र द्वारा आहवनीय अग्नि में समिधा का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोगानुसार ही मन्त्र का विवरण उपदिष्ट है।

दीक्षापतिः दीक्षायाः पालकः सोमो मे मम दीक्षामनुमन्यताम्। तथा तपस्पतिः, उपसद्रूपस्य तपसः पालकः सोमः, तपो मदीयमुपसद्रूपमनुमन्यतामित्यनुवृत्तिरित्युव्वटसायणमहीधराणामभिप्रायः।

यथायमर्थः कात्यायनसम्मतस्तथैव शतपथश्रुतिसम्मतोऽपि। तथाहि—'स समिधमभ्यादधाति। अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इत्यग्निर्हि देवानां व्रतपतिस्तस्मादाहाग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा इति या तव तनूरियꣳ सा मयि या मम तनूरेषा सा त्वयि सह नौ व्रतपते व्रतानीति तदग्निना त्वचं विपल्याङ्ग्यतेऽनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिरिति तदवान्तरां दीक्षामुपैति सन्तरामङ्गुलीरचते सन्तरां मेखलां पर्यस्तामेवैनामेतत्सतीं पर्यस्यते' (श. ३.४.३.९)। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। तदग्निना त्वचं विपल्याङ्ग्यतेऽग्निशरीरात्मशरीरयोर्व्यत्यासं करोति, विपल्याङ्ग्यते विविधं परित आङ्ग्यन्नवेष्टयन्नग्निमेव त्वचमकुर्वन्नित्यर्थः। अग्नेस्त्वग्भावे कः सम्बन्ध इति तत्रोच्यते—तपो वाग्निः। तपनसाधनत्वादग्निस्तपः, दीक्षापि क्लेशात्मकत्वात्तपः। अवान्तरदीक्षां नामनिर्वचनेन प्रशंसति—सन्तरामङ्गुलीरचतेऽतिशयेन संश्लिष्टा अङ्गुलीः कुर्वन् तथा मेखलामपि पूर्वां शिथिलबद्धां पुनः संलग्नां दृढामकुर्वन्। तदेवाह—पर्यस्तामिति। परितः क्षिप्तामेवेति। तथो एवैष एतद्यदतः प्राचीनमव्रत्यं वा करोत्यव्रत्यं वा वदति अवान्तरदीक्षाख्यं कर्म प्रायश्चित्तं तस्य पापस्य निर्हरणमित्यर्थः। तत्रैव तृतीयया कण्डिकया प्रजासाधनत्वेनावान्तरदीक्षा प्रशस्ता। वधूवरयोर्युग्मीभावस्याग्निसापेक्षत्वेन मिथुनकर्ताग्निरुच्यते। अशितपीतयोः शुक्रशोणितरूपेण परिणामस्य चाग्न्यधीनत्वात् प्रजनयिता तत्प्रजामुपायन्त्सन्तरामङ्गुलीराचं च मेखलां सन्तरां मेखलां तत्प्रजामात्मन्नकुर्वन्त। अथवा कथमग्निर्मिथुनस्य कर्ता, यतोऽसौ मिथुनस्य प्रजनयिता। देवानां प्रजार्थत्वमुक्त्वा इदानीन्तनयजमानस्यापि तदर्थत्वमुक्तम्। तत्तेन तनूविनिमयेन मन्त्रगतेन 'अनु मे दीक्षाम्' इति मन्त्रभागे दीक्षाशब्दश्रवणात् तन्मन्त्रभागपाठेनावान्तरदीक्षां प्राप्तवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे तु — हे अग्ने परमेश्वर, त्वं व्रतपा व्रतरक्षकोऽसि। तव व्रतपस्य या तनूः शरीरं तेजोमयं स्वरूपं वा मयि भवतु। या च मम तनूर्मदीयं शरीरं सैषा त्वयि भवतु त्वदायत्ता त्वत्सेवापरायणा भवतु। यद्वा मम सूक्ष्मं शरीरं स्वरूपं वा त्वयि सायुज्यमुपगच्छतु। तनूशब्दः स्वरूपेऽपि प्रयुज्यते, 'विवृणुते तनूꣳ स्वाम्' इति श्रुतेः, 'सुखबोधतनावनन्ते' इति श्रीमद्भागवतवचनाच्च। तत्त्वज्ञानेनौपाधिकभेदमपहाय त्वया ममाभेदो मया च तवाभेदो भवतु। 'त्वं वै भगवो देवते अहमस्मि, अहं वै भगवो देवते त्वमसि' इति श्रुतेः। हे व्रतपते, नौ आवयोः, व्रतानि सदैव प्रवर्तन्ताम्, मम श्रद्धाभक्तिभ्यां त्वदनुसरणं व्रतम्, तव तु शरणागतपालनं व्रतम्, 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥' इति श्रीरामोक्तेः। किञ्च, दीक्षापतिः, दीक्षा शुभकर्मणां वा त्वदुपासनसम्बन्धिनी वा, तस्याः पतिः पालकः सर्वेश्वरः, एतत्सङ्कल्पेनैव शुभकर्मसिद्धेः। मे मदीयां दीक्षामनुमन्यताम्। तथा तपस्पतिः, तप एकादश्यादिव्रतम्, मनस इन्द्रियाणां च त्वय्यैकाग्र्यं वा, 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः' इत्युक्तेः, तस्य पतिः स्वामी परमेश्वरः, तस्मिन्नेव समर्पणीयत्वात्। 'यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्' (भ. गी. ९.२७) इति गीतोक्तेः। तपो मदीयमनुमन्यतां स्वीकरोतु, त्वदनुज्ञया कृतानां व्रतानां तपसां च साद्गुण्यसम्भवात्।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे अग्नि परमेश्वर, आप व्रत के रक्षक हैं। व्रतों के रक्षणकर्ता आपका तेजोमय स्वरूप मुझमें सन्निहित रहे। अथवा मेरा सूक्ष्म शरीर आपका सायुज्य प्राप्त करे। हे व्रतपते, श्रद्धाभक्ति द्वारा आपके अनुसरण का मेरा व्रत तथा शरणागत के पालन का आपका व्रत दोनों साथ ही प्रवृत्त रहें। आपकी उपासनारूपी दीक्षा के पालक सर्वेश्वर मेरी दीक्षा को स्वीकार करें तथा व्रतों के रक्षक परमेश्वर मेरे तपोव्रत को स्वीकार करें।

अत्र दयानन्दः—'हे अग्ने ! विज्ञानस्वरूप ब्रह्मन् विद्युद्वा, व्रतपा व्रतानि सत्यभाषणादीनि पाति यस्माद्यया वा, त्वे त्वयि तस्यां वा व्रतपा व्रतानि सुशीलादीनि येन यया वा । या वक्ष्यमाणा तव भवतस्तस्या वा तनूर्विस्तृता व्याप्तिः, इयं प्रत्यक्षा सा प्रतिपादितपूर्वा मयि मम मध्ये मम तनूर्विस्तृतं शरीरम्, एषा प्रत्यक्षा या उक्तपूर्वा त्वयि जगदीश्वरे तस्यां वा सह परस्परं नौ आवामावयोर्वा व्रतपते व्रतादीनां वेदादिविद्यानां पालयितः पालननिमित्ता वा व्रतानि ब्रह्मचर्यादीनि, अनु पश्चात्, मे मम दीक्षां व्रतादेशं दीक्षापतिर्व्रतादेशानामुपदेशपालको रक्षणनिमित्ता वा मन्यतां स्वीकरोति स्वीकारयति वा, अनु आनुकूल्ये तपो जितेन्द्रियत्वादिपुरःसरं धर्मानुष्ठानं तपस्पतिस्तपसः पालयिता । हे अग्ने परमात्मन् विद्युद्वा व्रतपालयितः, व्रतनिमित्तं वा त्वे त्वयि तस्यां वा अहं व्रतपा अस्मि । येयं तव तस्या वा तनूरस्ति सा मयि वर्तते । या यैषा मम तनूरस्ति सा त्वयि तस्यां वर्तते । यानि तव तस्या वा व्रतानि तानि मयि सन्तु । यानि ममोत्तमानि व्रतानि सन्ति तानि त्वयि तस्यां वा वर्तन्ताम् । यो भवानियं वा तपस्पतिरस्ति, स सा वा मे मह्यं तपोऽनुमन्यतामनुज्ञापयतु ज्ञापयति वा । यो भवानियं वा दीक्षापतिः स सा मे मह्यं दीक्षामनुमन्यतामनुज्ञापयतु, अनुज्ञायतु, अनुज्ञापयति वा । एवं हे अध्यापक ! त्वमहं चैतौ विदित्वा सह परस्परं धार्मिकौ विद्वांसौ भवेव, यतो नावावयोर्विद्यावृद्धिः सततं भवेत्' इति, तदेतत्सर्वमसत्, परमात्मनश्चेतनस्य सत्यादिपालकत्वसम्भवेऽपि विद्युतस्तदसम्भवात् । न च पतिशब्दस्य पालननिमितत्वमर्थः, कथञ्चित्तदङ्गीकारेऽपि विद्युतो व्रतादिनिमित्तत्वस्याप्यसम्भवात्, यथाकथाञ्चित्तु तस्याः सर्वस्यैव निमित्तत्वेऽन्यथासिद्धेः । न वा निराकारस्य परमात्मनो विद्युतो वा त्वद्रीत्या तनूसम्भवः । न वा अन्यसम्बन्धिन्यास्तन्वाः परमात्मनि विद्युति वा प्रवेशः सम्भवति । व्रतानि च परमेश्वरे विद्युति वा न सम्भवन्ति, परमेश्वरस्य पूर्णकामत्वेन व्रतानपेक्षणात्, तस्या जडत्वेनासम्भवाच्च । एवमेव तपस्पतित्वं दीक्षापतित्वं चोभयत्र न सम्भवति, तस्य सर्वाधिपतित्वेनाकिञ्चित्करत्वात्, तस्याश्च तदसम्भवात् । यदपि च 'या उ इत्यशुद्धम्' इति, तदपि न, अशुद्धिनिमित्तस्य हेतोरनुपन्यासात्, हेत्वनुपन्यासेन चैतल्लेखस्यैवाशुद्धिग्रस्तत्वात् । यस्तु—'पदकारेणात्र प्रकृतिभावेनैकपदत्वं प्रदर्शितम्, अतः पदकारविरोधात् पदद्वयोक्तिर्विरुद्धेति, तदपि न, या उ इति प्रकृतिनिर्देशस्य दिदर्शयिषितत्वेनादोषात् । वस्तुतस्तु शतपथविरोधात् सर्वमिदं दयानन्दीयं व्याख्यानमेवाशुद्धम् ॥६ ॥

अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे । आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व । आप्याययाऽस्मान् सखीन् सन्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय । एष्टा रायः प्रेषे भगाय ऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥७ ॥

'मदन्तीरुपस्पृश्य यजमानषष्ठाः सोममाप्याययन्त्यꣳशुरꣳशुरिति' (का. श्रौ. ८.२.६.) । ब्रह्मोद्गातृहोत्रध्वर्य्वग्नीध्राः पञ्चर्त्विजः षष्ठो यजमान इत्येते यजमानषष्ठा मदन्तीरुपस्पृश्य सोममुपस्पृशेयुर्हिरण्यहस्ताः । पञ्चमः प्रतिप्रस्थातेति

इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्यान अनुचित है। विद्युत् का सत्यादि का पालक होना असम्भव है और निराकार परमात्मा अथवा विद्युत् का उनके मत में शरीर भी संभव नहीं है। व्रत भी परमेश्वर अथवा विद्युत् दोनों में सम्भव नहीं है, क्योंकि पूर्णकाम होने के कारण परमेश्वर व्रतनिरपेक्ष हैं तथा विद्युत् के जड होने के कारण व्रत असंगत है। शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण भी यह व्याख्या अशुद्ध है ॥६ ॥

मन्त्रार्थ — **हे सोम देवता! तुम्हारे सब अवयव धन प्राप्त कराने वाले इन्द्रदेव की प्रीति के लिये वृद्धि पावें। तुम्हें पीने के लिये इन्द्र यहाँ आवें। तुम इन्द्र के पान के लिये सब ओर से वृद्धि पाओ। हे सोम! सखा के समान प्रीति के पात्र**

सम्प्रदायः। अत्र सोमाप्यायनं हस्तेन सोमस्य स्पर्शमात्रम्, न तु सोमान्तरस्य तत्र प्रक्षेप इति कर्काचार्यः। 'अथैनमतो मदन्तीभिरुपचरन्ति तपो वा अग्निस्तपो मदन्त्यस्तस्मादेनं मदन्तीभिरुपचरन्ति' (श. ३.४.३.१०)। एनं सोमं यजमानं वा मदन्तीभिरुपचरन्ति। तप्ता आपो मदन्त्यः। अग्नेर्मदन्तीनां च सन्तापकत्वात् तपोरूपत्वम्। चतुरवसाना चतुरशीत्यक्षरा प्रकृतिः सौमी, अन्त्योऽर्धर्चो लिङ्गोक्तः सोमो देवता। हे सोमदेव, ते तव, अंशुः सर्वोऽप्यवयवः, इन्द्राय इन्द्रप्रीत्यर्थ-माप्यायतामुपचीयताम्, अनेन प्रोक्षणेन सर्वतो वर्धतामित्यर्थः। चिरकालावस्थानेन सोमस्य योऽवयवो म्लानो भवति, यश्च शुष्यति, तदुभयमनेन मन्त्रपूर्वकस्पर्शनेनाप्यायितं भवत्विति तात्पर्यम्, 'यदैवास्या युवायते यन्त्रीयते तदेवास्यै तेनाप्यायति' इति तित्तिरिश्रुतेरिति सायणाचार्यः। कीदृशायेन्द्राय? एकधनविदे, यावन्तः सोमयागाः सन्ति तेषु सर्वेषु सोमरूपमिदं द्रव्यमेकमेव धनं विन्दते लभत इत्येकधनवित्, तस्मै। यद्वा सोमकण्डनाय यैर्जलमानीयते ते कुम्भा एकधनाः, एकं धनं सोमरूपं यत्रेति व्युत्पत्तेः। तान् वेत्ति जानातीत्येकधनवित्, तस्मै। अर्थात् सोमकण्डनाय जलकुम्भा आनीता इति जानातीत्यर्थः। यद्वा एकधनान् वेत्तीत्येकधनवित्, तस्मै। कथंभूतान् वेत्तीति चेत्, 'एकैकोंऽशुः सोमस्य देवान् प्रति भक्षत्वेन गच्छन् शतमेकधनानाप्यायति दश दश सोमस्य ईदृशी शक्तिः' इति श्रुतिः। हे सोम, तुभ्यं त्वत्पानार्थम्, इन्द्र आप्यायतां वर्धताम्, बहुसोमपानेन इन्द्रो वर्धताम्। तथा हे सोम, त्वमपि इन्द्राय इन्द्रपानार्थम्, आप्यायस्व सर्वतः प्रवृद्धो भव। तदाह तित्तिरिः—'उभावेवेन्द्रं च सोमं चाप्यायति' इति। यद्वा तुभ्यमिन्द्र आप्याय-तामुपचीयताम्। उपचितो हीन्द्रो बहुसोमं पिबति, अतस्त्वमिन्द्राय आप्यायस्व इन्द्रार्थमात्मानं वर्धयेत्युव्वटः। किञ्च, हे सोम, सखीन् सखिवत्तव प्रीतिविषयान् अस्मान् ऋत्विजः सन्या धनदानेन मेधयाऽनुष्ठानेनार्थज्ञानधारणशक्त्या चाप्यायय प्रवृद्धान् कुरु, 'ऋत्विजो वा अस्य सखायः' इति श्रुतेः। हे सोम, ते स्वस्ति क्षेमो विनाशाभावोऽस्तु। तव प्रसादादहं सुत्यां सोमाभिषवक्रियां समाप्तिदिनमशीय प्राप्नुयाम्। यद्वा स्वस्ति विनाशाभावेन तव सम्बन्धिसवनेन सुत्यामशीय।

'प्रत्येत्य प्रस्तरे निह्नुवत उत्तानहस्ता दक्षिणोत्ताना वेष्टा राय इति' (का. श्रौ. ८.२.७)। आहवनीयाद्दक्षिणस्यां दिशि स्थापितस्य सोमस्य समीपे आहवनीयं पूर्वेण गत्वा सोमाप्यायनं क्रियते। ततः प्रत्येत्य तेनैव मार्गेण प्रत्यागत्य सर्वे ब्रह्मादयः षडपि उत्तानहस्ता दक्षिणोत्ताना वा प्रस्तरे सोमं परिचरन्ति, प्रस्तरस्योपरि उभावपि पाणी उत्तानौ कुर्वते। दक्षिणो वोत्तानः सव्यो नीच एव। निह्नवश्च प्रस्तरे पाण्योः करणम्। तत्रस्थैरेव प्रस्तरे निह्नवो न कार्य इत्येतदर्थं प्रत्यागमनविधानमिति सूत्रार्थः। सोमाप्यायनकाले सर्वदेवात्मकस्य गार्हपत्याग्नेः पृष्ठतः करणेन सर्वदेवानां पृष्ठतः करणं भवति। तेन तेषां सान्त्वनमेव निह्नवः। प्रस्तरस्य सर्वदेवपरिचरणस्थानेन सर्वदेवात्मकत्वात् तत्र पाणिनिह्नवेन

हम ऋत्विजों को धनदान और धारणा शक्ति से बढ़ाओ। हे सोम देवता! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारी कृपा से मैं सोम यज्ञ के अन्तिम स्नान दिन को निर्विघ्न पाऊँ। हे सोम! हमारा इच्छित धन, ऐश्वर्य आदि हमें प्राप्त हो। सत्यपरक हमारे कर्म को आप पूरा करें। स्वर्ग-पृथ्वी के अभिमानी देवताओं को हम नमस्कार करते हैं॥ ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु, अग्नीध्र नामक पाँचों ऋत्विक् और छठा यजमान इस मन्त्र को पढते हुए जल से सोम को सींचते हैं और दाहिने हाथ को ऊंचा कर रक्षा के लिये सोम की प्रार्थना करते हैं॥७॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.२.६) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अंशुरंशुः' इस मन्त्र से ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु, अग्नीध्र तथा यजमान मिल कर मदन्ती पात्र से जल लेकर सोम का स्पर्श करते हुए आर्द्र करते हैं। तैत्तिरीय तथा शतपथ श्रुतियों के आधार पर सायणाचार्य ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार भाष्य किया है।

सर्वनिह्नवः सम्पद्यते। हे सोम, रायो धनानि आ इष्टा आसमन्तादस्माकमिष्टाः, त्वत्प्रसादादस्माकं धनानीष्टानि भवन्त्वित्यर्थः। यद्वा दक्षिणालक्षणा राय एष्टा आसमन्ताद्दत्ताः। इष्टा इति यजतेर्दानार्थकस्य रूपम्। दक्षिणा दास्यन्त इत्यर्थः। किमर्थम्? प्रेषे भगाय प्रकर्षेणेष्यत इति प्रेट्, तस्मै प्रकर्षेण काम्यमानाय भगाय ऐश्वर्याय। यद्वा हे एष्टः, तृजन्तस्य सम्बुद्धिः, अर्थाद् धनं यजमानार्थमिच्छन् अग्ने! अत्र ब्राह्मणे सोमाप्यायननिह्नवातिक्रमस्योक्तत्वात् स एव प्रसाध्यः। यद्वा प्रकर्षेणेषे अन्नाय भगाय च, ऋतवादिभ्यः सत्यवादिभ्योऽग्निहोत्रिभ्य ऋतं सत्यं तत्प्रीत्यर्थमवश्यम्भाविफलवत्कर्म सम्पादयेति शेषः। यद्वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। ऋतवादिनामस्माकं कर्मफलमस्त्विति शेषः। द्यावापृथिवीभ्यां तदभिमानिदेवताभ्यां नमोऽस्तु। तयोरनुग्रहेण यजमानस्य निर्विघ्नस्थितये नमस्कृतिः, 'द्यावापृथिवीभ्यामेव नमस्कृत्यास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति' इति तित्तिरिश्रुतेः।

'अथ मदन्तीरुपस्पृश्य। राजानमाप्याययन्ति तद्यन्मदन्तीभिरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति वज्रो वा आज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसामेति तस्मान्मदन्तीभिरुपस्पृश्य राजानमाप्याययन्ति' (श. ३.४.३.११)। मदन्त्युपस्पर्शनपूर्वकं राजाप्यायनं विधत्ते—अथ मदन्तीरुपस्पृश्येति। 'घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' (तै. सं. ६.२.२.४) इति श्रुतेराज्यस्य वज्रत्वम्। सोमस्य सर्वौषध्यनुप्रवेशाद् रेतसश्चौषधिजन्यत्वाद्रेतस्त्वं सोमस्य। अथवा 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा. उ. ७.९.१) इत्याहुतिरूपस्य सोमस्य क्रमेण रेतोरूपेण परिणामाद्रेतस्त्वम्। तदेवाह श्रुतिः—'तदाहुः' (श. ३.४.३.१२) इत्यादिना। यस्मै सोमायातिथ्यं क्रियते, तमेवाग्रे आप्यायनादिभिः सत्कर्तुं युक्तमिति सोमसम्बन्धेन केषाञ्चिद्रीत्या चोद्यमुद्भाव्य यज्ञस्य वा एवं कर्मेत्यादिना तत्समाधानम्। एवम्प्रकारकक्रमविशिष्टं कर्मजातं यज्ञस्य खलु क्रियते। अत्र खल्वेनान् देवान् समत् कलहः, अविन्ददाप्नोत्। ते च देवाः पूर्वकलहोपशमनरूपं तानूनप्त्रं कृतवन्तः। ततः शपथजनितदोषपरिहारायानान्तरमेवावान्तरदीक्षा कार्या, परिशेषादाप्यायनस्यान्ते निवेश इति।

'तद्यदाप्याययन्ति। देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोऽशाना नामौषधिर्जायत इति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिस्तामेतदाहृत्याभिषुण्वन्ति तां दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं कुर्वन्तीति तथो एवैनामेष एतद्दीक्षोपसद्भिस्तानूनप्त्रैराप्यायनेन सोमं करोति' (श. ३.४.३.१३)। आप्यायनं प्रशंसति—तद्यदाप्याययन्तीति। सोमस्य देवत्वमाह— देवो वै सोमो दिवीति। तथापि सोमस्याप्यायनेन किं स्यादित्यत आह—वृत्रो वै सोम आसीदिति। त्वष्ट्रेन्द्रघातकोत्पत्त्यर्थं हुतस्येन्द्रपीतसोमशेषस्य वृत्रत्वेनोत्पत्तेः सोमस्य वृत्रत्वम्। तस्येन्द्रेण हतस्य वृत्रस्य शरीरं गिरयोऽश्मानोऽभवन्। सोमाख्यं वस्त्वेव सोमशरीरभूतेषु गिर्यादिषु वर्तते। तदेष अशानाख्या ओषधिर्जायते। एवं श्वेतकेतुरौद्दालकिराह स्म। अतस्तामेव गिरावुत्पन्नामेव इदानीन्तना यजमाना अभिषुण्वन्ति न साक्षात् सोमम्। अतस्तामोषधिं दीक्षादिभिः संस्कारैः साक्षात्सोमं कुर्वन्तीत्याह—तथो एवैनामेष इति। 'मधु सारघमिति वा आहुः। यज्ञो वै मधु सारघमथैत एव सरघो मधुकृतो यदृत्विजस्तद्यथा मधु मधुकृत आप्याययेयुरेवमेवैतद्यज्ञमाप्याययन्ति' (श. ३.४.३.१४)। ऋत्विग्यजमानकर्तृकमाप्यायनं मधुसारघकल्पनया प्रशंसति—मधु सारघमिति। तस्यैवाप्यायनस्य १६-१७ कण्डिकाभिर्गतसारत्वपरिहाररूपेण प्रशंसनम् — 'यज्ञस्य निर्धीतं यद्विदुग्धं तदेवैतत् पुनराप्याययन्ति॥ ते वै षड् भूत्वाऽऽप्याययन्ति। षड् वा ऋतवः' इति। तेनर्तुभिरेवाप्यायनं सम्पद्यते।

आप्यायनमन्त्रस्तदभिप्रायश्चोच्यते—'त आप्याययन्ति। अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिति तदस्याꣳशुमꣳ-शुमेवाप्याययन्तीन्द्रायैकधनविद इतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रायेत्येकधनविद इति शतꣳ शतꣳ ह स्म वा एष देवान् प्रत्येकैक एवाꣳशुरेकधनानाप्यायते दश दश वा तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्वेतीन्द्रो वै

यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तामेवैतदाप्याययत्या त्वमिन्द्राय प्यायस्वेति तदेतस्मिन्नाप्यायनं दधात्याप्यायया ऽस्मान्त्सखीन् सन्या मेधयेति स यत्सनोति तत्तदाह यत्सन्येत्यथ यदनुब्रूते तदु तदाह यन्मेधयेति स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीयेत्येका वा एतेषामाशीर्भवत्यृत्विजां च यजमानस्य च यज्ञस्योदृचं गच्छेमेति यज्ञस्योदृचं गच्छानीत्येवैतदाह' (श. ३.४.३.१८)। मन्त्रस्य प्रथमभागं व्याचष्टे—अंशुरंशुष्ट इति। यद्यप्याप्यायने सोमस्य सर्वोऽशुर्नाप्यायते, तथापि मन्त्रे अंशुरंशुरिति वीप्साभिधानसामर्थ्येनैव प्रत्यंशु आप्यायनवद् भवति, मन्त्राणामचिन्त्यशक्तित्वेन तथा सामर्थ्यावगमात्। इन्द्रायैकधनविद इत्यत्रेन्द्रशब्दतात्पर्यमाह—इन्द्रो वै यज्ञस्य देवतेति। एकधनानाप्यायते दश दश वेति। एकः सोमादिरूपो हविःपदार्थ एव धनं येषां ते देवा एकधनाः, तान् विन्दति यज्ञे सोमपानाय लभत इतीन्द्र एकधनवित्। तस्मादेकैक एवांशुः शतशो दशशो वा एकधनान् देवान् आप्याययति वर्धयति, तेषां शरीरोपचयं करोति। अत उक्तप्रकारेण सोमाख्यैकधनेन देवानामेकधनत्वान्मन्त्र इन्द्रायैकधनविद इत्याह—आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामिति। हे सोम, तुभ्यं त्वदर्थं पातुं स इन्द्रः समर्थो भवतु। यज्ञसाधनभूतस्येन्द्रार्थत्वावगमादिन्द्रस्यैवाप्यायनं कृतं भवतीत्यर्थः।आ त्वमिन्द्राय प्यायस्वेति। अत्र सोमाप्यायनस्येन्द्रार्थत्वावगतेस्तस्मिन्नेवाप्यायनं दधातीत्युक्तम्। आप्याययास्मान् सखीन् सन्या मेधयेति। अनेन मन्त्रभागेन धनमेषां दित्सयाऽऽप्यायनायास्मत्सखिभूतानामृत्विजामाशासनं क्रियते। अत्र सनिमेधाशब्दयोर्दातव्यं धनमनुवचनीयं मन्त्रादिकं चार्थ इत्याह—स यत्सनोति तत्तदाह यत्सन्येति। सन्या इत्येवंरूपेण शब्देन यदाहार्थजातं तद्यत् सनोति धनं यज्ञेन यजमानस्तदाह। एवमुत्तरवाक्यमपि योज्यम्। पूर्वापरभूतस्यानुवचनस्य मेधामन्तरेणासम्भवान्मेधाशब्दस्यानुवचनमर्थ इति व्याख्यातम्। स्वस्ति ते सोमेति। क्षेमो विनाशाभावः। सुत्यां सोमाभिषवमशीय प्राप्नुयाम्। सुत्याप्राप्तिप्रार्थनायास्तात्पर्यमाह—एको वा तेषामाशीर्भवतीति। यज्ञस्योदृचमिति। उपरिभाविनी ऋग् उदृक्, तया समाप्तिर्लक्ष्यते।

'अथ प्रस्तरे निह्नुवते। उत्तरत उपचारो वै यज्ञोऽथैतद्दक्षिणेवान्वित्याप्याययन्त्यग्निर्वै यज्ञस्तद् यज्ञं पृष्ठतः कुर्वन्ति देवेभ्य आवृश्च्यते यज्ञो वै प्रस्तरस्तद्यज्ञं पुनरारभन्ते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिस्तथो हैषामेतन्न मिथ्याकृतं भवति न देवेभ्य आवृश्च्यन्ते तस्मात् प्रस्तरे निह्नुवते' (श. ३.४.३.१९)। आप्यायनमभिधाय निह्नवमाह—अथ प्रस्तरं निह्नुवत इति। प्रस्तरस्योपरि पाणी सम्पुटीकृत्य अंशुरंशुष्ट इति मन्त्रजपो निह्नवः। निह्नवशब्दोऽपलापार्थको दृष्टः। इह तु देवानां नमस्कारादिना सान्त्वनं विहितम्। सोमाप्यायनकाले सम्भावितस्यातिक्रमस्य परिहाररूपेण निह्नवं प्रशंसति—उत्तरत उपचारो वै यज्ञ इति। उत्तरत उपचार इति व्यतिरेकप्रदर्शनायाभिधानं साध्यसाधनयोरभेदाभिप्रायेण। अग्नेर्यज्ञत्वमृत्विजां दक्षिणत उपचारेण पश्चाद्भागस्थितस्य गार्हपत्यस्य पृष्ठतः करणं भवति। तेन मिथ्या अकृतं कुर्वन्ति। अग्नेः सर्वदेवात्मकत्वात् सर्वदेवेभ्यो वर्जितो भवति तत्पृष्ठतः करणेन। तर्हि प्रस्तरनिह्नवेन कथं तत्समाधानमिति तत्राह—यज्ञो वै प्रस्तरः। हविराधारकत्वेन यज्ञनिर्वर्तकत्वात् प्रस्तरस्य यज्ञत्वोपचारः। तेन तस्य निह्नवेन देवानां सान्त्वनं सम्पद्यते। तेन नैषां मिथ्याकृतम्। न च देवेभ्यो वृश्च्यन्ते। तस्मात् प्रस्तरे निह्नुवते। २० कण्डिकया निह्नवस्य कालं निर्धारयितुं ब्रह्मवादिनां विचारो दर्शितः। किम्वक्ते प्रस्तरे निह्नवः कर्तव्य उतानक्त इति विचार्यमाणत्वात् प्लुतिः। अक्तस्याविलम्बेनाग्नौ प्रहरणादनक्त एव प्रस्तरे कर्तव्यमित्यर्थः। 'अक्ते निह्नुवीरा३ननक्ता३ इत्यनक्ते हैव निह्नुवीरन्न नु प्रहरणꣳ ह्येवाक्तस्य॥ ते निह्नुवते। एष्टा रायः प्रेषे भगाय ऋतमृतवादिभ्य इति सत्यꣳ सत्यवादिभ्य इत्येवैतदाह नमो द्यावापृथिवीभ्यामिति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां निह्नुवते ययोरिदꣳ सर्वमधि' (श. ३.४.३.२० - २१)। निह्नवमन्त्रस्यायमभिप्रायः—हे एष्टः, यजमानार्थं धनमिच्छन् सोम, रायो धनानि प्रयच्छेति शेषः। किमर्थम्? इषे अन्नाय भगाय सौख्याय ऐश्वर्याय वा। ऋतवादिभ्योऽस्मभ्यमृतं प्रयच्छ क्रियमाणं कर्म यथा न वृथा स्यात्तथा

कुर्वित्यर्थः। सर्वदेवाश्रयाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां नमः। ऋतशब्दस्योदकयज्ञाद्यर्थेष्वभिमतमर्थमाह— सत्यवादिभ्य इतीति। द्यावापृथिवीभ्यां नमस्कार एव निह्नव इत्याह—द्यावापृथिवीभ्यां निह्नुवत इति। ननु कथं तयोर्निह्नवेनेतरदेवानां निह्नवः स्यादिति तत्राह—ययोरिदं सर्वमधीति। यस्मात्तयोरन्त इदं सर्वं परिदृश्यमानमधि, स्थितमिति शेषः। तस्मात्तयोर्निह्नवेनेतर- देवानामपि निह्नवः स्यादेवेति। यद्वाऽधीति सप्तम्यर्थानुवादी, तयोरधीदं सर्वमिति। आपः किम्? मदन्तीः, मदन्त्यस्तप्ता आसन्। 'अथाह समुल्लुम्प्य' प्रस्तर इत्युपक्रम्य २२ कण्डिकया प्रस्तरं सम्यगाहत्य हे अग्नीत्, ताभिरेहि, इत्याहेति शेषः। तं प्रस्तरमग्निमुपर्युपर्यग्नेरूर्ध्वोर्ध्वभावेऽतिहरत्यनुप्रहरति, तमध्वर्युणा दत्तं प्रस्तरमग्नीत् सुरक्षिते देशे निदधाति। एवं शतपथब्राह्मणानुसारेणैव कात्यायनेन सायणादिभिश्च मन्त्रो व्याख्यातः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम साम्बसदाशिव, ते तव, अंशुरंशुः प्यायताम्, सर्वेऽप्यवयवभूता रश्मयः प्रभावा गुणा आप्यायन्तामुपचीयन्ताम्, उत्तरोत्तरं निरन्तरमुत्कर्षं प्राप्नुवन्तु। कस्मै प्रयोजनाय? एकं मुख्यं त्वां परमात्मानमेव धनं वेत्ति विन्दते वा योऽसौ एकधनवित् त्वदनन्योपासकस्तस्मै। भगवतः सर्वे गुणाः प्रभावा ऐश्वर्याणि च भक्तार्थान्येव भवन्ति। 'जयत्यतिबलो रामः' इतिवद्भगवद्धर्षापनम्। हे सोम, इन्द्र इन्ध एवेन्द्रः, 'ञिइन्धी दीप्तौ' इन्धे देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारान् दीपयति स्वयं च दीप्यत इतीन्धो जीवः, इन्ध एव परोक्षभाषया इन्द्र उच्यते। यद्वा इदं सर्वं स्वात्मत्वेन दृष्टवानितीदन्द्रो ब्रह्मवित्, इदन्द्र एव इन्द्र उच्यते परोक्षभाषया, तुभ्यं त्वदुपासनार्थमेव आप्यायताम्, त्वत्प्रदत्तसामर्थ्येनैव त्वदुपासनसम्भवात्। त्वं च हे सोम, इन्द्राय तस्मै ज्ञानिभक्ताय आप्यायतामुपचीयताम्। भक्तभगवतोः परस्परहितायैवाप्यायनं भवति। हे सोम, अस्मान् सखीन् सखिभूतान् जीवान् सख्यभावेनोपासकान् भक्तोपासकान् वा, 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः' (मुण्डको. ३.१.१०) इति श्रुतेः। सन्या शमदमादिदैवीसम्पत्प्रदानेन मेधया स्वात्मसाक्षात्कारलक्षणया प्रज्ञया तत्प्रदानेन चाप्यायय प्रवर्धय। हे सोम देवते, तव कृपयेति शेषः। स्वस्ति यथा स्यात्तथाऽविघ्नेन सुत्यां सोमाभिषवोपलक्षितां त्वत्साक्षात्कारपर्यवसायिनीं त्वदाराधनामशीय प्राप्नुयाम्। आसमन्तादिष्टा रायस्तदनुगुणा अपेक्षिताः सम्पत्तयः प्रेषे प्रकृष्टाय इष्यमाणायान्नाद्याय भगायैश्वर्याय चास्माकं सन्त्विति भावः। ऋतवादिभ्यः सत्यवादिभ्यः, ऋतं सत्यम्, अत्यन्ताबाध्यं भगवत्पदं वा, प्रयच्छेति शेषः। द्यावापृथिवीभ्यां नमः, तयोः शिवशक्तिरूपयोरनुग्रहेणेष्टसिद्धेः।

दयानन्दस्तु—'हे सोम देवेश्वर विद्वन् विद्युद्वा, यतस्ते तव तस्या वा सामर्थ्यमंशुरंशुर् अङ्गमङ्गं सोमेनाप्यायताम् आप्यायति वेन्द्रः सोमो भवानियं वा एकधनविदे य एकेन धर्मेण विज्ञानेन वा धनं विन्दति तस्मै, आ अभितः, तुभ्यम् अध्यापकाय मह्यमध्येत्रे वा इन्द्रः परमात्मा विद्युद्वा आप्यायतामाप्याययति वा। त्वमिन्द्राय दुःखविदारणायाप्यायस्व वर्धयस्व वर्धयेद्वा। अतः सन्या समानान् पदार्थान्नयति यया तया मेधया प्रज्ञया सखीनस्मान् आप्याययाप्याययेद्वा। हे सोम देव, तव शिक्षयाऽहं सुत्यां दिव्यगुणसम्पन्नो भूत्वेष्टारायः प्राशीयाम्, इषे भगायर्तवादिभ्यो विद्वद्भ्य एतद्धनं

अध्यात्मपक्ष में अर्थ यह है — हे साम्ब सदाशिव, आपकी समस्त अवयवभूत रश्मियां, प्रभावगुण एकमात्र आपको धन मानने वाले अनन्य उपासक जीव के लिये उत्तरोत्तर उत्कर्ष, वृद्धि को प्राप्त करें। अथवा इदन्द्र अर्थात् ब्रह्मविद् आपकी उपासना हेतु समर्थ करें। भक्त एवं भगवान् के परस्पर हितार्थ आप्यायन किया जाता है। हे साम्बशिव! सख्यभाव से उपासना करने वाले हम भक्त जीवों को प्रज्ञादान द्वारा वर्धित करें। मंगलपूर्वक निर्विघ्नता से हे देव, आपकी आराधना को प्राप्त करें। हमारी अपेक्षित सम्पत्तियां अन्न तथा ऐश्वर्य के लिये हों। सत्यवादियों के लिये भगवत्पद प्रदान करें। शिवशक्तिरूपी देवों के लिये नमस्कार है।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में सोम शब्द का 'पदार्थविद्यावेदिता' अर्थ प्रमाण के अभाव में कैसे हो सकता है? एक ही पद के धर्म तथा विज्ञान दोनों अर्थ मानने में कोई प्रमाण नहीं है। धर्म तथा विज्ञान एक नहीं है॥७॥

दत्त्वा ऋतं सत्यां विद्यां द्यावापृथिवीभ्यां नमोऽन्नं प्राप्य सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयाम्' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, सर्वपक्षेष्वसङ्गतेः। सोमपदस्य पदार्थविद्यावेदितेति कथमर्थः? प्रमाणानुपन्यासात्। जगदीश्वरस्य विदुषो विद्युतो वा सामर्थ्यमिति कुतो लब्धम्? मूले सामर्थ्यबोधकपदाभावात्। 'अंशुः सोमेन आप्यायताम्' इति सोमेनेति पदं कुतो लब्धम्? तृतीयान्त-सोमपदस्य मूलेऽभावात्। यदि सामर्थ्यमित्यंशुपदस्यार्थ इति चेत्तत्रापि प्रमाणमावश्यकम्? परमेश्वरीयसामर्थ्यस्य कथं सोमेनाप्यायनम्, तस्य नित्यत्वात्। न चाङ्गं परमेश्वरस्य सम्भवति, तस्य निराकारत्वाभ्युपगमात्। अध्यापकोऽध्येता वा कथं परमैश्वर्ययुक्तः सम्भवति? तस्य परमेश्वर एव सत्त्वात्, धर्मेण विज्ञानेन सीमितैश्वर्यस्यैव प्राप्तिसम्भवात्। हिन्दीभाषायां तु 'हे सोम पदार्थविद्याविद् दिव्यगुणसम्पन्न जगदीश्वर विद्वन् विद्युद्वा, ते तव तस्या वा सामर्थ्यमङ्गमङ्गं वर्धयतु वर्धयति वा' इति, तच्चैतन्मूलानन्वितमेव। एकेन धर्मेण विज्ञानेन धनं विन्दतीत्यप्यशुद्धम्, एकपदस्य धर्मो विज्ञानं वार्थ इत्यत्र प्रमाणाभावात्। नहि धर्मस्य विज्ञानस्य वैकत्वम्, धर्मविज्ञानयोरनेकत्वप्रसिद्धेः। इन्द्रपदस्य दुःख-विदारणमपि नार्थः, प्रमाणाभावात्। एकपदस्य मुख्यः प्रधानः परमेश्वर आकाशो वा कथं नार्थः? समानान् पदार्थान् मेधया कः कथं नयति? मेधया साधर्म्यवैधर्म्ययोरपि नयनात्। 'हे सोम, तव शिक्षयाहं सुत्यां दिव्यगुणसम्पन्नो भूत्वैष्टारायः प्राशीय' अत्र शिक्षा कस्य मन्त्रगतशब्दस्यार्थः? सुत्याशब्दस्य को वार्थः? सुन्वन्ति यया क्रियया सेति चेत्, का सा क्रिया? सुनोतिरपि क्रियैव। दिव्यगुणसम्पन्नो भूत्वेति तदर्थः कथम्? हिन्द्यां वा 'उत्तम-उत्तम उत्पन्न करने वाली क्रिया में कुशल होके' इत्युक्तम्, तत्र च किं मानम्? 'मनुष्यैः परमेश्वरमुपास्य विद्वांसमुपचर्य विद्युद्विद्यां प्राप्य शरीरात्मपुष्टिकरानोषधिसमूहान् धनसमूहांश्च संगृह्य वैद्यकविद्यानुसारेण सर्वानन्दा भोक्तव्याः' इति भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरबाह्य एव ॥७॥

या ते॑ अग्नेऽयःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ अपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ अपा॑वधी॒त् स्वाहा॑। या ते॑ अग्ने रजःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ अपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ अपा॑वधी॒त् स्वाहा॑। या ते॑ अग्ने हरिश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ अपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ अपा॑वधी॒त् स्वाहा॑॥८॥

'अक्त्वा प्रस्तरमुपसदं जुहोति स्रुवेण या ते इत्ययःशयामन्वारब्धे' (का. श्रौ. ८.२.३१)। जुहूपभृदाज्यस्थालीषु प्रस्तरमक्त्वा परिदध्यात्, दानात् पूर्वं स्रुवेणोपभृत्संज्ञकं होमं कुर्यात्, या ते अग्नेऽयःशया इति मन्त्रेणान्वारब्धे यजमाने।

मन्त्रार्थ— हे उपसद् नामक अग्ने! जो तुम्हारा लोहपुरवासी शरीर देवताओं को इच्छित फल देने वाला और असुरों के विषम देश में रहने वाला है, उसने दैत्यों की कठोर वाणी को प्रत्येक कल्प में नष्ट किया है। असुरों के कहे आक्षेपरूप वाक्यों को नष्ट करने वाले तुम्हारे जैसे उपकारक अग्नि के लिये हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं। हे उपसद् अग्ने! जो तुम्हारा रजतपुरवासी शरीर देवताओं को इच्छित फल देनेवाला और असुरों के विषम देश में स्थित रहने वाला है, उसने असुरों की उग्र वाणी को, आक्षेपरूप वचनों को नष्ट किया था। ऐसे उपकारक अग्नि के लिये हम श्रेष्ठ आहुति देते हैं। हे अग्ने! तुम्हारा सुवर्णपुरवासी शरीर देवताओं को इच्छित फल देने वाला और असुरों के विषम देश में स्थित रहने वाला है। उसने असुरों के तीखे वचनों को विनष्ट किया है। असुरों के आक्षेपरूप वचनों को नष्ट करने वाले उस उपकारक अग्नि के लिये हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं॥ इस मन्त्र से जुहू आदि में प्रस्तर को लगाकर परिधि-स्थापनपूर्वक स्रुवे से उपसद् अग्नि में आहुतियां दी जाती हैं॥८॥

आग्नेयानि त्रीणि यजूंषि । 'ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः' इत्युपक्रम्य प्रवर्ग्यानन्तरमुपसदनुष्ठानेन यज्ञं शिरसा योजयतीत्युक्तम् । ततः 'तद् याः पूर्वाह्णेऽनुवाक्या भवन्ति ता अपराह्णे याज्या या याज्यास्ता अनुवाक्यास्तद् व्यतिषजति तस्मादिमानि. . . पर्वाणि व्यतिषक्तानीमान्यस्थीनि' (श. ३.४.४.१२) । 'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्. . . य उग्र इव शर्यहा' (ऋ. ६.१६.३४-३९), 'त्वं सोमासि सत्पतिः . . . गयस्फानो अमीवहा' (ऋ. सं. १.९१.५-१२), 'इदं विष्णुर्वि चक्रमे' (ऋ. सं. १.२२.१७), 'त्रीणि पदा वि चक्रमे' (ऋ. सं. १.२२.१८) इति त्रीणि युगलानि क्रमेणाग्निसोमविष्णूनां युगलानि याज्याः पुरोऽनुवाक्याः (ऐ. ब्रा. १.४.८) । तेष्वाद्याः प्रातःकालोपसदि पुरोऽनुवाक्या भवन्ति द्वितीया याज्याः, सायंकालोपसदि तु द्वितीयाः पुरोनुवाक्याः प्रथमा याज्या इत्यर्थः । तत्रोपसदां लोकत्रयसाधनत्वेनेतिहासमुखेन प्रशंसोक्ता । 'देवाश्च वासुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरेऽयस्मयीमेवास्मिंल्लोके रजतामन्तरिक्षे हरिणां दिवि' (श. ३.४.४.३), 'तद्वै देवा अस्पृण्वत । त एताभिरुपसद्भिरुपासीदंस्तद्यदुपासीदंस्तस्मादुपसदो नाम ते पुरः प्रभिन्दन्निमांल्लोकान् प्राजयंस्तस्मादाहुरुपसदा पुरं जयन्तीति यदहोपासते तेनेमां मानुषीं पुरं जयन्ति' (श. ३.४.४.४), 'एताभिर्वै देवा उपसद्भिः । पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान् प्राजयन् तथो एवैष एतन्नाहैवास्मा अस्मिंल्लोके कश्चन पुरः कुरुत इमानेवैतल्लोकान् प्रभिनत्तीमांल्लोकान् प्रजयति. . . . तस्मादाज्यहविषो भवन्ति' (श. ३.४.४.५-६) । देवैः पराजिता असुरास्तपस्तप्त्वा त्रैलोक्ये त्रीणि पुराणि चक्रुर्लोहमयीं भूमौ राजतीमन्तरिक्षे हरिणीं हैमीं दिवि । तद्वै देवा अस्पृण्वत हिंसितवन्तः, त्रिभिरुपसदाख्याभिरिष्टिभिरुपासीदन् । असुरनिर्गमनप्रतिबन्धात् त्रीणि पुराण्यावृत्त्य न्यवसन् । तेनोपसदनसाधनत्वादासामुपसन्नाम सम्पन्नम् । लोकेऽप्युपसदा दुर्गवेष्टनेन पुरं जयन्तीति प्रसिद्धम् । एताभिर्देवा असुराणां पुरः प्राभिन्दन्निमांल्लोकान् प्राजयन् तथैवैतयोपसदा यजमानोऽपि पुरः प्रभिनत्ति । न हैवास्मिंल्लोके कश्चन तद्विरोधी पुरः कुरुते । उपसद्देवतारूपोऽग्निर्यदा तासु पूर्षु प्रविश्य ददाह, तदा तिस्रः पुरोऽग्नेस्तनवोऽभूवन् । तदेतदाह तित्तिरिः—'तेषामसुराणां तिस्रः पुर आसन्नयस्मय्येवाथ राजती हारिणी ता एतास्तिस्रः पुरो दग्युपसद्देवतारूपोऽग्निर्यदा तासु पूर्षु प्रविश्य व्याप्नोति तदानीमेतास्तिस्रः पुरोऽग्नेस्तनवो भवन्ति' इति ।

मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने, तव या तनूरयःशया अयसि शेत इत्ययःशया लोहमयी लोहमयपुरोव्यापित्वेन तद्रूपा सती वर्षिष्ठा उरुतमा विस्तीर्णतमा देवानामतिशयेनाभिमतफलवर्षिणी वा, तथा गह्वरेष्ठा असुरसम्बन्धितया गह्वरे निगूढे विषये परैरगम्ये देशे तिष्ठतीति सा तथोक्ता ते तनूः । उग्रं वचो छिन्धि-भिन्धीत्यादिकमसुरतीव्रं वचनं तथा त्वेषं वचोऽसुरैः प्रोक्तं देवाधिक्षेपरूपत्वेन प्रदीप्तं धृष्टं वाक्यमपावधीत् । तेन निहतसर्वोद्यमा असुरा निर्वाचः संवृत्ताः सन्तु वा । स्वाहा तथाविधदेवोपकारवते तुभ्यमग्नये हविर्दत्तमस्तु । यद्वा—असुरैरुपद्रुता देवा अन्नपानादिकमलभमाना क्षुत्पिपासाभ्यां पीडिता वयमिति वदन्ति तदेतदुग्रं वचः । तथा किं वीरहत्यादिकं पातकमस्माभिः कृतमिति क्लिश्नन्तो देवा यद्वाक्यं वदन्ति तत्सन्तापहेतुत्वेन प्रदीप्तम्, 'त्वेषं वच इति' (तै. सं. १.२.११) इति तैत्तिरीयश्रुतेः । 'एवमितरे अन्वहꣳ रजःशयाꣳ हरिशयां चेति' (का. श्रौ. ८.२.३३) । इतरे द्वितीयतृतीये उपसदौ एवमेवान्वहं द्वितीयतृतीययोर्दिनयोः कर्तव्ये । ज्योतिष्टोमे उपसत्त्रयं विहितम् । तत्र प्रथमामुपसदं प्रथमदिने सायं प्रातश्च आवृत्त्या द्विरनुतिष्ठेत्, एकैकामुपसदं द्विरभ्यस्येदित्यर्थः । द्वितीयतृतीयदिनयोरपि द्वे द्वे उपसदौ कर्तव्ये । 'तत्र रजःशया-हरिशया' इति मन्त्राभ्यां क्रमेण होमः

भाष्यसार—'या ते अग्ने' इत्यादि तीन यजुर्मन्त्रों के द्वारा उपसद् होम किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में इन मन्त्रों का याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से व्याख्यान उपदिष्ट है । तदनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र (८.२.३३-३६) में उपसदिष्टियों में इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है ।

कार्यः । ततश्च षडुपसदो भवन्ति । तत्र द्वितीयस्यामुपसदि रजःशयेति, तृतीयस्यां हरिशयेति मन्त्रभेदः । रजःशया रजतमयीत्यर्थः । हरिशया हिरण्मयी । शेषं पूर्ववत् ।

शतपथे च—'स जुहोति । यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन् भवति या ते अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा. . . . स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीदयस्मयी हि सासीत्' (श. ३.४.४.२३), 'अथ जुहोति । यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन् भवति या तेऽग्ने रजःशया. . . . स्वाहेत्येवꣳरूपा हि सासीद्रजता हि सासीत्' (श. ३.४.४.२४), 'अथ जुहोति । यया द्विरेकस्याह्नः प्रचरिष्यन् भवति या तेऽग्ने हरिशया. . . . स्वाहेत्येवंरूपा सासीद्धरिणी हि सासीद्यद्यु द्वादशोपसद उपेयाच्चतुरहमेकया प्रचरेच्चतुरहमेकया'(३.४.४.२५) । एवमुपसत्त्रयस्य मन्त्रान् निर्दिश्य द्वादशोपसत्पक्षे न्यायसिद्धमर्थं ब्राह्मणं स्वयमेव विस्पष्टं दर्शयति—यद्यु द्वादशेति । अयःशयेत्येतन्मन्त्रसाध्या एकोपसत् । तादृशीं चतुर्ष्वहस्सु आवर्तयेत् । पुनश्च द्वितीयमन्त्रसाध्ययापि चतुर्दिनमावर्तयते । तृतीययाप्येवम् । एवं द्वादश सम्पाद्याः । अर्थाद् अयःशयादीनां मन्त्राणां मध्ये एकैकस्य मन्त्रस्यैकैकोपसदं गत्वा चतुर्षु दिनेषु प्रथमं या ते अग्ने अयःशया इति मन्त्रमावर्तयेत् । पुनः पञ्चमादिचतुर्षु दिनेषु रजःशयेति मन्त्रमावर्तयेत् । ततो नवमादिषु चतुर्षु दिनेषु हरिशयेति मन्त्रमावर्तयेत् ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने ! अग्न्युपलक्षितानन्तचैतन्यात्मक परमेश्वर, सर्वव्यापकत्वात् सर्वरूपत्वात् सर्वाधिष्ठानत्वाद् या तेऽयःशया अयउपलक्षितेषु तामसेषु पदार्थेषु शेत इत्ययःशया रुद्ररूपा, वर्षिष्ठा उपासकानामतिशयेनाभिमतफलवर्षिणी गह्वरेष्ठा भोगिभिरगम्ये श्मशानारण्यपर्वतादौ तिष्ठतीति गह्वरेष्ठा तनूः स्वरूपम्, उग्रं वचो जहि जहि मारय मारयेत्यादिकं शत्रूणां राक्षसादीनां वा उग्रं वचो हन्ति, तस्मै तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु । या च ते रजःशया राजसी चतुर्मुखप्रजापत्यादिरूपा वर्षिष्ठा भौगैश्वर्यवर्षिणी गह्वरेष्ठा नास्तिकैरगम्या विस्तीर्णतया तनूः, उग्रं वचो हन्ति त्वेषं च वचो हन्ति, तस्मै तुभ्यं विविधा सपर्या समर्पितास्तु । या च हरिशया सुवर्णाद्युपलक्षितसत्त्वोपाधिका विष्ण्वादिरूपा तनूः, वर्षिष्ठा ज्ञानवैराग्यादिवर्षिणी गह्वरेष्ठाऽकृतपुण्यैर्दुष्प्रापा तनूः, उग्रं वचो नास्तिक्यपूर्णं वचः, त्वेषं भोगवासनोत्तेजकं वचो हन्ति, तस्मै तुभ्यं स्वात्मानं समर्पयामि ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं या ते अग्ने अस्या विद्युतोऽयःशया सुवर्णादिषु शेते सा तनूः, व्याप्तं विस्तृतं शरीरं वर्षिष्ठातिशयेन वृद्धा गह्वरेष्ठा गहने गभीर आभ्यन्तरे तिष्ठतीति, उग्रं क्रूरं भयकरं वचः, अवधीद् हन्ति । त्वेषं प्रदीप्तं वचः परिभाषणम् अपवधीत् स्वाहा सुहुतं हविरन्नम् । या ते अग्ने, अस्या विद्युतो गह्वरेष्ठा रजःशया रजःसु सूर्यादिलोकेषु शेते सा तनूरुग्रं वचोऽपवधीत् । त्वेषं प्रकाशितं वचः शब्दनम् । स्वाहा सुहुतं वाचं चापवधीत् । या ते अग्ने अस्या हरिशया हरिषु सूर्यादिष्वश्वादिषु वा शेते उग्रं वचः, त्वेषं प्रकाशकं स्वाहा स्वकीयां वाचं चापवधीत्,

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है— हे अग्निदेव ! अर्थात् अनन्तचैतन्यात्मक परमेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप तथा सर्वाधिष्ठान होने के कारण आपकी जो तामस पदार्थों में विद्यमान रुद्ररूपिणी, अतिशय फल का वर्षण करनेवाली, भोगियों के लिये अगम्य, श्मशान, अरण्य, पर्वत आदि दुर्गम स्थानों पर रहनेवाली मूर्ति है, उग्र तीक्ष्ण वचनों का नाश करनेवाली है, उसके लिये समर्पण हो । आपकी जो राजसी चतुर्मुखब्रह्मादिरूपा भोगैश्वर्यवर्षिणी, नास्तिकों के लिये अगम्या मूर्ति है, उसके लिये समर्पण हो । आपकी जो सत्त्वोपाधिका विष्णुरूपिणी, ज्ञानवैराग्यवर्षिणी, पुण्यविरहित जनों के लिये अप्राप्य, नास्तिक एवं भोगवासनोत्तेजक वचनों की विनाशक मूर्ति है, उसके लिये स्वयं का समर्पण करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ उचित नहीं है । विद्युत् की अयःशया आदि मूर्तियों (शरीरों) के लिये प्रमाण होना चाहिये । वह विद्युत् उग्र, भयंकर वचन को कैसे नष्ट करती है ॥८ ॥

तां सम्यग्विदित्वोपकुरुत। मनुष्यैर्विद्युतो या व्याप्तिर्मूर्तामूर्तद्रव्यस्था वर्तते, तां युक्त्या सम्यग्विदित्वोपसम्प्रयोज्य सर्वाणि दुःखान्यपहन्तव्यानि' इति, तन्मन्दम्, तथा सम्प्रयोगेऽप्याध्यात्मिकादिसर्वदुःखानिवृत्तेः, तथा विज्ञानप्रयोगयुक्तीनामनुक्तेश्च, मन्त्रस्य तथार्थत्वानुपपत्तेश्च। विद्युतोऽयःशयादितनूनां सत्त्वे प्रमाणमपि वक्तव्यम्। सा च कथमुग्रं भयङ्करवचनं नाशयति? प्रदीप्तपरिभाषणं च कथं हन्ति? सूर्यादिष्वश्वादिषु या शेते तस्या हरिशयेति कथं नाम? कथं च अयःशयायाः सा व्यतिरिच्यत इति सर्वमेतदनुपपन्नं निष्फलं शतपथविरुद्धं च ॥८॥

तप्तायनी मेऽसि वित्तायनी मेऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात्। विदेदग्निर्नभो नामाऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाऽग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे। अनु त्वा देववीतये ॥९॥

'शम्यामादाय चात्वालं मिमीते पूर्वेणोत्करꣳ सञ्चरं परिहाप्य, शम्यामुदीचीं निदधाति पुरस्ताच्च, दक्षिणतः प्राचीमुत्तरतश्च, स्फ्येनान्तर्लिखति तप्तायनीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ५.३.१९-२२)। द्वात्रिंशदङ्गुलपरिमाणां सगर्तां वारणीं शम्यामुत्करात् पूर्वस्यां दिशि सञ्चरणार्थं द्वात्रिंशङ्गुलं मार्गं मुक्त्वा चात्वालं द्वात्रिंशदङ्गुलं समचतुरस्रं मानादिसंस्कारसंस्कृतं गर्तं मिमीतेऽध्वर्युः। शम्यादानस्याप्राकृतकार्यत्वान्न शम्याया आसादनप्रोक्षणे। उत्तरवेदिनिचयार्थं यत्र भूप्रदेशे मृदं खनति, स प्रदेशश्चात्वाल उच्यते। तत्रोत्करात् पूर्वस्यां दिशि सञ्चरपरिहारेणोदगग्रां शम्यां निधाय तत्प्रमाणां तत्पूर्वपार्श्वे स्फ्येन रेखां कुर्यात्। तथा तत्पूर्वपार्श्वे तथैव शम्यां निधाय रेखां कुर्यात्। अभ्यन्तरे एवं दक्षिणोत्तरयोरपि प्रागग्रां शम्यां निधाय रेखाद्वयं कुर्यात्। अत्र चतुर्दशमन्त्राः। तत्र चत्वारो मन्त्राः पृथिवीदेवत्याः। तदेतदापस्तम्बोऽप्याह—शम्यां पुरस्तादुदगग्रां निधाय स्फ्येनोदीचीमभ्यन्तरमुपविशति वित्तायनी मेऽसीत्येनेन दक्षिणतः प्राचीं तप्तायनी मेऽसीति पश्चादुदीचीमवतान्मा नाथितमित्युत्तरतः प्राचीमवतान्मा व्यथितमिति प्रथमं परिलिखति।

मन्त्रार्थ—हे भूमि! तुम मेरे ऊपर अनुग्रह करने वाली, निर्धनता से दुःखी पुरुषों को शरण देने वाली हो। हे भूमि! तुम धन की कामना वालों के लिये धन की खान हो, याचना से मेरी रक्षा करो, मन की पीड़ा से भी रक्षा करो। हे चत्वाल की मृत्तिके! नभ नाम वाला तेरा अधिष्ठाता अग्नि तुम्हें जाने। हे गतिमान् अग्ने! आयु नाम से तुम इस स्थान में आओ। हे अग्ने! तुम इस पृथ्वी में हो; अतः तुम्हारा जो यज्ञ के योग्य अनिन्दनीय नाम है, उससे तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ। हे मृत्तिके! तुम नभ नामक अग्नि हो। हे गतिमान् अग्ने! तुम यहाँ आयु नाम से आओ। हे अग्ने! क्योंकि तुम दूसरी पृथ्वी, अर्थात् अन्तरिक्ष में हो, इस कारण तुम्हारा जो यज्ञ के योग्य अनिन्दनीय नाम है, उससे तुम्हे यहाँ स्थापित करता हूँ। हे अग्ने! तुम तीसरी पृथ्वी द्युलोक में स्थित हो, अतः यज्ञ के योग्य अनिन्दनीय नाम से तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ। हे मृत्तिके! देवताओं की प्रीति के निमित्त यहां उत्तरवेदि बनेगी। अतः पूर्ववत् तुम्हारा आहरण करता हूँ॥ चारों दिशाओं में शम्या गाड़ कर स्फ्य से चोकोर रेखाएं करे। उन रेखाओं के आगे स्फ्य से चत्वाल खोदे और देवताओं की प्रार्थना करते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करे ॥९॥

भाष्यसार—'तप्तायनी मेऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (५.३.१९-२८) में चात्वाल गर्त के निर्माण के लिये मृत्तिका के खनन में किया गया है। तदनन्तर खोदने से प्राप्त मृत्तिका को एकत्र किया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल ही शतपथ ब्राह्मण में अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थस्तु—हे पृथिवि, त्वं मे ममानुग्रहार्थं तप्तायन्यसि तप्त इव पुरुषो वृत्त्यर्थमस्यामेति । तप्तं पुरुषमयति प्राप्नोतीति वा तप्तायनी । यो हि दरिद्रः क्षेत्ररहितोऽहमिति सन्तप्यते तं पुरुषं तापोपशान्त्यर्थं प्राप्नोषीति । द्वितीयं परिलिखति—वित्तायनी मेऽसीति । धनरहितं तं पुरुषं वित्तार्थं प्राप्नोषीति वित्तायनी मेऽसीति, वित्तार्थं नरो यस्यामेति वा । पृथिव्यां प्राप्तायां सस्यनिष्पत्तिद्वारा महद् धनं लभ्यते । तृतीयम्—अवतान्मां नाथिताद् याचितात्, यथा याच्ञा न कर्तव्या स्यात्तथा मां कुरु । नाथतिर्याच्ञाद्यर्थः । यथाऽहं न कञ्चन याचे तथा पृथिवी मां करोत्वित्यर्थः । नाथिताद् याचिताद् हिरण्यादिरूपादर्थाद् मावतात्, 'यत्र नाथैतन्माऽवतात्' इति शतपथश्रुतेः । व्यथिताद् भयात् चलात् स्थानभ्रंशाच्च मामवतात् । 'व्यथ भयचलनयोः' । 'विदेदग्निरिति चात्वाले प्रहरति स्फ्येनान्वारब्धे' (का. श्रौ. ५.३.२३) । अध्वर्युमन्वारब्धवति यजमानेऽध्वर्युश्चात्वाले स्फ्येन पुरीषखननार्थं प्रहारं कुर्यात् । आग्नेयं यजुः । हे चात्वालगतमृत्तिके, अग्निस्त्वदभिमानी देवो नभो नाम विदेत्, नभ इत्येतादृशं नामधेयोऽग्निस्त्वां जानीयाद् विन्देद्वा । हे मृत्तिके, न भातीति नभ इति । काण्वरीत्या तु विदेर् अग्नेर्नभ इति नाम जानीयाः । मया खन्यमानां त्वां त्वदधिष्ठानाग्निरनुजानात्वित्यर्थः । अग्निनामोच्चारणपूर्वकं प्रहरेत्, 'स वा अग्नीनामेव नामानि गृह्णन् हरति' (श. ३.५.१.३१) इति श्रुतेः । 'अग्ने अङ्गिर इति पुरीषꣳ हरति, हस्तेन च' (का. श्रौ. ५.३.२४.२५) । अध्वर्युः खातां मृदं हस्तेन स्फ्येन च गृह्णाति — हे अग्ने, हे अङ्गिरः, अङ्गिर्गतिरस्यास्तीत्यङ्गिराः । मत्वर्थे रस्प्रत्ययः । तत्सम्बुद्धौ हे अङ्गिरः, हे अग्ने ! अङ्गानां रसत्वाद्वाङ्गिराः, भुक्तान्नपचनहेतुत्वादुदराग्नेः शरीरावयवानां मध्ये सारत्वं प्रसिद्धमेव । यद्वा अङ्गिरोनामकर्षिरूप हे अग्ने, 'येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐ. ब्रा. ३.३.१०) इति श्रुतेः । त्वमायुना नाम्नाभिहितः सन् एहि आगच्छ । तत्तत्कर्मस्वेति गच्छतीत्यायुः । आयुरित्यग्नेर्नाम । 'योऽस्यामिति निवपति पूर्वार्धे शङ्कुसहितम्' (का. श्रौ. ३.५.२६) । गृहीतं पुरीषं स्थण्डिलस्य पूर्वभागे प्राङ्निहितं शङ्कुसंल्लग्नं प्रक्षिपेद् योऽस्यामिति मन्त्रेण । अस्यां दृश्यमानायां पृथिव्यां योऽग्निर्वर्तसे, स त्वं हे अग्ने, ते तव यज्ञियं यज्ञयोग्यं यन्नाम प्रसिद्धमग्निरित्येतादृशं नामानाधृष्टं केनापि याज्ञिकेनातिरस्कृतं तेन त्वादधे । तेन नाम्ना युक्तं त्वामादधे स्थापयामि । 'एवं द्विरपरं द्वितीयस्यां तृतीयस्यामिति विशेषः' (का. श्रौ. ५.३.२८) । यथा पूर्वैस्त्रिभिर्मन्त्रैः खात्वा हृत्वा मृत्प्रक्षिप्ता वेद्यर्थमेतत्त्रितयं पुनरपि द्विः कुर्यादिति मन्त्रयोः, तत्रास्यामिति पदस्थाने द्वितीयस्यां तृतीयस्यामिति पाठविशेष इति सूत्रार्थः । यद्यपि पृथिवीशब्दस्य प्रकृतत्वाद् द्वितीयतृतीयशब्दयोर्विशेष्यत्वेन स एवानुवर्तते, तथाप्यौचित्याद् द्वितीया पृथिव्यन्तरिक्षं तृतीया पृथिवी द्यौरित्यवगन्तव्यमिति सायणः । तथैवोव्वटमहीधरावपि । शेषं पूर्ववत् ।

'अनु त्वेति चतुर्थं यथार्थमाहृत्य सिꣳह्यसीति व्यूहत्युत्तरवेदिम्' (का. श्रौ. ५.३.२९) । चतुर्थवारं यावता पुरीषेणोत्तरवेदिनिष्पन्नरूपोऽर्थः सम्पन्नो भवेत्, तावत्पुरीषं पात्रेणानीय शङ्कुसमीपे प्रक्षिप्य सिꣳह्यसीति मन्त्रेण पुरीषं (मृदं) भूसंल्लग्नमेव हस्तेन सर्वतः प्रसार्य समीकरणेन उत्तरवेदिं निष्पादयेत् ।मन्त्रार्थस्तु—हे मृत्तिके, त्वामनु पूर्वोक्तमाहरणमनुसृत्य । किमर्थम् ? देवानां हविर्भुजां वीतये प्रीतये । वीतिस्तर्पणार्थः । यद्वा देवा व्यन्ति हविर्भक्षयन्त्यत्रेति वीतिर्यज्ञस्तदर्थम् । शतपथे च—'तद्य एष पूर्वार्द्ध्यो वर्षिष्ठः स्थूणाराजो भवति । तस्मात्प्राङ् प्रक्रामति त्रीन् विक्रमांस्तच्छङ्कुं निहन्ति सोऽन्तःपातः' (श. ३.५.१.१) इत्युपक्रम्य सौमिककरणमुक्तम् । प्राचीनवंशस्य पूर्वभागे आहवनीयपुरोदेशे वर्तमानः पृथुस्तम्भः स्थूणाराजः । तस्मात् स्तम्भात् प्राङ् त्रीन् क्रमान् प्रक्रामति । तृतीयक्रमावसाने शङ्कुं स्थापयेत् । सोऽन्तःपात ऐष्टिकवेदेर्महावेदेश्चान्तरालसञ्चरः, तस्माच्छङ्कोर्दक्षिणतः पञ्चदशविक्रमावसाने शङ्कुं स्थापयेत् । सा दक्षिणा श्रोणिः । तथैवोदीच्यामुत्तरा श्रोणिः । मध्यमाच्छङ्कोः षट्त्रिंशतं विक्रमान् प्रक्रामति स पूर्वार्धः । तस्मात्पुरोदेशस्थाद् मध्यमाच्छङ्कोर्दक्षिणोत्तरयोर्द्वादश द्वादश विक्रमान् प्रक्रामति दक्षिणोत्तरावंशौ । एषा वेदेर्मात्रा । तां वेदिं विविधरूपेण प्रशस्य

मध्येऽन्यं तत्प्रपञ्चमुक्त्वा चात्वालस्य सर्वतः परिलेखनप्रकारं तन्मन्त्रांश्च दर्शयति—'स वेद्यन्तादुदीचीꣳ शम्या निदधाति स परिलिखति तप्तायनी मेऽसीतीमामेवैतदाहास्याꣳ हि तप्त एति' (श. ३.५.१.२७)। दक्षिणश्रोणिरूपवेद्यन्तात् स परिलिखति शम्यानुगुण्येन लेखनं कुर्यात्। अनेनैव पश्चादवधिनिर्देशः कृतो भवति। तस्य मन्त्रः तप्तायनी मेऽसीति। हे भूमे, तप्तः पुमान् यस्यामेति सा त्वं तप्तायनीरूपासि। इमामेवैतदाहेति मन्त्रं व्याचष्टे—हि यस्मात् तप्तः पुरुषो दारिद्र्येण दुःखितः सन् धनादिसाधनेच्छया एति। तस्मात्तप्तायनी असि। 'अथ पुरस्तात् उदीचीं शम्यां निदधाति स परिलिखति वित्तायनी मेऽसीतीमामेवैतदाहास्याꣳ हि विविदान एति' (श. ३.५.१.२८)। अस्यां हि विविदानो धनादिकं लब्धवान् पुरुषः पुनरस्यामेव खल्वेति गच्छति। अतो वित्तायनीत्यपि भूम्यभिधानं युक्तम्।

'अथानुवेद्यन्तम्। प्राचीꣳ शम्यां निदधाति स परिलिखत्यवतान्मां नाथितादितीमामेवैतदाह यत्र नाथै तन्माऽवतादिति' (श. ३.५.१.२९)। अनुवेद्यन्तं प्राचीं शम्यां निदधातीत्यनेन चात्वालस्य दक्षिणसीमोक्ता। मा मां नाथिताद्याचिताद् हिरण्यादिरूपादर्थात्, हे भूमे, मा मामवताद् यत्र यस्मिन् विषये नाथै याचै धनादिकम्, तत् तस्माद् मामवतात्। 'अथोत्तरतः। प्राचीं शम्यां निदधाति स परिलिखत्यवतान्मा व्यथितादितीमामेवैतदाह यत्र व्यथै तन्माऽवतादिति' (श. ३.५.१.३०)। यत्र यस्मिन् धनादिविषये व्यथै लाभोपायमजानानो व्यथितः स्याम्, तत् तस्मात् सकाशादवतात्। 'अथ हरति। यत्र हरति तदग्नीदुपसीदति स वा अग्नीनामेव नामानि गृह्णन् हरति यान् वा अमून् देवा अग्रेऽग्नीन् होत्राय प्रावृणत ते प्राधन्वंस्त इमा एव पृथिवीरुपासर्पन्निमामहैव द्वे अस्याः परे तेनैवैतन्निदानेन हरति' (श. ३.५.१.३१)। खाताया मृदश्चात्वालादुत्तरवेदिं प्रति हरणं विधत्ते—अथ हरतीति। यत्र हरति तत् तत्र उत्तरवेदिप्रदेशे, अग्नीद् आग्नीध्रोऽग्नीनां नामानि— 'ते वा एते सोमस्यैव गुप्त्यै न्युप्यन्त आहवनीयः पुरस्तान्मार्जालीयो दक्षिणत आग्नीध्रीय उत्तरतोऽथ ये सदसि ते पश्चात्' (श. ३.६.२.२१) इति गृह्णन्नेव हरेत्। सत्स्वग्निषु चात्वालप्रदेशे तन्नामग्रहणमुपपद्यते। त एवात्र कुतः? इत्यत्राह — यान् वा अमून् देवा अग्नीन् होत्रायेति। होत्राय होमनिष्पादनाय हविर्वहनाय प्रावृणत प्रावृण्वन्। ते प्राधन्वन्। धन्वतिर्गतिकर्मा। इमामहैव 'अहेति विनिग्रहार्थीयः' (निरु. १.५), इमां पृथिवीं परिविद्वेष्य असुरादयोऽप्युपासर्पन्। एतद् एतेन निदानकारणेन मूलकारणेनैव हरणं कृतवान् भवति।

'स प्रहरति। विदेदग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहीति. . . योऽस्यां पृथिव्यामसीति हृत्वा निदधाति यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वादध इति यत्तेऽनाधृष्टꣳ रक्षोभिर्नाम यज्ञियं तेन त्वादध इत्येवैतदाहानु त्वा देववीतय इति चतुर्थꣳ हरति देवेभ्यस्त्वाजुष्टाꣳ हरामीत्येवैतदाह तां वै चतुस्स्रक्तेश्चात्वालाद्धरति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनामेतद्दिग्भ्यो हरति' (श. ३.५.१.३२)। स मृदो हर्ता अध्वर्युः स्फ्येन प्रहरति खनेत्। हे अग्ने, त्वमङ्गिरा असि। अग्निराहुत्याधारभूतः। नभो नाम विन्देद् नभ इति नाम विन्देत्। त्वं च आयुना अभिधानेन युक्त एहि आगच्छ। स यत् प्राधन्वंस्तदायुर्दधाति। एतन्नाम्ना हरणेन यजमान आयुर्दधाति। तदवदारितं समीरयत्युत्तरवेदिं प्रति सम्यक् प्रेरयति। तत्र मन्त्रः— योऽस्यामिति। यस्त्वमस्यां चात्वाललक्षणायां पृथिव्यां भूम्यामसि भवसि, स त्वमायुनाम्नैहि। अथवा यो मृन्निचयरूपस्त्वमस्यां खातायां भूम्यां भवसि, तं त्वां समीरयामीत्यर्थः। आनीताया मृदो वेद्याकारेण स्थापनं समन्त्रकं विधत्ते—हृत्वा निदधातीति। हे मृदात्मना एकीभूताग्ने, हे तिरोहिताग्निविशिष्टे मृत्तिके वा, यत् तेऽनाधृष्टं रक्षोभिरहिंस्यं यज्ञियं यज्ञार्हं नाम, तेन नाम्ना त्वा त्वामदधे। योऽस्यामिति मन्त्रेण त्रिवारं हरेत्। चतुर्थवारहरणमन्त्रस्यायमर्थः—हे आह्रियमाणपदार्थ, त्वा त्वामनु पूर्वं हरणत्रयमनुकृत्य देवेभ्यो

जुष्टां त्वामाहरामि। किमर्थम्? देववीतये देवा व्यन्ति हविर्भक्षयन्त्यत्रेति देववीतिर्यज्ञस्तदर्थम्। अर्थसिद्धमनूद्य प्रशंसति— चतुःस्रक्तेरिति। चतस्रः स्रक्तयो यस्य चात्वालस्य तस्मात् चतुरस्रात् साकल्येन हरणे सर्वाभ्यो दिग्भ्य एवैनां हरतीति। एवं शतपथेनापि पूर्वोक्त एवार्थः समर्थितो भवति।

अध्यात्मपक्षे तु—हे राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि, त्वं तप्तायनी स्मृतिमात्रेण तप्तानां पुरुषाणां तापोपशान्त्यर्थं प्राप्नोषि। तथैव त्वं वित्तायनी वित्तार्थं निर्धनं पुरुषमयसीति वित्तायनी भवसि। यद्वा तप्तो नरो यामयते तापोपशान्त्यर्थं दरिद्रो नरो यामयते वित्तार्थं सा तथोक्ता। हे देवि, नाथिताद् याचिताद् भयहेतोर्याचनकर्मणो मामवतात्, त्वामुपेत्येतरत्र याच्ञाऽनौचित्यात्। तथैव व्यथिताद् भयात् स्थानभ्रंशाच्च मामवतात्। हे अग्ने, अङ्गानां रसभूतविमर्शभावापन्नप्रकाशाग्ने, यद्वा नभोनामाग्निः, न भातीति नभोऽदृश्यो दृग्रूपोऽग्निस्त्वां विदेद् विन्देज्जानीयात्, तत्संवेदनेनैव सर्वज्ञताद्यैश्वर्याभिव्यक्तिसिद्धेः। एत्यागच्छति तत्तत्कार्यात्मनेत्यायुस्तेनायुना प्रसिद्धेन नाम्ना एहि आगच्छ। यस्त्वमस्यां पृथिव्यामसि, यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं रूपं तेन त्वा त्वामादधे उपास्यत्वेन हृदये धारयामि। भगवत्या राजराजेश्वर्याः प्रकाशाख्यं विमर्शाख्यं च रूपद्वयं विमर्शात्मना प्रपञ्चात्मना परिणमते। प्रकाशात्मना कूटस्थप्रकाशात्मना भाति विमर्शात्मकं तत्तदात्मनोपेत्यायुनाम्ना प्रसिध्यति। तदेव अनाधृष्टं यज्ञियं यजनादिसम्बन्धि दिव्यं प्रभावात्मकं तेजस्तेन रूपेणाहं त्वामादधे। नभःसंज्ञकोऽदृश्योऽग्निः प्रकाशात्मकस्त्वा त्वां विदेद् विन्देद् अनुजानातु वा। तथैव द्वितीयस्यां पृथिव्यामन्तरिक्षे तृतीयस्यां पृथिव्यां दिवि योऽसि तत्तद्रूपेण परिणतोऽसि, तेनायुना प्रसिद्धेन, कार्यात्मना कारणस्य परिणतिस्थैर्यमेव कार्यस्यायुर्भवति, तेनायुना नाम्ना त्वामहमादधे। तेनैव रूपेण प्रकाशाख्यः शिवस्त्वां विन्देदनुजानातु वा। किमर्थम्? देवानां द्योतनवतां जीवानां वीतये तात्कालिक्यै आत्यन्तिक्यै च तृप्तये। दिव्यभोगादिप्राप्त्या तात्कालिकी तृप्तिः, ब्रह्मात्मज्ञानलक्षणसामरस्यप्राप्त्या चात्यन्तिकी तृप्तिर्भवति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यां जिघृक्षो! यथाहं तेन यत् तृप्तायन्यस्यस्ति वित्तायनी विद्युदस्ति त्वा तां वेद्मि। तथा त्वमेनेनैतद्विद्यां मे मम सकाशादेहि प्राप्नुहीति रीत्या यः प्रसिद्धसूर्यविद्युद्रूपेण त्रिविधोऽग्निः सर्वेषु लोकेषु बाह्याभ्यन्तरतो वर्तते, तं विदित्वा विज्ञाप्य च सर्वैर्मनुष्यैः सर्वकार्यसिद्धिः सम्पादनीया' इति, तदेतत्सर्वं बालजनप्रतारणमेव, असङ्गतेः, श्रुतिविरोधाच्च। शतपथश्रुतिसम्मतस्तु यज्ञपरोऽर्थ उक्त एव। पदार्थासङ्गतिश्चैवमूह्या—'तप्तानि स्थापनीयानि वस्तून्ययनं यस्याः सा विद्युत्' इति, तदसङ्गतमेव, तत्पदेन स्थापनीयवस्तुग्रहणे मानाभावात्। किञ्च, तथात्वेऽपि न निस्तारः, चराचरेषु सर्वेष्वेव वस्तुषु विद्युतः सत्त्वात्। तत्र मेऽसीत्यर्थस्य कथं सार्थक्यम्? तस्याः सर्वसाधारण्यात्। न च तद्विद्या

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि! आप स्मृतिमात्र से दुःखतप्त जनों के शान्त्यर्थ आती हैं, धनप्रदान के लिये निर्धन के पास आती हैं, भयात्मक यातना से मेरी रक्षा करें तथा स्थानभ्रंश से मेरी रक्षा करें। हे अग्निरूपा, दृष्टिरूपी अग्नि आपको जान ले। कार्यसिद्धि हेतु आने वाले अपने नामस्वरूप द्वारा आप आइये। आप पृथिव्यादि प्रपंच में जिस रूप से हैं, उसी कूटस्थ प्रकाशात्मा यजनादि सम्बन्धी दिव्य प्रभावात्मक तेज के रूप से मैं आपको हृदय में धारण करता हूँ। नभो नामक अदृश्य प्रकाशात्मक अग्नि आपको प्राप्त करे। इसी प्रकार द्वितीय अन्तरिक्ष तथा तृतीय द्युलोक में भी जीवों की तात्कालिक तथा आत्यन्तिक तृप्ति के लिये प्रकाशात्मक शिव आपको प्राप्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ असंगत है। 'तप्त' पद से 'स्थापनीय वस्तु' इस अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'तप्तायनी' पद का 'विद्युद्विद्या' अर्थ भी प्रमाणरहित है। उसके ज्ञान से दिव्य भोग की प्राप्ति कैसे होगी? चार्वाक की भाँति स्वर्गादि लोक का प्रामाण्य स्वीकार न करने वाले उस मत में यह दिव्य भोग किस प्रकार हो सकता है? ॥९॥

मेऽस्तीत्यभिप्रायार्थकं तदिति वाच्यम्, तप्तायनीपदस्य विद्युद्विद्यापरत्वे मानाभावात्। त्वद्व्युत्पत्त्यापि तप्तायनीशब्दो विद्युत्परो न तु तद्विद्यापरः। 'वित्तानां भोगानां प्रतीतानां पदार्थानामयन्ती प्रापिका सा वित्तायनी' इत्यपि न सम्यक्, विद्युतः सर्वपदार्थानां सर्वभोगानां वा प्रापकत्वायोगात्, प्रतीतायाः पृथिव्याः पार्थिवभोगानां च प्रापकत्वादर्शनात्। तथैव नाथितादैश्वर्यात् कथं रक्षणस्य प्रसङ्गः? 'सुसेवितोऽग्निः सूर्यः, नभो जलम्, 'नभ इति जलनामसु पठितम्', प्रकाशं प्रयच्छन् मां व्यथितादवतात्, नाथितादैश्वर्याच्चावतात्' इत्यप्यसङ्गतम्, ऐश्वर्यस्याकामयितव्यत्वापत्तेः। यदि तु नाथितादैश्वर्यदानाद्रक्षणमभीष्टम्, तर्हि व्यथितादित्यत्रापि तथा प्रसङ्गः स्यात्। 'हे अग्ने जाठरस्थ! अङ्गानां रस आयुना नाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति, तं देववीतये दिव्यानां भोगानां प्राप्तये जानामि' इति, तदप्यसङ्गतम्, आयुना नाम्ना जाठरस्थरसस्याप्रसिद्धत्वात्। कथं च तज्ज्ञानेन दिव्यभोगप्राप्तिः? चार्वाकप्रायस्य स्वर्गादिलोकमनभ्युपगच्छतस्तव कोऽयं दिव्यो भोगः? 'सर्वत्रापि तथात्वं मम सकाशात् संजानीहि' इत्यादिकमपि निर्मूलमेव। पृथिव्यामिति शब्दत्रयस्यार्थस्तु नोक्त एव, पृथिव्याः कक्षात्रयस्य प्रमाणसापेक्षत्वात्। यदपि—'यथाहं तेन नाम्ना यदनाधृष्टं यज्ञियं नाम तेज आदधे, तथा तेन त्वा तं त्वमेतेनैनमस्मानन्विहि सर्वो जनश्चानुविन्देत्' इत्यादिकमपि निर्मूलमेव, यज्ञस्य क्रियारूपस्य तेजोऽसिद्धेः। शिल्पविद्यायज्ञस्तु त्वत्कपोलकल्पितः, क्वचिदपि शास्त्रेषु तदनुक्तेः। मन्त्रे त्वमादिशब्दाभावाद् यथाकथञ्चित् तदनुगुणार्थवर्णनमसङ्गतमेव। वाचकलुप्तोपमालङ्कारकल्पनमप्यसङ्गतम्, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति शाबरभाष्यविरोधात्। सर्वमेतन्निरर्थकं घटाटोपमात्रम्, दिव्यभोगादिप्राप्तिविज्ञानस्य दयानन्दीयेष्वविद्यमानत्वात्॥९॥

सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व ॥१०॥

'सिꣳह्यसीति व्यूहत्युत्तरवेदिꣳ शम्यामात्रीम्' (का. श्रौ. ५.३.२९-३०)। व्याख्यातोऽयमपि सूत्रांशोऽतीतमन्त्रव्याख्यानप्रसङ्गे। त्रयाणां मन्त्राणां वेदिर्देवता। 'द्वय्यो ह वा इदमग्रे प्रजा आसुः' इत्युत्तरवेदिव्यवधारणविध्यर्थाख्यायिकायामुक्तम्—आदित्याश्चाङ्गिरसश्च द्विविधा एव प्रजा आसुः। तेऽङ्गिरसः पूर्वे आदित्येभ्यः पूर्वभाविनो यज्ञं सम्भृतवन्तः। तेऽग्निमूचुः— हे अग्ने, त्वं न इमां श्वः सुत्यां परेद्युः क्रियमाणमभिषवमादित्येभ्यः प्रब्रूहि। अनेन सोमयज्ञेन नोऽस्मान् याजयेति। एवमुक्तोऽग्निरादित्येभ्यः पूर्वभाविनो वृत्तान्तं प्रोवाच। ते आदित्या आहूता एवं व्यचारयन् कथमङ्गिरस एवास्मान् याजयेरन्। ते विचार्येत्थमूचुः— वयं तु तुभ्यमङ्गिरोभ्योऽद्य क्रियमाणां सुत्यां प्रब्रूमः। तेषां तथा कुर्वतामस्माकं त्वं होता भव। अङ्गिरसस्तद्वृत्तान्तावगमायाग्निप्रतिनिधिमन्यं प्रेषितवन्तः। तेऽग्नयेऽन्वागताय चक्रुधुः। सोऽग्निरनिन्द्या वै माऽवृषत सोऽनिन्द्यैर्वृतो नाशकत् तमपक्रमितुम्। तस्मादु हानिन्द्यस्य वृतो नापक्रमेत्। एतेन सद्यःक्रियाङ्गिरस आदि-

---

मन्त्रार्थ—हे वेदि! तुम सिंहनी के समान शत्रुओं का तिरस्कार करने वाली हो, देवताओं के उपकारार्थ उत्तर वेदि के रूप में समर्थ हो जाओ, देवताओं की प्रीति के निमित्त शुद्ध हो जाओ। हे उत्तरवेदि! तुम सिंहनी के समान शत्रुओं का तिरस्कार करने वाली हो। देवताओं की प्रीति के लिये सिकता (बालू) पड़ने से तुम शोभित हो जाओ॥ वेदि को शम्या से ठीक कर चारों ओर मध्य भाग में समान करे, मन्त्र पढ़ कर उसका प्रोक्षण करे और वेदि के कंकड़ आदि दूर करे॥१०॥

भाष्यसार—'सिंह्यसि' इत्यादि कण्डिकान्तर्गत मन्त्रों का उत्तरवेदि के निर्माण, प्रोक्षण तथा मृत्तिका को फैलाने आदि कार्यों में विनियोग किया गया है। कात्यायन श्रौतसूत्र (५.३.२९-३२) में यह याज्ञिक विनियोग शतपथ ब्राह्मण के अर्थानुसार उल्लिखित है।

त्यानयाजयन् स सद्यःक्रीः । एकाहः सोमयागः सद्यःक्रीः । दीक्षासोमक्रयादीनां सद्यः क्रियमाणत्वात् 'सद्यःक्रीः' इति नाम । तेभ्यः साद्यस्कयाजकेभ्यो वाचं दक्षिणात्वेन ते आदित्याः प्रादुः । तेऽङ्गिरसस्तान् प्रत्यगृह्णन् । निराकरणस्यायमभिप्रायो यदि स्वीकरिष्यामस्तर्हि त्यक्ष्यामः; दक्षिणोत्तरकालमपि वाचोऽपेक्षितत्वात् । तथा सति यज्ञोऽदक्षिणः स्यात् । अथैभ्यः सूर्यं दक्षिणामानयन् । तं प्रत्यगृह्णन् तेभ्यो ह वाक् चुक्रोध केन मत्तः सकाशात् केन बन्धुना केन विशेषगुणेन एष सूर्यः श्रेयान् यदेनं प्रत्यग्रहीष्ट । उभयान् संयत्तान् देवासुरान् कलहायोद्यतानन्तरेण सोऽङ्गिरोभ्योऽपक्रान्ता वाक् सिंही भूत्वा आददाना समीपस्थं सर्वं जिघत्सन्ती चचार । उभयैरप्याहूता सती वाक् पूर्वं देवान् प्रत्येव उपावर्तमाना आगमनोत्कोचरूपं किञ्चिदर्थयामास । देवा अग्नेः पूर्वभाविनीमाहुतिमागमनोपाधिना प्राहुः । सा देवानाह यां मया काञ्चनाशिषमाशासिष्यध्वे सा वः सर्वा समर्धिष्यते । अग्नावुत्तरवेदेरुपरि धार्यमाणे सत्युत्तरवेदिं व्याघारयति । एतद्व्याघारणेन या आहुतिरपवृत्तायै वेदिरूपायै वाचे देवैः कल्पिता, सा कृता भवेदिति (श. ३.५.२.१३-२३) ।

मन्त्रार्थस्तु—हे उत्तरवेदे, त्वं सिंह्यसि, त्वं सिंहसमाना भूत्वा सपत्नसाही सपत्नान् सहत इति सपत्नसाही शत्रूणामभिभवित्री भवसि, अतो देवेभ्यो देवोपकारार्थं कल्पस्व समर्था भव । 'प्रोक्षत्युत्तरवेदिꣳ सिकताश्च प्रकिरति सिꣳह्यसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ५.३.३३) । हे उत्तरवेदे, त्वं शुन्धस्व शुद्धा भव । सिकताप्रक्षेपेण शुम्भस्व शोभिता भव । शुम्भतिरलङ्कारार्थः । शतपथे च—'अथानुव्यूहति । सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्वेति सा यद्देवाः सिꣳही भूत्वा शान्तेवाचरत्तदेवैनामेतदाह सिꣳह्यसीति सपत्नसाहीति त्वया वयꣳ सपत्नान् पापीयसः क्रियास्मेत्येवैतदाह देवेभ्यः कल्पस्वेति योषा वा उत्तरवेदिस्तामेवैतद्देवेभ्यः कल्पयति' (श. ३.५.१.३३) । अनुक्रमेण व्यूहनं मृत्प्रसारणमनुव्यूहनं कुर्यात् सिंह्यसीति मन्त्रेण । मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—हे व्यूह्यमाने वेदे, त्वं सिंही असि । त्वया वयं सपत्नान् पापीयसः क्रियास्मेति ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे त्रिपुरसुन्दरि, त्वं सिंही असि सिंहवद् दैत्यदानवमृगान् हंसि । सपत्नसाही सपत्नान् दुर्दान्तान् मधुकैटभ-महिषासुर-शुम्भनिशुम्भ-भण्डासुरादीन् सोढुं शीलमस्याः सा सपत्नाभिभवित्री असि । सा त्वमस्माभिरभ्यर्थ्यमाना देवेभ्यो देवानां दिव्यगुणसम्पन्नानां त्वदुपासकानां चार्थाय कल्पस्व स्वर्गापवर्गादिसम्पादनसमर्था भव । शुन्धस्व देवान् भक्तान् शोधयस्व तत्त्वज्ञानेन सर्वोपाधितादात्म्यबाधनादिना । णिजर्थोऽयं लक्षणया नेयः । अन्तर्भावितण्यर्थो वा मन्तव्यः, नित्यशुद्धेऽन्यथानुपपत्तेः । सपत्नान् कामादिशत्रून् सोढुं शीलवती सपत्नसाही देवेभ्यो हिताय शुम्भस्व शोभिताऽलङ्कृता भव, अनन्तकल्याणगुणगणालङ्कृता सती तेषां हृदयकमले स्वात्मानं प्रकटय ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वंस्त्वं सपत्नसाही सिंही वागस्यस्ति, तां देवेभ्यः कल्पस्व, तां देवेभ्यः शुन्धस्व तां देवेभ्यः शुम्भस्व । शिक्षाविद्यासंस्कृता सत्यभाषणा मधुरा त्रिविधा वाग् मनुष्यैः सर्वदा कार्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रार्था-

---

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे त्रिपुरसुन्दरि देवि, आप सिंह के समान दैत्यदानवरूपी पशुओं का हनन करती हैं तथा दुर्दान्त शत्रुओं को, मधु-कैटभ, महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ आदि को पराभूत करने वाली हैं। हमारे द्वारा प्रार्थित आप दिव्यगुणसम्पन्न देवों तथा आपके भक्तों के लिये स्वर्गापवर्ग आदि पदार्थों के सम्पादन में समर्थ हों। तत्त्वज्ञान के द्वारा भक्तों को विशुद्ध करें तथा कामादि शत्रुओं को विनष्ट करने वाली आप देवों के हितार्थ सुशोभित, अलंकृत हों। अनन्त कल्याणगुणों के समूह से अलंकृत होकर उनके हृदयकमल में स्वयं को प्रकट करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में विद्या, बुद्धि आदि के द्वारा भी दोषों को विनष्ट करने के कारण, तथा क्यारी आदि के द्वारा भी सिंचन किये जाने के कारण, इनमें भी 'सिंही' शब्द का प्रयोग प्राप्त हो जायगा। इस मन्त्र में 'हे विद्वन्'

ननुगमात्। यत्तु—'हिनस्ति दोषान् यया सा सिंही, सिञ्चत्युच्चारयति यया वा सा सिंही' इति, तदपि तुच्छम्, विद्या-बुद्ध्यादिभिरपि दोषाणां हिंसनात् कुल्यादिभिश्च सिञ्चनात् तत्र तथा प्रयोगापत्तेः। 'हिंसेः सिंहः' इति महाभाष्योक्तिस्तु शब्दसाधुत्वाय, न वागर्थत्वप्रतिपादनाय। यदपि—'देवेभ्यो विद्यां चिकीर्षुभ्यः कल्पस्व अध्यापनोपदेशाभ्यां समर्थय' इति, तदपि न सङ्गतम्, विद्वांस एव देवा इति त्वदभ्युपगमविरोधात्। यदि देवशब्दस्य दिव्यगुणा अर्थस्तदा विद्यां चिकीर्षुभ्य इति कस्य शब्दस्यार्थ इति वक्तव्यम्। किञ्च, कल्पस्वेति न णिजन्तप्रयोगः, तथा च तस्य विवरणं समर्थ-येत्यसङ्गतमेव। किञ्च, नात्र विद्वन्निति सम्बोधनपदं दृश्यते। वाक् च त्वद्रीत्या जडेति न सम्बोध्या। न वाध्यापनोपदेशाभ्यां कश्चित्समर्थयितुं शक्नोतीति वृथैव प्रलपनम् ॥१०॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥११॥

'वेद्यन्तरे स्थित्वोदङ्ङुत्तरवेदिं प्रोक्षतीन्द्रघोषस्त्वेति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम्' (का. श्रौ. ५.४.१०)। वेदि-द्वयमध्ये स्थित्वा उदङ्मुखोऽध्वर्युश्चतुर्भिर्मन्त्रैर्यथालिङ्गमुत्तरवेदिं प्रोक्षेत्। 'घोष इति वाङ्नामसु पठितम्'। इन्द्रशब्दवाच्यो देवः। यद्वा इन्द्र इति शब्देन घुष्यते विस्पष्टं कथ्यते यो देवः, सोऽयमिन्द्रो देवः, वसुभिरष्टसंख्याकैर्गणदेवैर्युक्तः, स देवः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि त्वां पातु रक्षतु। अथ द्वितीयो मन्त्रः—प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानो वरुणस्त्वां रुद्रैरेकादशसं-ख्याकैर्गणदेवैः सहितः पश्चात् प्रतीच्यां दिशि पातु। मनोजवा मनोवदत्यन्तवेगयुक्तो यमो देवः पितृभिरग्निष्वात्तादिपितृगणैः स्वर्लोकवासिभिर्देवताविशेषैर्युक्तो दक्षिणस्यां दिशि त्वां पातु। विश्वकर्मा विश्वानि जगदुत्पत्त्यादिविषयाणि कर्माणि यस्यासौ विश्वकर्मा, विश्वं वा कर्म रचना यस्य सोऽसौ देव आदित्यैर्द्वादशादित्यैः सह युक्त उत्तरस्यां दिशि त्वां पातु। अत्र सायणाचार्यः—उत्तरवेदिशब्दोदिता देवता यदा देवान् प्राप्नोति, तदानीमसुरा देवान् हन्तुमुद्यताः समागताः। तस्मि-न्नवसरे देवसेनाधिपतय इन्द्रघोषादयश्चतसृषु दिक्षु तानसुरानपाकुर्वन्। तस्मादेतैर्मन्त्रैर्दिक्चतुष्टये रक्षा प्रार्थनीया। तदे-तदाह तित्तिरिः—'देवाꣳश्चेदुत्तरवेदिरूपावर्वर्ती हैव विजयामहा इत्यसुरा वज्रमुद्यम्य देवानभ्यायन्त। तामिन्द्रघोषो वसुभिः पुरस्तादपानुदत' इति, 'दक्षिणाꣳससहितं बहिर्वेदि शेषं निषिञ्चतीदमहं तप्तं वारिति' (का. श्रौ ५.४.११)। प्रोक्षणशेषमुदकं दक्षिणांससंलग्नमेव वेदिबहिःप्रदेशे (अग्निकोणे) निनयेत्। तत्रेदमहं तप्तं वारुदकं बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामीति पठेद-

---

इस प्रकार सम्बोधन पद नहीं है। उनके मत में वाक् के जड़ होने के कारण वह सम्बोधित नहीं की जा सकती। अतः यह निरर्थक है ॥१०॥

मन्त्रार्थ—हे उत्तरवेदि! इन्द्र नाम से प्रसिद्ध देवता आठ वसुओं के साथ पूर्व दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। वरुण देवता ग्यारह रुद्रों के साथ पश्चिम दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। मन के समान वेगवाले यम देवता दिव्य पितरों के साथ दक्षिण दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। विश्वकर्मा बारह आदित्यों के साथ उत्तर दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। मैंने असुरों के निवारण के लिये जिस जल से वेदि का प्रोक्षण किया है, उस अग्राह्य जल को अब यज्ञ की वेदि के बाहर डालता हूँ॥ इस मन्त्र से वेदि की चारों दिशाओं में जल द्वारा मार्जन किया जाता है और मार्जन से बचे जल को बाहर फेंक दिया जाता है ॥११॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (५.४.१०-११) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'इन्द्रघोषस्त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से प्रत्येक दिशा में उत्तरवेदि का प्रोक्षण किया जाता है तथा शेष बचे हुए जल को वेदि के बाहर गिराया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इस याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अर्थ उपदिष्ट है।

भिचरंश्चेदध्वर्युः। असुरनिवारणाय येनोदकेन प्रोक्षणं क्रियते, तदुग्ररूपत्वात् तप्तमित्युच्यते। वेद्याः सिंहीरूपायाः क्रौर्यव्युत्सादनतस्तस्मिन् सन्तापप्राप्तेः सम्भवादवशिष्टमम्भस्तप्तं भवति। तादृशमिदं वाः वारि एतदुदकं प्रोक्षणशेषभूतमहमनुष्ठाता यज्ञाद् बहिर्धा यज्ञप्रदेशाद् बाह्यस्थले निःसृजामि निःसारयामि।

तदेतत्सर्वं शतपथे स्पष्टमुक्तम्। तथाहि—'प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते। स पुरस्तादेवाग्रे प्रोक्षत्युदङ्ङुत्तिष्ठन्निन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः परस्तात्पात्वितीन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्ताद् गोपायत्वित्येवैतदाह' (श. ३.५.२.४), 'प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात् पात्विति प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चाद्गोपायत्वित्येवैतदाह' (श. ३.५.३-५), 'अथ दक्षिणतः' (श. ३.५.२.६), 'अथोत्तरतः प्रोक्षति' (श. ३.५.२.७)। निनेतव्याया दक्षिणपूर्वस्रक्तेः स्पष्टप्रदर्शनाय पूर्वदिग्गतस्रक्तिद्वयोपन्यासः। 'अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते। तद्ये एते पूर्वे स्रक्ती तयोर्या दक्षिणा ता न्यन्तेन बहिर्वेदि निनयतीदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामीति सा यदेवादः सिंही भूत्वाऽशान्तेवाचरत्तमेवास्या एतच्छुचं बहिर्धा यज्ञान्निःसृजति यदि नाभिचरे. .. दादिशेदिदमहं तप्तं वारमुमभिनिःसृजामीति तमेतया शुचा विध्यति स शोचन्नेवामुं लोकमेति' (श. ३.५.२.८)। ता न्यन्तेनेति ताः प्रोक्षणीः, न्यन्तेन अत्यन्तान्तदेशेन। तत्रापि स्रक्त्यन्ते प्रोक्षणीये शेषनिनयनप्रसक्तावाह—बहिर्वेदीति। यद्यभिचारं कर्तुमिच्छेत् ततो यज्ञाद्बहिःस्थानेऽमुमभिनिःसृजामीति। अमुमित्यत्र द्वेष्यस्य नाम गृह्णीयात्। सोऽभितप्तः शोचन्नेवामुं लोकमेति, दुःखेन प्राणान् जहातीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे तु—युद्धोद्यताया भगवत्या भक्ता भक्त्या सर्वतो रक्षां कुर्वन्ति। इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु। यद्वा देवब्राह्मणादिरक्षणार्थं वनाय गन्तुमुद्यतं भगवन्तं रामं कौसल्या वात्सल्येन रक्षां विदधाति— इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु। प्रचेता रुद्रैः सह पश्चात् पातु। मनोजवा मनोगतिर्यमः पितृभिः सह त्वां दक्षिणतः पातु। विश्वकर्मा ब्रह्मा आदित्यैः सह त्वामुत्तरतः पातु। इदमहं मन्त्रैरभिमन्त्रितं यज्ञाद् देवार्चनदानादिलक्षणाद्यागात् तप्तं ब्राह्मणानां तपोभिर्जुष्टमुग्रं वाः वारि बहिर्धा त्वद्रक्षणार्थं निःसृजामि निक्षिपामि। यद्वा यज्ञाद् यज्ञमयात् त्वच्छरीराद् बहिर्धा चतुर्दिक्षु प्रक्षिपामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा प्रचेता इन्द्रघोषो विश्वकर्माहं यज्ञादिदमन्तःस्थमुदकं तप्तं बहिर्धा वर्तमानं शीतलं वा उदकं च निःसृजामि तथा यूयमपि कुरुत। या वसुभिः सह वर्तमानेन्द्रघोषो वागस्ति त्वा तां पुरस्ताद्रक्षामि, तथा भवानपि पातु। या रुद्रैः सह वर्तमाना प्रचेता वागस्ति तां पश्चात् पालयामि तथा भवानपि पातु। या पितृभिः सह वर्तमाना मनोजवा वागस्ति तां दक्षिणतोऽवामि, तथा भवानपि पातु। या आदित्यैः सह वर्तमाना वागस्ति,

---

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—भक्तगण भक्ति के कारण युद्ध के लिये उद्यत भगवती के प्रति सर्वतः रक्षा का प्रतिपादन करते हैं। अथवा देवब्राह्मणादि की सुरक्षा के लिये वन जाने के लिये उद्यत भगवान् राम की रक्षार्थ वात्सल्य के कारण माता कौसल्या इस प्रकार कहती हैं—इन्द्र नामक देव वसुओं के साथ पूर्व में तुम्हारी रक्षा करें। प्रकृष्ट ज्ञानवान् वरुण रुद्रों के साथ पश्चिम में तुम्हारी रक्षा करें। मन के समान वेगवान् यम पितृगणों के साथ दक्षिण में तुम्हारी रक्षा करें। जगत् के रचयिता विश्वकर्मा आदित्यों के साथ उत्तर में तुम्हारी रक्षा करें। मैं यह मन्त्रों से अभिमन्त्रित, यज्ञ से अथवा तप से प्रदीप्त, उग्र बलवान् जल रक्षा के लिये प्रक्षिप्त करती हूँ, अथवा यज्ञमय तुम्हारे शरीर से बाहर चारों दिशाओं में गिराती हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ मन्त्रगत अक्षरों से असम्बद्ध होने के कारण उचित नहीं है। वाणी का बोधक होने पर 'इन्द्रघोष' पद का स्त्रीलिङ्गत्व आपतित होगा। इन्द्र शब्द के वेदपरक होने में भी प्रमाण नहीं है। 'पितरः' शब्द का अर्थ ज्ञानीगण कैसे हो सकता है? उन उन वाणियों के लिये पूर्व आदि दिशाओं से क्या भय है, जिससे रक्षा अपेक्षित है ॥११॥

तामुत्तरतो रक्षामि, तथा भवानपि पातु। भावार्थस्तु—मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्यपितृभिः सेवितां यज्ञाधिकृतां वाचमुदकं च विद्यया सत्क्रियया सह सेवित्वा शुद्धं निर्मलं च सततं भावनीयम्' इति, तदेतत्सर्वं यत्कञ्चित्, मन्त्राक्षरासम्बद्धत्वात्।

यदुक्तम्—'इन्द्रस्य परमेश्वरस्य वेदाख्याया विद्युतो वा घोषो विविधशब्दार्थसम्बन्धो यस्य यस्या वा सा वाग्' इति, तत्तुच्छम्, वाचो बोधकत्व इन्द्रघोषेति स्त्रीलिङ्गत्वापत्तेः। इन्द्रशब्दस्य परमेश्वरार्थकत्वे सम्भवत्यपि वेदपरत्वे मानाभावात्। यद्यपि वाङ्नामसु घोषशब्दस्य पाठाद् वागर्थत्वं सम्भवति, तथापि शब्दार्थसम्बन्धपरत्वं निर्मूलमेव। एवमेव वसुभिरग्न्यादिभिः कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यैर्वा सह वर्तमानेत्यप्यसङ्गतम्, वाचोऽग्निपृथिवीवाय्वन्तरिक्षादित्यद्युचन्द्रनक्षत्राख्यैर्वसुभिः सहभावानिरूपणात्, वसुपदस्य कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यार्थत्वे मानाभावात्। तथैव प्रकृष्टविज्ञानाया वाचः प्राणैः कीदृशः सम्बन्धः? इन्द्रघोषायास्तैः कथं सम्बन्धाभावो निश्चीयते? इन्द्रघोषया प्रकृष्टतया न चेतन्ति तर्हि कथमन्यया प्रकृष्टतया चेतन्ति जना येन सा वाक् प्रचेताः स्यात्, कथं च रुद्रपदस्य कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यार्थता? मनोजवा वाक् कथं भवति? कथं च तस्या ज्ञानिभिः सम्बन्धः? कथं च कृताष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यैः सम्बन्धः? पितर इत्यस्य पदनामसु पाठेऽपि ज्ञानिन इति कथं तदर्थः? ताभिस्ताभिर्दिग्भिरपि तस्यास्तेषां च कः सम्बन्धः, येनेन्द्रघोषादयस्तत्सहभाविनश्च पूर्वादिभ्यो रक्षन्ति? एवमेव 'विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्या यस्य वा' इत्यपि यत्किञ्चित्, चक्षुःश्रोत्रादिकर्मणां वाक्कर्मत्वायोगात्। आदित्यैर्मासैः कृताष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यैः सहेत्यपि निर्मूलम्। किञ्च, सा वाक् कं पातु? पदार्थे तु 'त्वा तां पातु' इत्युक्तम्। अत्र तामिति पदेन वागेव ग्राह्या, त्वद्रीत्या तस्या एव प्रकृतत्वात्। तर्हि कथं वागेव वाचं पातु? यदपि—'इदमन्तःस्थमुदकमहं धर्मेणाध्ययनाध्यापनश्रमेण संतप्तं वाः बाह्यमुदकं बहिर्धा या बाह्ये देशे धारयति शब्दान् सा यज्ञाद् अध्ययनाध्यापनाद् होमलक्षणाद्वा निः नितरां सृजामि सम्पद्ये प्रक्षिपामि वा' इति, तदपि तात्पर्यशून्यमेव, असङ्गतिश्च। 'इदमित्युदकनामसु' (निघ. १.१२) इदं वारित्युभयोः शब्दयोरुदकवाचकत्वेऽपि कथमेकस्यान्तःस्थमपरस्य बाह्यं जलमित्यर्थः? अन्वयरीत्या कथमन्तःस्थं तप्तं बहिर्धा शीतलमित्यर्थभेदः? यद्यन्तःस्थमध्ययनादिश्रमेण सन्तप्तं भवति, तदा बाह्यमपि सूर्यादिना तप्तं भवत्येव। यथाहं तथा यूयमपीति को वक्ति? परमेश्वरश्चेत्, स कथमध्ययनाध्यापनश्रमवान् भवति, तस्य नित्यसर्वज्ञत्वात्। जीवश्चेत्, कथं स परमेश्वरवदाभ्यन्तरं तप्तं बाह्यं शीतलं जलं स्रष्टुं शक्नोति। निःक्षेपेण च को लाभः? हिन्द्यां तु—'यथा विश्वकर्माहं यज्ञात् पठनपाठनाभ्यां होमाद्वा इदमाभ्यन्तरं तप्तं जलं बहिर्धा बाह्यं शीतलं जलं सम्पादयामि निःक्षिपामि च, तथैव भवानपि करोतु। अग्न्यादिपदार्थैः कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यैर्मनुष्यैर्वर्तमानां परमेश्वरस्य जीवस्य विद्युतो वानेकसम्बन्धवाणीं यथा पूर्वदेशाद्रक्षामि, तथैव भवानपि पातु' इति, को वास्य वाग्जालस्यार्थः? तासां तासां वाणीनां कृते पूर्वादिदेशेभ्यः किं भयम्, यतो रक्षणमपेक्षितम्? मूले तु—इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु, प्रचेता रुद्रैः सह त्वा पश्चात् पात्विति सरलोऽन्वयो भाति ॥११॥

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा ॥१२॥

मन्त्रार्थ—हे उत्तरवेदि! तुम असुरों का भक्षण करने वाली हो, हम लोग तुम्हें यह शोभन आहुति देते हैं। हे उत्तरवेदि! तुम आदित्यों को प्रसन्न करने वाली सिंहिनी हो, तुम्हारे लिये हम यह शोभन आहुति देते हैं। हे उत्तरवेदि! तुम ब्राह्मण-क्षत्रियों को प्रीति देने वाली हो, सिंहिनी के समान पराक्रमी हो, हम यह सुन्दर आहुति तुम्हें देते हैं। हे उत्तरवेदि! तुम अच्छी प्रजा

'नाभ्याः श्रोण्यꣳसेषु पञ्चगृहीतं जुहोत्यक्षणया दक्षिणेंऽसे श्रोण्याꣳ श्रोण्यामꣳसे मध्ये च हिरण्यं पश्यन् सिꣳह्यसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ५.४.१२)। अध्वर्युरुत्तरवेदेरुत्तरत उपविश्य नाभ्याः श्रोणिद्वये, अंसद्वये, मध्ये च निहितं सुवर्णं विलोकयन् अक्षणया कौटल्येन जुह्वां पञ्चवारं गृहीतमाज्यं जुहुयात्। आदौ नाभेर्दक्षिणेंऽसे तत उत्तरश्रोण्यां ततो दक्षिणश्रोण्यां तत उत्तरेंऽसे ततो मध्य इति सूत्रार्थः। आपस्तम्बोऽपि तदेतत्कौटल्य(वक्रता)प्रकारं विस्पष्टमाह—'दक्षिणमंसमुत्तरां श्रोणिं दक्षिणामुत्तरांसमध्यम्' इति। पुरा पूर्वोक्तप्रकारेण वाग्रूपा वेदिदेवता केनापि निमित्तेन देवेभ्योऽपाक्रम्य तदानीमसुरान् प्राप्य देवासुरसेनयोर्मध्ये सिंहरूपं धृत्वा तस्थौ। तेभ्य उत्तरवेदिः सिंहीरूपं कृत्वोभयानन्तरा प्रक्रम्यातिष्ठदिति शतपथोक्तवृत्तान्तस्तु पूर्वमेवोक्तः। हे उत्तरवेदे, त्वं सिंही असि सिंहरूपा भवसि। तादृश्यै तुभ्यं नमः। स्वाहा हविः सुहुतमस्तु। सिंही असि। आदित्यवनिर् आदित्यान् वनुते सम्भजते प्रीणयति वेत्यादित्यवनिः। सिंही असि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिर्ब्राह्मणक्षत्रियजात्योः प्रीणयित्री। सिंही असि सुप्रजावनिः पुत्रपौत्रादिरूपायाः शोभनायाः प्रजायाः सम्पादयित्री। रायस्पोषवनिः स्वाहा सुवर्णरजतादिधनपुष्टेः सम्पादयित्री तादृश्यै तुभ्यं स्वाहा। सिंही असि आवह देवान् यजमानाय स्वाहा। यजमानोपकारार्थं देवानस्मिन् कर्मण्यानयेति। 'भूतेभ्यस्त्वेति स्रुचमुद्यच्छतीति' (का. श्रौ. ५.४.१३)। होमार्थं नीचैः कृतां स्रुचमूर्ध्वां करोतीति। होमशेषाज्ययुक्ते हे जुहूस्त्वा त्वां भूतेभ्यो जरायुजाण्डजादिचतुर्विधभूतग्रामप्रीत्यर्थमुद्यच्छामीति शेषः। तमेतं मन्त्रार्थं विनियोगपुरःसरं तित्तिरिर्विस्पष्टं दर्शयति—'भूतेभ्यस्त्वेति स्रुचमुद्गृह्णाति या एव देवतास्तास्तेषां तद्भागधेयं तानेव तेन प्रीणामि' इति।

अध्यात्मपक्षे तु—सैव राजराजेश्वरी मन्त्रेऽत्र स्तूयते—सिंही असि सिंहसदृशी शौर्याद्युपेता आदित्यान् स्वशक्त्या तेजोदानेन प्रीणयसि। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः', 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डको. २.२.१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तादृश्यै तुभ्यं स्वाहा स्वसर्वस्वं स्वं च समर्पयामि। सिंही असि, अज्ञानानैश्वर्यव्यापादिका। ब्रह्मक्षत्रजात्योः प्रीणयित्री, ब्राह्मक्षात्रतेजःप्रदानेन। सिंही असि, प्रजाप्राप्तिप्रतिबन्धहन्त्री पुत्रपौत्रादिशोभनप्रजासम्पादयित्री असि। तस्यै तुभ्यं स्वाहा तत्तदुपचारानर्पयामि। सिंही असि सुवर्णादिधनपुष्टेः सम्पादयित्री। यजमानोपकारार्थं देवानावहसि। त्वच्छक्त्यैव मन्त्रैर्देवानामावाहनं सिध्यति, मन्त्राणां देवानां च त्वच्छक्त्यैवोपोद्बलितत्वादिति भावः।

और धन-पुष्टि को देने वाली, पराक्रम में सिंहिनी के समान हो। हमारी दी हुई इस शोभन आहुति को तुम स्वीकार करो। हे उत्तरवेदि! तुम सिंहिनी के समान हो, यजमान के उपकारार्थ देवताओं को यहाँ पहुँचाओ। तुम्हारे लिये हम यह सुन्दर आहुति देते हैं। हे घृतयुक्त जुहू! सब प्राणियों की प्रीति के लिये तुमको वेदि के ऊपर ग्रहण करता हूँ, तुम जरायुज आदि के भाग हो॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए वेदि की दोनों श्रोणियों, दोनों अंशों तथा नाभि में कुछ सुवर्ण रख कर अध्वर्यु जुहू में आज्य लेकर पाँच आहुतियाँ देता है ॥१२॥

भाष्यसार—'सिंह्यसि स्वाहा' इत्यादि कण्डिकान्तर्गत मन्त्रों का याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (५.४.१२-१३) में पाँच बार घृताहुति के प्रदान तथा स्रुव के उन्नयन में किया गया है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ ही शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—इस मन्त्र में उन्हीं राजराजेश्वरी भगवती की स्तुति है। आप सिंह के समान शौर्यादि से युक्त हैं तथा आदित्यों को भी अपने तेजःप्रदान से पुष्ट करती हैं। इस प्रकार की महिमा से मंडित आपके लिये मैं अपने सर्वस्व को तथा स्वयं को समर्पित करता हूँ। आप अज्ञान, अनैश्वर्य की नाशयित्री हैं, ब्राह्म एवं क्षात्र तेज प्रदान करके मनुष्यों का पोषण करती हैं। आप प्रजा-प्राप्ति के प्रतिबन्धों की नाशिका, पुत्र-पौत्रादि सुन्दर सन्ततियों की सम्पादिका हैं। मैं आपके लिये उन उन उपचारों का समर्पण करता हूँ। आप सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करने वाली हैं, भक्त के उपकारार्थ देवताओं को बुलाती हैं, आपकी शक्ति से ही मन्त्रों के द्वारा देवताओं का आह्वान सिद्ध होता है।

दयानन्दस्तु—'अहं यादित्यवनिः सिंही स्वाहास्यस्ति, या ब्रह्मवनिः सिंही स्वाहास्यस्ति, या क्षत्रवनिः सिंही स्वाहास्यस्ति, या रायस्पोषवनिः सिंही या सुप्रजावनिर्या यजमानाय देवानावह प्रापयति, त्वा तां भूतेभ्यो यज्ञान्निःसृजामि। मनुष्यैरध्ययनादिनेदृग्लक्षणां वेदादिवाणीं प्राप्यैतां सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽध्याप्यानन्दयितव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अक्षरार्थाननुगमात्। यदपि—'अहं या मासानां सेविनी क्रूरत्वादिदोषनिवारिणी ज्योतिःसंस्कारोपेता वागस्ति, या च परमात्मानं वेदं वेदज्ञान् मनुष्यान् सेवते, सिंहबलेन जाड्यापहाऽध्ययनाध्यापनव्यवहारोपेताऽस्ति, या च धनुर्विद्या तद्वतो मनुष्यान् सेवते, चौरादीनन्यायांश्च नाशयति, राज्यव्यवहारे कुशला वागस्ति, या च विद्याधनादिपोषिका अविद्याद्यपहन्त्री वागस्ति, या चोत्तमप्रजासेविनी दुःखनाशिनी व्यवहारेण धनप्रापयित्री वागस्ति, या च विद्वत्पूजकयजमानाय दिव्यविद्यासम्पन्ना दिव्यान् गुणान् भोगान् वा प्रापयन्ती वागस्ति, तां सर्वप्राणिभ्यो यज्ञात् सम्पादयामि' इति, तदपि मन्दम्, व्यत्ययादिदोषबाहुल्यात्, मन्त्रे यज्ञान्निःसृजामीति पदाभावादनुवृत्तौ मानाभावाच्च। सिंही स्वयं क्रूरा सती कथं क्रूरत्वं नाशयिष्यति? सा च मासान् ब्रह्मक्षत्रादीन् कथं सेवते? सिद्धान्ते तूत्तरवेद्यधिष्ठात्री देवता तादृशी, माहाभाग्याद्देवतानाम्। 'यया ब्रह्मविदो मनुष्या ब्रह्म परमात्मानं वेदं वा वनन्ति सा, यया क्षत्रं राज्यं धनुर्विद्यां शूरवीरान् पुरुषान् वा वनन्ति' इत्याद्यपि तादृशमेव, वाङ्मात्रेण तदसिद्धेः। 'पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः। सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥' इति नीतिविरोधाच्च, शतपथोक्तिविरोधाच्च ॥१२॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि ॥१३॥

'नाभिं पैतुदारवैः परिदधाति पूर्ववद् ध्रुवोऽसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ५.४.१४)। पीतुदारुशब्देन देवदारुवृक्षविशेष उच्यते। यद्वा पीतुदारु उदुम्बरविशेषः। 'स यां वनस्पतिष्ववसत् तां पितुद्रौ' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रवणात् पीतुदारुणोऽग्नेः शरीरत्वम्। तदीयैः परिधिभिर्मध्यदेशरूपां नाभिं परिदध्यात्। पूर्ववद्दर्शपूर्णमासेष्टौ यथा पश्चिमदक्षिणोत्तरेषु, तथात्रापीति सूत्रार्थः।

मन्त्रार्थस्तु—हे मध्यपरिधे, त्वं ध्रुवः स्थरोऽसि, अतः पृथिवीं दृंह दृढीकुरु। ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृंह, हे दक्षिणपरिधे, त्वं ध्रुवक्षिद् ध्रुवे स्थिरे क्षियसि निवससीति ध्रुवक्षित् तादृशोऽसि, तस्मादन्तरिक्षं दृढीकुरु। हे उत्तरपरिधे, त्वम् अच्युतक्षिदसि, अच्युते च्युतिरहितेऽविनाशिते यज्ञे क्षियसीत्यच्युतक्षिदसि, यद्वा अच्युतं परैरच्यावितं यथा न चलति न क्षियत्यच्युतक्षित्, तस्माद् दिवं दृंह द्युलोकं स्थिरीकुरु। 'अग्नेः पुरीषमिति निवपति गुग्गुलुसुगन्धितेजनवृष्णेः स्तुकाश्चोपरि शीर्षण्या अभावेऽन्याः' (का. श्रौ. ५.४.१५)। नाभेरुपरि गुग्गुल्वादीन्निदध्यात्। गुग्गुलुशब्देन धूपार्थं

मन्त्रार्थ—हे मध्यम परिधि! तुम स्थिर हो, यहाँ की पृथ्वी को दृढ़ करो। हे दक्षिण परिधि! तुम स्थिर यज्ञ में निवास करती हो, अन्तरिक्ष को दृढ़ करो। हे उत्तर परिधि! तुम अविनाशी यज्ञ में निवास करती हो, द्युलोक को दृढ़ करो। हे सम्भार! तुम अग्नि के पूर्णकर्ता हो॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए देवदारु की तीन-तीन परिधियों के द्वारा उत्तर वेदि की नाभि से दर्शपौर्णमास इष्टि के समान पश्चिम, दक्षिण, उत्तर इन तीन दिशाओं में परिधियों और संभारों को स्थापित करे ॥१३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (५.४.१४-१५) में निर्दिष्ट याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'ध्रुवोऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से परिधियों का परिधान तथा गुग्गुलु आदि द्रव्यों का नाभिदेश पर निधान किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप ही मन्त्रों का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है। सायण, उव्वट तथा महीधर ने भी शतपथ-सम्मत व्याख्या की है।

द्रव्यमुच्यते। सुगन्धितेजनं रोहितः। वृष्णेर्मेषस्य स्तुका रोमाणि। ताश्च शीर्ष्णि भवास्तदभावेऽशीर्षण्या अन्यस्मिन् मेषस्य शरीरप्रदेशे जाताः, एतानि प्रक्षिपेदिति। हे गुग्गुलुप्रभृतिसम्भारसमूह, त्वमग्नेः पुरीषं पूरकमसि। पूरयतीति पुरीषम्, 'अग्नेर्ह्येतत्पुरीषं यत् संभारः' इति तित्तिरिश्रुतेः। सम्भारनिवापोऽग्नेः सर्वत्वाय। गुग्गुल्वादीनामग्न्यवयवत्वं शतपथश्रुत्या स्पष्टमुक्तम्। तथाहि—'तस्यामाघारयति। सिꣳह्यसि स्वाहेत्यथापरयोरुत्तरस्याꣳ सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहेत्यथापरयोर्दक्षिणस्याꣳ सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहेति बह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद् ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्त उभे वीर्ये' (श. ३.५.२.११), 'अथ पूर्वयोरुत्तरस्याꣳ सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पो॰॰वनिः स्वाहेति तत्प्रजामाशास्ते यदाह सुप्रजावनिरिति रायस्पोषवनिरिति भूमा वै रायस्पोषस्तद्भूमानमाशास्ते (श. ३.५.२.१२),'तद्वा एतदेकं कुर्वन् द्वयं करोति यदुत्तरवेदिं व्याघारयत्यथ यैषां मध्ये नाभिकेव भवति तस्यै ये पूर्वे स्रक्ती तयोर्या दक्षिणा' (श. ३.५.२.१०)। एकमुत्तरवेदिव्याघारणं कुर्वन् द्वयं व्याघारणं यजमानाशीराशासनं चेति द्वयं करोति। उत्तरवेदिमध्यङ्गतायाश्चतुःस्रक्तेरुत्तरनाभेर्दक्षिणया व्याघारप्रकार उच्यते—अथ यैषां मध्ये नाभिकेव भवति तस्या इति। तस्यै तस्या ये पूर्वे स्रक्ती ईशानाग्नेयदिग्गते, तयोर्मध्ये दक्षिणा स्रक्तिराग्नेयदिग्गता, तस्यां सिंह्यसि स्वाहेति व्याघारयति। अथापरयोर्नाभेः पश्चाद्दिग्गतयोर्मध्ये उत्तरस्यां वायव्यदिगवस्थितायां स्रक्त्यामादित्यान् यजमानार्थं वनति भजत इत्यादित्यवनिस्तादृशी सिंह्यसि तुभ्यं सुहुतमस्तु। अथापरयोर्दक्षिणस्यां नैर्ऋत्यकोणकोष्ठे। अत्र ब्रह्मक्षत्रोभयाशासनस्याभिप्रायमाह—यजुःषु आशीःपरेषु प्रायेण बह्वी आशीर्बहुविधान्याशासनान्युपलभ्यन्ते। अथ पूर्वयोरुत्तरस्यामीशानस्रक्त्यां सुप्रजावनिः शोभनपुत्रादिलक्षणप्रजासम्भक्तिः, रायस्पोषवनिर्धनपुष्टिः। 'अथ मध्ये आघारयति। सिꣳह्यस्यावह देवान् यजमानाय स्वाहेति तद्देवान् यजमानायावाहयत्यथ स्रुचमुद्यच्छति भूतेभ्यस्त्वेति प्रजा वै भूतानि प्रजाभ्यस्त्वेत्येवैतदाह' (श. ३.५.२.१३)। अथ नाभिव्याघारणमन्त्रः—'अथ परिधीन् परिदधाति। ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳहेति मध्यमं ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहेति दक्षिणमच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहेत्युत्तरमग्नेः पुरीषमसीति सम्भारानुपनिवपति तद्यत्सम्भारा भवन्त्यग्नेरेव सर्वत्वाय' (श. ३.५.२.१४)। 'शरीरꣳ हैवास्यै पीतुदारु। तद्यत् पैतुदारवाः परिधयो भवन्ति शरीरेणैवैनमेतत्समर्द्धयति कृत्स्नं करोति' (श. ३.५.२.१५)। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव।

शरीरं ह एव अस्य अग्नेः पीतुदारु उदुम्बरविशेषः, 'स यां वनस्पतिष्ववसत् तां पितुद्रौ' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रवणात् पीतुदारुणोऽग्नेः शरीरत्वम्। तद्यत् पैतुदारवाः परिधयो भवन्ति शरीरेणैवैनमग्निं समर्धयन्ति कृत्स्नत्वं सम्पादयन्ति। 'माꣳसꣳ ह वास्य गुल्गुलु। माꣳसेनैव तत्समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श. ३.५.२.१६)। यथा पीतुदारु तस्याग्नेः शरीरं भवति, तथैव गुल्गुलु तस्य मांसं भवति, 'यन्माꣳसमुपस्रुतं तद् गुल्गुलु' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रुतेः। 'गन्धो हैवास्य सुगन्धितेजनं तद्यत्सुगन्धितेजनं भवति गन्धेनैवैनमेतत्समर्द्धयति कृत्स्नं करोति' (श. ३.५.२.१७)। सुगन्धितेजनाख्य ओषधिविशेषोऽस्याग्नेर्गन्धो भवति। तेन तस्य समर्द्धनं कार्त्स्न्यं च सम्पद्यते। 'यामोषधीषु तां सुगन्धितेजने' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रुतिरीत्या सुगन्धतेजनाख्यौषधिविशेषेऽग्नेरेकरात्रनिवासादग्नेर्गन्धः सुगन्धितेजने संक्रान्तः। तदुपनिवापेनाग्नेर्गन्धाख्यांशस्य पुनर्योजनात् कार्त्स्न्यं सम्पद्यते। 'अथ यद्वृष्णेः स्तुका भवति।... तस्माद्या शीर्ष्णो नेदिष्ठꣳ स्यात्तामाच्छिद्याहरेद्यद्यु तां न विन्देदपि यामेव काञ्चाहरेत् तद्यत्परिधयो भवन्ति गुप्त्या एव दूर इव ह्येनमुत्तरे परिधय आगच्छन्ति' (श. ३.५.१.८)। वृष्णिर्मेषस्तस्य स्तुका रोमः, 'वृष्णेर्ह वै विषाणे अन्तरेणाग्निरेकां रात्रिमुवास यां पशुषु तां पेत्वस्यान्तरा शृङ्गे' (तै. सं. ६.२.८.४) इति श्रुतेः। तद्यदेवाग्नेर्न्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मा शीर्ष्णो नेदिष्ठं स्यात्तामेव स्तुकामाहरेत्, तदलाभे तां यामेव काञ्चनाहरेत् तदवान्तरजातिसम्बन्धामपि निवपेत्। परिधीनां परिधानं तद्दारुविशेषत्वं चोक्तम्, इदानीं तदावश्यकत्वमाह—तद्यत् परिधयो भवन्ति, यस्मादुत्तरे उपरि क्रियमाणाः

परिधयो दूरे विप्रकृष्टकाले होमकाले आगच्छन्ति, अतोऽग्नेर्गुप्तिस्तावत्पर्यन्तमपेक्षिता। तस्मादिदानीमवश्यं कर्तव्यमित्यर्थः। एवं शतपथादिसम्मतमेव पूर्वोक्तं सायणोव्वटमहीधरव्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे तु—हे कूटस्थचिद्रूप त्रिपुरसुन्दर कामेश्वर! त्वं ध्रुवोऽसि, षड्विधभावविकारवर्जितत्वात्। पृथिवीं दृꣳह स्थिरां कुरु। ध्रुवक्षिद् ध्रुवाणि मोक्षरूपाणि सुखानि क्षियति निवासयतीति ध्रुवक्षित्, तद्रूपोऽसि, तस्मादन्तरिक्षं दृꣳह। अच्युतक्षित्, न केनापि च्युतं यथा न चलति तथा क्षियति निवसतीत्यच्युतक्षित् तद्रूपोऽसि। अग्नेः पुरीषमसि अग्नेस्तदुपलक्षितानां समेषां ज्योतिषां पूरकमसि, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (भ. गी. १३.१८) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो यज्ञो ध्रुवोऽस्ति पृथिवीं वर्धयति तं त्वं दृंह। यौ ध्रुवक्षिदस्यस्ति, अन्तरिक्षमाकाशस्थान् पदार्थान् पोषयति, तं त्वं दृंह। योऽच्युतक्षिदस्यस्ति दिवं प्रकाशयति तं त्वं दृंह। योऽग्नेः पुरीषमस्यस्ति तं त्वमनुतिष्ठ। मनुष्यैर्विद्याक्रियासिद्धं त्रैलोक्यस्थपदार्थपोषकं विद्याक्रियामयं यज्ञमनुष्ठाय सुखयितव्यम्' इति, तदपि न किञ्चित्, यज्ञस्य क्रियात्मकस्य ध्रौव्यायोगात्, ध्रौव्ये वा तस्य वर्धापनासम्भवः। न च कूटस्थः पृथिव्यादीन् वर्धयितुं शक्नोति। दिवं प्रकाशयेत्यर्थबोधकपदाभावोऽपि। व्यत्ययाद्याश्रयणात् शतपथविरोधाच्च तदयुक्तमेव। सिद्धान्ते तु तत्तदवच्छिन्नचैतन्यकूटस्थत्वाभिप्रायेण ध्रौव्यं सम्भवत्येव ॥१३॥

युञ्जते मनं उत युंञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विंपुश्चितंः। वि होत्रां दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्यं सवितुः परिंष्टुतिः स्वाहां ॥१४॥

अत्र सायणाचार्याः काण्वसंहिताभाष्ये प्राहुः— 'अस्ति तावत्प्राचीनवंशाख्या काचिच्छाला। तस्यामाहवनीयाद्यग्नित्रयमैष्टिकवेदिश्च वर्तते। तस्याः शालायाः पुरतः षट्त्रिंशत्पददीर्घा सौमिकवेदिर्निर्मातव्या। तस्या वेद्या अग्रभागे पूर्वोक्तोत्तरवेदिः१ ततः पश्चान्मध्यभागे हविर्धानाख्यो मण्डपो निर्मातव्यः। ततोऽपि पश्चात् सदोऽभिधाना काचिच्छाला

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे कूटस्थ चिद्रूप त्रिपुरसुन्दर! आप छः प्रकार के भावविकारों से रहित होने के कारण ध्रुव हैं, अतः पृथिवी को स्थिर करें। मोक्षरूप स्थिर सुखों के आप निवासभूत हैं, अतः अन्तरिक्ष को सुदृढ़ करें। आप अविचल निवासरूप हैं तथा अग्नि आदि समस्त ज्योतिष्पिण्डों के भी पूरक हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में क्रियात्मक यज्ञ के ध्रुव न होने के कारण अनौचित्य है। ध्रुव होने पर उसकी वृद्धि करना भी संभव नहीं है। कूटस्थ तत्त्व पृथिवी आदि का वर्धन करने में भी सक्षम नहीं है। व्यत्यय आदि का आश्रय ग्रहण करने के कारण तथा शतपथ-श्रुति से विरुद्ध होने के कारण भी वह अर्थ युक्त नहीं है। हमारे सिद्धान्तपक्ष में तो अवच्छिन्न चैतन्य के कूटस्थत्व के अभिप्राय से ध्रुवत्व संगत है ॥१३॥

मन्त्रार्थ—वेदपाठ से महत्त्व को प्राप्त, सर्वज्ञ यजमान के वेदवेत्ता होम करने वाले ऋत्विक् यज्ञानुष्ठान में मन और इन्द्रियों को लगाते हैं, क्योंकि सब प्राणियों के मन की वृत्ति को जानने वाले सृष्टिकर्ता ने ही इन ब्राह्मणों को मनोवशीकार की सामर्थ्य के साथ रचा है। प्रेरक अन्तर्यामी परमात्मा की सच्ची स्तुति मनोवशीकार ही है। उस परमात्मा के निमित्त हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं॥ हविर्धान मण्डप बनाकर अध्वर्यु शाला में प्रवेश कर आज्य का संस्कार करके चार बार ग्रहण किये हुए आज्य की परिस्तरण-सम्दिधानपूर्वक अग्नि में इस मन्त्र से आहुति दे ॥१४॥

भाष्यसार—सोमयाग में प्राचीन वंशशाला के द्वार के समीप पूर्व स्थापित आहवनीय अग्नि में 'युञ्जते मनः' इस ऋचा के द्वारा चतुर्गृहीत आज्य का हवन किया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में उपदिष्ट है।

निर्मातव्या । तस्याः स्थाने प्राचीनशालायाः पुरतो दक्षिणोत्तरभागयोर्हविर्धाननामके द्वे शकटे स्थापिते भवतः । तच्छकटद्वयं पुरतः प्रवर्त्य तदावरकत्वेन हविर्धानाख्यमण्डपो निर्मातव्यः । तच्च शकटद्वयं सावित्रमन्त्रहोमादूर्ध्वं प्रवर्तनीयम् । तदाह तित्तिरिः—'सावित्र्यर्चा हुत्वा हविर्धाने प्रवर्तयति', शतपथे च 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्युपक्रम्य यज्ञाधारभूतसदोहविर्धान-मण्डपस्य पुरुषसन्निवेशतामुक्त्वा हविर्धानस्य शिरस्त्वमाहवनीयस्य मुखत्वं यूपस्य स्तूपत्वं (शिखात्वम्) आग्नीध्री-यमार्जालीययोर्बाहुत्वं सदस उदरत्वं सौमिकवेदेः पश्चाद्भागे स्थितयोराहवनीयगार्हपत्ययोर्जघनदेशवृत्तित्वात् पादत्वम् । उभयतोद्वारं हविर्धानमुभयतोद्वारं च सदः । तस्मादेव पुरुषोऽप्यन्तपर्यन्तं सुषिरवान् भवति । तत्र हविर्धानप्रवर्तनाभ्य-नुज्ञापनाय सावित्रं होमं विधत्ते—'चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा सावित्रं प्रसवाय जुहोतीति' (श. ३.५.३.१०) । तत्र मन्त्रो युञ्जते मन इति । प्राचीनशालाया द्वारसमीपे पूर्वसिद्ध आहवनीयो वर्तते, तस्मिन् जुहोति । स च पूर्वमाहवनीयोऽपि सन्नुत्तरवेद्याख्येऽन्यस्मिन्नाहवनीये निष्पन्ने तदपेक्षया गार्हपत्यो भवति' इति । मन्त्रस्यास्य सविता देवता जगतीच्छन्दः श्यावाश्व ऋषिः ।

मन्त्रार्थस्तु—विप्रा मेधाविनोऽध्वर्युप्रमुखा ऋत्विजः, विप्रस्य विशेषेणाभिमतफलपूरकस्य प्रापकस्य, बृहतो महतो विपश्चितो मेधाविनः । यज्ञापेक्षयाऽन्ये विपश्चितस्त्वल्पविपश्चितः, यज्ञस्तु बृहद्विपश्चित्, तस्य विष्णुत्वेन परमेश्वरत्वात् । पदद्वयसामर्थ्याद्यज्ञ एवाभिमतः । तं यज्ञं द्वितीयार्थे षष्ठी । सावित्रं प्रसूतं मनो धियो बुद्धीश्च युञ्जते । मनसा वाचा च यज्ञं यज्ञसम्बन्धि कर्म तन्वते, यज्ञस्य कर्मणि वा मनो वाचं च प्रेरयन्ति । यद्वान्यतो व्यावर्त्य तत्रैव मनो वाचं च नियमयन्ति । धियो मनसः पृथङ्निर्देशाद् धीशब्देन धीपूर्विका वागुच्यते । तथा होत्रा वषट्कर्तारः सप्त होत्रकाश्च यज्ञे यज्ञविषये सवित्रानुज्ञाता एव मनो धियश्च विदधे विदधते कुर्वते । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा. सू. ७.१.४१) इति तलोपः । कथमीदृङ्माहात्म्यः सवितेति तत्राह—यस्मात् सविता एक इत् एक एव वयुनावित् प्रज्ञावान् । 'वयुनमिति प्रज्ञानामसु' (निघ. ३.९.१०) । यद्वा वीयते गम्यत इति वयुनं यज्ञमार्गः, 'वयुनं वेतेः' (निरु. ५.१४) इति निरुक्तवचनात् । तस्य यज्ञमार्गस्य वेदिता एक एव । तस्य सवितुर्देवस्य परिष्टुतिः, मही महती स्वाहा स्तुतिरूपमिदं द्रव्यं सुहुतमस्तु । अध्वर्युप्रमुखा ऋत्विजो बृहतो विपश्चितो यज्ञस्य विषये मनोऽन्तःकरणं वाचं च नियुञ्जतेऽन्यतो व्यावर्त्य तत्र नियच्छन्ति । होत्रा वषट्कर्तारश्च सवितुर्देवस्यानुज्ञयाऽनुज्ञातास्तत्र मनो धियश्च विदधते । सविता चैक एव । स्वाहेति तस्य सवितुर्मही महती परिष्टुतिः ।

काण्वशाखीयसायणभाष्यरीत्या तु—विप्रस्य ब्राह्मणस्य यजमानस्य सम्बन्धिनो विप्रा ब्राह्मणा ऋत्विजः, मनो युञ्जते संसारचिन्ताभ्यो मनो निवार्य यज्ञचिन्तायां प्रथमं नियमयन्ति । ततो धिय इन्द्रियाण्यपि यज्ञार्थेषु नियमयन्ति । कीदृशस्य विप्रस्य ? यजमानस्य बृहतो विपश्चितः, अधीतवेदत्वाद् बृहत्त्वम्, अर्थाभिज्ञत्वाच्च विपश्चित्त्वम् । कीदृशा विप्राः ? होत्रा होमकर्तारः । तदिदं विप्राणां मनोनियमादिसामर्थ्यमेक इद्विदधे एक एव ससर्ज । कीदृश एकः ? वयुनावित् सर्वज्ञः, वयुनं सर्वविषयिणीं प्रज्ञां विन्दते लभत इति तथोक्तः । संहितायां दीर्घः । न चैकस्य सर्वसृष्टौ विस्मयः कार्यः, यतः सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो देवस्य परिष्टुतिः सर्ववेदोक्तस्तुतिः, मही महती । 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुण्डको. १.१.९), 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे. उ. ६.८) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

उव्वटरीत्या तु—सवित्रा प्रसूता ऋत्विजः, मनो मनांसि, उत युञ्जते प्रेरयन्ति, धियो वाचश्च । कथंभूता ऋत्विजः ? विप्रा ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः । क्व प्रेरयन्ति मनांसि वाचश्चेति तत्राह—विप्रस्य यज्ञस्य कर्मणीति शेषः । विशेषेण प्राति प्रपूरयति जनानां मनोरथानिति विप्रो यज्ञः, फलदानं प्रति प्राप्तक्रियाशक्तेर्विप्रस्य यजमानस्य वा । ननु क्षत्रियवैश्यावपि

यजमानौ भवत इति कुतो विप्रपदस्य यजमानार्थत्वमिति चेन्न, अग्निष्टोमे 'दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः' इति क्षत्रियवैश्ययोरपि तत्काले ब्राह्मणत्वोक्तौ दोषाभावात्। होत्राः सप्त वषट्कर्तारः। अथ होत्राः सप्त वषट्कर्तारो होत्रा इत्युच्यन्ते, 'अथ होत्राः संयाजयन्ति' इति श्रुतेः। सौत्येऽहनि सप्त होतारो वषट्कुर्वन्ति। वयुनाविद् एक इत्। वयुनं वेत्तेः, कान्तिर्वा प्रज्ञा वा। तेषामृत्विजां मध्ये सवित्रा प्रसूतो ब्रह्माख्य एक एव ऋत्विग् वयुनावित् त्रिवेदज्ञानान्वितो भैषज्यं करोति। दानादिगुणयुक्तस्य देवस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः परिष्टुतिर्मही महती। यतः स एव यज्ञं प्रेर्य ऋत्विजः प्रस्तूय समापयति यज्ञम्। यज्ञो हि वृष्टिद्वारा समस्तं जगद्बिभर्तीति सवितुर्महती स्तुतिरित्युक्तम्।

शतपथे च—'स जुहोति। युञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति मनसा वै च वाचा च यज्ञं तन्वते स यदाह युञ्जते मन इति तन्मनो युनक्त्युत युञ्जते धिय इति तद्वाचं युनक्ति धिया धिया ह्येतया मनुष्या जुज्यूषन्त्यनूक्तेनेव प्रकामोद्येनेव गाथाभिरिव ताभ्यां युक्ताभ्यां यज्ञं तन्वते' (श. ३.५.३.११)। अत्र स्पष्टमेव धीपदेन वागेव विवक्षितेत्युक्तम्। 'युञ्जते' इत्यस्या मनसा वाचा यज्ञं तन्वत इत्युक्तम्। यदा यदा बुद्धिर्जायते तदा तदा खल्वेतया वाचा जुज्यूषन्ति जीवितुमिच्छन्ति। अतः केवलबुद्धेर्जीवनसाधनत्वाभावेन वाचोऽपेक्षितत्वाद्धीशब्देन तत्पूर्विका वागुच्यते। जीवनसाधनत्वं विशदयति—अनूक्तेनेति। अनूक्तमनुवचनमध्ययनादिकम्, प्रकामः स्वैच्छिकभाषायां गाथा गद्यपद्यात्मिका वाणी, ताभिरेव जुज्यूषन्ति तस्मात्ताभ्यां युक्ताभ्यामेव मनोवाग्भ्यां युक्ताभ्यामेव यज्ञं तन्वते। विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित इति। ये वै ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते विप्रास्तानेवैतदभ्याह बृहतो विपश्चित इति यज्ञो वै बृहद्विपश्चिद्यज्ञमेवैतदभ्याह वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इदिति वि होत्रा दधते यज्ञं तन्वाना मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहेति तत्सावित्रं प्रसवाय जुहोति। द्वादशतममन्त्रगतप्रथमविपश्चिच्छब्दस्य ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना ऋत्विज इत्यर्थो विवक्षित इत्यर्थः। विप्रा इति पदं तानेवाभ्याह ब्रूते। बृहद्विपश्चिच्छब्दाभ्यां यज्ञो विवक्षित इत्याह—यज्ञो वै बृहद्विपश्चिदिति। होत्राशब्देन यज्ञकर्तारोऽभिप्रेताः। 'दधे' इत्येतत् 'दधते' इत्यस्य बहुवचनस्य स्थाने रूपम्। तद् व्याचष्टे—वि होत्रा दधते यज्ञं तन्वाना इति। यस्मान्मन्त्रे सवितुर्देवस्येति सविता देवः श्रूयते, तत् तस्मान्मन्त्रसाध्यं सावित्रं होमं प्रसवाय जुहुयात्।

अध्यात्मपक्षे तु—विप्रा मेधाविनो विप्रस्य प्रजापतेः परमेश्वरस्य बृहतो विपश्चितोऽनन्तज्ञानस्य सम्बन्धिनि स्वरूपे मनो युञ्जते योजयन्ति तस्मिन्नेव मनः स्थापयन्ति। ततः पूर्वं तु धियो वाग्व्यापारानपि तत्रैव योजयन्ति, 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥' (कठो. ३.१३) इति श्रुतेः। यद्वा धियः सर्वेन्द्रियाणि तत्रैव योजयन्ति। 'वाचं यच्छ मनो यच्छ यच्छ सर्वेन्द्रियाणि च' (भा. पु. ११.१६.४२) इति श्रीमद्भागवतस्मरणात्। होत्राः सप्त वषट्कर्तारस्तत्रैव मनो वाचं च दधे दधते। कीदृशस्य विप्रस्य? सवितुः सर्वप्रेरयितुः सर्वान्तर्यामिणो देवस्य जगदुत्पत्त्याद्याक्रीडस्य स्वप्रकाशस्य वा। कीदृशा विप्राः? होत्राः सर्वस्वार्पयितारः। नन्वन्यत्र कुतो मनो वाचो न नियमयितव्या इति तत्राह— एक इदिति। एक एव स वयुनावित् सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षी, तस्य सर्वात्मत्वात् तदानुकूल्येन सर्वानुकूल्योपपत्तेः। स्वाहा सर्वार्पणमेव तस्य मही महती परिष्टुतिर्महत् स्तवनम्।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—विद्वान् लोग प्रजापति परमेश्वर के अनन्त ज्ञानसम्बन्धी स्वरूप के विषय में मन का योग करते हैं, अर्थात् उसी में मन स्थापित करते हैं। उससे पूर्व अपने वाग्व्यापार को भी उसी में संयोजित करते हैं। अथवा अपनी समस्त इन्द्रियों को उसमें नियुक्त करते हैं। सर्वस्व अर्पण करने वाले होतृगण सबके प्रेरक सर्वान्तर्यामी स्वप्रकाशात्मक उसी देव के विषय में मन तथा वाणी स्थापित करते हैं, क्योंकि वही एकमात्र सर्वबुद्धि-प्रत्ययगम्य है। उसके सर्वात्मक होने के कारण उसकी अनुकूलता से सभी की अनुकूलता हो जाती है। सर्वस्व का अर्पण करना ही उसकी सर्वश्रेष्ठ स्तुति है।

दयानन्दस्तु—'यथा ये होत्रा विप्राः सन्ति, या बृहतो विप्रस्य विपश्चितः सवितुर्देवस्य यस्य महेश्वरस्य मही परिष्टुतिरूपा स्वाहास्ति, तां विज्ञायैतस्मिन्नेव देवे मनो उतापि धियो युञ्जते, तथैवैतां विदित्वाऽस्मिन् वयुनाविदेकोऽहं मनो विदधे युञ्जे धियं च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारबलेन यथा-तथेति कल्पने मानाभावात्। त्वद्रीत्या कस्यचित् साधकस्येदं वचनं न परमेश्वरस्य, तस्य साधकत्वायोगात्। तथात्वे च मन्त्रस्य मनुष्यकर्तृकत्वापत्तिः। यदपि—'मनो युञ्जते समादधते धियो बुद्धीः कर्माणि वा युञ्जते स्थिराः कुर्वते' इति, तदपि न, श्रुत्या 'तन्वते' इत्यर्थापनात्, कर्मणां चलस्वभावत्वेन स्थैर्यासम्भवाच्च। 'विप्रस्यानन्तप्रज्ञाकर्मणो बृहतो व्यापकस्य' इत्यप्यनर्थ एव, प्रमाणानुल्लेखात्। यत्तु— 'प्रजापतिर्वै विप्रः' (श. ६.३.१.१६) इति प्रमाणमुपन्यस्तम्, तत्तु प्रजापतिबोधकत्वे सम्भवति प्रमाणम्। अनन्तज्ञानकर्मत्वं तु परमेश्वरत्वान्न विप्रपदार्थत्वात्। 'स्वाहा सत्यां वाचम्' इति च निर्मूलम्, मूलाभावात्। शतपथश्रुतिविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥१४॥

इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम्। समू॑ढमस्य पाꣳसु॒रे स्वाहा॑ ॥१५॥

'अपरं दक्षिणे वर्त्मनि दक्षिणस्यानसो हिरण्यं निधायाभिजुहोतीदं विष्णुरिति' (का. श्रौ. ८.३.२७)। पुनरपरमाज्यं शालाद्वार्येव संस्कृत्य चतुर्गृहीतं गृहीत्वा दक्षिणस्यानसो दक्षिणचक्रमार्गे हिरण्यं निधाय समिद्वर्जं सशेषमिदं विष्णुरिति जुहुयात्। विष्णुदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा। विष्णुः, वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुर्व्यापनशीलः परमेश्वरस्त्रिविक्रमावतारं धृत्वा इदं विश्वं विचक्रमे विभज्य क्रमते भूमावेकपदं द्वितीयमन्तरिक्षे तृतीयं दिवीत्येवं त्रेधापदं निदधे। पांसुरे पांसवो भूम्यादिलोकरूपाः सन्ति यस्य तत् पांसुरम्, तस्मिन् पांसुरे पदे विश्वं समूढं सम्यगन्तर्भूतम्।

आध्यात्मिकोऽर्थः— सर्वप्राणिनो भूतेन्द्रियमनोजीवभावेनाविशतीति विष्णुः परमेश्वरः, त्रेधा पदं निदधे। पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदम्, भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेष्वग्निवाय्वादित्यरूपेण त्रेधा निहितवान्। समूढमस्य पांसुरे। अस्यैव विष्णोरन्यत् पदान्तरं विज्ञानघनानन्दमजमद्वैतमक्षरं समूढमन्तर्हितमविज्ञातं शास्त्राचार्योपदेशविधुरैः। कस्मिन्निव ? पांसुरे इव। लुप्तो-

---

स्वामी दयानन्द के अर्थ के अनुसार यह किसी साधक का वचन हो सकता है, परमेश्वर का नहीं। क्योंकि परमेश्वर का साधक होना अयुक्त है तथा ऐसा होने पर मन्त्र की मनुष्यकर्तृकता प्राप्त हो जायगी। 'युञ्जते' का अर्थ 'स्थिर करते हैं' इस प्रकार करना उचित नहीं है, क्योंकि श्रुति ने इसका अर्थ 'तन्वते' किया है तथा कर्मों के चलस्वभाव वाले होने के कारण उनमें स्थिरत्व सम्भव नहीं है। इस अर्थ में शतपथ श्रुति का विरोध तो स्पष्ट ही है ॥१४॥

मन्त्रार्थ—सर्वव्यापी त्रिविक्रम का अवतार लेने वाले विष्णु ने इस विश्व को विभागपूर्वक लाँघ लिया। पहले डग से भूमि, दूसरे से अन्तरिक्ष और तीसरे से द्युलोक (आकाश) को नापा। विष्णु के इन तीन पदों (डगों) में यह सारा विश्व अन्तर्भूत है। उस परमात्मा को हम हवि देते हैं॥ घृत का संस्कार कर दक्षिण हविर्धान (शकट) के दक्षिण चक्र मार्ग में सुवर्ण को रख कर शालाद्वार की अग्नि में इस मन्त्र से होम करे। इस मन्त्र में वामनावतार की कथा भी सूचित है ॥१५॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'इदं विष्णुः' इस ऋचा से चतुर्गृहीत आज्य का हवन दक्षिण शकट के दक्षिण चक्र के मार्ग में किया जाता है। यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (८.३.२७) में प्रतिपादित है। व्यापनशील परमेश्वर त्रिविक्रमावतार धारण करके इस विश्व का विभागशः क्रमण करते हैं। भूमि पर प्रथम पद, अन्तरिक्ष में द्वितीय तथा द्युलोक में तृतीय पद—इस प्रकार तीन पदों का निधान उन्होंने किया है। उनके पद में सम्पूर्ण विश्व अन्तर्भूत है।

आध्यात्मिक अर्थ की योजना इस प्रकार है—समस्त प्राणियों में निविष्ट विष्णु परमेश्वर ने त्रिविध पदों का स्थापन किया है। भूमि, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में अग्नि, वायु तथा आदित्य रूप से तीन ज्ञानसाधनों को निहित किया है। इन्हीं विष्णु का दूसरा

पममेतत्। पांसुले रजस्वले प्रदेशे यथा निहितं वस्तु नोपलभ्यते तद्वत्, 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्' ॥ (वा. सं. ६.५) इति मन्त्रवर्णात्। यद्वा विष्णुस्त्रिविक्रमावतारधारी इदं विश्वं विक्रान्तवान् त्रिप्रकारेण क्षित्यादिषु पदं निदधे स्थापितवान्। अस्य पांसुरे रजोयुक्ते पदे लोकत्रयं समूढं सम्मितमासीत्। स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'इदं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं जगत्, विष्णुर्यो वेवेष्टि चराचरं जगत् स ईश्वरो विविधं क्रान्तवान् क्राम्यति क्रमिष्यति वा। त्रेधा त्रिप्रकारं नितरां दधे निहितवान् दधाति धास्यति वा। पदं पद्यते गम्यते यत्तत् पदम्। समूढं सम्यगुह्यतेऽनुमीयते शब्द्यते यत् तत्। अस्य त्रिविधस्य जगतः पांसुरे पांसवो रेणवो रजांसि रमन्ते यस्मिन्नन्तरिक्षे तस्मिन् स्वाहा सुहुतम्' इति, तदपि न सम्यक्, क्रमते रचनार्थत्वाप्रसिद्धेः। 'क्रमु पादविक्षेपे' इति धातोर्विपूर्वकस्य सुतरां पादविक्षेपार्थत्वप्रसिद्धेः। पद्यते गम्यत इति व्युत्पत्त्यापि किं तत्पदनीयम्? यदि स्वरूपमेव, तदा स्वरूपस्य कथं त्रेधा निधानम्? यदपि 'परमेश्वरेण प्रथमं प्रकाशवत् सूर्यादि, द्वितीयं प्रकाशवत् पृथिव्यादि प्रसिद्धम्, यच्च तृतीयं परमाण्वाद्यदृश्यं सर्वमेतत् कारणावयवै रचयित्वाऽन्तरिक्षे स्थापितम्। तत्रौषध्यादि पृथिव्यामग्न्यादिकं सूर्ये परमाण्वादिकमाकाशे निहितम्। सर्वमेतत् प्राणानां शिरसि स्थापितवान्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृथिव्यादीनामपि पदनीयत्वाभावेन पदत्वायोगात्। यदुक्तम्— 'महीधरः प्रबुक्कति त्रिविक्रमावतारं कृत्वेत्यादिकम्' इति, तदपि घटादिकार्यपूर्ववर्तिपञ्चमान्यथासिद्धरेकणमेव, प्रतिज्ञामात्रेण वस्त्वसिद्धेः, परप्रत्यायनार्थं पञ्चावयवप्रयोगस्यापरिहार्यत्वात्, अत्र तथाप्रयोगाभावात्, सायणाचार्येणापि त्रिविक्रमावतारस्योक्तत्वात्, तस्य मन्त्रसिद्धत्वाच्च ॥१५॥

इरा॑वती धेनु॒मती॒ हि भू॒तꣳ सू॑यव॒सिनी॒ मन॑वे दश॒स्या। व्य॑स्कभ्ना॒ रोद॑सी विष्ण॒वे॒ते दा॒धर्थ॑ पृथि॒वीम॒भितो॑ म॒यूखैः॒ स्वाहा॑ ॥१६॥

'स्रुक्स्थाल्यौ प्रतिगृह्य प्रतिप्रस्थातोत्तरस्येरावती इति पूर्ववत्' (का. श्रौ. ८.३.३०)। अध्वर्युणा समर्पिते स्रुक्स्थाल्यौ प्रतिगृह्य उत्तरस्यानसो दक्षिणे चक्रमार्गे हिरण्यं निधाय इरावतीति चतुर्गृहीतं जुहुयात्। वैष्णवी त्रिष्टुप्, वशिष्ठ ऋषिः। हे रोदसी, द्यावापृथिव्यौ युवां मनवे मन्वानाय मनुष्याय यजमानाय इरावत्यौ अन्नवत्यौ। 'इरेत्यन्ननामसु पठितम्' (निघ. २.७.१२)। धेनुमती बहुप्रशस्तधेनुयुक्ते च भूतं भवतम्। तथा सूयवसिनी शोभनैर्यवसैरभ्यवहार्यै-

---

पद विज्ञानधनानन्द, अज, अद्वैत, अक्षरात्मक शास्त्राचार्यों के उपदेश से संस्कृत जनों के हृदय में उसी प्रकार निगूढ है, जैसे कि बालुकामय स्थान में रखी गई वस्तु अन्तर्हित हो जाती है। उस भगवान् विष्णु को हम अपने को समर्पित करते हैं।

मन्त्रार्थ—हे द्यावापृथिवी, तुम इस यजमान के कल्याणार्थ अन्न-जल वाली बहुत सी धेनुओं से युक्त, बहुत से उत्तम खाने के पदार्थ वाली, ज्ञानी यजमान के लिये यज्ञसाधनों को देनेवाली हो। हे सर्वव्यापी परमात्मन्! आप स्वर्ग और पृथ्वी को स्तंभित किये हुए हैं, पृथ्वी को अपने तेजःस्वरूप सूर्य-चन्द्र आदि के द्वारा सब ओर से धारण किये हुए हैं। उस विष्णु को हम यह आहुति देते हैं॥ आहवनीय अग्नि के ईशान कोण में रक्षित उत्तर हविर्धान (शकट) के दक्षिण चक्र-मार्ग में सुवर्ण रख कर यजमान स्रुवे और स्थाली को लेकर बार-बार आहुति दे॥१६॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.३.३०) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'इरावती धेनुमती' इस ऋचा से उत्तर शकट के दक्षिण चक्र के मार्ग में आज्य का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

र्घृतक्षीरादिभिरमृताद्यैश्च युक्ते दशस्या दशस्यौ अभिमतफलानां यज्ञसाधनानां वा दात्र्यौ भवतम्। 'दाशृ दाने' दशतोऽसुन्प्रत्यये औविभक्तेर्यादिशश्च। एवं महानुभावे एते रोदस्यौ हे विष्णो त्वं व्यस्कभ्ना विविधं स्कम्भितवानसि। तथा विशेषेण पृथिवीमभितः सर्वतः मयूखैर्मयूखवत् सन्ततैर्जीवैस्तेजोभिर्वा दाधर्थ धारयसि। 'दाधर्ति' (पा. सू. ७.४.६५) इति निपातः। तादृशाय तुभ्यमिदमुत्तरहविर्धानदक्षिणचक्रमार्गे हूयमानमन्त्रं स्वाहा सुहुतमस्तु।

शतपथे च—'चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा। प्रतिप्रस्थातोत्तरस्य हविर्धानस्य दक्षिणायां वर्तन्याᳫं हिरण्यं निधाय जुहोतीरावती धेनुमती... स्वाहेति सᳫंस्रवं पत्न्यै पाणावानयति साक्षस्य सन्तापमुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतमिति तद्यदेवं जुहोति' (श. ३.५.३.१४)। संस्रवमित्यादि पूर्ववत्। तद्यदेवं जुहोति यद् यदा एवं वर्त्मद्वये जुहोति, तत् तदा संस्रवं पत्न्याः पाणौ। 'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः' इत्यादिनाऽऽज्याञ्जनप्रशंसा। ननु वैष्णवीभ्यामृग्भ्यां कथं हविर्धानयोः सम्बन्ध इति चेत्तत्राह—'वैष्णवं हि हविर्धानम्' (श. ३.५.३.१५)। मन्त्रयोर्विष्णुदेवताकत्वेन हविर्धानयोर्विष्णुदेवताकत्वं युक्तमेव। 'शिर एवास्य हविर्धानम्' (श. ३.५.३.२) इत्यत्र यज्ञरूपस्य विष्णोः शिरो हविर्धानमुक्तम्। 'अथ यत्पत्न्यक्षस्य सन्तापमुपानक्ति' (श. ३.५.३.१६) इति सन्ताप्यमानस्याक्षस्योपाञ्जनं प्रजननोत्पादनम्। सन्तापेन श्रमरूपेण रेतस उत्पादद्वारा प्रजननसम्भवात् सन्तापोपाञ्जनकरणम्। उपाञ्जनस्य पराग्रूपतामपि प्रशंसति—'परागुपानक्ति पराग्घ्येव रेतः सिच्यते' (श. ३.५.३.१६) इति।

अध्यात्मपक्षे—हे विष्णो, इरावत्यौ विविधप्रशस्तभोग्यान्नवत्यौ बहुप्रशस्तधेनुमत्यौ सूयवसिन्यौ बहुविधाभ्यवहार्यैर्युक्ते रोदसी रोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ अभिमतफलदात्र्यौ व्यस्कभ्ना विविधं धारितवानसि। यथा पृथिवी व्रीहियवादिपूर्णा गवादिपशुपूर्णा सस्योपेता, तथैव द्यौरपि दिव्यामृतस्रक्चन्दनवनितादिभोगयुक्ता कामधेनुचिन्तामणिसमलङ्कृता कल्पवृक्षादियुक्तेति रोदस्योस्तत्तद्योग्यान्नादिमत्त्वेनेरावत्यादिविशेषणानां सूपपत्तिः। विशेषेण पृथिवीमभितः सर्वतो मयूखैर्मयूखवत्सन्ततैर्जीवैस्तेजोभिः प्रभावैः शक्तिभिर्वा दाधर्थ धारयसि। जीवा अपि कर्मानुष्ठानद्वारा रोदस्योर्धारण उपयुज्यन्ते, उभयोर्जीवानां कर्मफलत्वात्, परमेश्वरस्य सामर्थ्यरूपैः प्रभावैः शक्तिभिश्च सर्वस्य विधृतत्वाच्च। मयूखैः पर्वतैर्वा अभितः पृथिवीं धारयसि, तेषां धराधरत्वात्, भगवच्छक्त्युपबृंहितत्वात्, तत्रापि तन्मयूखोपपत्तेः। रोदस्योरन्नवृष्ट्यादिद्वारा देवत्वाद्दिव्यसामर्थ्येनाप्यभीष्टदातृत्वात् ते दशस्यौ।

दयानन्दस्तु—'यथा सूर्यः स्वकिरणैः स्वकान्तिभिः सर्वं भूम्यादिकं जगत् संस्तभ्याकृष्य धरति, तथैव परमेश्वरः प्राणो वा स्वसामर्थ्येन सर्वं प्राणादिकं जगद्रचयित्वा सन्धार्य व्यवस्थापयति' इति, तदप्यसङ्गतम्, किरणैः कान्तिभिश्च

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे विष्णुदेव, विविध तथा प्रशस्त भोग्य अन्नों से युक्त, विशिष्ट धेनुओं से युक्त, अनेकविध सस्यों से पूर्ण, अभिमत फलों को प्रदान करने वाले द्युलोक तथा पृथिवीलोक को आपने सन्धारित किया है। विशेषतः पृथिवी को किरणों की भाँति फैले जीवों से अथवा अपने प्रभाव से आप सर्वतः धारण करते हैं। जीवगण भी कर्मानुष्ठानों के माध्यम से द्युलोक एवं पृथिवी के धारण करने हेतु उपयुक्त किये जाते हैं। द्युलोक तथा पृथिवी का अन्न वृष्टि के प्रदान से देवमय है तथा दिव्य सामर्थ्य से भी अभीष्ट फल प्रदान करने के कारण वह 'दशस्य' शब्द से अभिहित है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ असंगत है, क्योंकि 'इरावती, धेनुमती' इत्यादि रोदसी के विशेषणों का भूमि तथा वाणी का बोधकत्व युक्त नहीं है। 'रोदसी' के धारण से ही समस्त विश्व का धारण उपपन्न हो जाने पर पृथिवी तथा वाणी की किरणों की कल्पना और उनके द्वारा सम्पूर्ण जगत् के धारण की कल्पना करना निरर्थक परिश्रम है। 'दशा' शब्द का दशन अथवा दन्त तथा जिह्वा अर्थ कैसे हो सकता है? यह सब स्वेच्छाचारिता मात्र है ॥१६॥

पृथिव्यादिधारकत्वे मानाभावात्। प्रकाशकत्वं तु सम्भवति तैः। मन्त्रे यथातथापदाभावाच्च दृष्टान्तासङ्गतिः। यदपि—'हे विष्णो, यस्त्वमिरावती धेनुमती सूयवसिनी भूमिर्वाग् वास्ति, तां भूमिं स्वाहा हि किल वाणीं भूतमुत्पन्नं सकलं जगच्च मयूखैरभितो दाधर्थ धरसि रोदसी व्यस्कभ्नाः प्रतिबध्नासि, तस्मे दशस्याय मनवे वयमेते च सर्वं जगन्निवेदयामो निवेदयन्तीत्येकः' इत्यप्यसङ्गतम्, इरावतीधेनुमतीत्यादीनां रोदसीविशेषणत्वेन भूमिवाचोर्बोधकत्वायोगात्। रोदस्योर्धारणेनैव सर्वधारणोपपत्तौ पृथिव्या वाण्याश्च मयूखकल्पनं तद्द्वारोत्पन्नसर्वजगद्धारणकल्पनमव्यापारेषु व्यापारायितमेव। 'वयमेते सर्वं जगन्निवेदयामो निवेदयन्ति' इत्यपि निर्मूलमेव। यत्तु 'दशास्य' इत्यत्र 'दशा इवाचरति तस्मै' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वेऽपि स्पष्टार्थानुक्तेः। प्रथमहिन्दीभाष्ये तु—'दन्तमध्यस्थजिह्वावदाचरणशीलाय तुभ्यम्' इत्युक्तम्, द्वितीये तु दशनवद् दन्तवच्चाचरणशीलायेत्युक्तम्, तद् द्वयमपि परस्परविरुद्धं निरर्थकम्। दशाशब्दस्य दशनं दन्ता जिह्वा चेति कथमर्थ इति सर्वमेतत् सर्वतन्त्रोच्छृङ्खलस्यैव शोभते ॥१६॥

देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्। स्वं गोष्ठमा वदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः ॥१७॥

'दक्षिणया द्वाराऽऽनीता पत्नी पाणिभ्याꣳ शेषं प्रतिगृह्याक्षधुरावनक्ति पराग्देवश्रुताविति' (का. श्रौ. ८. ३. २८)। प्रतिप्रस्थात्रा समानीता पत्नी होमशेषेणाज्येनाक्षस्योभावग्रभागावञ्ज्याद् देवश्रुताविति मन्त्रेण। हे हविर्द्धनि, देवश्रुतौ देवसभायां प्रसिद्धौ अक्षाग्रभागौ युवां यजमानोऽयं यक्ष्यतीति देवेष्वाघोषतमुच्चध्वनिना कथयतम्। 'प्राची प्रेतमिति वाचयति' (का. श्रौ. ८.४.३)। हविर्धानयोः शकटयोः प्रवर्त्यमानयोः प्राची प्रेतमिति मन्त्रं यजमानं वाचयेत्। हे उभे शकटे, युवां प्राची प्राङ्मुखे प्रेतं प्रकर्षेण गच्छतम्। कीदृशे युवाम्? अध्वरं कल्पयन्ती इदं कर्म फलजननसमर्थं कुर्वाणे। किञ्चोर्ध्वमुपरिवर्तिदेवान् प्रति यज्ञं नयतं प्रापयतम्, मा जिह्वरतं मा कुटिले भवतम्। 'ह्वृ कौटिल्ये' इति धातोः, यद्वा 'ह्वल चलने' इति धातो रूपम्, चलनं भ्रंशं मा कुरुतम्। 'स्वं गोष्ठमिति च खर्जतीति' (का. श्रौ. ८.४.४)। हविर्धानयोरनसोः प्रवर्त्यमानयोः प्रमादात् खर्जति चक्रसंघर्षजं ध्वनिं कुर्वति सति स्वं गोष्ठमिति मन्त्रं वाचयेदिति तत्प्रायश्चित्तम्। अक्षशब्दाभावे तु नेदं वाचनम्। 'गृहा वै दुर्याः' (श. ३.५.३.१८) इति श्रुतेर्दुर्येशब्देन गृहसदृशे शकटे लक्ष्येते। हे देवी हविर्धाने दुर्ये गृहसदृशशकटद्वयरूपे देवते, स्वं गोष्ठं यजमानस्य स्वकीयं वा स्थानमावदतं सर्वतः कथयतम्। हे दुर्येषु गृहेषु साधुरूपे हविर्धाने वा, योऽयमक्षशब्दस्तेन यजमानस्य गृहं यथा बहूनां गवां स्थानं भवति, तथा कथयतम्, युवाभ्यामुच्चारितं तथैव स्यादिति। यजमानस्य पशवः समृद्धाः स्युरिति ब्रूतमित्यर्थः। किञ्च, आयुर्मा

मन्त्रार्थ—हे अक्षधुरों! तुम देवसभा में प्रसिद्ध हो, देवताओं से उच्च स्वर में कहो कि यजमान यज्ञ करता है। हे शकट! यज्ञ का समर्थन करते हुए पूर्वमुख जाओ, यज्ञ को ऊर्ध्वलोकवासी देवताओं के समीप ले जाओ, कुटिल मत बनो। हे गृहसमान शकटरूप देवताओं! अपने गोष्ठ को सब ओर से कहो कि वे यजमान की आयु को पशु-पुत्र आदि से सम्पन्न बनावें, उसके प्रति दुर्भावना न रखें। आप सब लोग पृथ्वी के इस देवयजनरूप स्थान में क्रीड़ा करें ॥१७॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.३-५) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देवश्रुतौ देवेषु' इस कण्डिका के मन्त्रों से शकटों के चलने के समय यजमान द्वारा वाचन तथा अभिमन्त्रण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट है।

निर्वादिष्टं यजमानस्य यावदायुरस्ति तावत्सर्वं मा निराकार्ष्टम्। वदतेर्लुङि मध्यमपुरुषद्विवचने रूपम्। यद्वा निः कुत्सायाम्। निकृष्टं पशुधनादिरहितमायुर्मा उच्चारयतम्। प्रजां च निकृष्टां निरंशां मा निर्वादिष्टं मा उच्चारयतम्, अर्थाद् युवाभ्यामुच्चारितं तथैव स्यादित्यभिप्रायः। यजमानाय प्रजां पुत्रादिरूपां मा निराकार्ष्टं वा। अनेनाक्षशब्देनायुःप्रजयोर्निराकरणं मा भूत्। उभयबद्धो योऽक्षः, स दुष्टवाग् वरुणदेवरूपः। 'वरुणो वा एष दुर्वागुभयतोबद्धो यदक्षः' (श. ३.५.३.१९)। तस्मात् शापरूपदुर्वाक्यपरिहारायाशीर्वादरूपं सुवाक्यमनेन मन्त्रेण प्रार्थ्यते, 'सुवाग्देव दुर्य आवद' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेषु मत्या वा नभ्यस्थेऽभिमन्त्रयतेऽत्र रमेथामिति' (का. श्रौ. ८.४.५)। अनभ्यस्थप्रवर्तनं परित्यज्य स्थापिते शकटे उभे अभिमन्त्रयेत। कुत्र स्थापिते ? इति चेदुच्यते—पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेष्वित्येकः पक्षः, मत्या चेत्यपरः पक्षः। यत्र स्थापनीये इति स्वस्य मतिस्तत्रेत्यर्थः। शेषं सूत्रं तूपरिष्टाद् व्याख्यास्यते। हे शकटे, पृथिव्या वर्ष्मन् वर्ष्मणि भूमेः शरीरभूतेऽत्रास्मिन् देवयजने युवां रमेथां क्रीडां कुरुतम्। 'वर्ष्मन्' इत्यत्र 'सुपां सुलुक्' (पा. सू. ७.१.३९) इति सुपो लुकि, 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (पा. सू. ८.२.८) इति नलोपाभावः। देवयजनस्य भूमेः शरीरत्वं तु—'वर्ष्म ह्येतत् पृथिव्या यद्देवयजनम्' इति।

शतपथे च—'अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा। उपनिष्क्रामति दक्षिणया द्वारा पत्नीं निष्क्रामयन्ति स दक्षिणस्य हविर्धानस्य दक्षिणायां वर्तन्याᳪ हिरण्यं निधाय जुहोतीदं विष्णुर्विचक्रमे - - - स्वाहेति संस्रवं पत्न्यै पाणावानयति साक्षस्य सन्तापमुपानक्ति देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतमिति प्रयच्छति प्रतिप्रस्थात्रे स्रुचं चाज्यविलापनीं च पर्याणयन्ति पत्नीमुभौ जघनेनाग्नी' (श. ३.५.३.१३)। दक्षिणहविर्धानशकटवर्त्मनि होत्रार्थमन्यच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा प्राचीनवंशादुपनिष्क्रामेत् पत्नीं चाक्षधुराभ्यञ्जनाय दक्षिणया द्वारा निष्क्रामयेत्। सोऽध्वर्युर्दक्षिणस्य हविर्धानस्य शकटस्य दक्षिणचक्ररेखायां हिरण्यं निधाय जुहुयात् संस्रवं जुहूलिप्तम्। सा पत्नी संस्रवेण आज्येन अक्षस्य सन्तापं सन्तप्यते चक्रसङ्घर्षेणेति सन्तापश्चक्रवलयसंस्पर्शप्रदेशः, तं चक्रद्वय उपानक्ति। अनुलोमाञ्जनं कुर्यान्न प्रतिलोमम्। पुनः पाणिमावर्तयेत्। 'पत्नी पाणिभ्यां शेषं प्रतिगृह्याक्षधुरावनक्ति पराग् देवश्रुताविति' (का. श्रौ. ८.३.२८)। शालाया दक्षिणेन द्वारेणाध्वर्युणानीता पत्नी प्रागगतं हस्तं प्रत्यगनया कर्षन्ती उभाभ्यां हस्ताभ्यां चतुर्गृहीतस्य हुतशेषं प्रतिगृह्य अक्षस्य धुरौ पराग् अनभ्यावृत्तम् उत्तानेन दक्षिणेन हस्तेन देवश्रुताविति मन्त्रेणाज्यादुदक्संस्थम्। 'न च हस्तमावर्तयति' (११.६) इत्यापस्तम्बः। युगपदुभयोर्धुरोरञ्जनं न पृथक्, देवश्रुताविति मन्त्रस्य द्विवचनान्तत्वात्।

'अथ वाचयति। प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती इत्यध्वरो वै यज्ञः प्राची प्रेतं यज्ञं कल्पयन्ती इत्येवैतदाहोर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतमित्यूर्ध्वमिमं यज्ञं देवलोकं नयतमित्येवैतदाह मा जिह्वरतमिति तदेतदस्मा अह्वलामाशास्ते समुदृह्येव प्रवर्तयेयुर्यथा नोत्सर्जेतामसुर्या वा एषा वाग् याऽक्षे नेदिहासुर्या वाग्वदादिति यद्युत्सर्जेताम्' (श. ३.५.३.१७)। प्रैषानन्तरं हविर्धानयोः प्रवर्तनकाले वाचयति प्राची प्रेतमिति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। 'अध्वरो वै यज्ञः, ध्वरतिर्हिंसाकर्मा' (निरु. १.८)। हिंसा नास्तीत्यध्वरः स यज्ञः। 'या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ'॥ (म. ५.४४)। मा जिह्वरतमित्यस्याभिप्रायमाह—अह्वलामाशास्त इति। समुदृह्येव प्रवर्तयेयुः शकटम्, तस्य व्याख्यानम्- यथा नोत्सर्जेतामिति। यथाऽत्यन्तनिघर्षेण दुष्टध्वनिविसर्गो न स्यात्तथा प्रवर्तयेयुरित्यर्थः। अक्षध्वनेः श्रवणकटुत्वादसुर्यत्वम्। तदाह—असुर्या वा एषा वाग् याऽक्ष इति। 'एतद्वाचयेत्। स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां वा निर्वादिष्टमिति तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः' (श. ३.५.३.१८)। प्रमादाद् ध्वन्युत्पत्तौ स्वं गोष्ठमिति मन्त्रं वाचयेत्। यजमानस्य गोष्ठं गवां स्थानमावदतं सर्वतः शब्दयतम्, समृद्धं स्यादिति ब्रूतम्। आयुरस्मदायुः प्रजां

च पुत्रादिरूपां मा निर्बाधिष्टमिति सायणाचार्यः। मूले तु निर्वादिष्टमित्येव पाठः, तस्यैवायमर्थः। तस्यासुर्यस्य ध्वनेरियं प्रायश्चित्तिः।

केषाञ्चिद्रीत्या उत्तरवेदेः पश्चात् सञ्चाराद् विक्रमत्रयं परित्यज्य यत्र देशे तयोः स्थापनं भवति, सा हविर्धानयोर्मात्रा स्थापनदेशप्रमाणम्। स्वपक्षे तु नात्र मात्रास्ति। यत्रैव स्वयं मनसा मन्येत, तत्राप्यतिदूरं च विसृज्य मध्ये स्थापयेदिति तत्रैव शतपथे (३.५.३.१९) कण्डिकायामुक्तम्। 'ते अभिमन्त्रयते। अत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्या इति वर्ष्म ह्येतत् पृथिव्यै भवति दिवि ह्यस्याहवनीयो भवति नभ्यस्थे करोति तद्धि क्षेमस्य रूपम्' (श. ३.५.३.२०)। स्थापनान्तरं हविर्धानेऽभि-मन्त्रयेत—अत्र रमेथामिति मन्त्रेण। पृथिव्या वर्ष्मणि शरीरेऽत्र देशे हे हविर्धाने, रमेथां रतिं कुरुतम्। दिवि ह्यस्येति तत्र हेतुः। यस्मादुत्तरवेदिरूप आहवनीयो द्युलोकस्थानीयोऽतस्तदधोवर्तिदेशस्य पृथिवीशरीरत्वं युज्यते। नभ्यस्थे यथा नाभ्याधारफलके भूमिष्ठे भवतस्तथा कुर्यात्। 'नाभि नभं च' (पा. सू. ५.१.२) इति नाभिशब्दस्य यत्प्रत्ययप्रयोगे नभादेशः। उत्तरत्र प्रदेशस्य भूस्पर्शे भ्रंशः कदाचिद्भवेत्, अत एव क्षेमस्य रूपं भवति। तदुक्तं कात्यायनेनापि—'पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेषु मत्या वा नभ्यस्थेऽभिमन्त्रयतेऽत्र रमेथामिति' (का. श्रौ. ८.४.५)। अयमभिप्रायः—नाभौ भवं नभ्यं चक्रं तत्र फलकत्रयं भवति। तत्र यन्मध्यमं फलकं तन्नभ्यस्थमित्युच्यते। उत्तरवेदिर्वक्ष्यते। यत्र प्रणीत आहवनीयोऽग्निः स्थाप्यते, तस्याः पश्चाद् द्विपदात्मकं प्रक्रमत्रयं परित्यज्य तत्र स्वमतिपरिकल्पिते देशे वा नातिदूरे नातिसमीपे द्वे अपि अनसी युगपत्स्थापिते भवतः। तत्र तन्नभ्यस्थमेकैकस्यापि शकटस्य यथा भवेत्, तथा शकटद्वयं स्थापयित्वाऽभिमन्त्रयेत। इदानीं तथाविधं चक्रमनो वा न प्रचलति, यादृशं सूत्रकृता व्याख्यातृभिर्वाभिप्रेतमिति वृत्तिकृत्। एवं श्रुतिसूत्रसम्मतमेव पूर्वोक्तव्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे तु — हे देवश्रुतौ प्रकृतिपुरुषौ उमामहेश्वरौ लक्ष्मीनारायणौ सीतारामौ राधाकृष्णौ वा, युवां देवेष्वग्नीन्द्रादिषु-देवश्रुतौ देवत्वेन जगन्नाटकसूत्रधारत्वेन जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलाकर्तृत्वेन वा श्रुतौ विश्रुतौ प्रसिद्धौ युवां शरणागतरक्षकौ इत्यभयवाच आघोषयतम् उच्चध्वनिना कथयतम्। युवां प्राचीनभक्तानामाभिमुख्येन प्रागञ्चतः प्राङ्मुखौ प्रेतं प्रकर्षेण गच्छतम्। स्त्रीत्वं छान्दसम्। कीदृशौ युवाम्? अध्वरं वैदिकहिंसारहितं यज्ञं कल्पयन्ती कल्पयन्तौ फलजननसमर्थं कुर्वाणौ यज्ञं चोर्ध्वमुपरिवर्तिदेवान् प्रापयतम्, अग्निमन्त्रशक्त्यादिरूपेण तयोरेव हविर्भुग्भ्यो हविःप्रापकत्वात्। हे शरणागतवत्सलौ, कथञ्चित् प्रमादेन बहिर्मुखान् दुश्चरितानप्यस्मान् भक्तान् प्रति मा जिह्वरतं कुटिलौ प्रतिकूलौ मा भवतम्। हे देवी, हे देवौ विविधक्रीडापरायणौ, युवां दुर्ये गृहरूपौ भक्तानामाश्रयभूतौ। भक्तानां स्वं स्वीयं गोष्ठं गवां त्वदाराधनार्थं दधिदुग्धघृतादिसाधनानां धेनूनां स्थानं व्रजम्, अथवा गवां वाचामिन्द्रियाणां च स्थानं शरीरं सर्वतः कथयतम्, समृद्धमिति शेषः। युवयोः सत्यसङ्कल्पत्वेनामोघवाक्त्वेन च युवाभ्यामुच्चारितस्य क्रिया-

---

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे प्रकृति-पुरुष, उमामहेश्वर, लक्ष्मीनारायण, सीताराम अथवा राधाकृष्ण! आप दोनों अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं में जगन्नाटक के सूत्रधार के रूप में अथवा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय की लीला करने वाले के रूप में प्रसिद्ध हैं। आप शरणागत के रक्षक हैं, अतः अभय वाणी का उद्घोष करें। आप प्राचीन भक्तों के अभिमुख आगमन करें। वैदिक हिंसारहित यज्ञ को फलप्रद बनाते हुए उसको उपरि लोकों में स्थित देवताओं तक प्राप्त करावें। हे शरणागतवत्सल, प्रमाद से बहिर्मुख वृत्तिवाले हमारे दुश्चरित होने पर भी हम लोगों के प्रतिकूल न हों। हे विविध क्रीडा करने वाले, आप दोनों भक्तों के आश्रयस्थल हैं, भक्तों को अपनी आराधना के साधनों के स्थल अथवा वाणी तथा इन्द्रियों के स्थान शरीर की समृद्धि निर्दिष्ट करें। हमारी देव, ऋषि आदि से सम्मत आयु को विच्छिन्न न करें। पुत्रादि प्रजाओं को बाधित न होने दें तथा हे देवों, भूमि के शरीररूपी देवयजनस्थान हमारे हृदय में आप क्रीडा करें।

फलाश्रयत्वोपपत्तेः। किञ्च, नोऽस्माकमायुर्देवर्ष्यादिसम्मतमायुः, निर्वादिष्टं मा बाधिष्टं मा निराकार्ष्टम्। त्वदुपासनासहकारि पुत्रादिरूपां प्रजां च मा निराकार्ष्टम्। हे देवेषु देवश्रुतौ, पृथिव्या भूमेर्वर्ष्मणि शरीरभूते देवयजनेऽस्मद्धृदये रमेथां क्रीडां कुरुतमिति।

स्वामिदयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यथा यो देवेषु देवश्रुतौ घोषतं व्यक्तं शब्दं कुरुते, यः प्राचीं कल्पयत्यध्वरं यज्ञं प्रेतं प्रेत आनयतं नयतस्ते च रोदसी यथा मा जिह्वरतं कुटिले न भवेतां तथा कुरुतम्। ये देवी दुर्ये स्वं गोष्ठं समन्तात् प्राप्नुतस्ताभ्यां कस्याप्यायुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टं विनष्टां मा कुरुतम्। पृथिव्यामन्तरिक्षस्य मध्यवर्ष्मणि जगति रमेथां तथानुतिष्ठतम्' इति। भावार्थस्तु—'मनुष्यैर्यावज्जगदन्तरिक्षस्य मध्ये वर्तते, तावता सर्वेण बहूनि सुखानि सम्पादनीयानि' इति, तत्सर्वमपि स्वाभ्यूहितमात्रम्, पदार्थासङ्गतेः। यदुक्तम्—'देवश्रुतौ यथा दिव्यविद्याश्रुतौ विद्वांसौ' इति, तदप्यसङ्गतम्, मूले यथापदाभावात्, लुप्तोपमालङ्काराश्रयणे मानाभावात्। देवपदेन दिव्यविद्याग्रहणमपि निर्मूलम्, 'देवेषु विद्वत्सु दिव्यगुणेषु वा' इत्यप्यसङ्गतम्, मनुष्यादिवद् देवजातेः साधितत्वेन देवपदेन तदतिरिक्तग्रहणे मानाभावात्। कथञ्चित्तदङ्गीकारेऽपि त्वद्रीत्या जडाभ्यां ताभ्यां कः कथं प्रकृष्टमञ्चति? तथात्वे वा सर्वोऽपि तथैव प्रकृष्टमञ्चेत्, देशाकाशयोः साधारणकारणत्वेन विशिष्टहेतुत्वानुपपत्तेश्च। कथं च तयोरहिंसनीयकल्पकत्वम्? कथं वा तयोरुत्कृष्ट-विज्ञानशिल्पसङ्गमनीयप्रापकत्वम्? यज्ञपदस्य विज्ञानशिल्पगमनीयमर्थ इत्यपि प्रमाणापेक्षम्। तयोः कौटल्यमपि कथं सम्भाव्यते? यदि प्रकृतिजं कौटल्यं तदा कथं त्वदुक्त्या तन्निरोधः? अप्राप्तौ च निषेधायोगः। 'देवी दिव्यगुणसम्पन्ने' इत्यप्यसङ्गतम्, प्रमाणानुपलम्भात्। 'दुर्ये गृहस्वरूपे' इत्यपि निर्मूलम्। स्वं गोष्ठं गवां स्थानं किं कथं च ते तत्प्राप्स्यतः? वर्ष्मन् सुखवृष्टियुक्ते पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये रमेथामिति कयोर्नियोगः सम्भवति? वर्ष्मन्नित्यस्य सुखवृष्ट्युपेतार्थत्वे मानाभावश्च। हिन्द्यां तु 'स्वं गोष्ठं किरणानामवयवानां च स्थानस्य आवदतमुपदेशनिमित्तकत्वमस्तु' इत्युक्तम्, तदपि निरर्थकं निष्प्रमाणं च। हिन्दीव्याख्यानमपि न संस्कृतव्याख्यानमनुसरति ॥१७॥

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांꣳसि। यो अस्कभायदुत्तरꣳ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ॥१८॥

'उत्तरेण परिक्रम्य दक्षिणमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नुकमिति' (का. श्रौ. ८.४.६)। अध्वर्युर्द्वयोरप्यनसोरुत्तरेण परिक्रम्य दक्षिणमनो निरुणद्धि। शकटाग्रं (यत्र युगं बध्यते) वोढुमुपस्तम्भनकाष्ठस्योपरि स्थापयेदित्यर्थः। तिस्रो वैष्णव्यस्त्रिष्टुभः। द्वयोरन्ते विष्णवे त्वेति यजुः। 'नु' 'कम्' इत्यवधारणार्थको निपातसमुदायः। विष्णोर्व्यापनशीलस्य त्रिविक्रमावतारस्य

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित मन्त्रार्थ तथा भावार्थ पदों के अर्थ की संगति न होने के कारण स्वेच्छाकृत है। देवपद से दिव्य विद्या अर्थ ग्रहण करना मूलरहित है। 'दुर्ये' का अर्थ 'गृहरूपवाली' करना भी निर्मूल है। हिन्दी व्याख्या भी संस्कृत व्याख्या से सम्बद्ध नहीं है ॥१७॥

मन्त्रार्थ—मैं सर्वव्यापी भगवान् विष्णु के किन-किन कर्मों का गुणगान करूँ, अर्थात् परमात्मा की क्या स्तुति करूँ, उनकी तो महिमा अपार है। उस परमात्मा ने भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्गसम्बन्धी ज्योतियों को रचा है। जो परमात्मा तीन लोक में अग्नि, वायु और सूर्य के रूप से तीन पद धारण करता हुआ महात्माओं से गाया गया है, उसने ऊपर के देवताओं के स्थानरूप द्युलोक को स्तम्भित किया है। हे स्थूण काष्ठ! विष्णु देव की प्रसन्नता के लिये मैं तुमको गाड़ता हूँ॥ अध्वर्यु दोनों हविर्धानों (शकटों) को उत्तर की ओर से परिक्रमण कर दक्षिण हविर्धान को इस मन्त्र से स्तम्भ पर खड़ा करे और अग्निकोण में स्थूण गाड़े॥१८॥

वा कर्माणि प्रपञ्चोत्पत्त्यादिलक्षणानि प्रवोचं प्रब्रवीमि। कथंभूतस्य विष्णोरिति तत्राह—यो विष्णुः पार्थिवानि रजांसि परमाणून् पृथिव्यन्तरिक्षादिलोकान् वा, 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु. ४.१९), विममे निर्मितवान् परिगणितवांश्च। पुनरपि कथंभूतस्य? यो विष्णुरुत्तरमुपरितनं सधस्थं देवानां सहवासस्थानं सह देवास्तिष्ठन्ति यस्मिंस्तत् सधस्थम्, 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (पा. सू. ३.६.९६) इति सहस्य सधादेशः। द्युलोकरूपमस्कभायद् यथा द्यौर्न पतति तथा स्तम्भितवान्। 'स्कम्भ रोधने' 'क्र्यादिभ्यः श्नः' (पा. सू.३.१.८३) इत्यत्र हेरनुवृत्तौ 'छन्दसि शायजपि' (पा. सू. ३.१.८४) इत्यनेन शायजादेशः। यद्यपि हौपरे श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशो विहितो नास्ति, तथापि व्यत्ययेन लट्यपि श्नः शायजादेशः। पुनरपि कथंभूतस्य? यस्त्रिधा विचक्रमाणस्त्रिषु लोकेषु पदत्रयं निदधौ। उरुगाय उरुभिर्महात्मभिर्गीयत इत्युरुगायः, उरुधा बहुविधं वा गीयत इत्युरुगाय उरुगमनो वा। 'दक्षिणतः स्थूणामुपनिहन्ति विष्णवे त्वेति' (का. श्रौ. ८.४.७)। हे स्थूणे काष्ठ, विष्णवे हविर्धानशकटाभिमानिविष्णुप्रीत्यर्थं त्वां निहन्मि, निखनामीति शेषः।

शतपथे च—'अथोत्तरेण पर्येत्याध्वर्युर्दक्षिणꣳ हविर्धानमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नुकं - - - विष्णवे त्वेति मेथीमुपनिहन्तीतरतस्ततो यदु च मानुषे' (श. ३.५.३.२१)। अथोत्तरेणेति। दक्षिणहविर्धानस्योत्तरतः परीत्य पुरोदेशं गत्वा दक्षिणं हविर्धानमुपस्तभ्नाति। यथाऽधो न पतेत् तथोपरतम्भनकाष्ठे स्थापयेत्। मन्त्रार्थस्तूक्तः।

विष्णवे त्वेति। हे मेथीस्तम्भ, विष्णवे हविर्धानशकटाय त्वा उपहन्मीत्यर्थः। कुत्र निहन्यादिति तत्राह—इतरतस्ततो यदु च मानुष इति। मानुषे शकटधारणे यत्स्थानमीषाग्रेतरभागस्तदुत्तरत्र मेथीं निहन्यादित्यर्थः। 'उत्तरतः स्थूणां पूर्ववत्, उभे वा दक्षिणतः, इतरतस्ततः, यदु च मानुष इति श्रुतेरिति' (का. श्रौ. ८.४.९-१२)। मण्डपस्योत्तरतो हविर्धानयोः पश्चिमेन गत्वा हविर्धानशकटस्योत्तरपूर्वकोणेऽध्वर्युरेव विष्णवे त्वेति स्थूणामुपनिहन्यात्, अथवा उभे स्थूणाहविर्धानस्य दक्षिणपार्श्वे एवाध्वर्युर्निहन्यात्। ततोऽनन्तरं ययोः कोणयोः पूर्वनिखाते ततोऽन्ययोः कोणयोरेकैकामुपनिहन्यात्। यदि प्रथममंशयोर्निखाते तदा श्रोण्योः, यदि प्रथमं दक्षिणतस्तत उत्तरत इति चतस्रोऽपि स्थूणा दाक्षिण्येनोपहताः स्युरिति। यच्च मानुषे लोकविषयेऽनसः प्रसिद्धमुपरि वलकानिधानबन्धनाधिकस्थूणानिखननादि यच्च दशारत्निपरिमितहविर्धाननिष्पादने वलकानिधानादि प्राप्नोति, तदपि दृढीकरणार्थं कुर्यात्।

अध्यात्मपक्षे तु—यः कश्चन लोकोत्तरः पार्थिवानि रजांसि पार्थिवपरमाणून् विविधतया विममे परिगणयति, सोऽपि विष्णोः श्रीमन्नारायणस्य वीर्याणि रामकृष्णादिरूपेणाचरितानि पराक्रमबहुलानि सुखरूपाणि कर्माणि, नु वितर्के, किं परिगणयितुं शक्नोति? न शक्नोतीत्यर्थः। 'विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि' (भा. पु. २. ७. ४०), 'काले यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः' इत्यार्षभाष्यरूपपुराणवचनात्। य उत्तरमुपरितनं सधस्थं देवानां सहस्थानं द्युलोकाख्यमस्कभायत स्कम्भितवान्, स एव उरुगाय उरुभिरपरिगणितैः कविभिरुरुधा बहुधा गीयते। त्रिविक्रमो भगवान् विश्वं विचक्रमाणस्त्रेधा भुवि दिव्यन्तरिक्षेषु पदत्रयं निदधाति। किमर्थम्? विष्णवे यज्ञाय यज्ञस्य रक्षणाय। अन्यथाऽसुरायत्ते संसारे यज्ञा लुप्येरन्। तादृशं त्वां परमात्मानमहं संश्रय इति

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.६-७, ९-१२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'विष्णोर्नुकम्' इस कण्डिका के मन्त्रों से दक्षिण शकट का प्रतिष्ठापन तथा स्थूणास्तम्भ का निखनन (गाड़ना) किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—जो कोई लोकोत्तर पार्थिव परमाणुओं को परिगणित करता है, वह भी श्रीमन्नारायण विष्णु के राम-कृष्णादि रूपों से पराक्रम वाले सुखरूप कर्मों को क्या गिन सकता है? अर्थात् नहीं गिन सकता। जिसने ऊपर के

शेषः। अथवा तादृशाय विष्णवे व्यापनशीलाय परमात्मने त्वदर्थमेव त्वां वयं भजाम इति शेषः, भगवद्भजनस्य भगवदर्थत्वोपपत्तेः, 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥' (भ. गी. ९.२७) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'विष्णोः परमेश्वरस्य नु शीघ्रं कं सुखरूपं वीर्याणि प्रकथयेयम्, यः पार्थिवानि पृथिव्या विकारान् अन्तरिक्षे विहितानि विममे विविधतया मिमीते, रजांसि लोकाः, यः सर्वाधारोऽस्कभायत प्रतिबध्नाति, उत्तरमन्तावयवं सधस्थं यत् सह तिष्ठति तत् कारणं संगृह्य विचक्रमाणो यथायोग्यं जगद्रचनाय कारणपादान् प्रक्षिपन् त्रेधा त्रिप्रकाराणि, उरुगायो यो बहूनर्थान् वेदद्वारा गायत्युपदिशति सः, विष्णवे व्यापनशीलाय यज्ञाय त्वा तं परमेश्वरं जानीथ' इति। अन्वये तु—'यस्य वीर्याणि विद्वांसो वदन्ति, यं सर्वे संश्रयन्ते, तं देवमहं प्रवोचं नु शीघ्रमाश्रये, तं जानीथ' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, अध्याहारबाहुल्यात्, सरलव्याख्यानमपहाय द्रविडप्राणायामाश्रयणाच्च। यच्च 'सह तिष्ठति यत्तत्कारणं संगृह्य विचक्रमाणो जगद्रचनाय कारणपादान् प्रक्षिपन्' इत्युक्तम्, तदसङ्गतम्, सत्कार्यवादे कारणात्मकस्य कार्यस्य कारणाभिन्नत्वात् तत्सहभावानुपपत्तेः। असत्कार्यवादस्त्वनुपपन्न एव, तन्त्वादिकारणभेदेन पटादिकार्यानिरूपणात्, प्रक्षेपस्य नियोगार्थत्वानुपपत्तेश्च, कारणेषु पदत्वानुपपत्तेश्च। यत्तु हिन्द्याम्—'कारणस्यांशान् योजयति' इत्युक्तम्, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, प्रत्यक्षश्रुतस्य विष्णोरित्यस्य सम्बन्धमपहाय कारणपदस्यान्वेषणस्योपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनायाः सदोषत्वेनानौचित्यात्। 'पृथिव्या गुणैरुत्पन्ना विकाराः' इत्यप्ययुक्तम्, गुणानां द्रव्यानुत्पादकत्वात्। 'पाश्चात्यैरवयवैः सहभावीनि कारणानि रुरोध' इत्यप्यनर्थः, पाश्चात्यपौरस्त्ययोः कालभेदेन सहभावाभावात्॥१८॥

दि॒वो वा॑ विष्ण उ॒त वा॑ पृथि॒व्या म॒हो वा॑ विष्ण उ॒रोर॒न्तरि॑क्षात्। उ॒भा हि हस्ता॒ वसु॑ना पृ॒णस्वा॒ प्रय॑च्छ॒ दक्षि॑णा॒दोत स॒व्याद्विष्ण॑वे त्वा ॥१९॥

'दिवो वेत्युत्तरं प्रतिप्रस्थातोत्तरतः स्थूणां पूर्ववदिति' (का. श्रौ. ८.४.८-९)। यथाध्वर्युर्दक्षिणशकटं मन्त्रेणोपष्टभ्य विष्णवे त्वेति स्थूणां निखातवान्, एवं प्रतिप्रस्थातोत्तरशकटे कुर्यात्। हे विष्णो, दिवो द्युलोकाद्वा पृथिव्या भूर्लोकाद्वा उरोर्विस्तीर्णादन्तरिक्षलोकाद्वा समानीतेन वसुना द्रव्येण उभा हि हस्ता उभावपि स्वकीयौ हस्तौ पृणस्व पूरयस्व।

देवों के निवास द्युलोक को स्थिर रखा है, वही ऋषियों द्वारा बहुधा प्रशंसित त्रिविक्रम भगवान् यज्ञ के रक्षणार्थ विश्व को व्याप्त करते हुए भूलोक, द्युलोक तथा अन्तरिक्ष में अपने तीन पादों को स्थापित करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ तथा अन्वय दोनों ही अध्याहारों की अधिकता के कारण उचित नहीं हैं। सरल व्याख्या को छोड़ कर द्रविड़ प्राणायाम का आश्रय युक्तियुक्त नहीं होता। 'जगत् की रचना के लिये कारणभूत पादों को स्थापित करते हुए' यह कहना असंगत है, क्योंकि सत्कार्यवाद में कारणात्मक कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। अतः दोनों का एक साथ रहना असिद्ध नहीं है। असत्कार्यवाद तो असिद्ध है ही। हिन्दी अर्थ में भी 'पृथिवी के गुणों से उत्पन्न विकार' यह कहना अनुचित है, क्योंकि गुण द्रव्यों के उत्पादक नहीं होते ॥१८॥

मन्त्रार्थ—हे सर्वव्यापी परमात्मा! आप स्वर्गलोक से, पृथ्वीलोक से और विस्तीर्ण अन्तरिक्षलोक से भी धन लाकर हमारे दोनों हाथ भर दो, धन से भरे दाहिने या बाएँ हाथ से अनेक प्रकार के धनरत्न लाकर हमें दो। हे काष्ठस्तम्भ! विष्णुदेव की प्रीति के लिये मैं तुमको गाड़ता हूँ॥ इस मन्त्र से प्रतिप्रस्थाता उत्तर में शकट को खड़ा करता हुआ भूमि का खनन कर पूर्ववत् स्तम्भ को गाड़े ॥१९॥

ततो धनपूर्णाद्दक्षिणाद् आ उत सव्याच्च हस्तात् प्रयच्छ बहुकृत्व आवृत्या प्रकृष्टं मणिमुक्तादिधनमस्मभ्यं देहि। तृतीयया व्यत्ययेन वा दक्षिणेन, अपि च सव्येन हस्तेन उभाभ्यां हस्ताभ्यामौदार्येण प्रयच्छ। हे स्थूणे, विष्णवे विष्णुप्रीत्यर्थं त्वा निहन्मि।

शतपथे च—'अथ प्रतिप्रस्थाता। उत्तरꣳ हविर्धानमुपस्तभ्नाति दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्। उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वेति मेथीमुपनिहन्तीतरतस्ततो यदु च मानषे तद्यद्वैष्णवैर्यजुर्भिरुपचरन्ति वैष्णवꣳ हि हविर्धानम्' (श. ३.५.३.२२) इति पूर्वोक्त एवार्थः समर्थ्यते।

अध्यात्मपक्षे तु—हे विष्णो व्यापनशील परमेश्वर, दिवो वा पृथिव्या वा महत उरोरन्तरिक्षात् समानीतेन वसुना धनेन उभौ हस्तौ करौ आपृणस्व पूरयस्व। दक्षिणात् सव्याच्च हस्ताद् धनमभीष्टं प्रयच्छ। विष्णवे विष्णुप्रीत्यर्थमेव त्वा त्वां वयं भजामः। यद्वा हे विष्णो व्यापनशील व्यापकविष्णोरंशभूत जीवात्मन्, तपस्यया उपासनया दिवो द्युलोकात् पृथिव्या उरोर्विस्तीर्णादन्तरिक्षादानीतेन वसुना उभौ हस्तौ आपृणस्व पूरयस्व, दक्षिणात् सव्याच्च हस्तात् प्रयच्छ। विष्णवे विष्णुप्रीत्यर्थम्। अत्र विष्णुपदं परमेश्वरपरम्।

दयानन्दस्तु—'हे विष्णो, त्वं कृपयाऽस्मान् दिवः प्रसिद्धादग्नेर्विद्युतो वा उभौ हस्तौ बलवीर्यौ वसुनाऽऽपृणस्व सुखानि प्रयच्छ, प्रीणीहि प्रीणय। दक्षिणाद् दक्षिणपार्श्वाद् आ अभितः, उत च सव्याद् वामपार्श्वात् पृथिव्याः सकाशादुत्पन्नेभ्यः पदार्थेभ्यः, महो महत्तत्त्वाच्चाव्यक्तादुतोरोरन्तरिक्षाद् वा वसुना द्यां पृणस्व तं त्वां विष्णवे यज्ञाय वयमर्चयेम' इति। हिन्दीभाष्ये तु—'हे विष्णो, दिवः प्रसिद्धादग्नेर्विद्युत उभौ हस्तौ वसुना द्रव्येण सार्धमापृणस्व सुखैः पूरयस्व। पृथिव्या उत्पन्नैः पदार्थैरपि महत्तत्त्वादव्यक्ताद्वा उरोरन्तरिक्षाद् द्रव्येण सार्धं दक्षिणवामपार्श्वाभ्यां सुखानि प्रयच्छ। त्वां यज्ञाय योगविज्ञानाय वयमर्चयेम' इति, तदुभयमपि न, बहुभिर्निरर्थकैः शब्दैः प्रयुक्तैरप्यभिप्रायस्यास्पष्टत्वात्। 'दिवः' इति पदस्य अग्निना विद्युता च कः सम्बन्धः? हस्ता इति हस्तशब्दस्य वाच्यार्थमपहाय 'बलवीर्यौ' इत्यर्थकरणमपि निर्मूलमेव। परमेश्वरस्य साकारत्वापत्तिभयाद्यदि मुख्यार्थत्यागेन लाक्षणिकार्थाश्रयणम्, तदा तत्साकारत्वाङ्गीकरणमेव कुतो न क्रियते? हस्तप्रसङ्गाद् दक्षिणाद्धस्तात् सव्याद्धस्तादित्येवार्थो युक्तः, सव्यदक्षिणपार्श्वयोरपि निराकारेऽनुपपत्तेः। वस्तुतस्त्वत्र यत्किञ्चित्प्रलापेन धूलिप्रक्षेप एव कृतो दयानन्देन। उत्पत्तिबोधकं

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.८-९) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'दिवो वा' इस कण्डिका द्वारा प्रतिप्रस्थाता ऋत्विक् उत्तर शंकट का स्थापन तथा स्थूणास्तम्भ का निखनन करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे व्यापनशील परमेश्वर विष्णु! द्युलोक अथवा पृथिवी अथवा विस्तीर्ण अन्तरिक्ष से आनीत धन के द्वारा दोनों हाथों को परिपूर्ण करें। दाहिने तथा बाएं दोनों हाथों से हमें वांछित धन प्रदान करें। विष्णुदेव की प्रसन्नता के लिये हम आपकी आराधना करते हैं।

अथवा हे व्यापक विष्णु के अंशभूत जीवात्मा, तपस्या के द्वारा द्युलोक, पृथ्वी अथवा विस्तृत अन्तरिक्ष से लाये गये धन से दोनों हाथों को पूर्ण करो तथा दाहिने एवं बाएं दोनों हाथों से परमेश्वर के प्रीत्यर्थ वितरित करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्याओं में मन्त्र में अनुक्त बहुत से शब्दों के अध्याहार के बाद भी अस्पष्टता है। 'दिवः' पद का अग्नि तथा विद्युत् से क्या सम्बन्ध है? हस्त शब्द के वाचक अर्थ को छोड़कर बल तथा वीर्य अर्थ

पदमत्र मन्त्रे नास्त्येव। तस्मात् पृथिव्याः सकाशान्महत्तत्त्वादव्यक्ततत्त्वादुत्पन्नैर्द्रव्यैः सार्धं सुखस्य याच्नाप्यसङ्गतैव, महःपदस्य महत्तत्त्वार्थत्वे मानाभावश्च। अव्यक्ततत्त्वपदं तु मन्त्रे नतरां विद्यते। सुखबोधकमपि पदं मन्त्रे नास्त्येव। तस्मादयमर्थः यत्किञ्चित्प्रलपनान्नातिरिच्यते ॥१९ ॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्र-मणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२० ॥

'प्र तद्विष्णुरिति वाचयति मध्यमं छदिरालभ्येति' (का. श्रौ. ८.४.१३)। हविर्धानं काष्ठैर्निष्पाद्य उपरि छादनादिकं कुर्यादित्याह। पूर्वं या हविर्धानमण्डपनिर्माणसामग्री शकटस्योपरि निहिता, तया सामग्र्या हविर्धानमण्डपं चतुःस्तम्भं निष्पाद्य तत्र तत्र यत् छदिस्त्रयनिधानं कृतम्, तत्र यन्मध्यमं छदिरालभस्वेत्यध्येषणया यजमानेन मध्यमच्छदिष आलम्भं कारयित्वा प्र तद्विष्णुरिति यजमानं वाचयेत्। हविर्धानशकटाच्छादनं तु वस्त्रादिना कर्तव्यम्। यस्य विष्णोः, उरुषु लोकत्रयव्यापकत्वेनातिविस्तृतेषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनान्यधिक्षियन्त्यधिवसन्त्यन्तर्भवन्ति, ततः स लोकवेदप्रसिद्धो विष्णुः, वीर्येण वीरस्य कर्म वीर्यं तेन वीर्येण साधारणभूतेन वीरकर्मादिना प्रस्तवते प्रस्तूयते प्रकर्षेण स्तूयते, व्यत्ययेन यकः स्थाने शप्। यथा गिरिष्ठाः पर्वतस्थितः कुचरः कुत्सितं हिंसनं चरतीति कुचरः, भीमो बिभेत्यस्मादिति भीमः सर्वप्राणिभीतिजनकः, गिरिस्थायी गिरिष्ठाः, मृगो न सिंह इव वीर्येण निमित्तेन वीरकर्मणा स्तूयते तद्वत्।

हीनोपमानत्वात् पूर्वोक्तादन्यद् व्याख्यात्युव्वटाचार्यः। तथाहि—मृगो मृग्यते भक्तैर्यः स मृगः, 'मृजूष् शुद्धौ' इति धातोः। मार्ष्टि शोधयतीति वा मृग इन्द्रः। भीमो भीषणः। कुचरः क्वायं चरतीति भक्तैरन्वेष्यत इति कुचरः। क्वशब्दस्य सम्प्रसारणं छान्दसम्। गिरिष्ठा गिरिर्मेघः, तत्र वृष्ट्यर्थं तिष्ठतीति गिरिष्ठास्तथाविध इन्द्र इव प्रस्तूयते। यद्वा नशब्दोऽनर्थकः पादपूरणः। तथा च मृगः शोधकत्वेन पावकः। भीमो बिभेत्यस्मादिति भीमः, 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' (तै. उ. २.८) इति श्रुतेः। कुचरः कौ पृथिव्यां रामकृष्णादिरूपेण चरतीति कुचरो विष्णुरेव। गिरिष्ठा गिरि वाण्यां गिरौ देहे वान्तर्यामिरूपेण तिष्ठतीति गिरिष्ठाः। अयमेवाध्यात्मिकोऽप्यर्थः।

ब्राह्मणानुसारेण तु विष्णुर्हविर्धानाख्यः शकटः, तस्य यदुपरि वर्तमानं मध्यमं छदिरस्ति तत्स्तूयते। उत्तरवेदेः प्रत्यक् त्रिषु विक्रमणेष्वतीतेषु निधीयमानस्य यस्योपरि शीर्षकपालस्थानीयं मध्यमं छदिरस्ति, तस्य अधि उपरि सर्वतो

करना भी मूलरहित है। परमेश्वर के साकार सिद्ध होने के भय से यदि वाच्यार्थ को छोड़कर लाक्षणिक अर्थ का आश्रय लिया गया है, तो परमेश्वर की साकारता ही क्यों नहीं स्वीकार की जाती? निराकार होने पर तो बाएं तथा दाहिने पार्श्व की भी संगति नहीं होती है। अतः यह अर्थ समीचीन नहीं है ॥१९ ॥

मन्त्रार्थ— वह परमात्मा, जिससे चराचर जगत् भयभीत रहता है, जो सिंह के समान पराक्रमी है, जो पृथ्वी पर मत्स्य आदि के रूप में अवतार लेता है, जो देह में अन्तर्यामी के रूप में स्थित है, वह सर्वव्यापी परमात्मा असुरों का वध कर तथा भक्तों की और धर्म की रक्षा कर अपने इन पराक्रमों के कारण स्तुतियोग्य है, जिस परमात्मा के तीन महान् डगों के रखने के स्थान तीन लोकों में सब लोक निवास करते हैं॥ मध्यम छदि का स्पर्श कर इस मन्त्र को पढ़े ॥२० ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.१३) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'प्र तद् विष्णुः' इस ऋचा का पाठ हविर्धान मण्डप की मध्यम छदि (मण्डपाच्छादन) का स्पर्श करते हुए यजमान से कराया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में हविर्धान शकट को विष्णुरूप कहा गया है।

विश्वा भुवनानि शीर्षकलापस्थानान्यन्यानि छर्दीषि निवसन्तीति सायणाचार्यः। 'अथ मध्यमं छदिरुपस्पृश्य वाचयति प्र तद्विष्णुः स्तवते ..... विश्वेतीदꣳ हैवास्यैतच्छीर्षकपालं यदिदमुपरिष्टादधीव ह्येतत्क्षियन्त्यन्यानि शीर्षकपालानि तस्मादाहाधिक्षियन्तीति' (श. ३.५.३.२३)। एतदनुगुणोऽर्थस्तूक्त।

दयानन्दस्तु—'यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वानि भुवनानि अधिक्षियन्ति, यश्चासौ विष्णुर्वीर्येण भीमः कुचरो गिरिष्ठा मृगो न सिंह इव विचरन् प्रस्तवते उपदिशति, तत् तस्मात् स नैव कदापि विस्मरणीयः' इत्याह। यद्यप्ययमर्थो नातीव विरुद्धस्तथापि 'उरुषु विक्रमणेषु' इत्यस्य स्वारस्यं त्रिविक्रमावतारधारिण उरुषु विस्तीर्णेषु विक्रमेषु पादविक्षेपेषु सर्वाणि भूतान्यन्तर्भूतानीत्यत्रैवेति ॥२०॥

विष्णो॑ र॒राट॑मसि॒ विष्णोः॒ श्नप्त्रे॑ स्थो॒ विष्णोः॒ स्यूर॑सि॒ विष्णो॑र्ध्रु॒वो॑ऽसि। वै॒ष्ण॒वम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा ॥२१॥

'विष्णो रराटमिति रराट्यामिति' (का. श्रौ. ८.४.१५)। रराट्यामालभस्वेत्यध्येषणया यजमानेन रराट्यां स्पर्शयित्वा वाचयेत्। हविर्धानाख्ये पूर्वोक्ते द्वे शकटे दक्षिणोत्तरभागयोः स्थापयित्वा तदावरकत्वेन परितो हविर्धानाख्यं मण्डपं कुर्यात्। स च मण्डपो विष्णुदेवताकत्वाद् विष्णुरित्युपचर्यते। विष्णोश्च मूर्तिधरस्य सर्वावयवसद्भावाल्लाटस्थोऽवयवोऽप्यस्ति। तद्वद् हविर्धानमण्डपस्यापि पूर्वद्वारवर्तिस्तम्भयोर्मध्ये काचिद् दर्भमयी माला ग्रथ्यते। सा तदाधारभूतस्तिर्यग् बन्धो वात्र सम्बोध्योच्यते—हे माले, अथवा हे तदाधारभूत तिर्यग्वंश, त्वं विष्णोर्मूर्तित्वेनोपचरितस्य हविर्धानमण्डपस्य रराटमसि ललाटस्थानीयोऽसीति काण्वसंहितास्थसायणभाष्याशयः।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—जिन विष्णुदेव के त्रिलोकव्यापी, अतिविस्तृत तीन पादों में समस्त लोक अधिष्ठित हैं, अर्थात् अन्तर्भूत हैं, वही लोक तथा वेदों में प्रसिद्ध विष्णु वीर कर्मों के संकीर्तनादि से संस्तुत किये जाते हैं। वे विष्णु (भक्तों को) पवित्र करने वाले,(दुष्टों के लिये) भीषण अथवा अनुशासनकर्ता, राम-कृष्ण आदि रूपों से पृथिवी पर अवतरित होने वाले तथा वाणी में अथवा शरीर में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित हैं।

यद्यपि इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ हमारे सिद्धान्तानुसारी अर्थ से अधिक विरुद्ध नहीं है, तथापि 'विस्तीर्ण पादों में' इसका तात्पर्य त्रिविक्रमावतार धारण करने वाले (वामनावतार विष्णु) के विस्तीर्ण पादप्रक्षेपों में समस्त प्राणी अन्तर्भूत हैं, यही है ॥२०॥

मन्त्रार्थ— हे दर्भमालाकार वंश! तुम यज्ञरूप विष्णु के ललाटस्थानीय हो। हे ललाट के प्रान्त! तुम दोनों यज्ञरूप विष्णु के ओष्ठसन्धि रूप हो। हे बृहत् सूची! तुम यज्ञीय मण्डप की सूची हो। हे ग्रन्थि! तुम यज्ञीय विष्णुरूप मण्डप की मजबूत गाँठ हो। हे हविर्धान! तुम विष्णुसम्बन्धी हो, इस कारण विष्णु की प्रीति के लिये तुम्हारा स्पर्श करता हूँ॥ दोनों हविर्धानों (शकटों) को दक्षिणोत्तर स्थापित करके उनके ढकनों का मण्डप बनावे। हविर्धान मण्डप के पूर्वद्वारवर्ती स्तम्भ के मध्य में कुशों की माला गूँथे ॥२१॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.१५-१९) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'विष्णो रराटम्' इस कण्डिका के मन्त्रों से हविर्धान-मण्डप के पूर्व द्वार के स्तम्भों के बीच में गूंथी गई दर्भ की माला का स्पर्श, बगल के दो तृणनिर्मित छादनों का स्पर्श, काठ की बनी हुई बड़ी सूई से रज्जु के द्वारा द्वार-शाखाओं का बन्धन, ग्रन्थि का बन्धन तथा सुनिर्मित हविर्धान-मण्डप का स्पर्श इत्यादि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। तैत्तिरीय तथा शतपथ श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

'विष्णोः श्नप्त्रे स्थ इत्युच्छ्राय्यौ' (का. श्रौ. ८.४.१६)। उच्छ्राय्यावालभस्वेत्यध्येषणया द्वयोरुच्छ्राय्ययोर्यजमानेनालम्भं कारयित्वा विष्णोः श्नप्त्रे स्थ इति मन्त्रं वाचयेत। आलम्भनस्य युगपत्कर्तुमशक्यत्वाद् भेदेन प्रत्येकं रराट्योरुच्छ्राय्ययोश्च वाचनप्रेषालम्भनानि भवन्ति। उच्छ्राय्यौ रराटौ प्रान्तावुपस्पृश्य वाचयतीत्यर्थः। उच्छ्रीयेते इत्युच्छ्राय्यौ दशारत्निप्रमाणौ पार्श्वस्थौ कटौ। तथा च हे रराट्यौ, युवां विष्णोर्विष्णुनामकस्य हविर्धानमण्डपस्य श्नप्त्रे स्थः श्नप्त्रे सृक्किणी ओष्ठसन्धिरूपे भवथः। 'द्वार्याः परिषीव्यति लस्पूजनिप्रतिहृतया रज्ज्वा विष्णोः स्यूरसीति' (का. श्रौ. ८.४.१८), 'प्राग्वꣳशꣳ हविर्धानम्' (का. श्रौ. ८.४.२१) इत्यादिना हविर्धानमण्डपकरणं वक्ष्यति सूत्रकारः। तत्र पूर्वमपरं च द्वारद्वयं द्व्यरत्निविस्तारं कर्तव्यम्, 'पूर्वमपरं च द्वारे कुरुतः' (७.५) इति सत्याषाढसूत्राच्च। एवमेकैकस्यापि द्वारस्य द्वारि स्थितं स्थूणाद्वयं भवति। द्वारद्वयस्य चतस्रो द्वार्याः। ताश्छदींषि। लस्पूजन्यां बृहत्यां काष्ठमय्यां सूच्यां प्रोतया रज्ज्वा द्वारशाखाः सीव्यति, बध्नीयाद् एकीकृत्य दृढाः कुर्यात्। हे लस्पूजनि, त्वं विष्णोर्विष्णुनामकस्य हविर्धानमण्डपस्य सम्बन्धिनी स्यूरसि। सीव्यत्यनेनेति स्यूः सूचिरसि। 'षिवु तन्तुसन्ताने'। 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (पा. सू.६.४.१९) इति वस्योडादेशः। 'विष्णोर्ध्रुवोऽसीति ग्रन्थिं करोति' (का. श्रौ. ८.४.१९)। परिषीवणारम्भे रज्जुमूले ग्रन्थिं कुर्यात्। हे रज्जुग्रन्थे, त्वं हविर्धानस्य सम्बन्धी भूत्वा ध्रुवोऽसि स्थिरो भवसि। 'प्राग्वꣳशꣳ हविर्धानं निष्ठाप्य वैष्णवमसीत्यालभते' (का. श्रौ. ८.४.२१-२२) इति प्रागग्रैर्वंशैर्मण्डपं निर्मायानेन मन्त्रेण स्पृशेत्। हे हविर्धान, त्वं वैष्णवमसि विष्णुदेवताकत्वेन तत्सम्बन्धि भवसि। तस्माद्विष्णवे विष्णुप्रीत्यर्थं त्वा त्वां स्पृशामीति शेषः। हविर्धानस्य विष्णुदेवताकत्वं तित्तिरिर्दर्शयति—'वैष्णवꣳ हि देवतं हविर्धानमिति' इति।

शतपथे—'अथ रराट्यामुपस्पृश्य वाचयति। विष्णो रराटमसीति ललाटꣳ हैवास्यैतदथोच्छ्राया उपस्पृश्य वाचयति विष्णोः श्नप्त्रे स्थ इति स्रक्के हैवास्यैते अथ यदिदं पश्चाच्छदिर्भवतीदꣳ हैवास्यैतच्छीर्षकपालं यदिदं पश्चात्' (श. ३.५.३.२४)। रराट्यां रराटीम्। अस्य हविर्धानस्य एतद् रराट्याख्यमङ्गं ललाटं खल्वसि। तस्माद् उच्छ्रायौ द्वारशाखे द्वारस्योभयपार्श्ववर्तिनी तृणादिनिर्मिते प्रावरणे तावुपस्पृश्य वाचयति—विष्णोरिति। विष्णोर्हविर्धानस्य श्नप्त्रे सृक्किणी ओष्ठसम्बन्धिनी स्थः। पश्चाच्छदिषः स्थानं प्रशंसति—इदं पश्चाच्छदिर्हविर्धानाख्यस्य यज्ञशिरसः पश्चात् कपालस्थानीयं छदिस्तृणमयः कटः। हविर्धानमण्डपनिर्माणप्रसङ्गे कात्यायनेनोक्तम्—'तयोश्छदिरध्यस्यति' (का. श्रौ. ८.३.२०)। तयोर्हविर्धानयोरुपरि हविर्धानाख्यमण्डपाच्छादनायोदगग्रमेकं छदिस्तृणमयं कटं मध्ये निदध्यादिति। उपरि छादनार्थाः कटाश्च छदींषि। तानि च दशारत्निदीर्घाणि त्र्यंशेन विपुलानि। हविर्धानशकटाच्छादनं वस्त्रादिना, 'भित्तिं वाऽभावे' (का. श्रौ. ८.३.२१)। छदिषोऽभावे छदिषा तुल्यां वेणुशकलैः कृतां भित्तिं वा तयोरुपरि निदध्यात्। शतपथेऽपि (३.५.३.९) तदेवोक्तम्।

'अथ लस्पूजन्या स्पन्द्यया प्रसीव्यति। विष्णोः स्यूरसीत्यथ ग्रन्थिं करोति विष्णोर्ध्रुवोऽसीति नेद् व्यपद्याता इति तं प्रकृते कर्मन् विष्यति तथो हाध्वर्यु वा यजमानं वा ग्राहो न विन्दति तन्निष्ठितमभिमृशति वैष्णवमसीति वैष्णवꣳ हविर्धानम्' (श.३.५.३.२५)। 'लस्पूजनी नाम सीवनसाधनसूच्यादिः, तत्र सम्बद्धया रज्ज्वा द्वारशाखां दर्भैरावेष्ट्य रज्ज्वा विष्णोः स्यूरिति मन्त्रेण सीव्येत्। हे द्वार्ये, हे रज्जो वा, त्वं विष्णोर्हविर्धानमण्डपस्य स्यूः स्यूतप्रदेशोऽसि। हे ग्रथ्यमानप्रदेश, त्वं विष्णोर्हविर्धानस्य ध्रुवोऽच्युतावयवोऽसि' इति सायणाचार्यः। मध्यच्छदिष उपरि गतानि त्रीण्यपि छदींष्युदगग्राणि कर्तव्यानि। त्रयाणामपि प्रागग्रीकरणे पश्चाच्छदिरिति श्रूयमाणा पश्चादित्युक्तिर्न युज्येत। 'उदगग्राणि

छदीꣳषि पश्चाच्छ्रुतेः' (का. श्रौ. ८.४.१७)। त्रीण्यपि छदींष्युदगग्राणि कार्याणि, कुतः ? यदिदं पश्चाच्छदींषीत्याद्येकस्य छदिषश्छदिरन्तरस्य पश्चाद्विधानात्। अयमभिप्रायः—'छदिस्त्रयेण हविर्धानमण्डपस्याच्छादनं कार्यम्। तत्र यदि छदिः पूर्वापरायतं भवेत्, तदा छदिरन्तरस्य पूर्वं निहिताच्छदिषो दक्षिणत उत्तरतो वाऽवस्थितिर्भवेत्, न तु पश्चाद्भागे। यदि तूदगग्राणि छदींषि क्रियन्ते, तदा पूर्वस्माच्छदिषः पश्चाद्भागे छदिरन्तरं भवितुमर्हति' इति वृत्तिकारो म. म. विद्याधरशर्मा।

अध्यात्मपक्षे तु—प्रत्यक्चैतन्यमेव योग्यत्वात् सम्बोध्यते। हे प्रत्यक्चैतन्य, त्वं विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणो रराटं ललाटमसि प्रधानत्वात्, प्रत्यगात्मनैव ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वसम्भवात्। हे भोक्तृभोग्ये, युवां विष्णोः श्नप्त्रे सृक्किणी स्थो भवथः। कूटस्थचैतन्यं सम्बोध्याह—हे कूटस्थचैतन्य, त्वं ध्रुवोऽसि, ब्रह्मात्मस्वरूपत्वात्। किं बहुना, सर्वमपि जगच्चेतनाचेतनात्मकं सम्बोध्यते—हे सर्वजगत्, त्वं वैष्णवमसि विष्णुकार्यत्वाद्विष्णोरिदं वैष्णवमसि भवसि। विष्णवे त्वत्प्रीत्यर्थं त्वामेवाश्रयामः।

दयानन्दस्तु—'विष्णोर्व्यापकस्य सकाशाद् रराटं परिभाषितं जगत्, असि अस्ति। विष्णोः सर्वत्राभिनिविष्टस्य श्नप्त्रे शुद्धे इव स्थः तिष्ठतः। विष्णोः सर्वसुखाभिव्याप्तात् स्यूर्यः सीव्यति स असि अस्ति। विष्णोः सर्वजगत्पालकाद् ध्रुवो निश्चलः, असि अस्ति। वैष्णवं विष्णोर्यज्ञस्येदं साधनं साधकं वा असि अस्ति। विष्णवे यज्ञाय त्वा यदिदं विविधं जगदस्ति, तद्विष्णो रराटमस्ति विष्णोः सकाशादुत्पद्य वर्तते। विष्णोः स्यूरस्ति विष्णोर्ध्रुवोऽस्ति सर्वं जगद्वैष्णवमस्ति। यस्य विष्णोर्जगति द्वे श्नप्त्रे इव जडचेतनसमूहौ स्तः, तं जगदीश्वरं त्वा यज्ञानुष्ठानाय वयमाश्रयामः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परस्परविरुद्धत्वात्। पदार्थव्याख्याने रराटं परिभाषितमस्तीत्युक्तम्, अन्वये तूत्पद्य वर्तत इत्युक्तम्। सोऽयं परस्परविरोधः। 'रट परिभाषणे' इति धातुरीत्या यद्यपि पदसिद्धिर्भवति, तथापि तन्निरर्थकमेव, विशेष्यबोधकपदस्य मूलेऽभावात्। विविधं जगदिति तु दयानन्दस्य स्वकपोलकल्पितमेव। अध्याहारेऽपि न निस्तारः, सर्वस्यैव परिभाषितत्वेन व्यावर्त्याभावेन विशेषणत्वानुपपत्तेः। तथैव 'श्नप्त्रे शुद्धे' इत्यपि निरर्थकम्, विशेष्यानिर्देशादेव। जडचेतनसमूहावित्यध्याहारोऽपि निर्मूलः 'स्यूः यः सीव्यति', 'ध्रुवो निश्चलोऽसि' इत्यपि च निरर्थकम्, विशेष्यानिश्चयादेव। हिन्दीभाष्ये तु — 'विस्तृतः' इत्युक्तम्, तदपि निर्मूलम्। 'ईश्वरोत्पन्नत्वात् स्वसत्तया ध्रुवः' इति च हिन्दीभाष्योक्तं निर्मूलम्, उत्पन्नत्वेन कार्यत्वादनित्यत्वेन भङ्गुरत्वान्निश्चलत्वानुपपत्तेः। विशेष्यानिर्देशस्त्वत्रापि समान एव। सिद्धान्तव्याख्याने तु श्रुतिसूत्रोक्ताः सम्बोधनीया एव विशेष्या इत्युक्तमेव ॥२१॥

अध्यात्मपक्ष के अर्थ के अनुसार तो प्रत्यक् चैतन्य को ही सर्वप्रथम सम्बोधित किया गया है। हे प्रत्यक्चैतन्य, तुम व्यापनशील ब्रह्म के ललाटरूप हो, प्रधान होने के कारण प्रत्यगात्मा के साथ ही ब्रह्म का साक्षात्कार संभव है। हे भोक्ता तथा भोग्य, तुम दोनों विष्णुदेव के ओष्ठसन्धिरूपी हो। कूटस्थ चैतन्य को सम्बोधित करते हैं कि हे कूटस्थ चैतन्य ! तुम ब्रह्मात्मस्वरूप होने के कारण स्थिर हो। तदनन्तर चेतन एवं अचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् को सम्बोधित किया गया है—हे समस्त जगत्, तुम विष्णु द्वारा निर्मित होने के कारण विष्णु के हो, विष्णुदेव की प्रसन्नता के लिये हम तुम्हारा ही आश्रय लेते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ परस्परविरुद्ध होने के कारण असंगत है। 'श्नप्त्रे' का अर्थ 'शुद्धे' करना भी निरर्थक है, क्योंकि विशेष्य का निर्देश नहीं किया गया है। हिन्दी भाष्य में 'स्यूः' का अर्थ विस्तृत किया गया है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण अपनी सत्ता से स्थिर है' यह हिन्दी भाष्य में कहा गया है। परन्तु यह अप्रामाणिक है, क्योंकि उत्पन्न होने के कारण कार्यत्व हो जाता है तथा अनित्य होने के कारण विनाशशीलता के द्वारा स्थिरता या निश्चलता सिद्ध नहीं हो सकती ॥२१॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वा अपि॑ कृन्तामि। बृ॒हन्न॑सि बृ॒हद्र॑वा बृ॒हतीमिन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद ॥२२॥

इत उत्तरमुपरवमन्त्रा देवस्य त्वेत्यस्मात् (५.२६) प्राक्। 'दक्षिणस्यानसोऽधः प्रउगं खनत्युपरवानभ्र्यादि करोत्यवटवदिति' (का. श्रौ. ८.४.२६)। दक्षिणस्य हविर्धानशकटस्याधस्तात् प्रउगं पूर्वभागेऽनसोऽधोभागस्थितां भूमिं द्विधा कृत्वा तत्र पूर्वस्मिन् प्रदेशे उपरवान् चतुरो गर्तविशेषान् खनेत्। उप उपरि ग्राव्णां रवः शब्दो यत्र ते उपरवाः। एतेषामेवोपर्युपांशुसवनसंज्ञकं ग्रावाणं निधाय तत्र सोमाभिषवस्य क्रियमाणत्वात् ते उपरवसंज्ञकाः। यथा यूपस्यावटः क्रियते, तथात्राप्युपरवसंज्ञकांश्चतुरो गर्तान् अभ्रिस्वीकारमारभ्य परिलेखनपूर्वकं कुर्यात्। 'अभ्र्यादि करोत्यवटवदापरिलेखनात्' (का. श्रौ. ८.५.१)। आहरन्ति मृदमनयेत्यभ्रिर्दारुजं खनित्रम्, यथा पशौ यूपावटकरणेऽभ्र्यादानादिपरिलेखनपर्यन्तं क्रियते, तथैवेहापि कर्तव्यम्। हे अभ्रे, सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे वर्तमानोऽहमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे। नार्यसि नराणामनुष्ठातॄणां सम्बन्धिनी नारी, उपरवाख्यगर्तखननसाधनत्वात्। अथवा नरस्यापत्यं स्त्री नारी। महीधरदृष्ट्या—'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादाय यूपावटं परिलिखतीदमिति' (का. श्रौ. ६.२.८)। इदमिति विभक्तिव्यत्ययः। योऽहं चतुरोऽवटान् परिलिखामि, सोऽहमनेन परिलेखनेन रक्षसां यज्ञघ्नानां ग्रीवा अपि कृन्तामि कण्ठदेशान् छिनद्मि। 'बृहन्नसीति यथापरिलिखितं खनति' (का. श्रौ. ८.५.८)। लेखनक्रमेणोपरवान् खनेत्। आग्नेयीं विदिशमारभ्य चतसृषु विदिक्षु चतुर उपरवान् खातुं येन क्रमेण भूमिः परिलिखिता, तेनैव क्रमेणावटान् खनेत्। हे उपरवाख्यगर्त, त्वं बृहन्नसि महानसि। वर्तुलस्य गर्तस्य प्रादेशपरिमाणेन विस्तृतत्वाद् बाहुपरिमाणेन खातत्वाच्च महत्त्वम्। तथा त्वं बृहन्महान् रवो ध्वनिर्यस्य स बृहद्रवाः, सकारान्तो रवस्शब्दः। भूमौ अभ्र्यां प्रहतायां महान् शब्दो भवति। तस्मात्त्वमिन्द्रायेन्द्रप्रीत्यर्थं बृहतीं वाचं वद प्रौढध्वनियुक्तं वाक्यं वद।

शतपथे तु—'द्वयं वा अभ्युपरवाः खायन्ते। शिरो वै यज्ञस्य हविर्धानं तद्य इमे शीर्षंश्चत्वारः कूपा इमावह द्वाविमौ द्वौ तानेवैतत्करोति तस्मादुपरवान् खनति' (श. ३.५.४.१)। सोमाभिषवाय उपरवाणां खननविधित्सया खननस्योभयार्थतोच्यते। यस्मात् शिरसि चत्वारः कूपाः, द्वे कर्णछिद्रे द्वे नासिकाछिद्रे इति चत्वारः कूपाः, कूपवन्निम्नप्रदेशाः, तदेवाभिनयेनोच्यते—द्वाविमौ द्वौ तानेवैतत्करोति। हविर्धानस्यापि यज्ञशिरोरूपत्वात् तत्र चतुर उपरवान् खनेत्। 'देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा एषु लोकेषु कृत्यां वलगान्निचख्नुरुतैवञ्चिद् देवानभिभवेमेति' (श. ३.५.४.२)। द्वेष्यवधार्थं भूमौ स्थापिताः कृत्याविशेषा वलगाः, तान्निखातवन्तः।

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि (काठ की कुदाल) ! सविता देवता की प्रेरणा से, अश्विनीकुमार के बाहुभाव को प्राप्त अपनी भुजाओं से, पूषा देवता के हस्तभाव को प्राप्त अपने हाथों से खनन कार्य के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे अभ्रि! तुम हमारा उपकार करने वाली हो, मैं अध्वर्यु यज्ञविनाशक राक्षसों की गर्दनों को काटता हूँ। हे घोरतर शब्द करने वाले उपरव! तुम महान् शब्द करते हो। इन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम ऐसी उच्च ध्वनि वाली वाणी बोलो॥ काठ की कुदाल ले कर इस मन्त्र को बोलते हुए यूपावट की तरह चार गड्ढों का चिह्न करे और कुदाल को मजबूती से पकड़ कर प्रादेश भर गोल आकार के चार गड्ढे बनावे॥२२॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.४.२६; ८.५.१) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देवस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों द्वारा दक्षिण हविर्धान शकट के नीचे की भूमि को नियमानुसार विभक्त करके 'उपरव' संज्ञक चार गर्तों का खनन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

उत एवञ्चिद् एवमपि युद्धेनाशक्नुवन्तः, अनेनाप्युपायेन देवानभिभवेमेत्यभिप्रायेण। 'तद्वै देवा अस्पृण्वत्। त एतैः कृत्यां वलगानुदखनन् यदा वै कृत्यामुत्खनन्त्यथ सालसा मोघा भवति तथो एवैष एतद्यद्यस्मा अत्र कश्चिद् द्विषन् भ्रातृव्यः कृत्यां वलगां निखनति तानेवैतदुत्किरति तस्मादुपरवान् खनति स दक्षिणस्य हविर्धानस्याधोऽधः प्रउगं खनति' (श. ३.५.४.३)। तदसुरैः कृतं खननाख्यं कृत्याविशेषं देवास्तदुत्खननेन हिंसितवन्तः। हिंसाप्रकारमाह— एतैरुपरवैः कृत्यां वलगानुदखनन्निति। अथ कृत्योत्खननानन्तरमेव सा कृत्या अलसा हननं कर्तुमसहमाना अत एव मोघा व्यर्था भवति। यथा देवेष्वयं कृत्यापरिहारोपायस्तथैव मनुष्येष्वपि भवति। तस्माद् दक्षिणस्य हविर्धानस्याधोऽधः प्रउगं खनति। ईषाद्वयसंयोजनप्रदेशः प्रउगम्, तस्याधोऽधः सन्निहिताधःप्रदेशे उपरवान् खनति। अधोऽधः-शब्दयोगात् प्रउगमिति द्वितीया (पा. सू. २.३; वार्त्तिकम् १.४.४८)।

खननाय समन्त्रकमभ्र्यादानं विधत्ते—'सोऽभ्रिमादत्ते। देवस्य त्वा सवितुः - - - नार्यसीति' इत्यपि स्तुतिः। यत् प्राग् देवस्य त्वेति ब्राह्मणमुक्तम् (श. १.१.२.२७), तदत्रातिदिशति—समान एतस्य बन्धुरिति। समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषा वा एषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति (श. ३.५.४.४)। एतस्य यजुर्मन्त्रस्य आदीयमानाया अभ्र्याः स्त्रीत्वान्मन्त्रे नारीशब्देनाभ्रिरभिहिता। एतस्य यजुषो देवस्य त्वेति। 'तान् प्रादेशमात्रं विना परिलिखति। इदमहꣳ रक्षसा ग्रीवा अपि कृन्तामीति वज्रो वा अभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तति' (श. ३.५.४.५)। विना मध्ये प्रादेशमात्रान्तरालं विहाय समचतुरस्रे खननप्रदेशे चतुरोऽवटान् प्रादेशमात्रान् परिलिखेत्। 'तद्यावेतौ पूर्वौ तयोर्दक्षिणमेवाग्रे परिलिखेदथापरयोरुत्तरमथापरयोर्दक्षिणमथ पूर्वयोरुत्तरम्' (श. ३.५.४.६)। अवटखनने द्वौ प्रकारौ, अक्षणया तिरश्चीनं सम्यक् च ऋजुमार्गेण च। अक्षणयापि द्विप्रकारौ तद्यावेतौ पूर्वौ तयोर्दक्षिणमेवाग्र इत्यादिना। आग्नेयवायव्यनैर्ऋतैशानक्रमेणेत्येकः प्रकारः। द्वितीयं प्रकारमाह—'अथो इतरथाहुः। अपरयोरेवाग्र उत्तरं परिलिखेदथ पूर्वयोर्दक्षिणमथापरयोर्दक्षिणमथ पूर्वयोरुत्तरमित्यथो अपि समीच एव परिलिखेदेतं त्वेवोत्तमं परिलिखेद्य एष पूर्वयोरुत्तरो भवति' (श. ३.५.४.७)। स्वकीयं सम्यक्परिलेखनप्रकारमाह— अथो इतरथेति। आग्नेयादिप्रादक्षिण्यक्रमेणेत्यर्थः। अथो अपि समीच एव परिलिखेदिति सम्यक्पक्षमेव समर्थयते। 'तान् यथापरिलिखितमेव यथापूर्वं खनति। बृहन्नसि बृहद्रवा इत्युपस्तौत्येवैनानेतन्महयत्येव यदाह बृहन्नसि बृहद्रवा इति बृहतीमिन्द्राय वाचं वदेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता वैष्णवꣳ हविर्धानं तत्सेन्द्रं करोति तस्मादाह बृहतीमिन्द्राय वाचं वदेति' (श. ३.५.४.८)। य एष पूर्वयोरुत्तरस्तमुत्तरं कुर्यादित्यभिधानात् खननमपि परिलेखनक्रमेण कर्तव्यमित्याह—तान् यथापरिलिखितमेवेति। तत्र मन्त्रो बृहन्नसीति। हे अवट, हे उपरव, त्वं बृहन् स्वरूपतो महानसि। तथा बृहद्रवाः प्रभूतध्वनिरसि, अतो बृहतीं महतीं वाचमिन्द्राय इन्द्रार्थं सोमस्येन्द्रार्थत्वात् तदर्थत्वादुपरवखननस्य स्तुतिकरीं बृहतीं वाचं वद शब्दय।

अध्यात्मपक्षे—साधको भगवदाराधनोपयोगिधूपदीपनैवेद्यादिपदार्थान् परिकल्पयन्नाह— हे धूपादिपदार्थसमूह, त्वामहमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे देवदेवस्यार्चनार्थं गृह्णामि। अश्विबाहुपूषहस्ताभेदभावापन्नाभ्यां दिव्याभ्यां बाहुभ्यां हस्ताभ्यां च त्वा आददे। हे संगृहीतसामग्रि, त्वं परमेश्वरोपभोग्यत्वान्नार्यसि भार्यावत् सुखदायिकासि। अहमिदमनेन त्वदाराधनेन रक्षसां राक्षसजातीयानां विघ्नानां वा ग्रीवाः कण्ठान् अपि कृन्तामि, अपिशब्देन कृत्स्नमपि विघ्नशरीरं नाशयामीत्यर्थो द्योत्यते।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—साधक भगवदाराधन के लिये उपयोगी धूप, दीप, नैवेद्य आदि पदार्थों को संगृहीत करता हुआ कहता है कि हे धूपादि पदार्थसमूह ! मैं तुमको अश्विनी देवों के बाहुओं तथा पूषा के हाथों से भगवान् की अर्चना के

दयानन्दस्तु—'देवस्य सर्वप्रकाशकस्यानन्दप्रदस्येश्वरस्य' इत्याह, तन्मन्दम्, 'दिवु क्रीडाविजिगीषाद्यर्थेषु' क्रीडा-विजिगीषाद्यर्थकस्य दीव्यतेः प्रकाशाद्यर्थकत्वेऽप्यानन्दप्रदत्वार्थस्य चिन्त्यत्वात् । यदपि—'अश्विनोः प्राणापानयोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्याम्' इति, तदपि मन्दम्, प्राणापानयोर्बाहुत्वासम्भवात्, बाहुशब्दस्य बलवीर्यार्थत्वस्य च चिन्त्यत्वात् । तथैव पूष्णः पुष्टिकारिकायाः पृथिव्या हस्ताभ्यामाकर्षणविकर्षणाभ्यामित्यपि निर्मूलम्, हस्तशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात् । यदपि—'नारि नरामियं क्रिया, इदं यज्ञानुष्ठानं कर्म चाददे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वे नारीमिति द्वितीयापत्तेः । 'यज्ञमाददे' इत्यपि निर्मूलम्, मूले यज्ञपदाभावात् । 'यथाहं तथा त्वमप्यादत्स्व' इति च निर्मूलम्, मूले यथातथापदाभावात् । 'यथाहं रक्षसां दुष्टस्वभावानां ग्रीवाः कण्ठान् अपि कृन्तामि छिनद्मि, तथा त्वमपि कृन्त' इत्यपि मन्दम्, विकल्पानुपपत्तेः । को वक्तीदम् ? यद्यनीश्वरस्तर्हि पौरुषेयत्वापत्तिः, यदीश्वरस्तर्हि तस्य सावयवत्वापत्तिः, निरवयवस्य कण्ठच्छेतृत्वानुपपत्तेः । ईश्वरस्य कर्मफलदातृत्वेन कर्मानुसारेण कथञ्चित् तत्सम्भवेऽपि न जीवेषु तत्सम्भवति, तथात्वेऽराजकतापत्तेः । यथा-हमेतदनुष्ठानेन बृहद्रवा बृहद्भवामि, तथा त्वमपि भवेत्यप्यसङ्गतम्, परमेश्वरीयबृहत्त्वस्य नित्यत्वेन कर्मानुष्ठानजन्य-त्वायोगात् ॥२२ ॥

रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्यां किरामि ॥२३ ॥

पूर्वमन्त्रोक्तां वाचमेव विशिनष्टि—रक्षोहणं वलगहनमिति । रक्षांसि हन्तीति रक्षोहा, तां रक्षोवधविषयाम्, तथा वलगहनं वलगान् हन्तीति वलगहा तम् । पराजयं प्राप्तैः पलायमानै राक्षसैरिन्द्रवधार्थमभिचाररूपेण भूमौ निखाता

लिये ग्रहण करता हूँ, अर्थात् दिव्य बाहुओं एवं हाथों से तुम्हें लेता हूँ। हे संगृहीत सामग्री, तुम परमेश्वर के उपभोगयोग्य होने के कारण भार्या के समान सुखदायिनी हो। मैं इस तुम्हारी आराधना से राक्षस जाति की अथवा विघ्नों की ग्रीवा भी काटता हूँ, अर्थात् सम्पूर्ण विघ्नशरीर को नष्ट करता हूँ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में 'दिवु' धातु से आनन्दप्रद अर्थ करना चिन्तनीय है। अश्विनों की, अर्थात् प्राण तथा अपान की भुजाएं भी असम्भव हैं। 'हस्त' शब्द का आकर्षण-विकर्षण अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। यह किसके द्वारा उपदिष्ट है? यदि ईश्वरोपदिष्ट नहीं है, तो पौरुषेयत्व प्राप्त होगा। यदि ईश्वर वक्ता है, तो उसकी साकारता प्राप्त होगी, क्योंकि अंग के बिना कण्ठछेदन करना सिद्ध नहीं होगा ॥२२ ॥

मन्त्रार्थ—हे उपरव ! यह गड्ढा राक्षसों का वध करने वाला, कृत्या का नाश करने वाला और यज्ञरक्षक विष्णु से सम्बन्ध रखने वाला है, यह बात तुम इन्द्र से कहो। अत्यन्त संघातरूप से वर्तमान चाण्डाल आदि ने या मेरे सम्बन्धियों ने मेरे अनिष्ट के लिये जो कृत्या का प्रयोग किया है, उस अभिचार को मैं दूर करता हूँ। जिस कृत्या को धन, सुवर्ण आदि के समान मेरे शत्रुओं ने मेरे वध के निमित्त यहाँ गाड़ दिया है, मैं उस कृत्या को जड़सहित निकाल फेंकता हूँ। मातुल आदि के कुल वालों ने अथवा अन्य जनों ने मेरे निमित्त जिस कृत्या का प्रयोग किया है, मैं उसको दूर फेंक देता हूँ। मेरे समान आयु वालों ने अथवा छोटी-बड़ी उम्र वालों ने जिस कृत्या का मेरे लिये प्रयोग किया है, उसे मैं उखाड़ फेंकता हूँ। शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त कृत्या को मैं निकाल फेंकता हूँ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए चारों कोनों से और बीच से सारी मिट्टी निकाल कर बाहर फेंक दे ॥२३ ॥

अस्थिकेशनखादिपदार्था वलगा उच्यन्ते। यथाह तित्तिरिः— 'असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान्न्यखनत' इति। 'वलगो वृणातेः' (निरु. ६.२) इति वचनाद् यस्य वधार्थं क्रियते, तं वृण्वन्नाच्छादयन् गच्छतीति वलगः। 'तान् बाहुमात्रे त्वविन्दन् तस्माद्बाहुमात्राः खायन्त इति तान् वलगान् हन्तीति वलगहा वाक्। सा च यज्ञरक्षकस्य विष्णोः सम्बन्धिनी। तादृशीं वाचं ब्रूहि। हे उपरवरूपावट। 'इदमहमित्युत्किरति यथाखातं प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ८.५.९)। खननानन्तरं खननक्रमानुसारेण सर्वेभ्य उपरवेभ्य उत्खातान् पांसून् चतुभिर्मन्त्रैर्बहिः क्षिपेत्। तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—'इदमहं तं वलगमुत्किरामि' इति। निष्ट्यो नितरां स्त्यायति संघातरूपेण सह वर्तत इति निष्ट्यः पुत्रः। 'ष्ट्यै स्त्यै शब्दसङ्घातयोः'। यद्वा निर्गत्य शरीरात् स्त्यायति विस्तीर्णो भवतीति पुत्रादिः शरीरान्निर्गत्य विस्तीर्णो भवति। अथवा निर्गतो वर्णाश्रमेभ्य इति निष्ट्यश्चाण्डालादिः। 'निसो गते' (पा. सू. ४.२.१०४) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन भावार्थे त्यप्। इदमहं यत्करोमि तद्वलगं कृत्याविशेषमुत्किरामि। अमात्यः, अमा सह गृहे भवोऽमात्यः, 'अव्ययात्त्यप्' (पा. सू. ४.२.१०४) इति त्यप्। धनिकस्य स्वामिधनगृहादिनिर्वाहकः। स च केनापि निमित्तेन कुपितः पुत्रोऽमात्यो वा नोऽस्मानुद्दिश्य वधार्थं यं वलगं निचखान नितरां खातवान्, तं वलगमुद्वपामीत्यर्थः। उद्धृत्यान्यत्र परित्यजामि। इदंशब्दः क्रियाविशेषणम्। इदं प्रत्यक्षं यथा स्यात्तथोद्वपामीत्यर्थः। द्वितीयमुत्किरति—समानः कुलादिभिः सदृशः, असमानो न्यूनोऽधिको वा यं निचखान तमहमुत्किरामि। समानासमानशब्दौ द्वावेव शत्रुवाचकावभिहितौ। एतदेवाभिप्रेत्य तित्तिरिराह—'द्वौ वाव पुरुषौ यश्चैष समानो यश्चासमानोऽयमेवास्मै तौ वलगं निखनतस्तमेवोद्वपति' इति। अथ तृतीयः—इदमहं तं वलगमुद्वपामि यं नः सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखान। कुलशीलादिभिः समानो मातुलपैतृष्वसेयादिः सबन्धुः, तद्विपरीतोऽसबन्धुः। यं वलगं निचखान तमहमिदं प्रत्यक्षं यथा स्यात्तथा तं वलगमुत्किरामि। चतुर्थमुत्किरति—सजातः समानजन्मा भ्राता तद्विपरीतोऽसजातः, यमेव वलगं निचखान इदमहं तमुत्किरामि। 'उत्कृत्यां किरामीति पश्चात् सर्वेभ्यः' (का. श्रौ. ८.५.१०)। आदौ पूर्वोक्तक्रमेणासाधारणैर्मन्त्रैरुद्वापं कृत्वा पश्चादुत्कृत्यां किरामीति साधारणेन मन्त्रेणावृत्तेन सर्वेभ्यो गर्तेभ्यः प्रादक्षिण्येनोत्तरस्यां पूर्वस्यां वा दिशि पांसूनुत्किरेत्। येयं कृत्या शत्रुभिरभिचरद्भिः सम्पादिता वलगरूपा, तामुत्किरामि उद्धृत्य दूरे क्षिपामीति सायणादिसम्मतमन्त्रव्याख्यानम्।

उव्वटाचार्यरीत्या तु रक्षांसि या वागपहन्ति सा रक्षोहा ताम्, वलगान् कृत्याविशेषान् भूमौ खनितान् शत्रुभिर्विनाशार्थं हन्तीति वलगहा, तां वैष्णवीं विष्णुदेवत्यां वाचं वदेति पूर्वमन्त्रेण सम्बन्धः। शतपथे च तथैव व्याख्यातम्—'रक्षोहणं वलगहनमिति। रक्षसाꣳ ह्येते वलगानां वधाय खायन्ते वैष्णवीमिति वैष्णवी हि हविर्धाने वाक्' (श. ३.५.४.९)। रक्षोभिः कृतानां वलगानां वधाय खायन्ते उपरवाः खन्यते। वैष्णवं हविर्धानं तदन्तर्गतोपरवखननसम्बन्धिनी वाग् वैष्णवी वाग् भवति, हे उपरव, तां वद शब्दय। 'तान् यथाखातमेवोत्किरति। इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेति निष्ट्यो वा अमात्यो वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति' (श. ३.५.४.१०)। खाताया मृद उद्वपनेऽपि खननक्रम एवेत्याह—तान् यथाखातमेवोत्किरतीति। तत्र चत्वारो मन्त्राः। यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेति मन्त्रेण प्रथमगर्तात् पांसूत्किरणम्, यं मे समानो यमसमान इति द्वितीयात्, यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुरिति तृतीयात्, यं मे सजातो यमसजात इति चतुर्थात्। इदमहं तं वलगमुत्किरामीति निचखानेति च सर्वशेषाः।

भाष्यसार—'रक्षोहणं वलगहनम्' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों से उपरव नामक गर्तों से मिट्टी निकाल कर उसे बाहर फेंका जाता है, यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.८) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुकूल अर्थ तैत्तिरीय श्रुति तथा शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

'इदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेति समानो वा असमानो वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति' (श. ३.५.४.११)। इदं मृदुत्किरणं प्रकारान्तरेणाह— 'इदमहं तं वलगमुत्किरामि। यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेति सबन्धुर्वा असबन्धुर्वा कृत्यां वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरति' (श. ३.५.४.१२), 'इदमहं तं वलगमुत्किरामि। यं मे सजातो यमसजातो निचखानेति सजातो वा असजातो वा वलगान्निखनति तानेवैतदुत्किरत्युत्कृत्यां किरामीत्यन्तत उद्वपति तत्कृत्यामुत्किरति' (श. ३.५.४.१३), निष्ट्येन वाऽमात्येन खातं वलगं कृत्याविशेषं मृद्व्याजेनोत्किरामि ऊर्ध्वं क्षिपामि। निष्ट्योऽस्मत्तो नीच इति सायणः। 'सनाभिर्यश्च निष्ट्यः' (ऋ. सं. १०.१३३.५) इत्यादिमन्त्रवर्णान्नीचार्थता निष्ट्यशब्दस्य। अमात्यः सह वर्तमानः, अमाशब्दः सहवचनो गृहवचनो वा, तत्र भवोऽमात्य एकगृहवासी, तयोरेव कलहस्य सम्भावितत्वात्। सहोत्पन्नो वा निखातवान्। निष्ट्यामात्ययोर्वलगोत्किरणम्। समानः सदृशो बन्धुः समानबन्धनः, एकस्मिन्नेव विषये व्यापारवानित्यर्थः। सहोत्पन्नः सजात इति तत्र सायणः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे विष्णो, रक्षोहणं वलगहनं वलगानभिचारान् हन्तीति वलगहा, तां तादृशीं वैष्णवीं वाचं वद, त्वद्वचनेन रक्षसां कृत्यानां चोपरामेण भक्तानां कल्याणसम्भवात्। मे मम निष्ट्यः पुत्रादिरमात्यो गृहवासी सहवासी वा यं वलगमभिचारं निचखान केशादिनिखननेन कृतवान्, इदं प्रत्यक्षं यथा स्यात्तथाहं तं वलगमुत्किरामि, ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य नाशयामीत्यर्थः। यं मे मम निष्ट्यः पुत्रोऽमात्यो वा यं वलगं निचखान, तमुत्किरामि। यं समानोऽसमानो वा वलगं निचखान, सबन्धुरसबन्धुर्वा यं निचखान, तमुत्किरामि।

स्वामिदयानन्दस्तु—वाचकलुप्तोपमालङ्कारमङ्गीकृत्य मनुष्यैरस्यामीश्वरसृष्टौ धार्मिकविद्वदनुकरणं कार्यं नेतरेषामिति भावार्थमाह, तदतिमन्दम्, मन्त्रस्य तथार्थानवगमात्। यदपि च—'येन धार्मिकेण पुरुषेण रक्षांसि हन्यन्ते तथा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रकर्मणोरपि रक्षोघ्नत्वाविशेषात्। यच्च—'वलानि गाहते यस्तम्' इति, तदपि न, कर्मणो यज्ञस्य वाऽचेतनत्वेन वलगाहकत्वायोगात्। अत एव 'हे विद्वन्मनुष्य, यथाहं वलगहनं रक्षोहणं वाचमनुष्ठाय यं वलगमुत्किरामि, तथा त्वमपि तमेतमुत्किर' इति, तदप्यसङ्गतम्, वाचोऽनुष्ठानायोगात्। यच्च हिन्द्याम्—'हे विद्वन्, यथाहं वलगहनं वलविलोडकं रक्षोहणं (रक्षोघ्नं) कर्म वैष्णवीं वाचं व्यापकपरमेश्वरस्य वाचं वेदवाणीमनुष्ठाय यं वलगं बलप्रापकं यज्ञमुत्किराम्युत्कृष्टतया प्रेरयामि संसारे प्रकाशयामि, तथैव तं यज्ञं त्वमपि प्रकाशय' इति, तदप्यसङ्गतम्, उपमानस्य परमेश्वरत्वे तस्य नित्यसिद्धत्वेन वाचोऽनुष्ठातृत्वायोगात्, वेदवाण्या अपि नित्यसिद्धत्वेनानुष्ठेयत्वासम्भवाच्च। उत्पूर्वस्य किरतेः प्रकाशार्थकत्वमप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। वलगपदं बलप्रापकपरमित्यपि चिन्त्यम्, णिजर्थकत्वे बीजाभावात्। यदपि च—'यथा मे मम निष्ट्यो यज्ञकुशलोऽमात्यो मेधावी यं यज्ञं (इदं) भूगर्भविद्यापरीक्षार्थं स्थानं

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे विष्णुदेव, आप राक्षसों की नाशयित्री तथा अभिचारों को विनष्ट करनेवाली वैष्णवी वाणी का उच्चारण करें, क्योंकि आपकी वाणी से राक्षसों एवं कृत्याओं की शान्ति के द्वारा ही भक्तों का कल्याण हो सकता है। मेरे पारिवारिक जन, गृहवासी अथवा सहवासी ने जो अभिचार स्थापित किया है, उसे मैं उखाड़ कर विनष्ट करता हूँ। इसी प्रकार मेरे समान, असमान, सबन्धु, असबन्धु, सजातीय, असजातीय आदि के द्वारा स्थापित अभिचार को विनष्ट करता हूँ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत है, क्योंकि वाणी का अनुष्ठान संगत नहीं होता। वेदवाणी भी नित्यसिद्ध है, अतः उसकी अनुष्ठेयता सम्भव नहीं है। 'उत्' उपसर्गपूर्वक 'किर' धातु का प्रकाश अर्थ करना भी प्रमाण के अभाव के कारण असंगत है। 'वलग' पद बलप्रापक का बोधक है, यह भी चिन्तनीय है। इसी प्रकार 'वलग' पद का कृषिरूपी यज्ञ अर्थ है, यह भी निर्मूल है। परमेश्वर के सबन्धु, सजात आदि के सम्भव न होने के कारण भी व्याख्या अशुद्ध है ॥२३॥

निखनति, तथैव तं भृत्यः खनेत्। यथाह भूगर्भविद्यावान् यं वलगं बलप्रापकं कृषिरूपं यज्ञमिदं खननरूपं कर्म उत्किरामि सम्यक् सम्पादयामि, तथैव तं त्वमपि कुरु' इति, तदपि न सङ्गतम्, निष्ट्यो यज्ञकुशलः, अमात्यो मेधावीति व्याख्यानयोर्निर्मूलत्वात्। तथैव वलगपदस्य कृषिरूपो यज्ञोऽर्थ इत्यपि निर्मूलम्, तथा भोजनस्यापि बलप्रापकत्वेन तस्यैव वलगत्वापातात्। स्थानं निचखानेत्यत्र स्थानमिति कुत आनीतम्? मूलमन्त्रे तदभावात्। तथैव 'भृत्यः खनेत्' इति कथम्, यतो भृत्यपदमपि मूले नास्ति। मे मम समानोऽसमानः, मे मम सबन्धुरसबन्धुः, मे मम सजातोऽसजातः' इत्याद्यप्यशुद्धं व्याख्यानम्, परमेश्वरस्य सबन्धुसजाताद्यभावात्। यदपि—'अहमध्ययनाध्यापनादि यं वलगं भक्ति-बलप्रापकं यज्ञं पठनपाठनरूपं कर्म करोमि, तथा त्वमपि कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथार्थकल्पनाया निर्मूलत्वाद-तिप्रसङ्गाच्च। 'सबन्धुर्बन्धुर्मित्रं वा, असबन्धुस्तुल्यबन्धुरहितोऽमित्रो यं पालनरूपं यज्ञं कर्म निचखान निश्चितं करोमि, तथा त्वमपि कुरु। यथाहं सर्वस्य मित्रं यं राज्यबलप्रापकं यज्ञं कर्म वा सम्पादयामि, तथा त्वमपि कुरु, यथा मे सजातः सहोत्पन्नस्तद्विपरीतो यमुत्कृत्यामुत्तमक्रियां करोति, तथैव यज्ञक्रियां वा कुरु' इत्यादिकमपि न सङ्गतम्, पठन-पाठनपालनादीनां गौणवृत्त्यैव यज्ञत्वं न मुख्यवृत्त्या, मुख्यवृत्त्यार्थसम्भवे भाक्तस्य पक्षस्याग्राह्यत्वात्। वलगपदेन यज्ञ-स्यापि बोधनं व्यभिचरितमेव, यौगिकवृत्त्याऽपरिगणितवस्तूनां वलगत्वसम्भवात्। किञ्च, यं वलगं निचखानेत्यस्यानेकधावृत्तेः किं फलम्? एकेन वाक्येनैव तदर्थस्य ग्रहीतुं शक्यत्वात्। सिद्धान्ते तूपरवाणां चतुष्ट्वेन चतुर्धावृत्तिर्युक्तैव ॥२३॥

स्व॒राड॑सि सपत्न॒हा स॑त्त्र॒राड॑स्यभिमाति॒हा ज॑न॒राड॑सि रक्षो॒हा स॑र्व॒राड॑स्यमित्र॒हा ॥२४॥

'स्वराडसीत्यवमर्शयति यथाखातं प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ८.५.१३)। स्वराडिति मन्त्रैः खननक्रमेण उपरवा-नवमृशस्वेत्यध्येषणया यजमानमवमर्शयत्यध्वर्युः। तत्रायं प्रथमः स्वराडसि सपत्नहेति। हे प्रथमगर्त! त्वं स्वराडसि स्वयमेव राजसे स्वकीयमेव राज्यमस्येति वा स्वयं राजमानोऽसीति स्वराड् भवसि, अतः सपत्नहा शत्रुघाती, भवेति शेषः। अथ द्वितीयः—सत्रराडसि। सत्रेषु बहुयजमानकर्तृकेषु द्वादशाहादिषु राजत इति वा सत्रराडसि। अभिमातिहा, अभिमातिरननुकूलः शत्रुस्तं हन्तीति तथोक्तः, अभितो हिंसकोऽभिमातिस्तस्य हन्ता शत्रुघाती भव। अथ तृतीयः—जनराडसि जनेषु यजमानेषु राजत इति जनराडसि, रक्षांसि हन्तीति रक्षोहा भव। सोऽस्मानपि तथाभूतान् कुरु। सर्वत्र राजत इति सर्वराडसि, अमित्रान् हन्तीत्यमित्रहा, मितः सकाशात् त्राता मित्रमतथाभूतोऽमित्रस्तं हन्तीति तथोक्तः।

शतपथे तु—'तान् बाहुमात्रान् खनेत्। अन्तो वा एषोऽन्तेनैवैतत्कृत्यां मोहयति तानक्षणया सन्तृन्दन्ति यद्यक्षणया न शक्नुयादपि समीचस्तस्मादिमे प्राणाः परः सन्तृण्णाः' (श. ३.५.४.१४)। खननस्य प्रमाणमाह—बाहुमात्रान् खनेदिति।

मन्त्रार्थ—हे प्रथम गर्त! तुम स्वयं दीप्तिमान् हो, अतः शत्रुघाती हो। तुम्हारे अनुग्रह से हमारे शत्रु नष्ट हों। हे द्वितीय अवट! तुम द्वादशाह आदि सत्रों में दीप्तिमान् हो, हमसे घमण्ड करने वालों का नाश करो। हे तीसरे गर्त! तुम सबके सामने दीप्तिमान् हो, तुम राक्षसों का नाश करो। हे चतुर्थ गर्त! तुम सबके अधिपति और शत्रुघाती हो, तुम्हारे अनुग्रह से हमारे शत्रु नष्ट हों॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु क्रम से आग्नेय आदि कोणों में जलयुक्त हाथ से उपरवों (गर्तों) को चिकना करे ॥२४॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.१२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'स्वराडसि' इस कण्डिका के चार मन्त्रों द्वारा 'उपरव' नामक खोदे गये चार गर्तों का स्पर्श अध्वर्यु के निर्देशानुसार यजमान करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

दीर्घदण्डाकारो भुजपर्यन्तो बाहुः। अङ्गुलिप्रादेशाद्यपेक्षया बाहुप्रमाणस्यान्तत्वात् ततोऽधिकात् प्रदेशाद् मृदुद्धरणस्याशक्यत्वाद् बाहुमात्रस्यान्तत्वम्। छिद्राणामन्तरप्रदेशसन्तर्दनं तत्प्रकारं च विधत्ते—तानक्षणयेति। तिरश्चीनपूर्वयोर्दक्षिणस्यापरयोरुत्तरस्यान्तरालदेशं सतृन्दन्ति परस्याछेदनेन संयोजयन्ति। तेनावशिष्टयोरप्युक्तं भवति। तिरश्चीनवक्रस्याशक्यत्वे समीचेव ऋजुमार्गेण प्रादक्षिण्येनैव सन्तृद्यात् सम्भेदयेत्। तस्मादित्युभयसाधारणोऽर्थवादः। इमे प्राणा मुखच्छिद्राण्यन्तः सन्तृण्णानि। 'अक्षणया सम्भिन्द्यादशक्तौ सम्यक्' (का. श्रौ. ८.५.१२)। उपरवान् तिर्यग्रूपेणाधस्तात् परस्परच्छिद्रेण संयोजयेन्नोपरिष्टात्। 'सन्तृण्णा अधस्ताद्विधृता उपरिष्टात्' इत्यापस्तम्बः(७.६), सत्याषाढश्च(११.११.५)। आग्नेयं वायव्यं नैर्ऋत्यमैशानं च परस्परं सम्भेदयेत्। यद्यक्षणया तिरश्चीनं सम्भेत्तुं-न शक्नुयात्तदा ऋजुभावेनैव सम्भिन्द्यात्। आग्नेयनैर्ऋत्यौ, नैर्ऋत्यवायव्यौ, वायव्यैशान्यौ, ऐशानाग्नेयावित्येवं परस्परम्। अत्र पक्षे पूर्वयोः परस्परमसम्भेदनमिति कर्काचार्यः।

'तान् यथाखातमेवावमर्शयति। स्वराडसि सपत्नहा - - - सर्वराडस्यमित्रहेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते' (श. ३.५.४.१५)। अवमर्शयत्यन्तःप्रदेशस्य निम्नोन्नतत्वपरिहाराय सम्मृशेत्। 'पूर्वयोर्दक्षिणेऽध्वर्युर्भवत्यपरयोरुत्तरे यजमानः सोऽध्वर्युः पृच्छति यजमान किमत्रेति भद्रमित्याह तन्नौ सहेत्युपाꣳशुरध्वर्युः' (श. ३.५.४.१६)। अध्वर्युश्च यजमानश्च परस्परं हस्तस्पर्शं कुर्यातामित्यर्थः। तयोर्दिशं व्यवस्थापयति— 'पूर्वयोरुत्तरे यजमानः स यजमानः पृच्छत्यध्वर्यो किमत्रेति भद्रमित्याह तन्म इति यजमानस्तद्यदेवꣳ सम्मृशेते प्राणानेवैतत् सयुजः कुरुतस्तस्मादिमे प्राणाः परः संविद्रेऽथ यत्पृष्टो भद्रमिति प्रत्याह कल्याणमेवैतन्मानुष्यै वाचो वदति तस्मात् पृष्टो भद्रमिति प्रत्याहाथ प्रोक्षत्येको प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यानेवैतत्करोति' (श. ३.५.४.१७)। पूर्वस्मिन् संमर्शनवाक्येऽध्वर्युः पृच्छेत्, अत्र तु यजमान इति विशेषः। यजमानस्य स्वामित्वेन स्वातन्त्र्यादध्वर्युदृष्टस्यापि भद्रस्य स्वद्रव्यत्वात् 'तन्मे' इति ब्रूयात्। सम्मर्शनं प्राणसंयोगहेतुत्वेन प्रशंसति—तद्यदेवमिति। सह युञ्जत इति सयुजः, अन्तरेकीभूतान् कृतवन्तौ भवतः। अत इदानीन्तना मनुष्यशिरःस्थाः प्राणाः संविद्रे संविद्रते सङ्गता भवन्ति। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा. सू. ७.१.४१) इति तलोपः। 'वेत्तेर्विभाषा' (पा. सू. ७.१.७) इति रुट्। भद्रमिति यत्प्रतिवदनं तत्। एतन्मनुष्यैर्वाचः कल्याणं वदति, हस्तसंस्पर्शनकालकृतभद्रवचनप्रतिवदनमित्यर्थः। तस्माल्लौकिकवचनेषु भद्रत्वायावश्यं भद्रवचनं कर्तव्यम्। अथ प्रोक्षतीति प्रतिगर्तं प्रोक्षणस्य मेध्यत्वलक्षणोऽर्थवादः सर्वत्रैकविध एवेत्याह—एको प्रोक्षणस्य बन्धुरिति।

अध्यात्मपक्षे तु परमेश्वर एव सम्बोध्य स्तूयते—हे परमेश्वर, त्वं स्वेनैव राजसे दीप्यस इति स्वराडसि। सूर्यादीनामपि सापेक्षमेव स्वराट्त्वादिकम्। तस्य स्वसजातीयप्रकाशान्तरानपेक्षत्वेऽपि चक्षुर्मनोबुद्ध्यात्मप्रकाशसापेक्षत्वात्। परमेश्वरस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नतयाऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेन निरपेक्षमेव स्वप्रकाशत्वादिकम्। अतः सपत्नान् हंसीति सपत्नहाऽसि परमैश्वर्यवत्त्वेन कामितार्थदातृत्वात्। हे प्रभो, त्वं सत्रराडसि सत्रेषु राजमानत्वात् सत्रराडसि, सर्वयज्ञैरिज्यत्वात् सर्वयज्ञभोक्तृत्वाच्च। अत एव अभिमातिहाऽसि प्रतिकूलशत्रुविघातको भवेति शेषः। हे शिव, त्वं

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए स्तुति की गई है कि हे परमेश्वर, आप स्वयंप्रकाश हैं, अतः स्वराट् हैं। सूर्यादि का भी स्वराट् होना सापेक्ष है, क्योंकि उनको स्वसजातीय दूसरे प्रकाश की अपेक्षा न होते हुए भी चक्षु, मन, बुद्धि तथा आत्मप्रकाश की अपेक्षा है। परमेश्वर का तो निरपेक्ष स्वप्रकाशत्व है। परमैश्वर्ययुक्त होने के कारण वे अभिलषित पदार्थों के प्रदाता होकर शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। हे प्रभो, आप समस्त यज्ञों के द्वारा यजनीय तथा सभी यज्ञों के भोक्ता होने के कारण यज्ञों में प्रकाशित होते हैं, हमारे प्रतिकूल शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। हे शिवस्वरूप, आप समस्त प्राणियों में साक्षी के

जनराडसि जनेष्वपि सर्वसाक्षित्वेन त्वमेव राजसे तेन जनराडसि, तस्माद् रक्षोहा भव। सर्वराडसि सर्वेषु तेन तेन रूपेण त्वमेव राजसे, तस्मात् सर्वराडसि, तस्मादमित्रहासि, परमेश्वरस्य सर्ववाञ्छाकल्पतरुत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् मनुष्य, यतस्त्वं स्वराडसि तस्मात् सपत्नहा भवसि। यतस्त्वं सत्रराडसि तस्मादभिमातिहाऽसि। योजनेषु धार्मिकेषु विद्वत्सु राजते स असि अस्ति वा। रक्षोहो रक्षांसि दुष्टान् हन्ति सः। यः सर्वस्मिन् राजते स अस्त्यमित्रहा यो येन वा शत्रून् हन्ति सः'। द्वितीयान्वये—'यतोऽयं सूर्यलोकः स्वराडस्ति, तस्मात् सपत्नहा भवति। यतोऽयं सत्रराडस्ति तस्मादभिमातिहा वर्तते' इत्यादिकम्, तत्सर्वमसङ्गतम्, मनुष्यमात्रस्य स्वराट्त्वसत्रराट्त्व-जनराट्त्वाद्ययोगात्। सूर्यलोकोऽपि त्वद्रीत्याऽचेतन एवास्ते, तस्मात्तत्रापि स्वराट्त्वसपत्नहन्तृत्वादिकं नोपपद्यते। सिद्धान्ते तूपरवाधिष्ठातारो देवाश्चेतना ऐश्वर्यवन्तश्चेति तत्र स्वराट्त्व-सपत्नहन्तृत्वादिकमुपपद्यत एव ॥२४॥

रक्षोहणो॑ वो वलगहनः प्रोक्षा॑मि वैष्णवान् र॑क्षोहणो॑ वो वलगहनोऽवं॑नया॑मि वैष्णवान् र॑क्षोहणो॑ वो वलगहनोऽवं॑स्तृणा॑मि वैष्णवान् र॑क्षोहणौ॑ वां वलगहना उप॑दधा॑मि वैष्णवी र॑क्षोहणौ॑ वां वलगहनौ पर्यूं॑हामि वैष्णवी वैष्णवम॑सि वैष्णवाः स्थ॑ ॥२५॥

'प्रोक्षत्येनान् रक्षोहण इति भेदे मन्त्रावृत्तिः सान्निपातित्वात्' (का. श्रौ. ८.५.१९-२०)। लौकिकोदकेन आग्नेयकोणोपरवानारभ्य प्रदक्षिणं हस्तेनाध्वर्युरुपरवान् प्रोक्षेत्। भिन्नदेशानामुपरवाणामेकेन पाणिना युगपत्प्रोक्षणा-सम्भवेन भेदेन प्रोक्षणम्। भेदे च मन्त्रस्यावृत्तिः, सन्निपत्य हि करणमन्त्र उपकरोति। एवं च प्रथम उपरवे प्रयुक्तो मन्त्रो नेतरानभिदध्यात्। वैष्णवान् विष्णुदेवताकानुपरवान् प्रोक्षामि। कीदृशान्? रक्षोहणः राक्षसादिहन्तॄन्। वलगहनोऽभिचारहर्तॄन्। 'अवनयनावस्तरणे चावटवद्रक्षोहणो रक्षोहण इति' (का. श्रौ. ८.५.२१)। प्रोक्षणशेषो-दकस्य खातगर्त आसेचनमवनयनम्। गर्तानामुपरि लौकिकानां कुशानां खातक्रमेणावास्तरणमास्तरणम्। ते च यूपावटवत् कुर्यात्। मन्त्राभ्यां क्रमेण रक्षोहणो वलगहनोऽवनयामि, वैष्णवानवनयामि, अवाचीनमपः प्रापयामि,

---

रूप से विद्यमान होने के कारण 'जनराट्' हैं, अतः राक्षसों के विनाशक है। समस्त पदार्थों में उस उस रूप से प्रतिष्ठित होने के कारण आप 'सर्वराट्' हैं। अतः हे परमेश्वर, सम्पूर्ण कामनाओं के पूरक होने के कारण आप अमित्रों के विनाशक हैं।

स्वामी दयानन्द के अर्थ में मनुष्यमात्र के स्वराट्, सत्रराट्, जनराट् आदि न हो सकने के कारण असंगति है। उनके मत में सूर्यलोक भी अचेतन है, अतः उसमें भी स्वराट्त्व, शत्रुनाशकत्व आदि की संगति नहीं हो सकती ॥२४॥

मन्त्रार्थ—राक्षसों के नाशक, मारण-प्रयोग के नाशक, विष्णु सम्बन्धी उपरवों (गर्तों) का मैं प्रोक्षण करता हूँ। राक्षस-घाती अभिचारनाशक विष्णुसम्बन्धी तुमको सींच कर शेष जल अलग करता हूँ। तुमको मैं कुशाओं से ढकता हूँ। तुमको दो गर्तों पर रखता हूँ, तुम दोनों का पर्यूहण करता हूँ, फलक के मुख पर मिट्टी लगाकर दोनों फलकों को दृढ़ करता हूँ। हे अधिषवण! तुम विष्णुसम्बन्धी यज्ञ के रक्षक हो। हे पाषाणों! तुम यज्ञरक्षक विष्णु से सम्बद्ध हो॥ इस मन्त्र को पढ़ कर जल द्वारा उपरवों का प्रोक्षण कर गर्तों पर कुश बिछाकर अधिषवण चर्म को और सोमशिला को रखा जाता है॥२५॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.१९-२४) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'रक्षोहणो वः' इस कण्डिका के मन्त्रों से खोदे गये 'उपरव' नामक गर्तों का प्रोक्षण, शेष जल का प्रक्षेप, कुशाओं का आस्तरण (बिछाना), गर्तों के ऊपर सोम कूटने के साधन 'अधिषवण फलक' नामक पात्रों का स्थापन, मृत्तिका से अधिषवण फलक का दृढीकरण, चर्मास्तरण तथा उस पर पाँच पाषाणों का सोम कूटने के लिये स्थापन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

सिञ्चामीत्यर्थः। तथैव रक्षोहणो वलगहनो वैष्णवानुपरवानवस्तृणामि, अवाचीनान् दर्भांस्तृणामि, दर्भैराच्छादयामि। अन्यत् पूर्ववत्। 'तनूनुपरि कुशान् कृत्वाऽधिषवणे फलके द्व्यङ्गुलान्तरे प्रक्षालिते प्राची अरत्निमात्रे सन्तृण्णे वोपदधाति पर्यूहति च रक्षोहणौ रक्षोहणाविति' (का. श्रौ. ८.५.२२)। उपरवाणामुपरि सूक्ष्मान् कुशान् प्रागग्रानुदगग्रान् वाऽन्वास्तीर्य रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवान् इति मन्त्रेण वैकङ्कतेऽधिषवणफलके द्वे स्थापयेत। भेदे मन्त्रावृत्तिः। अधि उपरि षूयते कुट्यते सोमो ययोस्ते अधिषवणे, अधिषवणे च ते फलके (प्रस्तरे) चेत्यधिषवणफलके वारणे प्रादेशमात्रस्थूले। कीदृशे? परस्परं द्व्यङ्गुलान्तराले अद्भिः शोधिते प्रागग्रेऽरत्निमात्रदीर्घे सन्तृण्णे कीलकैः संयोजिते वा। द्व्यङ्गुलान्तराल इत्यनेनायं इत्यनेनायं विकल्पः। स च व्यवस्थितो विकल्पः। तत्राग्निष्टोमेऽसन्तृण्णे एव उक्थादावनेकसुत्ये च सन्तृण्णे एव। ततस्ते अधिषवणफलके पांसुभिस्तदन्तरालं द्व्यङ्गुलं परितश्च दार्ढ्याय चात्वालं मृदा पूरयति रक्षोहणाविति मन्त्रेण पर्यूहति च। सन्तर्दनं कपालवत् कीलेनोपश्लेषणमिति हरदत्तः।

मन्त्रार्थस्तु — यावधिषवणफलकविशेषौ, तौ रक्षसां वलगहनौ रक्षसां वलगापरपर्यायस्याभिचारस्य विनाशकौ वैष्णवी वैष्णवौ, लिङ्गव्यत्ययः, विष्णुदेवताकौ वां युवामुपदधामि, द्वयोर्गर्तयोरुपर्येकैकं फलकं स्थापयामि। अथ पर्यूहणमन्त्रः—रक्षोहणौ वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी पर्यूहामि मृदा परितश्छादयामि। 'तयोश्चर्माधिषवणं परिकृत्तꣳ सर्वरोहितं निदधाति वैष्णवमसीति' (का. श्रौ. ८.५.२३)। अधिषवणफलकयोरुपरि सर्वतो रक्तं कर्तनेन समीकृतं प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम आनडुहमधिषवणं चर्म निदध्यात्। अधि उपरि सोमः सूयते यत्र चर्मणि तच्चर्माधिषवणम्। हे चर्म, त्वं वैष्णवमसि यज्ञरक्षकविष्णुसम्बन्धि भवसि। 'तस्मिन् ग्राव्णः पञ्च वैष्णवाः स्थेति' (का. श्रौ. ८.५.२४)। तस्मिन्नधिषवणफलकेऽभिषवार्थान् पञ्च पाषाणान् निदध्याद् वैष्णवाः स्थेति मन्त्रेण। भेदे मन्त्रावृत्तिः। हे ग्रावाणः, यूयं वैष्णवाः स्थ यज्ञरक्षकविष्णुसम्बन्धिनो भवथ।

शतपथे—'स प्रोक्षति। रक्षोहणो वो वलगहन इति रक्षोहणो ह्येते वलगहनो ह्येते प्रोक्षामि वैष्णवानिति वैष्णवा ह्येते' (श. ३.५.४.१८)। समन्त्रकं प्रोक्षणं विधत्ते—'अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते। ता अवटेष्ववनयति तद्या इमाः प्राणेष्वापस्ता एवैतद्दधाति तस्मादेषु प्राणेष्विमा आपः' (श. ३.५.४.१९)। अवटेषु प्रोक्षणीशेषावनयनं प्रशंसति—तद्या इति। प्राणेषु कर्णनासादिविवरेषु या आपः सन्ति, ता एवैतदेतेनावनयनेन यज्ञशिरःस्थोपरवाख्यप्राणेषु स्थापितवान् भवति। तस्मादेषु मनुष्यप्राणेष्विमा आपः सन्ति। 'सोऽवनयति। रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवानित्यथ बर्हीꣳषि प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति तद्यानीमानि प्राणे लोमानि तान्येवैतद्दधाति तस्मादेषु प्राणेष्विमानि लोमानि' (श. ३.४.५.२०)। उपरवेषु प्रागग्राण्युदगग्राणि च बर्हींष्यवस्तृणाति। मनुष्यप्राणेषु मुखादिलोमान्येवैतद्दधाति। तस्मादेषु प्राणेष्विमानि लोमानि भवन्ति। 'सोऽवस्तृणाति। रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवानित्यथ बर्हींषि तनूनीवोपरिष्टात् प्रच्छादयति केशा हैवास्यैते' (श. ३.४.५.२१)। अवटानामुपर्यपि सूक्ष्माणां बर्हिषामाच्छादनं विधत्ते—अथ बर्हींषीति। केशा हैवास्यैत इति निर्दिश्यमानानि यद्यपि बर्हींषि, तथापि प्रतिनिर्दिश्यमानकेशापेक्षया 'एते' इति पुल्लिङ्गता। 'अथाधिषवणे फलके उपादधाति। रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवी इति हनू हैवास्यैते अथ पर्यूहति रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी इति दृꣳहत्येवैते एतदशिथिले करोति' (श. ३.४.५.२२)। ते चाधिषवणफलके अस्य हविर्धानस्य शिरसो हनुस्थानीये। फलके परिदृंहति परितो मृदा दृढीकुर्यात्। 'अथाधिषवणं परिकृत्तं भवति। सर्वरोहितं जिह्वा हैवास्यैषा तद्यत्सर्वं रोहितं भवति लोहिनीव हीयं जिह्वा तन्निदधाति वैष्णवमसीति

वैष्णवꣳ ह्येतत्' (श.३.४.५.२३)। रक्तवर्णं परिकृत्तमेतद् रक्तवर्णाया जिह्वायाः स्थाने भवति। तच्च वैष्णवमसीति मन्त्रेण निदध्यात्। 'अथ ग्राव्ण उपावरति। दन्ता हैवास्य ग्रावाणस्तद्यद् ग्रावभिरभिषुण्वन्ति यथा दद्भिः प्सायादेवं तत्तान्निदधाति वैष्णवाः स्थेति वैष्णवा ह्येत एतदु यज्ञस्य शिरः सꣳस्कृतम्' (श. ३.४.५.२४)। अधिषवणचर्मण्यभिषवसाधनान् पाषाणान् पञ्च आहरन्ति। ते चास्य हविर्धानस्य दन्तस्थानीयाः। तदेवोपपादयति—तद् यद् ग्रावभिरिति। यथा दन्तैर्भक्षयति, एवं तत्, 'प्सा भक्षणे'। पुरुषो वै यज्ञ इति प्रतिज्ञाय शिर एवास्य हविर्धानमिति यद्धविर्धानस्य शिरस्त्वं निर्दिष्टम् (श. ३.५.३.१-२), तदिदं यज्ञस्य शिरः संस्कृतम्। मध्यमच्छदिरादिसोमाभिषवप्रयोगजातमानुपूर्व्येणाभिधाय तत्तदवयवकल्पनयाऽभिहितम्। तेन तत्तदङ्गजातं तत्तदवयवध्यानेनानुष्ठीयमानं सन्महते फलाय भवतीति (तै. सं. ६.२.११) तैत्तिरीयश्रुतौ स्पष्टम्। ब्राह्मणानुसारेणैव कात्यायनादिभिः प्रयोगजातं सूत्रितम्, सायणोव्वटमहीधरादिभिश्च तथैव व्याख्याता मन्त्राः।

अध्यात्मपक्षे तु—रक्षोहणो राक्षसादिहन्तॄन् तथा वलगहनो भगवदंशभूतानुपासकान् प्रोक्षामि प्रोक्षणेन शोधयामि। कीदृशान्? वैष्णवान् विष्णुसम्बन्धिनः। तादृशानेव वो युष्मानहमवनयामि प्रापयामि, शक्तिमिति शेषः। तादृशानेव वैष्णवानवस्तृणामि बलवीर्यादिभिश्च छादयामि। किञ्च, युवामृत्विग्यजमानौ शिष्याचार्यौ वां युवां रक्षोहणौ वलगहनौ वैष्णवौ युवामुपदधामि स्थापयामि तन्निष्ठतोत्पादनेन। तथाविधौ तौ युवां पर्यूहामि दृढीकरोमि। हे साधकाः, यूयं वैष्णवा विष्णोः परमेश्वरस्य पुत्रा वा स्थ। हे समर्चासाधनजात, त्वं वैष्णवमसि विष्णुसम्बन्धित्वाद् वैष्णवमसीति परमेश्वरो जनान् सत्कर्मण्युपासने साधकान् प्रोत्साहयति।

दयानन्दस्तु—'हे सभाध्यक्षादयो मनुष्याः, यूयं यथा रक्षोहणः स्थ, तथा वलगहनोऽहं वैष्णवान् वो युष्मान् सत्कृत्यैतान् दुष्टान् युद्धे शस्त्रैः प्रोक्षामि। यथा रक्षोहणो यूयं नो दुःखानि हथ, तथा वलगहनोऽहं वो युष्मान् सुखैः सम्मान्यैतानवनयामि। यथा रक्षोहणो वो युष्मानेतांश्चावस्तृणीथ, तथा वलगहनोऽहमेवैतानवस्तृणामि। यथा रक्षोहणौ वलगहनौ यज्ञस्वामिसम्पादकौ वामुपधत्तस्तथैवाहमेतानुपदधामि। यथा रक्षोहणौ वलगहनौ वां या वैष्णवी क्रियास्ति, तथा पर्यूहतस्तथैवाहमपि तां पर्यूहामि। यद्वैष्णवं ज्ञानं वैष्णवी अस्यस्ति यूयं सर्वत ऊहथ, तथाहमपि पर्यूहामि। यथा यूयं वैष्णवाः स्थ, तथा वयमपि भवेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तशतपथादिव्याख्यानविरोधात्, अध्याहारबाहुल्याच्च। समाध्यक्षादयः सम्बोध्या इत्यत्र प्रमाणाभावोऽपि। सम्बोधकः परमेश्वरश्चेत्, तदा तस्य यथा यूयं वैष्णवाः स्थ, तथा वयमपि भवेम इत्याशास्त्यसम्भवात्। यथा यूयं रक्षोहणो दुःखानि हथेत्यादि तु निर्मूलमेव, मूले तथाविधपदाभावात्॥२५॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—राक्षस आदि के नाशक तथा भगवान् के अंशभूत वैष्णव उपासकों को मैं शुद्ध करता हूँ। इसी प्रकार आपको मैं शक्ति प्राप्त कराता हूँ। उन वैष्णवों का मैं बल-वीर्य आदि से आच्छादन करता हूँ और ऋत्विक् तथा यजमान अथवा शिष्य एवं गुरु दोनों में मैं भगवन्निष्ठता उत्पन्न करता हुआ प्रतिष्ठित होता हूँ, दोनों को मैं सुदृढ़ करता हूँ। हे साधकगण, आप लोग परमेश्वर विष्णु के पुत्र हैं। हे भगवदुपासना के साधन, तुम विष्णु से ही सम्बद्ध, अर्थात् वैष्णव हो। इस प्रकार परमेश्वर भगवान् प्राणियों को, साधकों को सत्कर्म एवं उपासना के लिये प्रोत्साहित करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ शतपथ ब्राह्मण आदि से विरुद्ध होने के कारण तथा अध्याहार की अधिकता के कारण उचित नहीं है। इन मन्त्रों से सभाध्यक्ष आदि सम्बोधित किये जाते हैं, इस कथन में भी कोई प्रमाण नहीं है। सम्बोधनकर्ता यदि परमेश्वर है, तो 'हम भी वैष्णव हों' इस प्रकार की कामना असम्भव है॥२५॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वा अपि॑ कृन्तामि। यवो॑ऽसि य॒वया॒स्मद्द्वेषो॑ य॒वयारा॑तीर्दि॒वे त्वा॒न्तरि॑क्षाय त्वा पृथि॒व्यै त्वा॒ शुन्ध॑न्तां लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पितृ॒षद॑नमसि ॥२६ ॥

अथौदुम्बरीमन्त्राः— 'औदुम्बरीं मिनोति यजमानमात्रीं यूपवच्छेतेऽभ्रयादि करोत्यावस्तरणादिति' (का. श्रौ. ८.६.२६-२७)। उदुम्बरवृक्षसम्बन्धिनीं काञ्चिच्छाखां सदोमण्डपमध्ये निखनेत्। सा च यजमानदेहपरिमिता पूर्वभूमौ शयित्वा वर्तते। अन्ये तु—'अन्तःपात्यात् षट् प्रक्रमान् यात्वा दक्षिणा सप्तमं महान्तं तत्रौदुम्बरीं मिनोति' इत्याहुः। अन्तःपात्यात् शङ्कोः षट् प्रक्रमान् प्राच्यां दिशि यात्वा शङ्कुं निखन्य तस्मात् सप्तमं महान्तं प्रक्रमं दक्षिणस्यां दिशि गच्छेत्। स च महान् प्रक्रमः पञ्चारत्न्यात्मकस्त्रिपदप्रक्रमात्मको वा सार्धचतुष्टयारत्न्यात्मको वाऽष्टोत्तरशताङ्गुलात्मको वा। तत्र सप्तमप्रपदान्ते यजमानप्रमाणामौदुम्बरीं शाखां गर्तं कृत्वा निखन्यात्। यजमानप्रमाणा च गर्तादुपरि कार्या। निखननार्हप्रदेशस्तु पञ्चमांशरूपस्ततोऽधिकः। यथा यूपस्यावटं खनितुमभ्रिस्वीकारमारभ्य दर्व्योपस्तरणपर्यन्तास्तत्तन्मन्त्रैरनुष्ठितास्तथैवात्राप्यनुतिष्ठेद् अभ्रिमादत्त इत्यादिरीत्या। हे अभ्रे, सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा त्वामाददे। त्वं तु नार्यसि। खननसाधनत्वेन कर्मोपयोगित्वान्नराणां सम्बन्धिन्यसि। अनेन परिलेखनेन रक्षसां यज्ञघ्नानां ग्रीवाः कण्ठप्रदेशान् छिनद्मि। 'यवोऽसीत्यप्सु यवानोप्य'(का. श्रौ. ६.२.१५)। क्वचित् पात्रस्थास्वप्सु यवान् प्रक्षिप्य प्रोक्षति — हे यव, धान्यविशेष! त्वं यवोऽसि, यौति पृथक्करोतीति यवः, मिश्रणभूतस्य यवनस्य कर्तासि। अस्मद् द्वेषो द्वेष्टॄन् शत्रून् दौर्भाग्यं वा अस्मद् अस्मत्तो यवय पृथक्कुरु। तथा रातीरस्मद् धनमपहृत्य पुनरस्मभ्यमदातॄनपि यवय पृथक्कुरु। अनेन सौभाग्यं प्रार्थ्यते। 'प्रोक्षत्यग्रमध्यमूलानि दिवे त्वेति प्रतिमन्त्रम्, प्रोक्षामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादिति, अवटे शेषमासिञ्चतीति' (का. श्रौ. ६.२.१५-१७)। क्वचित् पात्रस्थास्वप्सु यवान् प्रक्षिप्य ताभिरौदुम्बरीशाखाया अग्रं मध्यं मूलं च प्रोक्षेत। दिवे त्वेत्यादिषु त्रिषु मन्त्रेषु निराकाङ्क्षीकरणाय प्रोक्षामीति क्रियापदं प्रयोज्यम्, यतः साकाङ्क्षा ह्येते मन्त्राः, क्रियापदाभावात्। प्रोक्षणशेषं जलं गर्ते शुन्धन्तामिति मन्त्रेण क्षिपेत्। हे औदुम्बर्यग्रभाग, त्वां दिवे द्युलोकप्रीत्यर्थं प्रोक्षामीति शेषः। हे औदुम्बरीमध्यभाग, त्वामन्तरिक्षाय अन्तरिक्षलोकप्रीत्यर्थं प्रोक्षामि। हे औदुम्बर्याः शाखाया मूलभाग, त्वां पृथिवीलोकप्रीत्यर्थं प्रोक्षामि। 'अवटे शेषमासिञ्चति शुन्धन्तामिति'

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि! सविता देवता की प्रेरणा होने पर अश्विनीकुमार के बाहुभाव को प्राप्त अपनी भुजाओं से, पूषा देवता के हस्तभाव को प्राप्त अपने हाथों से तुम्हारा उपरव कार्य के लिये ग्रहण करता हूँ। मैं अध्वर्यु यज्ञविनाशक राक्षसों की गर्दनों को काटता हूँ। हे शस्य! तुम यव हो, हमारे शत्रु या दुर्भाग्य को हमसे दूर करो। हे गूलर की शाखा के अग्र भाग! द्युलोक की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। हे मध्य भाग! अन्तरिक्ष की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। हे मूल भाग! पृथ्वी की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। पितरों के निवासस्थान रूपी लोक शुद्ध हो। हे कुशाओं! तुम पितरों के बैठने के आसन हो॥ इस मन्त्र से गर्त के चारों ओर जल छिड़क कर जौ बोये जाते हैं, गूलर की शाखा को सींचा जाता है और गर्त के चारों ओर उत्तराग्र कुश बिछाये जाते हैं॥२६॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.२६-२७, ६.२.१५-१८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देवस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा उदुम्बर (गूलर) वृक्ष की शाखा गाड़ने के लिये खोदने के साधन 'अभ्रि' नामक यज्ञायुध का ग्रहण, जलपात्र में यवप्रक्षेप, जल से प्रोक्षण, शेष जल का गर्त में प्रक्षेप, तथा कुशाओं का आस्तरण—ये सब कार्य सम्पादित किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि में उपदिष्ट अर्थ याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल है।

(का. श्रौ. ६.२.१७)। पितरः सीदन्ति येषु लोकेषु ते पितृषदना लोकाः शुन्धन्तामुदकसेचनेन शुद्धा भवन्तु। खननोत्पन्नस्य क्रौर्यस्य शान्त्यर्थमिदमुदकसेचनम्, 'क्रूरमिव वा एतत्करोति यत्खनति यत्पयोऽवनयति शान्त्या तदिति' इति तित्तिरिवचनात्। 'बर्हींषि प्राञ्च्युदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीति' (का. श्रौ. ३.२.१८)। प्रागग्रानुदगग्रांश्च कुशान् तस्मिन्नवटे आस्तृणीत। पितरः सीदन्त्युपविशन्ति यस्मिंस्तत् पितृषदनम्। हे बर्हिस्त्वं पितृषदनमसि पितॄणामुपवेशनस्थानमसि।

सर्वमेतत् शतपथे स्पष्टम्। 'उदरमेवास्य सदस्तस्मात् सदसि भक्षयन्ति यद्धीदं किञ्चाश्नन्त्युदर एवेदꣳ सर्वं प्रतितिष्ठत्यथ यदस्मिन् विश्वे देवा असीदंस्तस्मात् सदो नाम त उ एवास्मिन्नेते ब्राह्मणा विश्वगोत्राः सीदन्त्यैन्द्रं देवतया' (श. ३.६.१.१)। हविर्द्धानस्य यज्ञशिरस्त्वमुक्त्वोपपाद्येदानीं सदसो यज्ञोदरत्वमुच्यते—उदरमेवास्य सदस्तस्मात् सदसि भक्षयन्ति। ऐन्द्रं देवतयेति। यथा हविर्धानं विष्णुदेवत्यम्, एवं सद इन्द्रदेवत्यमित्यर्थः। तृतीयाविधाने 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा. सू. २.३.१) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन तृतीया। 'तन्मध्य औदुम्बरीं मिनोति' (श. ३.६.१.२) इति सदोमध्ये औदुम्बरीं शाखां पुरुषमितां स्थूणारूपां मिनुयात्। औदुम्बर्या मध्यस्थानस्थापनयोग्यता दर्शिता— 'अन्नं वा ऊर्क्, ऊर्ग्वा उदुम्बरः' इति, 'देवा वै ऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठद् ऊर्ग्वा उदुम्बरः' (तै. ब्रा. १.१.२.१०) इति श्रुतेः। मध्ये हुतशेषस्य भक्षणात् सदस उदरत्वं युक्तमेव। अतः सदोमध्ये औदुम्बरीमानेनोदरमध्येऽन्नं स्थापितं भवति।

'अथ य एष मध्यमः शङ्कुर्भवति। वेदेर्जघनार्धे तस्मात् प्राङ् प्रक्रामति षड् विक्रमान् दक्षिणा सप्तममपक्रामति सम्पदः कामाय तदवटं परिलिखति' (श. ३.६.१.३)। मध्यदेशं विशिनष्टि—अथ य एष मध्यमः शङ्कुरित्यादि। सौमिकवेद्या जघनार्धस्य मध्यदेशे यः शङ्कुर्निखातः, ततः प्राक् षट् प्रक्रमान् विक्रम्य सप्तमं दक्षिणाभिमुखं विक्रम्य तत्र अवटं परिलिखेत्। 'सोऽभ्रिमादत्ते। देवस्य त्वा - - - नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषा वा एषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति' (श. ३.६.१.४)। 'अथावटं परिलिखति। इदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा - - - वज्रो वा अभ्रिर्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्राणाꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि' (श. ३.६.१.५)। 'अथ खनति। प्राञ्चमुत्करमुत्किरति यजमानेन सम्मायोदुम्बरीं परिवासयति तामग्रेण प्राचीं निदधात्येतावन्मात्राणि बर्हीꣳष्युपरिष्टादधि निदधाति' (श. ३.६.१.६)। उत्करं खातं मृन्निचयं प्राञ्चमवटस्य समीपे प्राग्देशे उत्किरति। यजमानेन सम्माय यजमानप्रमाणं कृत्वा परिवासयति, अवशिष्टमंशं छिनत्ति। तामौदुम्बरीं शाखामग्रेण अवटस्य प्राग्देशे प्राचीं प्रागग्रां स्थापयेत्। एतावन्मात्राण्यौदुम्बरीप्रमाणानि बर्हींषि, उपरिष्टाद् औदुम्बर्या उपरि निदधाति, आच्छादयेदित्यर्थः।

'अथ यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति। आपो ह वा ओषधीनाꣳ रसस्तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्त्योषधय उ हापाꣳ रसस्तस्मादापः पीताः केवल्यो न धिन्वन्ति यदैवोभय्यः सꣳसृष्टा भवन्त्यथैव धिन्वन्ति तर्हि हि सरसा भवन्ति सरसाभिः प्रोक्षाणीति' (श. ३.६.१.७)। औदुम्बरीप्रोक्षणसाधनानामपां यवसाहित्यं विधाय प्रशंसति—अथेति। उक्तमपां रसत्वं युक्त्या समर्थयते—तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्तीति। गतरसत्वान्न प्रीणयन्ति, केवलतण्डुलभक्षणे तृप्तेरदर्शनात्। 'धिन्विकृण्व्योर च' (पा. सू. ३.१.८०) इत्युप्रत्ययः, तत्सन्नियोगेन वकारस्याकारादेशः। ओषधीनां प्रतिज्ञातमब्रसत्वमुपपादयति—तस्मादापः पीताः केवल्यो न धिन्वन्तीति। यदा उभय्य ओषधय आपश्च संसृष्टाः स्युः, अथ तथा सति धिन्वन्ति। तर्हि तथा सति सरसा भवन्ति भवेयुः। केनाभिप्रायेणेत्याह—सरसाभिः प्रोक्षाणीति। तत्रैव शब्दव्युत्पत्तिप्रदर्शनमुखेन यवान् प्रशंसति—'तद्वै देवा अस्पृण्वत। त एतैः सर्वाः सपत्नानामोष-

धीरयुवत यदयुवत तस्माद्यवा नाम' (श. ३.६.१.९)। अस्पृण्वत सर्वा औषधीर्वाञ्छितवन्तः। त एतैर्यवैः सपत्नानामोषधीरयुवत अमिश्रयन्त, तस्माद् यवनसाधनत्वाद् यवा इति तन्नामनिर्वचनम्।

'ते होचुः। हन्त यः सर्वासामोषधीनाꣳ रसस्तं यवेषु दधामेति स यः सर्वासामोषधीनाꣳ रस आसीत्तं यवेष्वदधुस्तस्माद्यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदेते मोदमाना वर्धन्त एवꣳ ह्येषु रसमदधुस्तथो एवैष एतैः सर्वाः सपत्नानामोषधीर्युते तस्माद्यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति' (श. ३.६.१.१०)। सर्वौषधिरसानां यवेषु स्थापनं प्रत्यक्षप्रमाणेन द्रढयति—तस्मादिति। 'स यवानावपति। यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीरिति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यामेवैतत्करोति' (श. ३.६.१.११)। हे यवपदार्थ, त्वं यवोऽसि पृथक्कर्तासि, अतो यवय अस्मत्तोऽरातीनदानशीलानस्मत्तः पृथक्कुरु। अथ प्रोक्षतीति। एको वै प्रोक्षणस्य बन्धुः, यत्र यत्र प्रोक्षणमस्ति, तस्य सर्वस्यापि मेध्यमेवैतत् करोतीत्येवंरूपं ब्राह्मणमेकमेवेत्यर्थः। 'स प्रोक्षति। दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेतीमानेवैतल्लोकानूर्जा रसेन भाजयत्येषु लोकेषूर्जꣳ रसं दधाति' (श. ३.६.१.१२)। हे उदुम्बरशाखाग्र, दिवे द्युलोकप्राप्त्यर्थं त्वां प्रोक्षामि। हे तन्मध्यभाग, अन्तरिक्षलोकप्राप्त्यर्थं त्वां प्रोक्षामि। हे तन्मूलभाग, पृथिवीलोकप्राप्त्यर्थं त्वा प्रोक्षामि। 'अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते। ता अवटेऽवनयति शुन्धन्तां लोकाः पितृषदना इति पितृदेवत्यो वै कूपः खातस्तमेवैतन्मेध्यं करोति' (श. ३.६.१.१३)। शुन्धन्तामिति मन्त्रेण प्रोक्षणीशेषमवटेऽवनयेत्। पितरः सीदन्त्येष्विति ते पितृषदना भूम्यधोवर्तिनो लोकाः। प्रायेण गर्तस्य पित्र्यकार्येषु दर्शनादवटस्य पितृषदनत्वम्। तदेवाह—पितृदेवत्यो वै कूपः खातः। 'अथ बर्हीꣳषि। प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति पितृषदनमसीति पितृदेवत्यं वा अस्या एतद्भवति यन्निखातꣳ सा यथा निखातौषधिषु मिता स्यादेवमेतास्वोषधिषु मिता भवति' (श. ३.६.१.१४)। स्पष्टम्। सा यथा निखातौषधिष्विति। यथा वनेऽनिखाता स्वभावेनोत्पन्ना दृढमूला काचिदोषधिरोषधिषु सदोत्पन्नेषु तृणगुल्मादिषु मध्ये मिता भवति, तथैव सबर्हिष्के गर्ते मिता शाखाप्येवं भवति, मिता भवति।

अध्यात्मपक्षे तु—हे भगवदाराधनसामग्रि, सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे। त्वं परमेश्वरस्य नारि भार्यावत् सुखकरी असि। अहं भगवतोऽनुग्रहाद् रक्षसां विघ्नकारिणां ग्रीवाः कण्ठावयवानपि कृन्तामि। हे परमेश, त्वं यवोऽसि यवाद्यन्नवद् भक्तस्य भोग्योऽसि, 'अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नम्' (तै. उ. ३. १०. ६) इत्यादिश्रुतेः। अस्मद् अस्मत्तो द्वेषो द्वेष्टॄनरातीन् बाह्यानाभ्यन्तरांश्च शत्रून् यवयापगमय पृथक्कुरु। हे परमेश्वर, त्वा त्वामहं द्युलोकसुखाय अन्तरिक्षलोकसुखाय पृथिव्याः सुखाय तत्स्वामित्वाय तत्तद्धिताय वा समाश्रये भजामि। लोकाः सर्वे त्वदनुग्रहात् शुन्धन्तां पूता भवन्तु। त्वं पितॄणां तदुपलक्षितानां सर्वप्राणिनां सदनमाश्रयोऽसि। अतस्त्वदाश्रयणमेव सर्वयोगक्षेमकरम्।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे भगवदाराधन की सामग्री, सविता देवता की प्रेरणा से, अश्विनी देवों की भुजाओं से तथा पूषा देव के हाथों से मैं तुमको ग्रहण करता हूँ। तुम परमेश्वर के लिये भार्या की भाँति सुखकर हो। मैं भगवान् के अनुग्रह से विघ्नकारी राक्षसों की ग्रीवाओं को विच्छिन्न करता हूँ। हे परमेश्वर, आप यवादि अन्नों की भाँति भक्त के लिये भजनीय हैं। हमारे द्वेषी बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं को हमसे पृथक् कीजिये। हे परमेश्वर, मैं द्युलोकगत, अन्तरिक्षगत तथा पृथिवीगत सुख, स्वामित्व अथवा हित के लिये आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ। समस्त लोकों के प्राणी आपके अनुग्रह से पवित्र हो जाँय। आप पितृगण आदि सम्पूर्ण प्राणियों के आश्रयभूत हैं। अतः आपका आश्रयण ही समस्त योगक्षेम का सम्पादक है।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्य, यथाहं सवितुः प्रसवे त्वाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामनेकानुपकारानाददे, इदं विश्वं संरक्ष्य रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि, यथा पदार्थान् यावयामि तथा त्वमप्यादत्स्व। यतस्त्वं यवोऽसि। यवय च यथाहं द्वेषोऽरातीः शत्रूनस्मद्दूरीकारयामि तथा त्वमपि यवय। हे विद्वन्, यथाहं दिवे त्वा त्वामन्तरिक्षाय त्वा त्वां पृथिव्यै त्वामाश्रयामि, तथा सर्वे जना आश्रयन्ताम्। यथा पितृषदनमस्यस्ति, येन पितृषदना लोकाः शुन्धन्ति यदहं शुन्धे तथेदं सर्वे शुन्धन्ताम्। हे नारि, या त्वमेवंभूतासि त्वमप्येतत्सर्वमेव समाचर' इति, तदपि बालभाषितम्, मूले यथा-तथापदाभावात्, लुप्तोपमालङ्कारे च मानाभावात्। उपदेष्टुः साधारणत्वे तदनुकरणमनर्थकम्, परमेश्वरत्वे तथोपदेशासम्भवात्। नहि परमेश्वरस्य द्वेषोऽरातयो वा सम्भवन्ति, न च द्युलोकाद्यर्थं स कञ्चिच्छ्रयते, तस्य स्वातन्त्र्येणाप्तकामत्वात्। मूले 'त्वा आददे' इत्युक्तम्, त्वया तु 'अनेकानुपकारानाददे' इत्युच्यते, तच्च सर्वथा निर्मूलम्। इदं विश्वं संरक्ष्य ईश्वरो रक्षसां ग्रीवा अपि कर्तितुं शक्नोति, पदार्थांश्च यावयितुं शक्नोति, न तथाऽन्ये कर्तुं पारयन्तीति तथोपदेशो व्यर्थ एव। ईश्वरोऽपञ्चीकृतानि भूतानि यावनेन पञ्चीकरोति, न तथा जीवाः पञ्चीकरणं कर्तुं प्रभवन्ति। न चेश्वरो दिवे सत्यधर्मप्रकाशाय अन्तरिक्षगमनाय पार्थिवपदार्थानां पुष्टये विद्वांसमाश्रयते। पितृपदेन ज्ञानिपुरुषाणां ग्रहणमपि निर्मूलम्। 'यथा ज्ञानिषु स्थित्वा लोकाः शुन्धन्ति, तथाहं शुन्धे, सर्वे शुन्धन्ताम्' इत्यादिकमपि प्रलापमात्रम्, ज्ञानिनां स्थित्यनाधारत्वात्, परमेश्वरस्य नित्यं शुद्धिमत्त्वाच्च। अत्र प्रसङ्गे 'हे नारि, त्वमपि तथैव समाचर' इत्येतत्प्रलपनं मूर्खजनप्रतारणायैव, मूले समाचरणबोधकस्य पदस्याभावात्, मनुष्येष्वेव नारीणामप्यन्तर्भावेन पार्थक्येन तद्बोधनस्य व्यर्थत्वात् ॥२६ ॥

उद्दिवꣳ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह ॥२७॥

'तामुच्छ्रयति, अथ मिनोति, अथ पर्यूहति, अथ पर्यृषति, अथाप उपनिनयति, अथैवमभिपद्य वाचयति' (श. ३.६.१.१५-२०) इत्यादिशतपथश्रुत्यनुसारेणैव कात्यायनेनापि सूत्रितम्। तथाहि—'उद्दिवमित्युच्छ्रयति' (का. श्रौ. ८.५.२९)। औदुम्बरीमूर्ध्वाग्रत्वेन स्थापयेदुद्दिवमिति मन्त्रेण। 'द्युतान इति मिनोति' (का. श्रौ. ८.५.३०)। द्युतान इति

स्वामी दयानन्द के अर्थ में लुप्तोपमा अलंकार मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस उपदेश के कर्ता के साधारण जन होने पर उसका अनुकरण निरर्थक होगा। परमेश्वर के उपदेष्टा होने पर इस प्रकार का उपदेश संगत नहीं होगा। परमेश्वर के द्वेषी अथवा शत्रु सम्भव नहीं हैं और परमेश्वर द्युलोक के लिये किसी का आश्रय ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह स्वतन्त्र तथा पूर्णकाम है। पितृशब्द से ज्ञानी पुरुषों का अर्थबोधन भी मूलप्रमाण से रहित है ॥२६ ॥

मन्त्रार्थ—हे औदुम्बरी देवता! द्युलोक को स्तम्भित करो, अन्तरिक्ष को पूरित करो, पृथ्वी को दृढ़ करो। हे गूलर की शाखा! मित्रावरुण नामक दोनों देवता, दीप्तिमान् वायु देवता स्थिर रूप से तुमको गड्ढे में डालें। हे गूलर की शाखा! ब्राह्मणों और क्षत्रियों से सेवनीय, धनपुष्टि के लिये सेवनीय तुमको इस गड्ढे में मिट्टी डालकर दृढ़ करता हूँ। हे शाखे! तुम ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति को दृढ़ करो, जीवन को दृढ़ करो, पुत्र आदि प्रजा को दृढ़ करो॥ इस मन्त्र से गूलर की डाल को गड्ढे में डालकर उसे जल से और मिट्टी से भरकर एवं मैत्रावरुण दण्ड से कूट कर दृढ़ किया जाता है॥२७॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.२९-३१, ६.३.९-११) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'उद्दिवम्' इस कण्डिका के मन्त्रों द्वारा औदुम्बरी शाखा को उठाकर विधिपूर्वक गाड़ना तथा मैत्रावरुण नामक दण्ड से उसके चारों तरफ मिट्टी को सुदृढ़ करने का विधान किया गया है। शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रेण औदुम्बरीं गर्ते प्रक्षिपेत्। 'पर्यूहणाद्योपसेचनात् कृत्वा ध्रुवासीति वाचयत्यौदुम्बरीमालभ्य प्रजया भूयादिति पशुभिरिति वा' (का. श्रौ. ८.५.३१)। अवटे प्रक्षेपानन्तरं पांसुभिरवटपूरणाद्यारभ्य अद्भिरुपसिच्य—इत्येतत्पर्यन्तं यूपवदेव कृत्वा 'ब्रह्म दृꣳहेति मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यृषति' (का. श्रौ. ६.३.१०)। पांसुभिः पूरितं गर्तं सर्वतस्त्रिः कुट्टयेति। मैत्रावरुणदण्डेन पांसूनवटेऽधः प्रवेशयेत्। एवं श्रुतिसूत्रसम्मतविनियोगानुसारेणैव मन्त्रार्थाः प्रत्येतव्याः।

हे औदुम्बरि, त्वं दिवं द्युलोकमुत्तभान स्तम्भय। ऊर्ध्वं स्थित्वा यथा न पतेत् तथा द्युलोकं धारय। अन्तरिक्षं पृण सर्वतः पूरय, 'पृ पालनपूरणयोः'। पृथिव्यां दृꣳहस्व दृढा भव। सप्तमी द्वितीयार्थे वा, पृथिवीं दृढां कुरु, पृथिव्यामवस्थिता सती पृथिवीं दृढां कुरु वा। यद्वा—हे उदुम्बरशाखे, तवाग्रभागेन दिवमुत्तभान दिव उत्तम्भनं कुरु। स्वशरीरस्थौल्येनान्तरिक्षं पूरय। पृथिव्यां स्थिता पृथिवीमपि दृढां कुरु, पृथिव्याः शैथिल्येन शाखाया अपि दार्ढ्यायोगात्। हे औदुम्बरि, त्वा त्वां द्युतानो दीप्यमानो दिवि विततो वा, मारुतो मरुतां सम्बन्धी तन्नामको देवः, ध्रुवेण स्थैर्येण धर्मणा धारणेन मिनोतु अवटे प्रक्षिपतु, 'डुमिञ् प्रक्षेपणे', तथा मित्रावरुणौ तन्नामकौ देवौ मिनुतां त्वा प्रक्षिपताम्। हे औदुम्बरि, त्वां पर्यूहामि परितो मृत्तिकां क्षिपामि। कीदृशीं त्वाम्? ब्रह्मवनि, ब्रह्म ब्राह्मणजातिं वनस्यति संभजत इति ब्रह्मवनिः। क्षत्रवनि क्षत्रं क्षत्रियजातिं वनस्यति सम्भजत इति क्षत्रवनिः। रायो धनस्य पोषं पुष्टिं वनस्यति सम्भजत इति रायस्पोषवनिः। सर्वत्र 'सुपां सुलुक्' (पा. सू. ७.१.३९) इति विभक्तेर्लुक्। क्रियाविशेषणतया वा पर्यूहणविशेषणतया वा नपुंसकत्वमित्युव्वटः। वितर्कार्थ ऊहतिः परिपूर्वकोऽत्र पूरणार्थः। हे औदुम्बरि, मैत्रावरुणयोर्दण्डेन दृढीभूता सती ब्राह्मणजातिं क्षत्रियजातिमायुष्यं पुत्रादिरूपां प्रजां च दृढीकुरु। शतपथे तदभिप्रायोऽप्यर्थवादरूपेणोक्तः— 'उद्दिवꣳ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यामितीमानेवैतल्लोकानूर्जा रसेन भाजयत्येषु लोकेषूर्जꣳ रसं दधाति' (श. ३.६.१.१५)। ऊर्ध्वपोदुम्बरस्योच्छ्रयणेन द्युलोकादीन् ऊर्जा रसेन युक्तान् करोति, तत्र रसं दधाति, तेन मन्त्रपूर्वकेणौदुम्बर्या उच्छ्रयणेन सर्वलोका अन्नरसपूर्णा भवन्ति।

'द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोत्विति यो वा अयं पवत एष द्युतानो मारुतस्तदेतेन मिनोति मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणेति प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ। एतदधिदैवतम्, अहोरात्राभिमानौ देवौ' (ऐ. ब्रा. ४.२.४)। 'ब्रह्मवनि . . . . बह्वी वै यजुःष्वाशीस्तद् ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्त उभे वीर्ये रायस्पोषवनीति भूमा वै रायस्पोषस्तस्माद्भूमानमाशास्ते' (श. ३.६.१.१७)। ब्रह्मक्षत्ररूपे उभे वीर्ये रायस्पोषं चाशास्ते— 'ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳह प्रजां दृꣳहेत्याशीरेवैवैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते समं भूमिपर्यूहणं करोति गर्तस्य वा उपरि भूम्यथैवं देवत्रा तथा हागर्तमिद्भवति' (श. ३.६.१.१८)। पर्यृषणं परितः संघट्टनम्, 'ऋषि गतौ' इति धातोर्निष्पन्नं रूपम्। ब्रह्म दृंहेति मन्त्रो यजमानापेक्षितस्य फलस्य प्रतिपादक इत्याह—आशीरेवैतस्य कर्मण इति। एतस्य शाखादृंहणकर्मणः फलरूपाशीः प्रतिपाद्यते। परिघट्टनं पर्यृषणं भूमिप्रमाणमद्भिर्भूम्या समं समम्भूमि भूमिसमं करोति। व्यतिरेकमाह-गर्तस्य वा उपरिभूमि। अथैवं देवत्रेति देवेष्वन्वितो भवति। तथाहाऽगर्तमिद् भवति। तथा सति भूमिसाम्ये सत्यगर्तमिद् अगर्तमिता भवति शाखा। मिनोतेः कर्मणि क्विप्।

अध्यात्मपक्षे तु—त्रीन् लोकान् विक्रममाणं भगवन्तं वामनं भक्ताः स्तुवन्ति। हे वामन विष्णो, त्वं दिवं द्युलोकं स्वतेजसा उत्तभान धारय, अन्तरिक्षं च स्वसत्तया आपूरय पृथिवीं च दृढां कुरु। द्युताना दिवि विस्तारवान् मातरिश्वा

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—भक्तगण तीनों लोकों को अधिकृत करने वाले भगवान् वामन की स्तुति करते हैं कि हे विष्णुदेव, आप द्युलोक को अपने तेज से धारण करें, अन्तरिक्ष को अपनी सत्ता से व्याप्त करें तथा पृथिवी को सुदृढ़ करें। द्युलोक

त्वां ध्रुवेण धर्मणा स्थिरेण धारकेण प्रयत्नेन त्वामभिलक्ष्य मिनोतु प्रक्षिपतु, अस्मत्समर्पितं पुष्पाञ्जलिमिति शेषः। मित्रावरुणौ वसुविशेषौ प्राणोदानौ च मनुतः, सपर्यां समर्पयतः। ब्रह्मवनि क्षत्रवनि त्वा ब्राह्मक्षात्रतेजःप्रदं त्वां रायस्पोषवनि धनानामाध्यात्मिकानां ज्ञानवैराग्यादीनां भौतिकानां गोभूहिरण्यादीनां संविभक्तारं त्वामहं त्वदुपासकः पर्यूहामि स्तुतिभिर्वर्धयामि। त्वं च ब्रह्म ब्राह्मं क्षात्रं च तेजो दृंह, आयुः सफलय, सदाचारमयीं प्रजां च त्वदाराधनोपयोगिनीं वर्धय।

दयानन्दस्तु—'हे परमविद्वन्, यथा त्वां मारुतो वायुः, ध्रुवेण निश्चलेन धर्मणा धर्मेण मिनोतु प्रक्षिपति (हिन्दीभाष्ये प्रयुङ्क्ते), मित्रावरुणौ प्राणापानौ मिनुतस्तथा त्वं कृपयास्मदर्थं दिवं गुणानां प्रकाशमुत्तभान अज्ञानादुद्घाटय (हिन्दी) तथान्तरिक्षं पृण परिपूरय। पृथिव्यां द्युतानः सुखानि दृंहस्व। सद्विद्यागुणान् प्रकाशयन् सुखानि वर्धय। ब्रह्म वेदविद्यां विद्वांसं वा क्षत्रं राज्यं वीरं वा वर्धय, आयुर्जीवनं प्रजामुत्पादनीयां धनसमूहं पुष्टिं वर्धय। ब्रह्मविद्यासेवितारं सेवयितारं क्षत्रस्य संसेवयितारं रायस्पोषस्य सेवयितारं त्वां पर्यूहामि सर्वप्रकारेण तर्कैर्निश्चिनोमि। तथैव त्वं मां सर्वसुखदायको भव, सर्वे मनुष्यास्तर्कैस्त्वां जानन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राक्षराननुगुणत्वात्। परमविद्वानत्र केन प्रमाणेन सम्बोध्यते? औदुम्बरीशाखावच्छिन्नचैतन्यरूपा तदधिष्ठात्री देवताऽत्र सम्बोधनीयेत्यत्र तु श्रुतिसूत्राणि प्रमाणानीति दर्शितमेव। वायुर्विद्वांसं प्रक्षिपति वा प्रयुङ्क्ते वेत्यपि प्रमाणशून्यमेव। कथं च मिनोतिः प्रक्षेपणार्थः? कथं वा दिवमित्यस्य विद्याप्रकाशोऽर्थः? कथं वा उत्तभानेत्यस्योद्घाटनमर्थः? परमविद्वान् कथमायुर्वर्धयिष्यति? कथं च प्रजां वर्धयिष्यति? अत्र किं नियोगादिना प्रयोजनम्? सर्वत्र मनुष्याः कथमेकं विद्वांसं तर्कैर्ज्ञास्यन्ति? प्रश्नोत्तराभ्यामेव तज्ज्ञानं सम्भवति, ऊहायास्तत्र किं प्रयोजनम्? किं च तज्ज्ञानफलम्? इत्याद्यसमाहितमेव। शतपथविरोधस्तु स्पष्ट एव॥२७॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्। घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य च्छदिरसि विश्वजनस्य छाया॥२८॥

'अथाप उपनिनयति। यत्र वा अस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादप उपनिनयति' (श. ३.६.१.१९)। मृत्परमाणूनां संश्लेषायापः सिञ्चति। अस्या भूम्या भागं खनन्त-

---

में विस्तृत वायु हमारे द्वारा प्रदत्त पुष्पाञ्जलि आदि को स्थिर एवं धारण करने वाले प्रयत्न से आपके प्रति प्रेषित करे। प्राण एवं उदान वायु विशेष सपर्या का समर्पण करते हैं। ब्राह्म एवं क्षात्र तेज को प्रदान करने वाले, आध्यात्मिक ज्ञान-वैराग्य आदि धनों का तथा भौतिक धनों का वितरण करने वाले आपका मैं उपासक स्तुतियों से अभिवर्धन करता हूँ। आप ब्राह्म एवं क्षात्र तेज सुदृढ़ करें तथा आयुष्य को सफल करें। सदाचारमयी आपकी आराधना के लिये उपयोगी प्रजाओं को बढ़ावें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ मन्त्राक्षरों के अनुकूल न होने के कारण असम्बद्ध है। परम विद्वान् इस मन्त्र में किस प्रमाण से सम्बोधित है? 'दिवम्' इसका अर्थ विद्याप्रकाश कैसे है? 'उत्तभान' का अर्थ 'उद्घाटन करो' यह कैसे हो सकता है? इत्यादि प्रश्न अनुत्तरित ही रहते हैं॥२७॥

मन्त्रार्थ—हे शाखा! तुम स्थिर हो। यह यजमान भी सन्तान और पशुओं के साथ अपने स्थान में स्थिरता से रहे। घृत की आहुति से पृथ्वी और स्वर्गलोक पूरित हों। हे तृण की चटाई! तुम ऐश्वर्यवान् यजमान के इस मण्डप को छाने वाली, सब लोगों की छायारूप हो॥ इस मन्त्र से गूलर की शाखा का स्पर्श करे, शाखा की जड़ में घृत की आहुति दे और मण्डप बना कर तृण की चटाई से उसे छा दे॥२८॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.५.३१-३३, ८.६.७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'ध्रुवासि' इस कण्डिका के मन्त्रों से औदुम्बरी शाखा का स्पर्श करते हुए मन्त्रवाचन, द्विशाख प्रदेश में होम, छदि (छादन या छप्पर) का आच्छादन आदि कार्य किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

स्तामेव भूमिमक्रूरां सतीं क्रूरीकुर्वन्ति। तत्रापः शमनहेतुत्वात् शान्तिः, अतोऽद्भिः शान्त्या क्रौर्यशमनमदृष्टं प्रयोजनम्, सन्धानं तु संहतिहेतुत्वेन दृष्टं प्रयोजनम्। 'अथैवमभिपद्य वाचयति ध्रुवासीति. . . स्रुवेणोपहत्याज्यं विष्टपमभिजुहोति घृतेन द्यावापृथिवीति' (श. ३.६.१.२०-२१)। विष्टपं विशाखमभितो विष्टपस्याग्रभागस्याभितो यथा शाखाया अग्रभागो मूलभागो मध्यभागश्चाक्ता भवेयुस्तथाज्यं जुहोति घृतेनेति मन्त्रेण। 'अथ छदिरधिनिदधाति इन्द्रस्य छदिरिति' (श. ३.६.१.२२)।

तथैव कात्यायनोऽपि—'पर्यूहणाद्योपसेचनात् कृत्वा ध्रुवासीति वाचयत्यौदुम्बरीमालम्भ्य प्रजया भूयादिति पशुभिरिति वा' (का. श्रौ. ८.५.३१)। अवटे प्रक्षेपानन्तरं पांसुभिरवटपूरणाद्यारभ्य अद्भिरुपसिच्येत्येतत्पर्यन्तं यूप इव औदुम्बर्यामपि कृत्वा औदुम्बरीमालभस्वेत्यध्येषणया यजमानेन औदुम्बर्या आलम्भनं कारयित्वा ध्रुवासीति मन्त्रं वाचयेत्। आलम्भनं स्पर्शनम्। तत्र मन्त्रे प्रजया भूयात् पशुभिर्भूयादिति वोच्चारयेत्, नोभयं प्रजया पशुभिरिति। 'स्रुवेण विशाखे जुहोति घृतेन द्यावापृथिवी इति' (का. श्रौ. ८.५.३२)। यत्र द्विविधशाखोत्पत्तिस्तत्र कर्णे वलिकानिधानप्रदेशे हिरण्यं निधाय स्रुवेण जुहुयात्। 'भूमिप्राप्ते स्वाहाकरोति' (का. श्रौ. ८.५.३२)। औदुम्बर्या द्विशाखे प्रक्षिप्तमाज्यं यदा भूमिं प्राप्नोति, तदा मन्त्रान्ते स्वाहाकारं कुर्यात्। 'इन्द्रस्य छदिरिति मध्यमं छदिरारोप्यापरपूर्वे च' (का. श्रौ. ८.६.७)। सदस उपरि नव छदींषि भवन्ति। तानि सर्वाण्युदगग्राण्येव। तत्र दक्षिणतस्त्रीणि मध्ये त्रीणि उत्तरतस्त्रीणि—इति नवानां छदिषां स्थापनम्। तत्रापि दक्षिणतो यानि छदींषि सन्ति, तेषु मध्यमच्छदिर्मन्त्रेणारोप्य ततस्तमेव मन्त्रमनुकृष्य तेनैव मन्त्रेण पूर्वनिहिताच्छदिषोऽपरस्मिन् भागे एकं छदिरारोपयेदुदगग्रम्, एवं पूर्वभागेऽप्येकमुदगग्रं तेनैव मन्त्रेणारोपयेत्। 'नवच्छदिः सदो नवाग्निष्टोमे पञ्चदशोक्थ्ये षोडश षोडशिनि सप्तदश वाजपेये एकविंशतिः सत्राहीनाना त्रीणि मध्यमानि त्रीणि दक्षिणानि त्रीण्युत्तराणि' (१०.११.१२) इत्यापस्तम्बः।

मन्त्रार्थस्तु—हे औदुम्बरि, त्वं ध्रुवा स्थिरासि। त्वमिव यजमानोऽस्मिल्लोके स्वकीय आयतने ध्रुवो भूयात् स्थिरो भवतु। हे द्यावापृथिव्यौ शाखाग्रमूलवर्तिन्यौ, हूयमानेन घृतेन युवां पूरिते भवेताम्। सदोनामकस्य मण्डपस्य प्रावरणार्थं मध्यमं कटमारोपयन्नाह—हे तृणनिर्मितकट, त्वमिन्द्रस्य सदोमण्डपस्य छदिरसि प्रच्छादकमसि। अतस्त्वां प्रावरणायारोपयामि। त्वं सदोमण्डपवर्तिनो विश्वजनस्य यजमानत्वग्रूपस्य सर्वप्राणिनश्छाया भवेति शेषः। विश्वगोत्रा ह्यस्मिन् ब्राह्मणा आसन्। सदस इन्द्रदेवताकत्वेनेन्द्रत्वम्। शतपथे द्यावापृथिवीपूर्त्यभिधानस्य प्रयोजनमुक्तम्— 'तदिमे द्यावापृथिवी ऊर्जा रसेन भाजयत्यनयोरूर्जꣳ रसं दधाति ते रसवत्या उपजीवनीये इमा प्रजा उपजीवन्ति' (श. ३.६.१.२१)। ऊर्ग्रूपौदुम्बरयुक्तेन आज्येन यद् द्यावापृथिवीपूरणम्, तदूर्ग्रसेनैव द्यावापृथिवीपूरणं कृतं स्यात्। तेनानयो रसं दधाति ते रसवत्यौ उपजीवनीये इमाः प्रजा उपजीवन्ति। 'इन्द्रस्य छदिरसीत्यैन्द्रꣳ हि सदो विश्वजनस्य छायेति विश्वगोत्रा ह्यस्मिन् ब्राह्मणा आसते तदुभयतश्छदिषी उपदधात्युत्तरतस्त्रीणि परतस्त्रीणि तानि नव भवन्ति त्रिवृद्वै यज्ञो नव वै त्रिवृत् तस्मान्नव भवन्ति' (श. ३.६.१.२२)। इन्द्रदेवताकत्वात् सदोऽत्रेन्द्रः। तस्याच्छादकमसि। तथा विश्वजनस्य विश्वेषां सदसि स्थितानां जनानां छायाहेतुत्वाच्छायासि। उभयतश्छदिषी उपदधातीति। मध्यमस्य छदिष उभयतो दक्षिणोत्तरयोस्तानि मध्यमच्छर्दींषि त्रीण्यप्युपधाय तेषामुत्तरतस्त्रीणि छदींष्युपदध्यात्। परः परस्तादपि दक्षिणतोऽपि त्रीण्युपदधाति। छदिषो नवत्वं प्रशंसति—तानि नव भवन्ति त्रिवृद्वै यज्ञ इति। त्रिवृत्स्तोमसाध्यत्वाद् यज्ञस्य त्रिवृत्त्वम्। स च त्रिवृत्स्तोमो नव वै नवस्तोत्रियात्मकः खलु, तिसृभ्यो हिङ्करोति स एकया' (३.१) इत्यादिसामताण्ड्यब्राह्मणानुसारेण त्रिवृत्स्तोमे तिसृणामृचां नवत्वसम्पादनात्। तस्माच्छदिषां नवत्वं युक्तम्।

'तदुदीचीनवꣳशꣳ सदो भवति प्राचीनवꣳशꣳ हविर्धानमेतद्वै देवानां निष्केवल्यं यद्धविर्धानं तस्मात्तत्र नाश्नन्ति न भक्षयन्ति निष्केवल्यꣳ ह्येतद्देवानाꣳ स यो हात्राश्नीयाद्वा भक्षयेद्वा मूर्धा हास्य विपतेदथैते मित्रे यदाग्नीध्रं च सदश्च तस्मात्तयोरश्नन्ति तस्माद् भक्षयन्ति मिश्रे ह्येते उदीची वै मनुष्याणां दिक् तस्मादुदीचीनवꣳशꣳ सदो भवति' (श. ३.६.१.२३)। सदस उदगायतत्वं विधायोदीचीनवंशत्वं प्रशंसति — तदुदीचीनवंशं सदो भवतीति। निःशेषेण देवानामेव भवति हविर्धानं तस्मात्तस्य निष्केवल्यरूपत्वम्। तस्मादेव तत्र पुरोडाशादिकं नाश्नन्ति सोमादिकं न भक्षयन्ति। अशनादौ भक्षणे च मूर्धपातलक्षणं दोषमुक्त्वा आग्नीध्रसदसोर्मिश्रत्वं स्तोत्रशस्त्राद्याश्रयत्वाद्दैवम्, भक्षणादिसम्भवान्मानुषं च, तस्मान्मिश्रत्वं तयोः। प्रायेणोदीच्यां मनुष्यवृद्धिदर्शनान्मनुष्यसम्बन्धोक्तिः। सदोनिर्माणप्रकारश्च 'नाभिदघ्नं सदो मत्या वा (यथाबुद्धि वा) उदग्वंशमष्टादशारत्नि एकविंशतिश्चतुर्विंशतिर्वा नव तिर्यग् अर्धायामो वा औदुम्बरीं मध्ये पृष्ठ्यामेके इन्द्रस्य छदिरिति मध्यमं छदिरारोप्यापरपूर्वे च त्रिवर्गौ चोत्तरतः' (का. श्रौ. ८.६.१-८)। नाभिप्रमाणं सदोमण्डपं प्रान्तेपून्नतं भवति। इच्छया प्रान्तेषून्नता कार्या। मध्यमो वंश उदगायतो भवति। त्रिष्वपि पक्षेषु नवारत्नयो विस्तारप्रमाणं भवति। अथवा आयामस्य दैर्घ्यस्यार्धप्रमाणो विस्तारः कार्यः। सदसस्तिर्यक्प्रमाणस्य मध्ये, अर्थान्नवारत्नयस्तिर्यक्प्रमाणं तस्यार्धं सार्धचतुररत्नयः। तत्रौदुम्बरी यथा स्यात्तथा सदोमण्डपं कुर्यात्। एके पृष्ठ्यां मध्यस्थां कुर्वते। 'वेदेर्मध्यरेखा पृष्ठ्या' (का. श्रौ. ८.३.१२)। इन्द्रस्य छदिरिति व्याख्यातमेव।

अध्यात्मपक्षे तु—हे राजराजेश्वरि, त्वं कूटस्थचिद्रूपत्वाद् ध्रुवासि। त्वत्प्रसादादयं यजमानः स्वकर्मणा त्वदाराधनमीहमान उपासकोऽपि पशुभिः प्रजाभिश्च ध्रुवः प्रतिष्ठितः स्यात्। बहिरङ्गान्तरङ्गसाधनैश्च त्वयि चित्तस्थैर्यवान् भूयात्। युवामुपास्योपासकौ घृतेन स्वास्थ्यकरेण ब्रह्मानन्दात्मकेन रसेन द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ तत्स्थान् प्राणिनश्च पूर्येथां पूरयेथाम्, अन्तर्भाविणिजर्थः। यद्वा सीतारामौ रुक्मिणीकृष्णाविह चर्चितौ। हे सीते, रुक्मिणि वा, त्वं कूटस्थचिद्रूपत्वाद् विश्वभर्तुः परमेश्वरस्य यजमानस्य लोकसंग्रहाय यज्ञे दीक्षितस्य पत्नीत्वाद् ध्रुवासि पत्नीशालायां स्थिरासि। यजमानोऽयं श्रीरामः श्रीकृष्णो वा प्रजया पशुभिरस्मिन् विस्तृते विश्वस्मिन्नायतने ध्रुवो भूयात्, भगवत्याः प्रभावादेव परस्मिन् पारमैश्वर्यदर्शनात्, 'पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम्' इत्याद्युक्तेः। युवां घृतेन सर्वसुखतत्साधनादिभिः, द्यावापृथिव्यौ पूर्येथां पूरयेथामिति भक्तानामाशीः। सर्वस्यैव वेदस्य धर्मब्रह्मपरत्वेन सीतारामयो रुक्मिणीकृष्णयोश्च दिव्यदम्पत्योर्ब्रह्मरूपत्वेन तत्परं व्याख्यानं नासमञ्जसम्।

दयानन्दस्तु—'हे यज्ञानुष्ठात्रि यजमानपत्नि, यथा त्वमस्मिन्नायतने जगति स्वस्थाने यज्ञे वा प्रजया पशुभिः सह ध्रुवासि, तथा यजमानोऽपि ध्रुवोऽस्ति। युवां घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथां पूरणे कुर्यातम्। इन्द्रस्य छदिरसि। विश्व-

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—'हे राजराजेश्वरि, आप कूटस्थ चिद्रूपिणी होने के कारण ध्रुव हैं। आपके अनुग्रह से यह यजमान उपासक भी आपकी आराधना की इच्छा रखता हुआ पशुओं तथा प्रजाओं से सुप्रतिष्ठित हो जाय, बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों से आपके प्रति स्थिरचित्तयुक्त हो जाय। आप दोनों उपास्य तथा उपासक, स्वस्थता प्रदान करने वाले ब्रह्मानन्दरूपी रस से द्युलोक एवं पृथिवी में स्थित प्राणियों को परिपूर्ण बनावें। अथवा श्रीसीताराम और श्रीरुक्मिणीकृष्ण यहाँ वर्णित हैं। हे सीता अथवा रुक्मिणी, आप चिद्रूप विश्वपालक परमेश्वर लोकपालक के यज्ञ में दीक्षित भगवान् की पत्नी होने के कारण स्थिर हैं। यजमानरूपी श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण भगवान् प्रजाओं एवं पशुओं से विस्तृत इस विश्वायतन में स्थिर रहें। आप दोनों समस्त सुखसाधनों से द्युलोक एवं पृथिवी को परिपूर्ण करें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मूलरहित होने के कारण असंगत है। यजमानपत्नी में स्थिरता अथवा यजमान में स्थिरता का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि व्यवहारदशा में कर्म की ही प्रधानता है, स्थिरता तो दोष है॥२८॥

जनस्य छायासि, यत्सङ्गेन प्राणिसमूहः सुखीभूयात्। अस्मात् तां तं वयं प्रशंसामः' इति, तदप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। ध्रुवेति स्त्रीलिङ्गदर्शनमेव मूलमिति चेत्, वेदेरपि स्त्रीलिङ्गत्वेन व्यभिचारात्, शतपथादिप्रमाणेन तु तत्रोदुम्बरशाखाया एव प्रकृतत्वेन सम्बोधनीयत्वात्। न च यजमानपत्न्यां ध्रौव्यं सम्भवति, न वा यजमानस्य ध्रौव्यं विधीयते, व्यवहारे कर्मण एव प्राधान्येन स्थैर्यस्य दूषणत्वात्। पशुभिः प्रजाभिश्च प्रतिष्ठालक्षणं ध्रौव्यं तु फलमुक्तम्। यदपि हिन्दी-भाष्यानुसारेण 'दृढसङ्कल्पत्वमेव ध्रौव्यम्' इति, तदपि तुच्छम्, तथात्वे यजमानस्येव यजमानपत्न्या अपि तस्य साध्यत्वेन दृष्टान्तानुपपत्तेः, सिद्धस्योदाहरणत्वसम्भवात् ॥२८॥

परि॑ त्वा गिर्वणो॒ गिर॑ इ॒मा भ॑वन्तु वि॒श्वतः॑। वृ॒द्धायु॒मनु॒ वृद्ध॑यो॒ जुष्टा॑ भवन्तु॒ जुष्ट॑यः ॥२९॥

'तत्परिश्रयन्ति परि त्वेति' (श. ३.६.१.२४) इति सदसः समन्त्रकं परिश्रयणं विहितम्। कात्यायनेनापि—'परि त्वेति परिवार्य परिषीवणग्रन्थ्यभिमर्शनान्यैन्द्रैः' (का. श्रौ. ८.६.९)। पूर्वादिक्रमेण कटैः परि त्वेति मन्त्रेण सदोमण्डपं सर्वत आच्छाद्य (प्रतिकटं मन्त्रावृत्तिः) हविर्धानमण्डपे यानि परिषीवणग्रन्थ्यभिमर्शनानि पूर्वपश्चिमद्वारद्वये कृतानि, तानि सर्वाणि प्रकृतसदोमण्डपेऽप्यैन्द्रमन्त्रेण कर्तव्यानि। ऐन्द्र्यनुष्टुब् निरुक्ता मधुच्छन्दोदृष्टा। मन्त्रार्थस्तु—इन्द्रः सदोऽभिमानी गिर्वणः। हे गिर्वण! सदोमण्डपगीर्भिर्वननीय सम्भजनीय हे इन्द्र, अस्माभिः प्रयुज्यमाना इमाः स्तोत्रशस्त्ररूपा गिरः, त्वां विश्वतः सर्वतः कटरूपेण परिभवन्तु वेष्टयन्तु परिगृह्णन्तु वा। कीदृश्यो गिरः? वृद्धायुं दीर्घायुषं त्वामनु। किञ्च जुष्टयः, अस्मत्सेवास्तव जुष्टाः प्रिया भवन्तु। जुष्टयः प्रीणयन्त्यो वाचः, जुष्टाः प्रीता भवन्तु, त्वां परिगृह्णानास्त्वया परिषेविताः प्रीतिकरा भवन्तु। तव गिरां च वृद्धिजोषावुपर्युपरि वर्धेतामित्यर्थः। यद्यपि 'परौ भुवोऽवज्ञाने' (पा. सू. ३.३.५५) इति परिपूर्वो भवतिरवज्ञानार्थक एव, तथापि प्रकृते परिभवन्त्वित्यस्य वेष्टयन्तु गृह्णन्तु वेत्येवार्थः। कीदृश्यो गिरः? अनुवृद्धाः। अनु सवनक्रमेण वृद्धा वृद्धिमापादिताः। यथा प्रातःसवनं शनैः, माध्यन्दिनं सवनमुच्चैः, तारस्वरेण तृतीयं (सायंसवनम्)। यद्वा वृद्धा आयवो मनुष्या ऋत्विग्यजमानलक्षणा मरुतो वा यस्य स तं त्वामनु वृद्धयः समृद्धिमत्यो भवन्तु, स्वयमपि वृद्धिमत्यः। यद्वा वृद्धश्चायुश्च महामनुष्य इत्यर्थः।

शतपथे तु—'इन्द्रो वै गिर्वा विशो गिरो विशैवैतत् क्षत्रं परिबृꣳहति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिवृढम्' (श. ३.६.१.२४)। मन्त्रस्य प्रथमं पादं व्याचष्टे—इन्द्रो वेति। इन्द्रस्य देवानां मध्ये क्षत्रियजातित्वात्, गिरां च स्त्रीत्वाद् बहुत्वाच्च विशां रूपत्वम्। अतो गीर्भिरिन्द्रपरिग्रहाभिधानात् क्षत्रियस्योभयतः क्षेमार्थं प्रजाः कल्पितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे तु—हे गिर्वण! गीर्भिर्वननीय सम्भजनीय परमेश्वर, त्वा त्वामिमा वैदिक्यस्तान्त्रिक्योऽन्याश्च गिरः स्तुतयस्त्वामभिलक्ष्य विश्वतः सर्वतः परिभवन्तु सर्वतस्त्वामेव परमतात्पर्यविषयत्वेन परिगृह्णन्तु। वृद्धायुमन-

---

मन्त्रार्थ—हे स्तुतियोग्य सभा के अधिष्ठाता! इस सवन क्रम से स्तोत्र-शस्त्र रूपी वाणी को तुम सब ओर से ग्रहण करो। हे धनधान्य से सम्पन्न! तुम हमारी सहायता करो॥ इस मन्त्र से छत को चारों ओर से आच्छादित करे॥२९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.९) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'परि त्वा' इस ऋचा से सदोमण्डप का आच्छादन करके हविर्धान मण्डप की विधि के अनुसार ग्रन्थिस्पर्श आदि कार्य किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है— हे वाणियों के द्वारा उपास्य परमेश्वर, ये वैदिक, तान्त्रिक तथा अन्य स्तुतिवाणियां सर्वतोभावेन आपके प्रति हों, अर्थात् आपको ही परम तात्पर्य के विषय के रूप में ग्रहण करें। अनन्त आयुष्य

न्तायुषं नित्यमनुवृद्धयस्तदनुगुणा नित्याः समृद्धिमत्यश्च सन्ति। जुष्टास्त्वया सेविता अङ्गीकृता जुष्टयः, त्वां त्वद्भक्तांश्च सुखयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे गिर्वण! ईश्वर सभाध्यक्ष वा, इमा मत्कृता विश्वतो गिरस्त्वां परितो भवन्तु। न तत्क्षण एव, किन्तु वृद्धायुं त्वां वृद्धयो जुष्टया जुष्टाश्च भवन्तु' इति, तदपि न, अर्थासङ्गतेः। तथाहि—गिर्वणः स्तोतुमर्ह इत्यर्थोऽसङ्गत एव, गीर्भिः स्तुतिभिः स्तोत्रशस्त्रैर्ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणाभिर्वा वननीयः सम्भजनीय इत्यस्यैवार्थस्य सुश्लिष्टत्वात्। यदपि—'वृद्ध इवारचन्तं वृद्धायुमनु वृद्धय' इति, तदप्यसङ्गतम्, वृद्धस्येवाचरणानुगुण्यस्य वृद्धिष्वनिरूपणात्। 'जुष्टयः प्रीतियोग्याः' इत्यप्यसङ्गतम्, अर्हार्थप्रत्यययायोगात् ॥२९॥

इन्द्र॑स्य॒ स्यूर॒सीन्द्र॑स्य ध्रु॒वो॑ऽसि। ऐ॒न्द्रम॑सि वैश्वदे॒वम॑सि ॥ ३० ॥

'अथ लस्पूजन्या स्पन्द्यया प्रसीव्यति इन्द्रस्य स्यूरसीति' (श. ३.६.१.२५), 'अथ हविर्धानयोर्जघनार्धꣳ समन्वीक्ष्योत्तरेणाग्नीध्रं मिनोति' (श. ३.६.१.२६) इति सदसो द्वारशाखाप्रभृतीनां हविर्धानं च दर्भैराच्छाद्य सीवनादिकं विधत्ते— लस्पूजन्येति। सीवनसाधनसूच्यादि लस्पूजनी, तत्सम्बद्धया रज्ज्वा लस्पूजन्या स्पन्द्यया रज्ज्वा द्वारशाखां दर्भैरावेष्ट्य सीव्येत। हविर्धानमण्डप इवात्रापि सीवनग्रन्थीकरणाभिमर्शनानि कार्याणीति। हविर्धानशकटयोः पश्चाद्भागस्य साम्येन य उत्तरो देशस्तत्राग्नीध्रीयं मण्डपं कुर्यात्। तत्रापि त्रयः पक्षाः। आग्नीध्रीयं यावत्परिमाणं तस्यार्धं सौमिकवेद्या उत्तरभागे स्वीकुर्यादित्येकः, अर्धादधिकमंशं वेद्याः स्वीकुर्यादित्यपरः, सर्वमपि सौमिकवेद्यामिति तृतीयः। तदपि तत्रैव स्पष्टम्—'तस्यार्धमन्तर्वेदि स्यादर्धं बहिर्वेद्यथो अपि भूयोऽर्धादन्तर्वेदि स्यात् कनीयो बहिर्वेद्यथो अपि सर्वमेवान्तर्वेदि स्यात् तन्निष्ठितमभिमृशति वैश्वदेवमसीति द्वयेनैतद्वैश्वदेवं यदस्मिन् पूर्वेद्युर्विश्वे देवा वसतीवरीषूपवसन्तीति तेन वैश्वदेव्यम्' (श. ३.६.१.२६)। निष्ठितं निष्पन्नमाग्नीध्रीयं वैश्वदेवमिति मन्त्रेण अभिमृशेत्। तस्य वैश्वदेवत्वं कारणद्वयेनोच्यते—यदस्मिन् पूर्वेद्युर्वसतीवर्यः सोमाभिषवार्था आपस्तत्र विश्वेदेवाः सुत्यादिनान्ते पूर्वेद्युरधिवसन्ति, तेन वैश्वदेवत्वम्, 'ता आग्नीध्रे सादयति विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थेति' (श. ३.९.२१६) इति श्रुतेः। एवं विश्वेषां देवानामाश्रयत्वादाग्नीध्रीयमण्डपस्य वैश्वदेवत्वमुक्तम्। तदपि तत्रैव प्रपञ्चितम्—'देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुः। तान् दक्षिणतो असुररक्षसान्यासेजुस्तान्

वाले आपके अनुगत नित्य समृद्धियां हों। आपके द्वारा सेवित तथा अंगीकार की गई (प्रीतियां) आपको तथा भक्तों को सुख प्रदान करें।

स्वामी दयानन्द के अर्थ की संगति नहीं है। 'गिर्वणः' का 'स्तुति के योग्य' अर्थ करना असंगत है। 'स्तुतियों से भजनीय' अर्थ ही ठीक बैठता है ॥२९॥

मन्त्रार्थ—हे रज्जु! तुम सभा के अधिष्ठाता इन्द्र देवता की सीवन हो। हे गांठ! तुम इन्द्र देवता को स्थिर करने वाली हो। हे सभा! तुम इन्द्र देवता की प्रसन्नता के लिये निर्मित हो। हे आग्नीध्र! तुम सब देवताओं के आवाहन स्थान हो॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए मण्डप के चारों ओर रस्सी बाँधे, सभा को सम्बोधित करे और हविर्धान मण्डप के वायव्य कोण के उत्तर भाग में आग्नीध्र नामक अग्नि-स्थान बना कर उसका स्पर्श करे ॥३०॥

भाष्यसार—शतपथ ब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.११) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'इन्द्रस्य स्यूरसि' आदि मन्त्रों से मण्डपाच्छादनों को सीना तथा स्पर्श करना आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ ब्राह्मणादि में उपदिष्ट है।

सदसो जिग्युस्तेषामेतान् धिष्ण्यानुद्वापयाञ्चक्रुर्य एते अन्तःसदसम्' (श. ३.६.१.२७)। यज्ञं तन्वाना देवा असुरादिभ्य आसङ्गाद् भीतास्तान् सदोनिविष्टान् देवान् दक्षिणेऽसुररक्षसान्यासेजुरासङ्गं कृतवन्तः, सदसः सकाशाद् जिग्युर्जितवन्तः। ततो देवान् निष्कासितवन्तोऽसुरराक्षसाः। न केवलमेतावदेव, किन्त्वन्तः सदसि सदोमध्ये स्थितान् धिष्ण्यानग्नीनप्युद्वापयाञ्चक्रुरनाशयन्।

'सर्वे ह स्म वा एते पुरा ज्वलन्ति। यथायमाहवनीयो यथा गार्हपत्यो यथा आग्नीध्रीयस्तद्यत एनानुदवापयंस्तत एवैतन्न ज्वलन्ति तानाग्नीध्रमभि सꣳरुरुधुस्तानप्यर्धमाग्नीध्रस्य जिग्युस्ततो विश्वे देवा अमृतत्वमयाजयंस्तस्माद्वैश्वदेवम्' (श. ३.६.१.२८)। धिष्ण्यानामुद्वापमुपपादयति— पुरा ज्वलन्तीति। यथाहवनीयो गार्हपत्यो यथाग्नीध्रीयः प्रज्वलति, तथैवैते धिष्ण्याग्नयोऽपि ज्वलन्ति स्म। यत एनानसुरा उदवापयन् तत एवैते तथा न प्रज्वलन्ति। सदसो निष्कासिता देवा आग्नीध्रं प्रविष्टास्तत्राप्यसुरैः संरुद्धाः। ते देवा आग्नीध्रधिष्ण्यगतस्याग्नेरर्धं समीपं प्राप्य तानसुरान् जिग्युः। तत आग्नीध्रस्याग्नेः सामर्थ्याद् विश्वे देवा अमृतत्वमसुरकृतहिंसारहितत्वं प्राप्ताः। तस्माद्विश्वेषां देवानामाश्रयत्वादाग्नीध्रस्य वैश्वदेवत्वं युक्तमेव। 'तान् देवाः प्रतिसमैन्धत . . . . ' (श. ३.६.१.२९)। तानुद्घाटितान् धिष्ण्यान् देवाः पुनरदीपयन्। कात्यायनेनापि परिषीवणग्रन्थ्यभिमर्शनान्यैन्द्रैरिन्द्रदेवताकैस्त्रिभिर्मन्त्रैरुक्तानि। 'निष्टाप्य वैश्वदेवमसीत्यालभते' (का. श्रौ. ८.६.११) इति स्पर्शनं विहितम्।

अथ श्रुतिसूत्रानुसारेणायं मन्त्रार्थः—हे लस्पूजनि स्पन्द्ये सूच्यनुस्यूतरज्जो, त्वं सदोऽभिदेवस्येन्द्रस्य सम्बन्धिनी सती इन्द्ररूपस्य सदोमण्डपस्य वा स्यूरसि सीवनमसि ग्रन्थिसिद्ध्यर्थं स्यूता भवसि साधनभूतासि। हे ग्रन्थे, त्वमिन्द्रस्य तद्देवताकस्य मण्डपस्य सम्बन्धी भूत्वा स्थिरो भवसि। ऐन्द्रमसि हे सदः, त्वमैन्द्रमसि इन्द्रदेवताकमसि। आग्नीध्रनामकमग्निस्थानं निर्माय तस्य स्पर्शनं करोति—हे आग्नीध्र, त्वं वैश्वदेवमसि सर्वदेवाश्रयत्वाद् वैश्वदेवमसि सर्वदेवसम्बन्धी भवसि।

अध्यात्मपक्षे—हे कूटस्थ निर्विकार निर्गुण परमात्मन्, त्वमिन्द्रस्य मायाविशिष्टस्य परमैश्वर्यशालिनः परमेश्वरस्य स्यूरसि, सीव्यते सर्वमस्मिन्निति स्यूः। त्वं तु ध्रुवो निश्चलः कूटस्थ एवासि, 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' इति रीत्या अन्तिमकारणस्याकारणकत्वेनात्यन्तनिर्विकारत्वात्। इन्द्रस्य परमेश्वरस्य जीवस्य वा सम्बन्धि अधिष्ठानमसि। न केवलमिन्द्रस्य, किन्तु विश्वेषां देवानां त्वमेवाधिष्ठानमसि, अतो वैश्वदेवमसि। सूत्रे मणिगणा इव सर्वे देवा सर्वाणि वस्तूनि सर्वे जीवाः सर्वेश्वरश्च त्वय्येव परिकल्पिताः, अतस्त्वमेव सर्वमसीत्यभिप्रायः।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर सभाध्यक्ष वा, यथा वैश्वदेवमन्तरिक्षमस्ति, तथा त्वमैन्द्रं पारमैश्वर्यस्याधिकरणमसि। अत इन्द्रस्य स्यूरसि। इन्द्रस्य सूर्यादिलोकस्य राज्यस्य वा ध्रुवोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सभाध्यक्षे

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे कूटस्थ, निर्विकार, निर्गुण, परमात्मा ! आप मायाविशिष्ट परमैश्वर्यशाली परमेश्वर के सम्बन्धाधिष्ठान हैं। आप तो ध्रुव, निश्चल तथा कूटस्थ ही हैं, क्योंकि अन्तिम कारण अकारणक होने के कारण अत्यन्त निर्विकार रहता है। आप परमेश्वर अथवा जीव से सम्बद्ध अधिष्ठान हैं, मात्र इन्द्र के ही नहीं, अपितु समस्त देवताओं के अधिष्ठान हैं, अतः आप वैश्वदेव हैं। सभी देवगण, समस्त वस्तुएं, सभी जीव, सभी कुछ आपमें ही विद्यमान हैं, अतः आप ही सर्वस्वरूप हैं।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में सभाध्यक्ष का पारमैश्वर्य-युक्त न होने के कारण औचित्य नहीं है। निरतिशय ऐश्वर्य ही पारमैश्वर्य होता है तथा वह पारमैश्वर्य परमेश्वर में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। सर्वाधार होना भी सभाध्यक्ष में सम्भव नहीं है। शतपथ श्रुति का विरोध इस अर्थ में स्पष्ट ही है ॥३० ॥

पारमैश्वर्ययोगात्। निरतिशयं ह्यैश्वर्यं पारमैश्वर्यं भवति। तच्च परमेश्वर एव सम्भवति नान्यत्र। सर्वाधारत्वमपि तत्र न सम्भवत्येव। शतपथश्रुतिविरोधश्च स्पष्ट एव ॥३०॥

वि॒भूर॑सि प्र॒वाह॑णो॒ वह्नि॑रसि हव्य॒वाह॑नः। श्वा॒त्रो॑ऽसि॒ प्रचे॑तास्तु॒थो॑ऽसि वि॒श्ववे॑दाः ॥३१॥

'विजामानो हैवास्य धिष्ण्याः' (श. ३.६.२.१) इत्यादिषु ये यज्ञस्य धिष्ण्यास्ते विजामानो भ्रातरो बान्धवा आसन्। यत इमे समङ्काः समानचिह्नाः। ये वै समङ्कास्ते विजामानः। एते खलु यज्ञस्यात्मानः, अतोऽपि विजामानस्तस्मात् सोमयागे धिष्ण्याः कर्तव्याः। तत्स्पष्टीकरणाय 'दिवि वै सोम आसीत्' इतीयमाख्यायिकोक्ता। सोमप्रेप्सया देवाः सुपर्णीं कद्रूं च मायामसृजन्त। ते कलहायमाने ऊचतुः। नौ यतरा अत्यन्तं दूरं पँश्येत् सा दूरदर्शिनी। सुपर्णी उवाच—सलिलस्य पारे अश्वः श्वेतः स्थाणौ सेवते, तमहं पश्यामि। तमेव त्वं पश्य। सा कद्रूर्दूरं विलोक्योवाच—तमश्वं पश्यामि तस्य पुच्छं स्थाणौ निषक्तं तं वातो धुनोतीत्यपि पश्यामि। श्रुतिरेव तदुक्त्योस्तात्पर्यमुक्तवती—सलिलं सागरादिसंबद्धं यथाऽनतिलङ्घ्यं भवति, एवं वेदिः सलिलत्वेन निरूप्यते। अग्नेः शुक्लभास्वरत्वात् सर्वाशनत्वाच्च श्वेतरूपत्वमश्वत्वं च। यूपस्य स्थाणुत्वं साक्षादेव। कद्रूक्तेस्तु तात्पर्यमिदम्—वालवदतिदैर्घ्याद्युपवेष्टिता रशना वालं पुच्छमुच्यते। आवयोः कस्या जय इति कद्र्वाः प्रश्ने सुपर्ण्योक्तं त्वमजैषीः। पराजितया सुपर्ण्या गायत्र्यादिच्छन्दांसि सृष्ट्वा दिवं स्थितं सोममाहृत्य देवेभ्यः सकाशादात्मनिष्क्रयणं कृतम्। सा गायत्री दिवः सोममहरत्। हिरण्मय्यो-रायुधयोराच्छन्नः सोमोऽभूत्। ते कुश्यौ क्षुरधारे इव तीक्ष्णाग्रे निमेषं निमेषं सर्वदा अपि सन्धत्तः, यथान्यो नाहरेत्तथा रक्षतः। दीक्षातपसावेव तावायुधौ स्तः। तं सोममेते गन्धर्वाः सोमरक्षायै जुगुपुः। ते के? य इमे सदसि वर्तमाना धिष्ण्या इमेऽहोत्रका होतृवर्जं मैत्रावरुणादयः। गायत्री तयोरन्यतरां कुशीं छित्वा देवेभ्यः सोमं प्रददौ। सा च दीक्षा। तया देवा अदीक्षन्त। अथ द्वितीयां छित्त्वा देवेभ्यो ददौ। सा तपोनामोपसदः। तया देवास्तप उपायन्। सोमाहरणसमये खदिरस्यातिसारँत्वात् तं साधनं कृत्वा सोमं भक्षितवती गायत्री। अतः खादनसाधनत्वात् खदिरेति नाम सम्पन्नम्। सोमाहरणोपयोगादेव सोमयागे यूपः स्फ्यश्च खादिरौ कर्तव्यौ। होत्रकाणामेव सोमरक्षकगन्धर्वरूपत्वादच्छावाकाख्यो होत्रको यदा सोमरक्षकेषु मध्ये रक्षितवान् तदा गायत्री सोमं जहार। सोऽच्छावाकोऽहीयत हीनो निकृष्टोऽभूत्। अत एवेतरहोत्रकवत् प्रथमत एव सदःप्रवेशमपि न समालभत। तं हीनमच्छावाकमिन्द्राग्नी ऐन्द्राग्नशस्त्रपाठेन सन्तुष्टौ सन्तानमनुप्रवेशमकुरुताम्, अतोऽच्छावाक इन्द्राग्निदेवताकः।

तथा चोत्तरत्राच्छावाकश्चमसहोमकाले आम्नास्यते—'अहीयत वा अच्छावाकस्तमिन्द्राग्नी' (श. ४.३.१.१-२)। तस्माद्दीक्षिता राजानं गोपायन्ति। यस्य गोपनायामपहरन्ति हीयते ह सः। तस्माद् ब्रह्मचारिण आचार्यं गोपायन्ति।

मन्त्रार्थ—हे आग्नीध्रीय धिष्ण्य के अग्नि! तुम नाना रूप धारक हो, हवि को पहुँचाने वाले हो। हे होतृधिष्ण्य की अग्नि! तुम यज्ञकर्म के निर्वाहक हो, देवताओं को हवि प्राप्त कराने वाले हो। हे मैत्रावरुण धिष्ण्य की अग्नि! तुम शीघ्रगामी मित्ररूप हो, श्रेष्ठ ज्ञान वाले वरुण रूप हो। हे ब्राह्मणाच्छंसी धिष्ण्य के अग्नि! तुम ब्रह्मरूप हो, देवताओं में दक्षिणा का विभाग करने वाले हो, सर्वज्ञ हो॥ इस मन्त्र से अध्वर्यु उत्तरमुख बैठ कर अग्नियों की आश्रय छोटी वेदि रूप धिष्ण्यों को मिट्टी से बनावे। इसी तरह से पश्चिममुख, उत्तरमुख और दक्षिणमुख हो विभिन्न देवताओं के धिष्ण्यों को बनावे॥३१॥

भाष्यसार—'विभूरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा अध्वर्यु धिष्ण्य नामक स्थण्डिल (अग्निके स्थापनहेतु वेदिविशेष) का निर्माण करता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.१२-१३, १६-२०) तथा मानव, आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों में भी प्रतिपादित है। तैत्तिरीय श्रुति तथा शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

गायत्र्या हृतेन तेन सोमेन देवा अयजन्त। तमेते गन्धर्वाः सोमरक्षा अन्वाजग्मुः। नो यज्ञ आभजत इत्यब्रुवन्। ते होचुः किं नस्ततः स्यादिति यथैवास्यामुत्र गोप्तारोऽभूमैवमेवास्येह गोप्तारो भविष्यामः। तथेति देवा अब्रुवन्। सोमक्रयणा वो भागाः। सोमः क्रीयते यैस्ते सोमक्रयणाः। तृतीयसवने घृत्या(घृतसाध्या)हुतिर्युष्मान् प्राप्स्यति। न सोम्या यूयम्। अपहृतो हि सोमः। ययाहुत्या तृणसमूहैर्विहृतान् धिष्ण्यान् घृतेन व्याघारयति सैषा घृत्या। अथ यत्प्रदीप्तेऽग्नौ होष्यन्ति तदाज्यं वस्तर्पयिष्यति। अथ यद्वः सोमं बिभ्रत उपर्युपरि चरिष्यन्ति तद्वोऽविष्यति। तस्मादध्वर्युः समयाधिष्ण्यान्नातीयात्। देवानामर्थे सोमं धारयन्नध्वर्युः। यतस्तमध्वर्युमेते विवृतेनास्येन प्रतीक्ष्य निवसन्ति। सोऽपि धिष्ण्यानतिक्रामन्नेतेषां विवृतं मुखं प्रविशति। तमग्निर्वाभिदहेत योऽयं देवः पशूनामीष्टे स वा एनमभिमन्येत हिंसितुमिच्छेत। अभिमानोऽत्र हिंसेच्छैव। तस्माद्यदाध्वर्योः शालायां प्राग्वंशे यद्यर्थः प्रयोजनं स्यात्तदाग्नीध्रीयमुत्तरेण सञ्चरेत्। 'ते वा एते सोमस्यैव गुप्त्यै न्युप्यन्ते। आहवनीयः पुरस्ताद् मार्जालीयो दक्षिणत आग्नीध्रीय उत्तरतोऽथ ये सदसि ते पश्चात्' (श. ३.६.२.२१)। सर्वेषां सोमरक्षकत्वे समाने सदोगतानां धिष्ण्यानामिव कथमितरेषामनुदेशनं नास्ति ? इत्यत आह— तेषां वार्धानुपकिरन्ति, अर्धाननुदिशन्ति। अनुदेशो नाम विद्यमानं पदार्थमन्वेवं भवतीति निर्देशः। अत एव आहवनीयादौ तत्तद्गन्धर्वात्मना 'सम्राडसि कृशानुः' (वा. सं. ५.३२) इत्याद्यनुदेशः क्रियते। 'अर्धाननुदिशन्त्येत उ हैवैतद्दधिरे . . . यानुपकिरन्ति तेनास्मिँल्लोके प्रत्यक्षं भवन्ति। याननुदिशन्ति तेनामुष्मिँल्लोके प्रत्यक्षं भवन्ति'। यथा स्थानद्वैविध्यं तथैव नामद्वैविध्यमपि—'ते वै द्विनामानो भवन्ति। एत उ हैवैतद् दध्रिरे' नामान्तरधारणविषये मतिं चक्रुः। नाम्नामपरितोषे कारणमाह—'न वा एभिर्नामभिररात्स्म येषां नः सोममपाहार्षुर्हन्त द्वितीयानि नामानि करवामहा इति ते द्वितीयानि नामान्यकुर्वंस्तैरराध्नुवन् यानपहृतसोमपीथान् सतोऽथ यज्ञ आभजंस्तस्माद् द्विनामानस्तस्माद् ब्राह्मणोऽनृद्ध्यमाने द्वितीयं नाम कुर्वीत राध्नोति हैव य एवं विद्वान् द्वितीयं नाम कुरुते' (श. ३.६.२.२४)। न अरात्स्म समृद्धा न भवामः। यज्ञभागप्राप्तिरुक्तैव।

'धिष्ण्यान्निवपत्युद्धतावोक्षिते पुरीषं निवपति स्फ्येनान्वारब्ध उदङ्ङुपविश्य विभूरसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ८.६.१२)। सर्वत्र प्राङ्मुखोऽध्वर्युः पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा पुनरप्युद्धतावोक्षिते देशे धिष्ण्यान् कुर्यात्। तदर्थं च स्फ्येन अन्वारब्धे यजमाने होतृधिष्ण्यवर्जमुदङ्मुखोऽध्वर्युरुपविश्य एकैकेन मन्त्रेण यथाक्रममेकैकस्मिन् धिष्ण्ये हस्तेनैव चात्वालानीतं पुरीषं निवपेत्। इमानि पुरीषाणि चात्वालादानेयानि। (का. श्रौ. १.८.३८)। धिष्ण्यः स्थण्डिलविशेषः। यत्राग्निं संस्थाप्य होत्रादयः स्वानि शस्त्राणि शंसन्ति। 'आग्नीध्रीयं पूर्वमिति' (का. श्रौ. ८.६.१३)। तेषां धिष्ण्यानां मध्ये आग्नीध्रीयस्य गृहस्य मध्ये प्रथमं विभुरसीत्याग्नीध्रीयं धिष्ण्यं निर्वपेत्। अष्टयजुषां धिष्ण्या अग्नयो देवताः। तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—विभुरसीति। विभुशब्दः प्रवाहणशब्दो वाग्नीध्रधिष्ण्यस्य नामनी, 'ते वै द्विनामानो भवन्ति' (श. ३.६.२.२४) इति श्रुतेः। तथा च हे आग्नीध्र धिष्ण्य, त्वं विभुः प्रवाहणश्चासि। विविधं भवतीति विभुः। एतस्मादेव धिष्ण्यादितरधिष्ण्येष्वग्निविहरणादेतस्य विविधभवनाद्विभुत्वम्। प्रवाहयतीति प्रवाहणः। हविषः प्रवाहणपरत्वात् प्रवाहणं चास्यैव। एतस्य मन्त्रस्याग्नीध्रीयधिष्ण्यविषयत्वं बौधायनोऽप्याह—'आग्नीध्रं कृत्वा स्फ्येनोद्धृत्यावेक्ष्य चात्वालपुरीषं सिकता इति निर्वपति'। अथ द्वितीयः—हे होतृधिष्ण्य, त्वं वह्निरसि हव्यवाहनः, यज्ञकर्मणो निर्वाहकत्वाद् वह्निरसि, देवान् प्रति हविःप्रापणाद् हव्यवाहनोऽसि। एवं होतृधिष्ण्यस्यापि द्विनामत्वं द्रष्टव्यम्। धिष्ण्यगतानग्नीन् प्रत्यन्ये देवाः प्रत्येकं नामद्वयं सम्पादयतेत्यूचुः, 'तान् देवा अब्रुवन् द्वे द्वे नामनी कुरुतम्' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'षट् सदसि' (का. श्रौ. ८.६.१६)। सदसि षड् धिष्ण्यान् निर्वपेत्। 'प्रत्यङ्मुखो द्वारमपरेण होतुः' (का. श्रौ. ८.६.१७)। सदसः पूर्वद्वारमपरेण एकं प्रक्रमं परित्यज्य पृष्ठ्यामध्य एव यथा पृष्ठ्या मध्ये भवेत्तथा होत्रीयं निर्वपेत् प्रत्य-

ङ्मुखोऽध्वर्युः, 'वह्निरसीति पृष्ठ्यायां होत्रीयम्' (आप. श्रौ. १२.४.४) इत्यापस्तम्बवचनात्। 'दक्षिणपूर्वेणौदुम्बरीं मैत्रावरुणस्य' (का. श्रौ. ८.६.१८)। औदुम्बर्या आग्नेय्यां दिशि मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यमुदङ्मुखो निर्वपेत् श्वात्रोऽसीति मन्त्रेण। होतृधिष्ण्याद् दक्षिणस्यां दिश्यरत्निचतुष्टये सार्धे पदाधिके प्रशास्तृधिष्ण्यं निर्वपेदिति मानवे। 'होतृधिष्ण्यमुत्तरेण चतुरः समान्तरान् ब्राह्मणाच्छꣳसि-पोतृ-नेष्ट्रच्छावाकानाम्' (का. श्रौ. ८.६.१९)। उत्तरोत्तरक्रमेण तुल्यान्तरानष्टादशाङ्गुलपरिमितान् धिष्ण्यान् तावदन्तरालांश्च तुथोऽसि, उशिगसि, अङ्गारिरसि, अवस्यूरसि—इति मन्त्रैः क्रमेण कुर्यात्। 'आग्नीध्राद् दक्षिणꣳ सम्प्रति वेद्यन्ते दक्षिणामूलो मार्जालीयम्' (का. श्रौ. ८.६.२०)। आग्नीध्राद् दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणामुखोऽध्वर्युर्वेद्यन्ते सम्प्रति मार्जालीयं धिष्ण्यं शुन्ध्युरिति निर्वपेत्। अथ तृतीयः—श्वात्रोऽसि हे मैत्रावरुण धिष्ण्य, त्वं श्वात्रः प्रचेताश्चासि शु क्षिप्रमततीति श्वात्रः मित्रोऽसि। प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं यस्य स त्वं प्रचेता असि वरुणस्तद्रूपोऽसि। अथ तुरीयः—हे ब्राह्मणाच्छंसिधिष्ण्य, त्वं तुथोऽसि विश्ववेदाः, 'ब्रह्म वै तुथः' (श. ४.३.४.१५) इति श्रुतेर्ब्रह्मरूपोऽसि। विश्वं वेत्तीति विश्ववेदाः सर्वज्ञ इत्युव्वटः। सायणरीत्या तु तुथशब्देन देवान् प्रति दक्षिणानां विभागकर्ता पुरुष उच्यते, 'तुथो ह स्म वै विश्ववेदा देवानां दक्षिणा विभजति' इति तैत्तिरीयश्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो. १.२.१५) इति श्रुतिरीत्या परमात्मपरत्वं तु न विरुद्ध्यते। हे सर्वेश्वर, त्वं विभुरसि व्यापको विविधरूपेण वा भवसि, 'एकोऽहं बहु स्याम्' (छा. उ. ३.६.२३) इति श्रुतेः। यतः प्रवाहणः संसारं प्रवाहयसीति प्रवाहणः, जननमरणाविच्छेदलक्षणायाः संसृतेर्बीजत्वात्। त्वं वह्निरसि यतो हव्यवाहनो हविषां प्रापकोऽसि। त्वमेव श्वात्रोऽसि शु क्षिप्तं सततगमनवानात्मासि, 'यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते॥' इत्युक्तेः। यतः प्रचेताः प्रकृष्टं चेतो यस्यासौ प्रचेताः, त्वमेव तुथो ब्रह्मरूपोऽसि, यतो विश्ववेदाः सर्वज्ञोऽसि। एवं हेतुहेतुमद्भावेन नामद्वयं परमात्मपक्षे युज्यते।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर विद्वन् वा, यस्मात्त्वं यथाकाशो वैभवयुक्तो राजा वा तथा विभुरसि। यथा वायुर्महान् देवस्तथा प्रवाहणोऽसि। यथा वह्निस्तथा हव्यवाहनोऽसि। यथा प्राणस्तथा प्रचेताः श्वात्रोऽसि। यथा सूत्रात्मा तथा पवनस्तथा विश्ववेदास्तुथश्चासि। तस्मात् सत्कर्तव्योऽसीति वयं विजानीम इति श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ स्तः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारस्य यथेष्टाङ्गीकारे सर्वत्र शाक्तवाक्यार्थबाधापत्तेः। किञ्च, लुप्तोपमालङ्काराश्रयणेऽपि प्रवाहणोऽसि हव्यवाहनोऽसीति द्वितीयनाम्नोऽसीति क्रियायोगाभावे किं मूलमित्यपि विचारणीयम्। श्रुतिविरोधस्तु स्फुट एव, धिष्ण्यानां द्विनामत्वेन मन्त्रस्य तत्परत्वावगमात्॥३१॥

अध्यात्मपक्ष में 'समस्त वेद जिस तत्त्व का निरूपण करते हैं' इस कठोपनिषद् के वचन के अनुसार परमात्मपरक व्याख्या करना विरुद्ध नहीं है। तदनुसार अर्थयोजना इस प्रकार है — हे सर्वेश्वर, आप व्यापक हैं अथवा विविध रूपों में हैं, क्योंकि आप जननमरण के सातत्यवाली सृष्टि के मूल होने के कारण संसार के प्रवाहकर्ता हैं। आप हविष्य को पहुँचाने के कारण वह्निरूप हैं। आप ही शीघ्र एवं सतत गमनशील आत्मा हैं। आप प्रकृष्ट चित्त वाले तथा ब्रह्मरूप हैं, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ समीचीन नहीं है, क्योंकि स्वेच्छा से ही लुप्तोपमा अलंकार का आश्रय लेने पर सर्वत्र मुख्य वाक्यार्थ का बाध प्राप्त हो जायगा। लुप्तोपमा अलंकार का आश्रय लेने पर भी 'प्रवाहण, हव्यवाहन' इन नामों के साथ 'असि' (हो) इस क्रिया के न होने में क्या कारण है, यह भी विचारणीय होगा। इस अर्थ में शतपथ श्रुति आदि का विरोध तो स्पष्ट ही है॥३१॥

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदन ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥३२॥

हे पोतृधिष्ण्य, त्वमुशिक् कमनीयोऽसि। कविः क्रान्तदर्शनोऽसि, 'वश कान्तौ'। हे नेष्टृधिष्ण्य, त्वमङ्घस्यां-हसोऽरिः शत्रुरसि। अंहःशब्दः पापवचनः। हकारस्य घकारश्छान्दसः। बम्भारिः, बिभर्तीति बम्भारिः सर्वधारकोऽसि। दिवि सोमरक्षकौ अङ्घारिबम्भारी, 'स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे' (वा. सं. ४.२७) इति सोमरक्षकमन्त्रवर्णात्। तयोर्नाम-द्वयमस्मिन् नेष्ट्रीयधिष्ण्ये उपचर्यते। हे अच्छावाकधिष्ण्य, त्वमवस्यूरसि दुवस्वांश्चासि। अवोऽन्नमिच्छतीत्यवस्यूरि-त्युव्वटाचार्यः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा. सू. ३.१.८) इति क्यचि, 'क्याच्छन्दसि' (पा. सू. ३.२.१७) इति क्यजन्तादुप्रत्यये दीर्घश्छान्दस इति महीधराचार्यः, औणादिक ऊप्रत्ययो वा। दुवोऽस्यास्तीति दुवस्वान् हविष्मान्। दुव इति हविर्नाम, अच्छावाकस्य पुरोडाशहविर्भाक्त्वात्। सायणाचार्यरीत्या एतौ शब्दौ वायुविशेषवाचकौ, 'अवस्यवे त्वा वाताय दुवस्वते त्वा वाताय स्वाहा' इति मन्त्रान्तरे समाम्नानात्। तदेतन्नामद्वयमच्छावाकस्य धिष्ण्ये उपचर्यते। तान् होत्रादिधिष्ण्यान् सदसि निर्माय वेदेर्दक्षिणभागे मार्जालीयधिष्ण्यो निर्मातव्यः। शुन्धयतीति शुन्ध्यूः। मार्ष्टीति मार्जालीयः। तत्र हि पात्राणि प्रक्षाल्यन्ते। पात्रप्रक्षालनेन लेपमार्जनभूतो मार्जालीयः। तदेतन्मार्जालीयधिष्ण्यस्य नामद्वयम्। 'सदोद्वारं पूर्वेण तिष्ठन्ननुदिशत्याहवनीयबहिष्पवमानदेशचात्वालशामित्रौदुम्बरिब्रह्मासनशालाद्वार्यप्राजहितान् सम्राडसीति प्रतिमन्त्रम्' (का. श्रौ. ८.६.२१)। अष्टधिष्ण्यनिवापानन्तरं सदसः पूर्वद्वारस्य पुरस्तात् तिष्ठन्नध्वर्युः सम्राडसीत्यादिमन्त्रैः प्रतिमन्त्रमा-हवनीयादीन् विलोकयन्ननुदिशेत्। अनुदेशो नाम विद्यमानमेव पदार्थमनु त्वमेव भवसीति निर्देशः। आहवनीय औत्त-रवेदिकः। चात्वालस्य समीपदेशे दक्षिणतोऽन्तर्वेदिर्बहिष्पवमानदेशः, यत्र ऋत्विजो बहिष्पवमानाख्यं स्तोत्रं स्तु-वन्ति। प्राजहितः पुरातनो गार्हपत्यः, आहवनीयादीन् गार्हपत्यान्तान् विलोकयेदिति सूत्रार्थः।

हे उत्तरवेदिगताहवनीय, त्वं सम्राडसि, कृशानुश्चासि। बहुविधाहुत्याधारत्वेन सम्यग्राजमानः सङ्गतदीप्तिः सम्राडसि। कृशो यजमानः पयोव्रतैरुपक्षीणः, एनमनुगच्छतीति कृशानुः, कृशं यजमानमनुगच्छतीति वा कृशानुः। बहि-ष्पवमानदेशमनुदिशेत्। हे बहिष्पवमानदेश, त्वं परिषद्यः पवमानश्चासि। स्तोतुं समवेता ऋत्विजः परिषद्, तद्योग्यः

मन्त्रार्थ—**हे पोतृधिष्ण्याग्ने ! तुम कमनीय और क्रान्तदर्शी होने से कवि नाम वाले हो। हे नेष्टृधिष्ण्य के अग्नि ! तुम पापनाशक होने से अंघारि और पोषक होने से बंभारि हो। हे अच्छावाकधिष्ण्य के अग्नि ! तुम अन्न चाहने वाले हविष्मान् हो। हे मार्जालीय धिष्ण्य के अग्नि ! तुम पवित्र करने वाले, मार्जन करने वाले हो। हे उत्तरवेदि के आहवनीय अग्नि! तुम बहुत प्रकार की आहुतियों को धारण करने से भली प्रकार शोभायमान और पयोव्रत आदि से कृश यजमान के अनुगामी हो। हे बहिष्पवमान देश ! तुम स्तुतिकारक ऋत्विजों की सभा के योग्य हो, उसको पवित्र करने वाले हो। हे चत्वाल ! तुम छिद्र-युक्त होने से आकाशस्वरूप और ऋत्विजों के प्रदक्षिण चलने से प्रतक्वा नाम वाले हो। हे शामित्र ! तुम पवित्र और हवि के पाक के कारण हो। हे औदुम्बरि ! तुम उद्गाता की प्रधान कार्यस्थान और स्वर्ग की प्रकाशक हो।**

इस मन्त्र से विभिन्न धिष्ण्यों को बना कर उन पर अधिष्ठित अग्नियों का नामकरण किया जाता है ॥३९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६.२१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'उशिगसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से आठ धिष्ण्य नामक स्थण्डिल स्थापित करने के बाद 'सम्राडसि' इत्यादि मन्त्रों से आहवनीय आदि अग्न्यायतनों का अवलोकन किया जाता है। उव्वट आदि आचार्यों ने यज्ञप्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ किया है।

परिषद्यः, उद्गातृप्रभृतिभिः परिषदनीयो वा। शुद्धत्वाच्छोधकत्वाच्च पवमानोऽसि। तथैव चात्वालम्। हे चात्वाल, त्वं नभोऽसि, खननेन छिद्ररूपत्वादाकाशरूपोऽसि, प्रतक्वा प्रदक्षिणं तक्वन्ति गच्छन्ति ऋत्विजो यत्र स प्रतक्वा, तक्वतिर्गत्यर्थः, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा. सू. ३.२.७५) इति वनिप्। हे शामित्र, (शामित्रं पशुविशसनदेशः) त्वं मृष्टोऽसि, पशुविशसनस्य विहितत्वेनाशुद्धिहेतुत्वाभावात् सत्यपि विशसने शुद्धोऽसि, 'अविशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्र. सू. ३.१.२५) इत्यत्र श्रीमच्छङ्करभगवत्पादैर्भगवद्रामानुजादिभिश्चाग्नीषोमीयालम्भनादीनामविशुद्धिराहित्येन शुद्धत्वप्रतिपादनात्। यद्वा शृतत्वान्मृष्टम्, पक्वं हरिर्मृष्टं भवति, मृष्टो मृष्टकारी, तथा हव्यसूदनः, हव्यस्य हृदयजिह्वादिरूपस्य सूदनः पाकहेतुश्चासि। सूदः सूपकार उच्यते हविषः पक्ता। हे औदुम्बरि, त्वमृतधामासि ऋतं सामगानं धाम उपवेशनस्थानं यस्याः सा, 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इति श्रुतेः। सामगानामृतमवश्यंभावि धामोपवेशनस्थानं यस्यास्तादृशी त्वमसीति। ऋतो यज्ञस्तस्य धाम स्थानं जन्म वा, तत्र हि उद्गातारो यज्ञस्य कारणभूतास्तिष्ठन्ति, जनयन्ति वा यज्ञम्। स्वर्ज्योतिः, आदित्यज्योतिः, उन्नतत्वेन स्वर्गे प्रकाशकः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वमुशिक् कमनीयोऽसि। श्रीरामश्रीकृष्णकामेश्वर्यादिरूपेणैव कमनीयतमत्वप्रसिद्धेः। कविः क्रान्तदर्शी सर्वज्ञत्वादतीतानागतादिसर्वदर्शी। अङ्घारिः, अंहोरूपस्याघासुरस्य हन्तासि, स्मृतिमात्रेण पापनाशको वा, 'अघि गत्याक्षेपे', अङ्घन्ति पलायन्तेऽरयः शत्रवो यस्य सः। बिभर्ति विश्वं पालयतीति बम्भारिः, परमेश्वरस्य सर्वधारणपोषणकर्तृत्वप्रसिद्धेः। अवस्युः, अवसमन्नं भक्तानां विविधमभीष्टं भोग्यमिच्छतीत्यवस्युः। यद्वा पूर्णत्वादाप्तकामत्वान्निरिच्छोऽपि करुणत्वाद् भक्तप्रदत्तं पत्रं पुष्पं फलं जलं च भगवानिच्छत्येव, 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥' (भ. गी. ९.२६), 'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते। यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥' (भा. पु. ७.९.११) इत्यादिवचनेभ्यः। दुवस्वान् प्रशस्तहविष्मान्। दुवः परिचरणं तत्प्रशस्तं विद्यतेऽस्येति दुवस्वान्। शुन्ध्यूः शुद्धोऽसि, निःसङ्गत्वात्। मार्जालीयो मार्ष्टि पवित्रयतीति मार्जालीयो जगच्छोधकोऽसि, मृजेरालीयप्रत्यये रूपसिद्धिः, 'स्थाचतिमृजेरालज्वालजालीयचः' (उ. १.११६)। सम्राडसि सम्यक् सर्वनैरपेक्ष्येण राजत इति सम्राट् स्वप्रकाशः। कृशानुः कृशं तपोभिस्तापैश्च विप्रलम्भैश्च क्षीणा अनुगच्छन्त्येनमिति कृशानुः, यद्वा कृशाननुगच्छति करुणयेति कृशानुः। परिषद्यो ब्रह्मविदां परिषदि प्रतिपाद्यत्वेन ध्येयत्वेन भवः परिषद्यः। पवमानः स्मरणमात्रेण जनान् पावयतीति पवमानः। नभोऽसि नभोवदपरिच्छिन्नोऽसि, न भाति बहिर्मुखान् प्रतीति वा नभः, न भाति फलव्याप्त्येति वा, विदुषामन्तर्मुखानामेव वृत्तिव्याप्त्यैव भातीत्यर्थः। प्रतक्वा प्रदक्षिणं तक्वन्ति उपासका यस्य स प्रतक्वा, प्रकर्षेण तकति हर्षति तकयति हर्षयति वा यः स प्रतक्वा, 'पदे पदे या परिपूजकेभ्यः सद्योऽश्वमेधादिफलं ददाति। तां सर्वपापक्षयहेतुभूतां प्रदक्षिणां ते परितः करोमि॥' इत्याद्यशङ्कराचार्यवचनात्। मृष्टोऽसि शुद्धोऽसि मधुरोऽसि, परमानन्दरूपत्वात्, 'मधुराधिपतेरखिलं

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे परमेश्वर, आप कमनीय हैं, क्रान्तदर्शी हैं, अर्थात् सर्वज्ञ होने के कारण भूत, भविष्य आदि के सर्वदर्शी हैं। अघासुर के हन्ता अथवा स्मृतिमात्र से पाप के नाशक हैं। विश्व का भरण, पालन करने वाले हैं। भक्तों के विविध अभीष्ट भोग्य की इच्छा करते हैं। अथवा पूर्णकाम होने के कारण इच्छारहित होने पर भी भक्त के द्वारा प्रदत्त पत्र, पुष्प, फल और जल की इच्छा भगवान् रखते हैं। आप प्रशस्त हवियों से युक्त हैं। निस्संग होने के कारण शुद्ध हैं, जगत् के शोधक हैं। स्वप्रकाश तथा सन्तप्त जनों के गमनाश्रय हैं। अथवा कृश, दुर्बल भक्तों के प्रति करुणापूर्वक स्वयं जाने वाले हैं। ब्रह्मवेत्ताओं की परिषद् में ध्येय हैं। स्मरण मात्र से जनों को पवित्र करने वाले, आकाश की भाँति अपरिच्छिन्न हैं। अथवा बहिर्मुख जनों के लिये अगम्य हैं। प्रदक्षिणा के आश्रय हैं या परम आनन्दस्वरूप अथवा परमानन्दप्रद हैं। शुद्ध एवं मधुर हैं। अथवा क्षमा करने वाले हैं। परा

मधुरम्' इत्यभियुक्तोक्तेः। मर्षति मर्षयति वा स मृष्टः। देवद्विजादीनां कृते हव्यस्य सूदनः सूपकारः पाचकोऽसि। पराभट्टारिकायुक्तत्वाद् महागृहमेधीयः सन् देवानां द्विजानां कृते महाहविषां पाचकोऽसि। ऋतधामासि ऋतं सत्यमेव धाम निवासस्थानं यस्य सः। स्वर्ज्योतिः स्वरूपलक्षितानां सर्वेषां लोकानां ज्योतिः प्रकाशरूपम्, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डको. २.२.१०) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—परमेश्वरपरत्वेन मन्त्रं व्याख्यातवान्। तत्र श्रुतिसूत्रादिविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥३२॥

समुद्रोऽसि विश्वव्यंचा अजोऽस्येकंपादहिंरसि बुध्न्यो वागंस्यैन्द्रमंसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वंनामध्वपते प्र मां तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ॥३३॥

हे ब्रह्मासनप्रदेश, त्वं समुद्रोऽसि सर्वे देवाः सम्यगुत्कर्षेण द्रवन्त्यस्मिन्निति समुद्रः, समुद्र इवागाधो ज्ञानेन ब्रह्मा यत्र तिष्ठति। स त्वं विश्वव्यचाश्चासि, विश्वं सर्वं यज्ञं व्यचति गच्छति कृताकृतप्रत्यवेक्षणायेति विश्वव्यचाः। शालाद्वार्यमनुदिशति—अजोऽस्येकपात्। हे शालाद्वार्य, प्राचीनवंशद्वारवर्तिन्नग्ने, त्वमजोऽसि, अजत्याहवनीयरूपेण यज्ञप्रदेशेषु गच्छतीत्यजः, यद्वा न जायत इत्यजः, परब्रह्मरूपोऽसि। एकः पातीत्येकपात्, यद्वा एकः पादः सर्वभूतानि यस्य स एकपात्, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (वा. सं. ३१.३) इति श्रुतेः। प्राजहितं पत्नीशालापश्चिमभागवर्तिनं पुरातनं गार्हपत्याग्निमनुदिशति। हे प्राजहित गार्हपत्याग्ने, त्वमहिरसि। न हीयत इत्यहिः, शालाद्वारीये नूतने गार्हपत्ये जातेऽप्ययं पुरातनो गार्हपत्यः स्वरूपेण न हीयते। बुध्नो मूलं तत्र भवो बुध्न्यः, आधानकाले प्रथममाहितत्वात् तस्य मूलभावित्वात्। स हि प्रथमं मथ्यते, ततोऽपि मूलभावित्वं तस्य। नाम्नैवात्र धिष्ण्यानां स्तुतिः। तदेवोक्तं कात्यायनेन—'स्तुतिः स्वनाम्ना कर्मणा वाथ रूपैः' (का. श्रौ. ९.८.१०)?, 'वागसीति सदोऽभिमर्शनम्' (का. श्रौ. ९.८.१३)। हे सदः, त्वं वागसि वाचाऽस्मिन् कर्म कुर्वन्तीति वाक्शब्देनाभेदोपचारात् सदो वागुच्यते। ऐन्द्रमिन्द्रदेवताकं चासि। सीदन्त्यस्मिन्निति सदः। 'ऋतस्य द्वाराविति द्वार्ये' (का. श्रौ. ९.८.१३)। सदसो द्वारभवे स्थूणे अभिमृशेत्। हे ऋतस्य यज्ञस्य द्वारौ द्वारदेशस्थायिन्यौ शाखे, युवां मा मां मा सन्तप्तं मा सन्तापयतं प्रवेशनिष्क्रमणे स्खलनादिना, सन्तपतेर्लुङि मध्य-

---

माता से युक्त जगद्रूपी महागृह के गृहस्थ होकर देव, द्विज आदि प्राणियों के लिये हविष्यान्नों के निर्माता हैं। सत्यरूपी निवासस्थान वाले तथा समस्त लोकों के प्रकाशक हैं।

स्वामी दयानन्द ने परमेश्वरपरक ही मन्त्र की व्याख्या की है, परन्तु उसमें शतपथ श्रुति तथा सूत्र आदि से विरोध स्पष्ट है ॥३२॥

मन्त्रार्थ — हे ब्रह्मासन! तुम सब देवताओं के संमुख आने के स्थान अथवा समुद्रतुल्य ज्ञान से गम्भीर ब्रह्मा के आसन हो, यज्ञ में कृत और अकृत को देखने के स्थान हो। हे शालाद्वार के अग्निदेव! तुम आहवनीय रूप से यज्ञ में जाने जाते हो, अजन्मा अद्वितीय रक्षक और सब प्राणियों के शरण्य हो। हे प्राजहित नामक गार्हपत्य अग्ने! तुम शालाद्वार के नये गार्हपत्य अग्नि से उत्पन्न होने पर भी अक्षय रूप हो, आधानकाल में प्रथम स्थापित होने के कारण मूलरूप हो। हे सभामण्डप! तुम अपने मध्य कर्म होने के कारण वाणी रूप हो, इन्द्र को देवता के रूप में रखने वाले हो, बैठने के स्थान हो। हे यज्ञद्वार की शाखाओं! तुम मुझे सन्तप्त मत करो। हे मार्ग के रक्षक सूर्य! मार्ग में वर्तमान मुझे आगे बढ़ाओ, इस देवयान मार्ग में मेरा कल्याण हो॥ इस मन्त्र से सदोमण्डप के पूर्व द्वार के पूर्व भाग में स्थित हो ब्रह्मासन, शालाद्वार और प्राजहित अग्नि को देखे, शालाद्वार का मार्जन करे और सूर्य का अभिमन्त्रण करे॥३३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९.८.१८-२१) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'समुद्रोऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से विभिन्न अग्न्यायतनों को सम्बोधित करने के बाद सदोमण्डप के द्वारस्तम्भों का स्पर्श तथा अभिमन्त्रण किया जाता है।

मैकवचने सिलोपे रूपम्। 'अभिमन्त्रणमुत्तरैरध्वनामध्वपत इति सूर्यम्' (का. श्रौ. ९.८.१४-१५)। उत्तरैस्त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रयाणामभिमन्त्रणं दर्शनम्। हे अध्वपते मार्गपालक सूर्य, अध्वनां मार्गाणां मध्ये वर्तमानं मा मां त्वं प्रतिर प्रवर्धय। तिरतिर्वृद्ध्यर्थः। अस्मिन् देवयाने देवभावप्रापके पथि मार्गे मे मम स्वस्त्यविनाशः कल्याणं भूयात्।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं समुद्रोऽसि समुद्रवद् दुरवगाह्योऽसि, 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव' (वा. रा. १.१.१७) इति श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणवचनात्। विश्वं विशेषेणाञ्चति सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनेति विश्वव्यचाः, ब्रह्मणः सत्तास्फूर्तिभ्यामेव विश्वस्य सत्तास्फूर्तिमत्त्वात्। अजोऽसि षड्विधभावविकारवर्जितोऽसि। जातिनिषेध इतरेषामुपलक्षणम्। विश्वमेकस्मिन् पादे यस्य सः, सर्वप्रपञ्चस्य तस्यैकांशस्थितत्वात्, 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ. गी. १०.४२) इति गीतोक्तेः। त्वमेवाहिः, विश्वस्मिन् व्याप्नोषि, 'अह व्याप्तौ'। बुध्न्यः, बुध्ने मूले प्रकृतिरूपे भवत्वात्, कारणस्यैव कार्येषु व्याप्तिसम्भवात्। वागसि परावाग्रूपोऽसि, अनादिनिधनब्रह्मण एव परावाक्त्वोपपत्तेः। सार्वात्म्याद्वा वाचोऽपि परमेश्वरत्वं सम्भवति। ऐन्द्रमसि हे ब्रह्मचैतन्य, त्वमैन्द्रमसि इन्द्रस्य मायिनो मायाविशिष्टस्येदं सर्वं जगत् त्वमेवासि, सर्वस्याधिष्ठानपर्यवसायित्वात्। सदः सर्वस्य सदो निवासस्थानमसि। सीदन्ति सर्वाणि वस्तूनि यस्मिन् तत्। ऋतस्यावश्यंभाविकर्मफलस्य द्वारौ प्रापकौ प्रकृतिपुरुषौ सीतारामौ राधाकृष्णौ वा मां भक्तं त्वदाज्ञापालकं मा सन्ताप्तम्। हे अध्वपते! अध्वनां कर्मोपासनाज्ञानयोगादिमार्गाणां पते परमेश्वर, अध्वनां मध्ये वर्तमानं मां प्रतिर प्रवर्धयाध्वपस्य विष्णोः पदस्य प्रापणेन देवस्य शुद्धब्रह्मणः— 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वेता. ६.११), याने प्रापके ब्रह्मात्मैक्यज्ञानाभ्यासे स्वस्त्यविघ्नं मे भूयाद् भवतु, भगवदनुग्रहादित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'यथेश्वरः समुद्रः समुद्रवन्ति भूतानि यस्मात् सः। विश्वस्मिन् व्यचो व्याप्तिर्यस्य सः। अजः कदाचिन्न जायते। एकस्मिन् पादे विश्वं यस्यास्ति। अहिः समस्तविद्यासु व्यापनशीलः। बुध्नेऽन्तरिक्षे भवः। 'बुध्नमन्तरिक्षम्' (निरु. १०.४४)। वाग् यया वक्ति सा असि। ऐन्द्रं परमेश्वरस्येदं सदः सीदन्त्यस्मिन्। ऋतस्य सत्यस्य कारणस्य व्यवहारस्य वा द्वारौ। बाह्यान्तरस्थे मुखे मा मां तप्तम्। लिङर्थे लुङ्। अध्वनां विद्याधर्मशिल्पमार्गाणाम्, अध्वपाः प्र मां तिर तारय। स्वस्ति सुखं मेऽस्मिन् प्रत्यक्षे पथि मार्गे देवयाने विदुषां गमनागमनाधिकरणे तथा भूयात्। यथेश्वरः समुद्रः सर्वोत्पादको व्यापकः, तथा हे अध्वपते! धर्मव्यवहारमार्गपालक विद्वन्, त्वं परमैश्वर्यस्य निमित्तमसि सदः स्थानरूपोऽसि। यथेश्वर ऋतसत्यद्वारमुखेन सन्तापयति, तथा त्वमपि मां मा तपेः। हे ईश्वर, मां धर्मशिल्पमार्गेभ्यः पारं तारय। मे देवयाने विदुषां गमनागमनयोग्ये मार्गे यथा सुखं भूयात्तथाऽनुगृहाण' इति, तदपि

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर! आप समुद्र की भाँति अगाध हैं। विश्व को सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करते हैं। जन्मादि छः प्रकार के भावविकारों से रहित हैं। सम्पूर्ण विश्व आपके एक पाद में अन्तर्भुक्त है। आप विश्वव्याप्त हैं, सृष्टि के मूल में प्रकृति के रूप में स्थित हैं। परा वाणी स्वरूप आप ही हैं। हे ब्रह्मचैतन्य, मायाविशिष्ट ईश्वर के सम्पूर्ण जगद्रूपी आप ही हैं। सबके आश्रयभूत हैं। अवश्यम्भावी कर्मफल को प्राप्त कराने वाले सीताराम अथवा राधाकृष्ण स्वरूप आप दोनों आपके आज्ञापालक मुझ भक्त को सतृष्ण न करें। कर्म, उपासना, ज्ञान, योग आदि विविध मार्गों के पालक हे परमेश्वर! मार्ग के बीच में अवस्थित मुझे आगे बढ़ावें। मार्ग के रक्षक विष्णुदेव के पद की प्राप्ति के द्वारा शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कराने वाले ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानाभ्यास में भगवदनुग्रह से मेरी निर्विघ्नता हो।

स्वामी दयानन्द के अर्थ में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार को स्वीकार करने में कोई प्रमाण न होने के कारण मन्त्राक्षरों से विसंगति है। उस मत में परमेश्वर वाक् नहीं हैं, क्योंकि परमेश्वर की सर्वात्मता नहीं मानी जाती। ऋत तथा सत्य को बाह्य तथा आभ्यन्तर द्वार मानने में भी प्रमाण की अपेक्षा है ॥३३॥

सर्वमुदक्षरमेव, वाचकलुप्तोपमालङ्काराश्रयणे प्रमाणाभावश्च। व्यचधातोर्व्याप्त्यर्थकत्वे प्रमाणाभावोऽपि, 'व्यच व्याजीकरणे' इत्यस्य तदर्थाननुगुणत्वात्। किञ्च, विश्वव्यापकत्वे तस्यान्तरिक्षव्याप्तिकथनं निरर्थकमेव, तेनैव गतार्थत्वात्। त्वद्रीत्या न च परमेश्वरो वागस्ति, सार्वात्म्यानङ्गीकारात्। ऋतसत्ययोर्बाह्याभ्यन्तरद्वारत्वमपि प्रमाणसापेक्षमेव। न वा यथेश्वरो व्यापकः सर्वोत्पादकस्तथा विद्वान् भवति, तस्य परिच्छिन्नत्वात्। तथा च कथं लुप्तोपमालङ्कारोऽपि। न चैकपादत्वमपि तस्य सम्भवति। न च देवयानपदेन विदुषां गमनागमनमार्गोऽभिधीयते, देवपदेन मनुष्येतरजातिविशेषस्य साधितत्वात्। यथेश्वरो ऋतस्य द्वारौ न सन्तापयति, तथा त्वमपि मां मा तपेरिति विचित्रमेव, विदुषां तापकत्वासिद्धेः, द्वाराविवेत्यस्य स्वारस्यानुक्तेः ॥३३॥

मि॒त्रस्य॑ मा॒ चक्षु॑षेक्षध्व॒मग्न॑यः सग॒राः सग॑राः स्थ॒ सग॑रेण॒ नाम्ना॒ रौद्रे॑णानी॑केन पा॒त माग्नयः पिपृ॒त मा॑ग्नयो गोपायत॑ मा नमो॑ वोऽस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसिष्ट ॥३४॥

'मित्रस्येत्यृत्विजः' (का. श्रौ. ९.८.१६), अभिमन्त्रयत इति शेषः। हे ऋत्विजः, मित्रस्यादित्यस्य चक्षुषा नेत्रेण मामीक्षध्वं पश्यत। शान्तं खल्वादित्यचक्षुः। मित्रस्य सख्युर्वा नेत्रेण पश्यत। यथा सखा सखायं हितयुक्तेन चक्षुषा पश्यति, तथा मां यजमानं पश्यध्वम्। 'अग्नयः सगरा इति धिष्ण्यान्' (का. श्रौ. ९.८.१७)। आग्नीध्रीयादीनष्टौ धिष्ण्यान् अभिमन्त्रयेत यजमान एवेति कर्कः, अध्वर्युरेव इत्यपरे। हे अग्नयः, सगरा गरेण स्तुत्या सहिताः सगराः 'गॄ स्तुतौ', यूयं सगरेण नाम्ना स्तुतिसहितेन नाम्ना धिष्ण्या इति नाम्ना वा व्यवह्रियमाणाः सगराः स्थ समानस्तुतिभाजो भवथ। समानो गरो येषां ते सगराः। हे अग्नयः, ते यूयं रौद्रेणानीकेन शत्रुविनाशकत्वादुग्रेण भवदीयेन सैन्येन मा मां पात रक्षत। यद्वा रुद्रदेवत्येन मुखेन मां पात। अनीकं मुखं सैन्यं च। हे अग्नयः, मा मां पिपृत धनादिभिः पूरयत। अथवा मा मां गोपायत निरन्तरं रक्षतेत्यर्थः, 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु. १०.४२) इति वचनात्। तेन न पौनरुक्त्यदोषोऽपि। वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु। मा मां हिंसिष्ट वधिष्ट। ये धिष्ण्यरूपा अग्नयस्ते सर्वे कर्मणि न्यूनातिरिक्तांशप्रतिष्ठापूर्तिहेतवो भवन्ति। विहितैकदेशपरित्यागे कर्म न्यूनं भवति। अधिकस्य कस्यचिदनुष्ठानेऽतिरिक्तं भवति। तदुभयदोषपरिहारेण सम्पूर्तिमेते कुर्वन्ति, द्विनामत्वात् समानस्तुतयो भवन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्नयः, राम-कृष्ण-विष्णु-शिव-सूर्य-गणपति-शक्त्यादिरूपेण [१]परमेश्वरस्यानेकरूपत्वं श्रुति-स्मृति-पुराणादिष्वपि स्पष्टमेव। तदपेक्ष्यैव परमेश्वरवाचकेऽप्यग्निशब्दे बहुवचनम्। मा मां मित्रस्य सख्युश्चक्षुषा नेत्रेण

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों! मित्र की दृष्टि से मुझे देखो। हे स्तुतियोग्य धिष्ण्यों की अग्नियों! मैंने आप सबकी नामोच्चारण पूर्वक स्तुति की है, अतः हे अग्नियों! उग्र सेना से मेरी रक्षा करो। हे अग्नियों! मुझे धन आदि से पूर्ण करो, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मेरे इस यज्ञ में आपकी कृपा से कोई विघ्न न हो॥ इस मन्त्र से यजमान सब ऋत्विजों का अभिमन्त्रण करे और अध्वर्यु आठों धिष्ण्यों को देखता हुआ प्रार्थना करे॥३४॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९.८.२२, ९.४.२३) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'मित्रस्य मा' इस कण्डिका के मन्त्रों से ऋत्विजों का तथा धिष्ण्यों का अभिमन्त्रण किया जाता है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे अग्नि आदि परमेश्वर के अनेक स्वरूपों! मुझे आप लोग सख्यपूर्ण नेत्रों से देखें अथवा आदित्य के शान्त नेत्रों से अवलोकन करें। आप लोग समान स्तुति वाले हैं, अतः स्तुतियुक्त नाम के द्वारा समान रूप

१. परमेश्वरस्यैव लीलयाऽनेकरूपधारित्वमुक्तं मीमांसाशास्त्रे दाशकितवाद्यधिकरणे।

पश्यध्वम् । आदित्यस्य वा शन्तमेन चक्षुषा मामीक्षध्वम् । सगराः समानस्तुतयो यूयम् । अत एव सगरेण स्तुतियुक्तेन नाम्ना सगराः समानस्तुतयो भवथ, अत्यन्ताभिन्नत्वात् । हे अग्नयः, रौद्रेण रागद्वेषाद्यान्तरबाह्यसर्वविधशत्रुविनाशकत्वादुग्रेण भवदीयेनानीकेन सैन्येन मा मां पात रक्षत । हे अग्नयः, मां बाह्यैर्गोभूहिरण्यरत्नादिभिरान्तरैर्ज्ञानवैराग्यशमदमादिभिश्च पूरयत । मां गोपायत ब्रह्मात्मस्वरूपज्ञानसम्पादनेन पालयत । वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु । मां मा हिंसिष्ट बहिर्मुखतोत्पादनेन मा वधिष्ट, निर्विघ्नब्रह्मज्ञानोपासनादिकं निर्वर्तयतेत्यर्थः ।

स्वामी दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः सगरा अग्नयः, यूयं मा मां चक्षुषेक्षध्वं यूयं सगराः स्थ । हे अग्नयः, सगरेण रौद्रेण नाम्नानीकेन मां पात, मां पिपृत, मा गोपायत, मा हिंसिष्ट । एतदर्थं वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु । अग्नयो नेतारो नयन्ति श्रेष्ठानिति । सगरोऽन्तरिक्षमवकाशो येषां ते सगराः, अन्तरिक्षेण रौद्रेण शत्रुरोदयितॄणामिदं तेन सैन्येन रक्षत सभाध्यक्षादयो गोपायत पालयत नमः' इति, तन्न, सगरपदेनान्तरिक्षग्रहणे प्रमाणानुपलम्भात् । विवरणकृतापि— 'सह गरेण समानो गरो वा यस्य' इत्येवोक्तम्, न त्वन्तरिक्षरूपोऽर्थः समर्थितः । 'अग्नये' इत्येतेनापि यद्यप्यग्निदेवता परमेश्वरो वा ग्रहीतुं शक्यते, तथापि 'श्रेष्ठानां पदार्थानां नेतारः' इत्यर्थे न किमपि प्रमाणं पश्यामः । सगर इत्यस्यान्तरिक्षमर्थः, तेन चावकाशो लक्ष्यते, तेन च विद्योपदेशावकाशग्रहणमिति वैदिकशब्देषु बलात्कार एव । हिन्दीव्याख्याने 'अग्नये' इत्यनेन संसाधितविद्युदाद्यग्निवेत्तारो विद्वांस इत्यर्थापनमपि निर्मूलमेव।विदुषां शत्रुरोदयितारः के ? तेषां सैन्येन विदुषां कः सम्बन्धः ? सैन्येन रक्षणाय राजानः शासका वा अभ्यर्थनीयाः, विद्वांसस्तु विद्यादानार्थं प्रार्थनीयाः । सर्वथापि केवलमूर्खजनप्रतारणाय एतादृशं व्याख्यानमित्युपेक्षणीयमेव ॥३४ ॥

ज्योति॑रसि वि॒श्वरू॑पं॒ विश्वे॑षां दे॒वानाᳬ॑ स॒मित् । त्वᳬ॑ सो॑म तनू॒कृद्भ्यो॒ द्वेषो॑भ्यो॒ न्यकृ॑तेभ्य उ॒रु य॒न्तासि॒ वरू॑थᳬ॒ स्वाहा॑ जुषा॒णो अ॒प्तुराज्य॑स्य वेतु॒ स्वाहा॑ ॥३५ ॥

'ध्रुवायाः पुरस्तात् पृषदाज्यमाज्यं दधिमिश्रं पञ्चगृहीतं ज्योतिरसीति समिदन्तेन' (का. श्रौ. ५.४.२४) । जुहूपभृतोराज्यग्रहणमनुयाजार्थं सर्वत्र पश्चादौ भवति, अतः पृषदाज्येनानुयाजा अनुष्ठेयाः । हे पृषदाज्य, त्वं ज्योतिर्द्योतमानं द्योतकं वा असि भवसि । कीदृशम् ? विश्वरूपं विश्वं सर्वं रूपं यस्य तत्, बहुष्वाहुतिषूपयुक्तत्वाद्

से संस्तुत हों । हे अग्न्यादि रूपों ! रागद्वेषादि आन्तरिक तथा बाह्य सभी शत्रुओं के विनाशक होने के कारण अत्यन्त उग्र अपनी सेना से मेरी रक्षा करें । हे अग्न्यादि मूर्तियों ! मुझे बाह्य हिरण्य, रत्न आदि तथा आन्तरिक ज्ञान, वैराग्य आदि से परिपूर्ण करें, मेरा पालन करें । आप लोगों के लिये नमस्कार है । बहिर्मुखता के उत्पादन के द्वारा मुझे हीन न करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्या उचित नहीं है, क्योंकि सगर शब्द से अन्तरिक्ष अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है । उससे विद्योपदेशावकाश का ग्रहण करना तो वैदिक शब्दों पर बलात्कार ही है । हिन्दी व्याख्या में अग्नि शब्द का 'अग्निवेत्ता विद्वान्' अर्थ करना भी निर्मूल है ॥३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे आज्य ! तुम विश्व को रूप देने से विश्वरूप और दीप्ति देने से ज्योतीरूप हो, सब देवताओं के प्रकाशक हो । हे सोम ! तुम हमारे विरोधियों द्वारा प्रेरित शत्रुओं और शरीर-छेदक राक्षसों के लिये दण्डदाता हो, बड़े बलवान् हो । तुम्हारे लिये मैं यह आहुति देता हूँ । हे प्रसन्न सोम ! मेरे दिये हुए घृत का पान करो, इस आहुति को सम्यक् रूप से ग्रहण करो ॥ इस मन्त्र से प्रज्वलित समिधा के ऊपर घृत की आहुति दी जाती है और सोम से प्रार्थना की जाती है ॥३५ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (५.४.२४, ८.७.१-२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'ज्योतिरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से दधिमिश्रित घृत का हवन तथा 'प्रचरणी' नामक पलाश की स्रुची से घृत का हवन किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता में याज्ञिक प्रक्रिया के अनकल व्याख्यान उपलब्ध है ।

विश्वरूपत्वमाज्यस्य युक्तमेव। वैचित्र्याद्वा विश्वरूपत्वम्, आज्यस्य साधारण्येनेतरद्रव्यवत् प्रतिनियतदैवतत्वाभा-वात्। पृषदाज्यमिति विश्वेषां देवानां समिदित्युच्यते, अनेकद्रव्यात्मकत्वाद्वा वैश्वदेवत्वम्, दीप्यमानत्वाच्च ज्योतिष्ट्वमपि तस्य सङ्गच्छते। त्वं विश्वेषां देवानां समित्, समिन्धत इति समित्, दीपकमसि। देवा ह्याज्याहुतिं गृहीत्वा दीप्यन्ते। 'प्रदीप्तमिध्मं त्वꣳ सोमेति प्रचरण्याऽभिजुहोति' (का. श्रौ. ८.७.१)। आग्नीध्रे नयनार्थं शालाद्वार्ये विहितस्य प्रदीप्तस्येध्मस्योपरि त्वं सोमेति मन्त्रेण प्रचरण्या स्रुचा सकृद्गृहीतमाज्यं समिद्वर्जं जुहुयात्। अन्यासु व्यापृतासु तया प्रचर्यत इति प्रचरणी नाम पालाशी जुहूरेव, अग्निहोत्रहवणीति कर्काचार्यः।

अवसानरहिता सोमदेवत्या गायत्री भृगुपुत्रक्रतुदृष्टा। तनूः शरीरं तत्कृन्तन्ति छिन्दन्तीति तनूकृतो वृकादयो राक्षसा असुरा वा, तेभ्यो द्विषन्तीति द्वेषांसि दौर्भाग्यानि दुर्जनाद्यन्यकृतानि जन्मान्तरीयकर्मकृतानि वा, तेभ्यश्च गोपाय। यद्वा तनूकृद्भ्य इति द्वेषेभ्य इत्यस्य विशेषणम्। तस्मिन् पक्षे तनूः शरीरं कृन्तन्तीति तनूकृन्ति, द्विषन्तीति द्वेषांसि, तादृशानि रक्षांसि तनूकृद्भ्यो द्वेषेभ्यो यतस्त्वमुरु यन्तासि बहुप्रकारं नियन्तासि, यथा तादृशा अपि मां न बाधेरन्, तथा सुरक्षितप्रदेशे रक्षित्वा मां पालयसि, तस्मात्त्वमेवास्माकमुरु प्रभूतं वरूथं बलमसि। तुभ्यमिदं हुतमस्तु। वरूथं गृहं च यज्ञरूपं मे गोपाय। यद्वा तन्वा शरीरेण क्रियन्ते यानि द्वेषांसि, अन्यकृतानि पुत्रदारप्रभृतिभिः कृतानि वा तेभ्यो गोपायेति तुल्यम्। शालामुखीयो योऽग्निः, यश्च तस्याग्नेः समीपे स्थापितः सोमस्तदुभयमाग्नीध्रादिप्रदेशेषु नीत्वा पश्चादग्नीषोमीयः पशुरालब्धव्यः, ततः सोमं नेतुं तमुद्दिश्याज्याहुतिर्हुता। 'जुषाणो अप्तुरिति द्वितीयाम्' (का. श्रौ. ८.७.२)। प्रदीप्तस्येध्मस्योपरि प्रचरण्या सकृद्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽऽहुतिं जुहुयात्। अप्तुदेवत्या एकपदा विराड् यजुरन्ता, विराजो दशेत्युक्तेर्दशाक्षरत्वाद्विराट्। जुषाणोऽस्मासु प्रीयमाणः सेवमानो वा अप्तुः सोमः, आप्नोति व्याप्नोति तूर्णं पीतः सन् शरीरमित्यप्तुः, आज्यस्य वेतु आज्यं पिबतु, कर्मणि षष्ठी, स्वाहा तस्मै अप्तवे सोमायेदं हुतमस्तु। यद्वा हे सोम, अस्मासु जुषाणः प्रीतिमान् रक्षसामदर्शनायाप्तुल्यदेहः सन् आज्यस्य वेतु आज्यं पिब।

शतपथे—'अथोत्पूयाज्यं चतुर्गृहीते जुह्वां चोपभृति च गृह्णाति पञ्चगृहीतं पृषदाज्यं ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाꣳ समिदिति वैश्वदेवꣳ हि पृषदाज्यं धारयन्ति स्रुचो यदा प्रदीप्त इध्मो भवति' (श. ३.६.३.६)। अग्नीषोमीयार्थमाज्यपृषदाज्ययोर्ग्रहणं विधत्ते— अथोत्पूयेति। पृषदाज्यग्रहणमन्त्रमाह—ज्योतिरसीति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। 'अथ जुहोति। त्वꣳ सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य उरु यन्तासि वरूथꣳ स्वाहेति तदेतेनैवास्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनेमं लोकꣳ स्पृणुते' (श. ३.६.३.७)। इदानीं समन्त्रकमाहवनीये वैसर्जनहोमं विधत्ते—अथ जुहोतीति। जुह्वा व्यापृतत्वात् प्रचरण्या पालाश्या जुह्वा अग्निहोत्रहवण्या जुहोति—हे सोम, त्वं तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्यः, तनूं शरीरं कृन्तन्ति तृन्दन्तीति तनूकृन्ति रक्षांसि, द्विषन्तीति द्वेषांसि, अन्यैरस्मद्विरोधिभिरभिचरद्भिः कृतानि प्रेरितानि, तादृशेभ्यो नियन्तासि, यथा तादृशानि तनूकृन्ति द्वेषांसि रक्षांसि विरोधिभिरभिचरद्भिः प्रेरितानि न बाधन्ते तथा पालयसि। तस्मात्त्वमेवास्माकं उरु प्रभूतं वरूथं बलमसि। तस्मै तुभ्यमिदं सुहुतमस्तु। तदेतेनेममिति वैसर्जनानां लोकत्रयजयरूपत्वस्योक्तत्वाद् गार्हपत्यहोमः पृथिव्यां प्रतिष्ठारूपः, अस्या जायापत्ययोश्च प्रतिष्ठोपपद्यत इति तदर्थमाह—'एतेनेमं लोकम्' (तै. सं. ६.३.२.२)।

'अथाप्तवे द्वितीयामाहुतिं जुहोति। जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहेत्येष उ हैवैतदुवाच रक्षोभ्यो वै बिभेमि यथा माऽन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न हिनसन्नेवं मा कनीयाꣳसमेव वधात् कृत्वाऽतिनयतं स्तोकमेव स्तोको ह्यप्तुरिति

तमेतत्कनीयांꣳसमेव वधात् कृत्वाऽत्यनयन्स्तोकमेव स्तोको ह्यप्तू रक्षोभ्यो भीषा तस्मादप्तवे द्वितीयामाहुतिं जुहोति' (श. ३.६.३.८)। आहुत्यन्तरं समन्त्रकं विधत्ते—अथाप्तव इति। अप्तुः सूक्ष्मरूपः सोमो जुषाणः प्रीयमाण आज्यस्य वेतु आज्यं पिबतु। मन्त्रतात्पर्यमाह—एष उ हैवेति। एष मन्त्र एवैतद् वक्ष्यमाणमुवाच 'रक्षोभ्यः' इत्यादि। यथा मान्तरेति प्रणयनकाले मध्यमार्गे शालामुखीयहविर्धानयोरन्तराले नाष्ट्रा रक्षांसि न हिंसेयुरिति रक्षःकृतानवधानहेतोः कनीयांसं स्तोकं कृत्वाऽनयन् तस्मादप्तवे स्तोकभूताय सोमाय द्वितीयामाहुतिं जुहुयात्।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सहितः सोमो देवः साम्बसदाशिवः, तत्सम्बुद्धौ। त्वं ज्योतिरसि चैतन्यात्मकं निर्विकारं ब्रह्मज्योतिरसि। कीदृशं तत्? विश्वरूपम्, विश्वं निखिलं चेतनाचेतनात्मकं रूपं यस्य तत्। 'ब्रह्मैव विश्वमखिलम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. उ. ३.१४.१) इति श्रुतेः। विश्वेषां समेषां देवानां चक्षुःश्रोत्रादीन्द्रियाणां समित् समिद्ध्यन्ते सर्वाणीन्द्रियाणि येन तत् समिद् दीपकम्, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (भ. गी. १३.१८), 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' (केनो. १.२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। तनूकृद्भ्यः शरीरघातकेभ्यो द्वेषोभ्यो द्विषद्भ्यो रक्षोभ्यः, अन्यप्रेरितेभ्यश्च तेभ्यः, उरु यन्तासि सर्वान् नियन्तुं शक्नोषि। यद्वा तन्वा शरीरेण क्रियन्ते यानि द्वेषांसि पातकानि दौर्भाग्यानि, तेभ्योऽन्यैः पुत्रदारादिभिश्च कृतेभ्यो द्वेषोभ्योऽस्मान् वरूथं गृहं च, गोपायेति शेषः। यतस्त्वमुरु यन्ता बहुधा सर्वनियामकोऽसि। हे सोम, अप्तुर्व्यापको जुषाणोऽस्मासु प्रीयमाण आज्यस्य आज्यं वेतु भवान् पिबतु, तस्मै भवते सुहुतमस्तु। यद्वास्माकमाज्यं स्नेहं वेतु जानातु। त्वमेवास्माकमुरु प्रभूतं वरूथं बलमसि। भक्तानां भगवानेव बलमिति प्रसिद्धमेव। तुभ्यं स्वाहा मदीयं सर्वस्वमर्पितमस्तु।

स्वामिदयानन्दस्तु—'हे सोम, यथा त्वं विश्वेषां देवानां विदुषां विश्वरूपं विश्वं रूपं यस्मिन् तज्ज्योतिः समिदसि। तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यश्च यन्तासि। तथा य उरु वरूथं स्वाहा सन् मनुष्यः स्वाहा वेतु। हे जगदीश्वर, त्वं विश्वेषां देवानां विदुषां सर्वरूपयुक्तसर्वप्रकाशकसमित्प्रकाशितोऽसि। शरीरकृद्भ्यो द्विषद्भ्यो जीवेभ्यस्तथान्यमनुष्यकृतेभ्यो दुष्टकर्मभ्यो नियन्तासि तेभ्य उरु प्रभूतं वरूथमुत्तमं गृहं स्वाहा वाणीमप्तुर्व्यापकं विज्ञानं जुषाणो मनुष्यः स्वाहा वेदवाणीं वेतु जानातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्। सर्वप्रकाशकं च ब्रह्म वस्तुतो भारूपमेव न दृश्यम्, दृश्यत्वे तस्य मिथ्यात्वापत्तेः। शरीरकृद्भ्यो द्वेषोभ्य इत्यत्र चिद्विशेष्यविशेषणानुपपत्तिः। 'द्विषन्तो जीवाः शरीरकृतः' इत्यस्य किं तात्पर्यम्? न च जीवाः शरीरकृतो भवन्ति। तेषामेव शरीरकृत्वेऽशुभशरीरानारम्भापातात्। 'आज्य'-'स्वाहा'पदाभ्यां विज्ञानवाण्योर्ग्रहणमपि निर्मूलमेव। मनुष्यपदमपि मन्त्रे नास्त्येव। तस्मात् शतपथकात्यायनादिसूत्रसंमतं पूर्वमेव व्याख्यानं ज्यायः ॥३५॥

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे साम्ब सदाशिव! आप चैतन्यात्मक निर्विकार ब्रह्मज्योतिष् हैं। निखिल चेतनाचेतनात्मक रूप वाले हैं। समस्त इन्द्रियों को प्रदीप्त करने वाले हैं। शरीरघातक राक्षसों को तथा उनसे प्रेरित अन्य शत्रुओं को भी नियन्त्रित करने में समर्थ हैं। आप शरीर के द्वारा क्रियमाण तथा पुत्र-कलत्रादि अन्यों के द्वारा किये गये पापों से हमारे गृह की रक्षा करें, क्योंकि आप सर्वनियन्ता हैं। हे व्यापक साम्बशिव! आप प्रसन्न होते हुए हविर्द्रव्य ग्रहण करें, यह आपके लिये समर्पित है। अथवा हमारा स्नेह जान लें, क्योंकि आप ही हमारे बल हैं। भक्तों के बल भगवान् हैं, यह प्रसिद्ध ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ निर्मूल एवं अध्याहारों की बहुलता के कारण असमीचीन है। 'आज्य' तथा 'स्वाहा' शब्दों से विज्ञान तथा वाणी अर्थ लेना भी अप्रामाणिक है॥३५॥

अग्ने॒ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒ये अ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्। यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हु॒रा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम ॥३६ ॥

'अग्ने नयेति वाचयति' (का. श्रौ. ८.७.५)। आग्नीध्रं प्रति गमनार्थं प्रवृत्तं यजमानं 'अग्ने नय' इति मन्त्रं वाचयत्यध्वर्युः। शतपथे चापि—'उद्यच्छन्तीध्म म उपयच्छन्त्युपयमनीरथाहाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि सोमाय प्रणीयमानायेति वाग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहीति त्वेव ब्रूयात्' (श. ३.६.३.९), 'इध्ममभ्यादधति। उपयमनीरुपकल्पयन्त्याज्यमधिश्रयति स्रुवं च स्रुचं च सम्मार्ष्ट्यथोत्पूयाज्यं पञ्चगृहीतं गृह्णीते यदा प्रदीप्त इध्मो भवति' (श. ३.५.२.१) इत्यनुसारेणेध्माधानोपयमन्युपकल्पादीनामनन्तरं प्रदीप्तेध्मगतमग्निमुद्यच्छन्ति, ऊर्ध्वं धारयन्ति, तदाधारेषु नीयमानाः सिकता अप्युपयच्छन्त्यधो धारयन्ति। अग्नीषोमप्रणयनप्रैषविषये विकल्पपक्षं निरस्याग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहीति पक्षं सिद्धान्तयति—अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहीति त्वेव ब्रूयादिति।

'आददते ग्राव्णः। द्रोणकलशं वायव्यानीध्मं काष्मर्यमयान् परिधीनाश्ववालं प्रस्तरमैक्षव्यौ विधृती तद्बर्हिरुपसन्नद्धं भवति वपाश्रपण्यौ रशने अरणी अधिमन्थनः शकलो वृषणौ तत्समादाय प्राञ्च आयन्ति स एष ऊर्ध्वो यज्ञ एति' (श. ३.६.३.१०)। ग्राव्णोऽभिषवार्थान्, पाषाणान् द्रोणकलशं सोमाधारभूतं प्रभूतं पात्रविशेषं वायव्यान् वायुदेवताकान्। 'सोमपात्राणि ग्राव्णो वायव्यानि' (तै. सं. ६.३.२.३) इति श्रुत्या पात्राणामेव वायव्यत्वम्। इध्मं काष्मर्यपरिध्यादिकं तद्बर्हिरुपसन्नद्धं भवत्यातिथ्यायामास्तीर्णं भवति, 'यदातिथ्यायां बर्हिस्तदुपसदसस्तदग्नीषोमीयस्य' (ऐ. ब्रा. १.४.८.२५)। वपाश्रपण्यौ वपायाः श्रपणसाधने काष्मर्यशाखे। रशने यूपपश्वर्थे द्वे। अरणी द्वे। अधिमन्थनः शकल उत्तरारणेरधस्तात् स्थाप्यः। वृषणौ वृषणस्थानीयौ दर्भौ। एतान् सोमार्थानग्नीषोमीयार्थांश्च समादाय प्राञ्च आयन्ति आगच्छेयुः। स एष ऊर्ध्वो यज्ञ एति, ऊर्ध्वं गतो भवति, अध्वर्युप्रमुखैर्यज्ञाङ्गानामुद्यमनात्। 'तदायत्सु वाचयति। अग्ने नय .... विधेमेत्यग्निमेवैतत् पुरस्तात् करोत्यग्निः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाᳬस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानानाष्ट्रेण हरन्ति त आयन्त्यागच्छन्त्याग्नीध्रं तमाग्नीध्रे निदधाति' (श. ३.६.३.११)। तेष्वागच्छत्सु 'अग्ने नय' इति मन्त्रं वाचयत्यध्वर्युः।

मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने देव, नय प्रापय अस्मान् राये धनाय यज्ञफलाय, इहाभीष्टगोभूहिरण्यादिलाभाय, परत्र च स्वर्गादिसुखभोगाय, सुपथा शोभनेन मार्गेण त्वं विश्वानि सर्वाणि वयुनानि मार्गान् विद्वान् जानन्। यद्वा—अस्माकं वयुनानि ज्ञानानि, उपासनानि प्रशस्तानि कर्माणि च, 'वयुनमिति प्रशस्तनामसु' (निघ. ३.८.१०), 'प्रज्ञानामसु च (निघ. ३.९.१०), जानन्। किञ्च, जुहुराणम्, हूर्च्छितुं कुटिलीकर्तुमिच्छतीति जुहुराणम्, अभिलषित-

---

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! सब ज्ञानों को जानने वाले आप हमको धन और यज्ञफल की प्राप्ति के लिये श्रेष्ठ मार्ग दिखावें। हमारी इच्छाओं के प्रतिबन्धक दुरित (पाप) को दूर करो। आपके लिये हम बार-बार नमस्कार वचन कहते हैं॥ इस मन्त्र को पढ़ता हुआ अध्वर्यु आग्नीध्र के समीप आता हुआ यजमान के लिये प्रार्थना करे ॥३६ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.६) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार अध्वर्यु गमन के लिये प्रवृत्त यजमान से 'अग्ने नय' मन्त्र का वाचन कराता है। इस याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण आदि में उपदिष्ट है।

क्रियातत्फलप्रतिबन्धि पापम्, 'हूर्छा कौटल्ये' कुटिलं फलप्रतिबन्धकं च यदेनः पापं तत्सर्वमस्मदस्मत्तो युयोधि पृथक्कुरु, 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। ते तुभ्यं भूयिष्ठां बहुलतमां नमउक्तिं विधेम नमस्कारविषयां वाचं करवाम सम्पादयाम, नमसा हविर्लक्षणेन वा, पुरोऽनुवाक्यायाज्यावचनलक्षणया वा नमउक्त्या त्वां परिचरेम। 'नम इत्यन्ननामसु' (निघ. २.७.२२)। ते आयन्ति प्राञ्चो गता आगच्छेयुराग्नीध्रस्थानं सौमिकवेदेरुत्तरेण मार्गेण। तं प्रणीतमग्निं तत्र निदधाति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, प्राणिनामुन्नतिमार्गेष्वग्रेनयनशील परमेश्वर, नोऽस्मान् त्वदुपासकान् त्वदाराधन-बुद्ध्या अग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठातॄन् राये ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयपरमनिःश्रेयसरूपभगवत्पदप्राप्तये नय। त्वमस्माकं वयुनानि प्रज्ञानान्युपासनानि कर्माणि वा जानन् जानास्यतः कर्मफलदातृत्वात् प्रज्ञानकर्मानुरोधेन तत्तत्फलानि निष्कामानां सत्त्वशुद्धितत्त्वज्ञानादिप्रदानद्वारा स्वरूपावस्थानलक्षणं मोक्षं च प्रापयसि। अस्मद् अस्मत्तः, जुहुराणं वञ्चकं कुटिलमेनः पापं युयोधि वियोजय दुरीकुरु। तदर्थं नमउक्तिं हविर्लक्षणस्य नमस उक्त्या सम्पादनेन पुरोवाक्यायाज्यालक्षणस्य नमस उक्त्या विधेम परिचरेम। यद्वा अन्यत्कर्तुमक्षमा भूयिष्ठां नमउक्तिं करवाम तावतैव भगवन्तं प्रसादयाम।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने देव, विद्वांस्त्वं यथा सुकृतो राये सुपथा विश्वानि वयुनानि प्राप्नुवन्ति तथास्मान्नय। जुहुराणमेनोऽस्मद्युयोधि। वयं ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम। यथा सुकृतः शोभनेन धर्म्यमार्गेण गच्छन्ति, तथा राये परमश्रीमोक्षसुखप्राप्तयेऽस्मानभ्युदयनिःश्रेयससुखस्पृहावतो विश्वानि प्रशस्तानि कर्माणि प्रज्ञाश्च जानन् अस्मत्सका-शाद् जुहुराणं कुटिलमेनो दुःखफलं पापं युयोधि दूरीकुरु। ते नमउक्तिं यथा नमोभिरुक्तिं विदधति, तथा विधेम वदेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले (मन्त्रे) यथा सुकृतो गच्छन्तीत्यादिपदानामभावेन दृष्टान्तोपादानानुपपत्तेः। किञ्च, दृष्टान्तो वादि-प्रतिवाद्युभयसम्मतो भवति। न चात्र सुकृतां शोभनेन मार्गेण परलोकगमनं प्रसिद्धम्। न चागमो दृष्टान्तमपेक्षते, तस्यानुमानान्तर्भूतत्वात्। किञ्च, प्राणिकृतं कुटिलमेनः कथं फलदानमन्तरा दूरीकर्तुं शक्यते? यदि परमेश्वरप्रार्थनया तत्सम्भाव्यते, तर्हि भगवन्नामादिस्तुत्यादिभिर्न किमपि पुण्यं भवतीत्यादिका त्वदुक्तिर्निरर्थिकैव स्यात्। अत एव नमउक्तिवदनमपि निरर्थकमेव। न च मोक्षफलं गतिसाध्यम्, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ. उ. ४.४.६) इत्यादिश्रुतिविरोधात्, त्वद्रीत्या लोकान्तरानभ्युपगमात् ॥३६॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—प्राणियों को उन्नति-मार्गों में आगे ले जाने वाले हे परमेश्वर! आपके उपासकों, आपके आराधन की भावना से अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करने वाले हम लोगों को ऐहिक तथा पारलौकिक अभ्युदय तथा परम निःश्रेयसरूपी भगवत्पद की प्राप्ति के लिये ले चलें। आप हमारे ज्ञान, उपासना अथवा कर्मों को जानते हैं। अतः कर्मफल-प्रदाता होने के कारण उन उन फलों को तथा निष्काम भक्तों को सत्त्वशुद्धि, तत्त्वज्ञान आदि के द्वारा मोक्ष प्रदान करते हैं। वंचक, कुटिल पाप को हमसे दूर करें। एतदर्थ हविर्द्रव्य आदि से नमनपूर्वक उक्तियों के द्वारा हम उपासना करते हैं। अथवा अन्य कुछ भी करने में अशक्त हम लोग बार बार नमनात्मक स्तुति करते हैं।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में मूल मन्त्र में 'पुण्य करने वाले जाते हैं' इत्यादि शब्द न रहने के कारण दृष्टान्त-प्रदर्शन संगत नहीं है। आगम में दृष्टान्त की अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि वह अनुमान के अन्तर्गत है। मोक्ष फल भी गतिसाध्य नहीं है। उनके मत में दूसरे लोक को न मानने के कारण भी यह संगत नहीं हो सकता ॥३६॥

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्। अयं वाजाञ्जयतु वाजसा-तावयᳪ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥३७॥

'स निहिते जुहोति। अयं नोऽग्नि .... स्वाहेति तदेतेनैवैतस्मिन्नन्तरिक्षे प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनैतᳪल्लोकᳪ स्पृणुते' (श. ३.६.३.१२)। सोऽध्वर्युर्निहितेऽग्नौ स्थापिते जुहोति। तत्र होममन्त्रमाह—अयमित्यादि। तदेतेन शालामुखीयाग्नीध्रीयोत्तरवेदीनां क्रमेण भूम्यादिलोकत्रयात्मकत्वादन्तरिक्षे स्पृणुते पालयति प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति। एतेनैतं लोकं स्पृणुते। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'उत्तरेण सदो हृत्वाऽऽग्नीध्रेऽग्निं निदधाति, ग्रावद्रोणकलशसोमपात्राणि चायं न इति जुहोत्यस्मिन्' (का. श्रौ. ८.७.६-८)। सद उत्तरेण तत्सर्वं हृत्वा आग्नीध्रगृहमध्ये आग्नीध्रीयधिष्ण्येऽग्निं स्थापयेत्, ग्राव-द्रोणकलश-सोमपात्राणि च तत्रैव स्थापयेत्। आग्नीध्रीयेऽग्नौ प्रचरण्या सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयात्। आग्नेयी त्रिष्टुब् यजुरन्ता। मन्त्रार्थस्तु—अयमग्निर्नोऽस्माकं वरिवोऽभीष्टं धनं कृणोतु सम्पादयतु। तथायमेव मृधः संग्रामान् प्रभिन्दन् वैरिणो विदारयन् एतु गच्छतु, पुरोऽग्रतो गच्छतु, यथायं वाजसातौ वाजानामन्नानां सातिः सम्भजनं सेवनं वा वाजसातिस्तस्मिन् निमित्ते सतीत्यर्थः, शत्रुसम्बन्धीन्यन्नान्यस्मभ्यं दातुं संग्रामेऽस्मदर्थं वाजान् जयतु। अयं जर्हृषाणः पुनः पुनर्हृष्यन् शत्रून् जयतु, तस्मा इदमाज्यं सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—उपासकानां रीत्याऽयं भगवान् रामः कृष्णो विष्णुः साम्बः शिवो वा, नोऽस्माकं पातकानामग्निरिव दग्धा, अज्ञानविभ्रमादीनां चाग्निरिव दग्धा, ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यक्तं ब्रह्मैव सर्वभासकमपि स्वातिरिक्तं सर्वमज्ञानतत्कार्यात्मकं जगद् दहति। यथा सौरालोकस्तूलराशिप्रकाशकोऽपि सूर्यकान्तमणावग्निरूपेणाभिव्यक्तस्तूलराशिं दहतीति, तद्वत्। अयं नोऽस्माकं वरिवस्तत्त्वज्ञानलक्षणं शमदमादिषट्कसम्पत्तिलक्षणं वा धनं कृणोतु सम्पादयतु। अयं भगवान् मृधः संग्रामान् पुरोऽग्रतः प्रभिन्दन् वैरिणो विदारयन्नेतु। अयमेव वाजसातौ संग्रामे वाजान् धनान्यस्मभ्यं दातुं जयतु। कामक्रोधादीन् वा शत्रून् विजित्य विवेकविज्ञानं सम्पादयितुं जयतु। ए एव भगवान् जर्हृषाणोऽत्यर्थं हृष्यन् शत्रून् जयतु।

मन्त्रार्थ—यह अग्नि हमें धन प्राप्त करावे, संग्राम में शत्रुसेनाओं को छिन्न-भिन्न करता हुआ यह अग्नि शत्रुसेनाओं से धन-धान्य जीतकर हमें दिलावे। अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ यह अग्नि शत्रुओं को जीते। हमारे द्वारा दी गई आहुति को सुन्दर रूप से ग्रहण करे॥ इस मन्त्र को पढ़ता हुआ अध्वर्यु सबको मण्डप के उत्तर भाग में ले जा कर आग्नीध्रीय धिष्ण्य में अग्नि की स्थापना करे॥३७॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.७-९) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अयं नः' इस मन्त्र से आग्नीध्रीय धिष्ण्य में अग्निस्थापन के अनन्तर प्रचरणी स्रुक् के द्वारा घृत का हवन किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—उपासकों के सिद्धान्त के अनुसार ये भगवान् राम, कृष्ण, विष्णु अथवा साम्बशिव हमारे पापों को अग्नि की भाँति जलाकर, अज्ञान-भ्रम आदि को अग्नि की तरह भस्म करके अज्ञानकार्यात्मक जगत्-प्रपंच का नाश करते हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश रुई के ढेर को प्रकाशित करता हुआ भी सूर्यकान्त मणि में अग्नि के रूप में अभिव्यक्त होकर उसी रुई के ढेर को भस्म कर देता है, उसी प्रकार यह भी है। ये भगवान् हमारे तत्त्वज्ञानात्मक शमदमादि षट्क-सम्पत्ति रूपी धन का सम्पादन करें। ये भगवान् संग्रामों के आगे ही वैरियों का नाश करते हुए गमन करें तथा ये ही संग्रामों में जित धन

दयानन्दस्तु—'अयं परमेश्वरोपासकः, नोऽस्माकं जीवानामग्निः स्वयंप्रकाशोऽग्निरिव पापानां दग्धा रक्षणं करोतु। अयं युद्धकुशलो मृधः कुत्सितान् यथा कश्चिद् धीरो वाजसातौ मृधः शत्रून् पुर एति तथायं पुर एतु। यथा कश्चिद्वीरो मृधः शत्रून् प्रभिन्दन् वाजान् जयति तथायं जयतु। तथायं जर्हृषाणः स्वाहा शोभनां वाचं वदन् जयतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्। प्रजास्थानां जीवानामित्यपि निरर्थकम्, समेषां जीवानां प्रजास्थत्वाविशेषात्, प्रजायन्त इति प्रजा इति व्युत्पत्त्या जायमानानां चेतनाचेतनलक्षणानां सर्वकार्याणामेव प्रजाशब्दवाच्यत्वात्। अग्निरिवेत्यादिकमपि गौणार्थकमेव, सत्यां शक्त्यां भक्तेरनुपपत्तेः ॥३७॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥३८॥

'तदेव निदधाति ग्राव्णः। द्रोणकलशं वायव्यान् यथेतरमादायायन्ति तदुत्तरेणाहवनीयमुपसादयन्ति' (श. ३.६.३.१३)। यथा इध्मबर्हिरादिकं तथैव द्रोणकलशं वायव्यान् ग्रहांश्चादाय उत्तरवेदिस्थस्याहवनीयस्योत्तरेणासादयन्ति। 'प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते। स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षत्यथ वेदिमथास्मै बर्हिः प्रयच्छन्ति तत्पुरस्ताद् ग्रन्थ्यासादयति तत्प्रोक्ष्योपनिनीय विस्रꣳस्य ग्रन्थिमाश्ववालः प्रस्तर उपसन्नद्धो भवति तं गृह्णाति गृहीत्वा प्रस्तरमेकवृद्बर्हिः स्तृणाति स्तीर्त्वा बर्हिः काष्मर्यमयान् परिधीन् परिदधाति परिधाय परिधीन् समिधावभ्यादधात्यभ्याधाय समिधौ' (श. ३.६.३.१४)। प्रोक्षणीरादायाध्वर्युरिध्ममेव पूर्वं प्रोक्षेतेत्यादिना प्राकृतः प्रयोगः पुनरभिधीयते। तत्र तत्र विशेषविधानार्थं प्रस्तरं पृथग्गृहीत्वा बर्हिरेकावृत्त्यैव स्तृणीयात्। 'अथ जुहोति। उरु विष्णो - - - स्वाहेति तदेतेनैवैतस्यां दिवि प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्येतेनैतं लोकꣳ स्पृणुते यदेतया जुहोति' (श. ३.६.३.१५)। अथाधानसमिदाधानपर्यन्तं पश्वर्थमङ्गजातं कृत्वा पश्चाद्वैसर्जनीयं होमं तुरीयं जुहोति। तत्र मन्त्रः— 'उरु विष्णो' इति।

कात्यायनोऽपि — 'इध्मप्रोक्षणादि करोति' (का. श्रौ. ८.७.११), 'खरोत्तरार्ध एकवृत्स्तरणं पश्चाद्वोत्तरवेदेः' (का. श्रौ. ८.७.१२)। बर्हिस्तरणकाले खरस्योत्तरभागे आतिथ्याबर्हिष एकावृत्ति सकृत् स्तरणं कुर्यात्। 'आहवनीयेक्षणान्तं कृत्वोरु विष्णाविति जुहोति' (का. श्रौ. ८.७.१३)। सूरयस्त्वेत्याहवनीयेक्षणान्तं कर्म कृत्वा सकृद्गृहीतमाज्यं प्रचरण्या आहवनीये जुहुयात्। 'पुरस्ताद्वा समिधावाधायेति श्रुतेः' (का. श्रौ. ८.७.१४)। वाशब्दोऽवधारणे। नाहवनीयेक्षणान्ते होमः, किं तर्हि आहवनीयेक्षणात् प्रागेव होमः, 'अभ्याधाय समिधावथ जुहोति' इति श्रुतेः। वैष्णवी अनुष्टुप्।

हमें प्रदान करें, अथवा काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित कर विवेक ज्ञान प्रदान करें। वही भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होकर शत्रुओं को जीतें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मूलरहित अध्याहारों की अधिकता के कारण असंगत है। 'अग्नि के समान' इत्यादि अर्थ करना भी गौण अर्थ ही है। मुख्यार्थ के उपपन्न होने पर गौणार्थ की कल्पना असमीचीन है ॥३७॥

मन्त्रार्थ—हे व्यापक आहवनीय अग्निरूप परमात्मन्! आपके पराक्रम की हमें अपेक्षा है। ब्रह्मसद् में निवास के निमित्त हमें आप समृद्ध बनाइये। हे घृत से बढ़ने वाले अग्निदेव! आप घृत को पीजिये, यजमान को समृद्ध कीजिये। हम आपके निमित्त यह आहुति देते हैं॥ इस मन्त्र को पढ़ते हुए उत्तरवेदि के आहवनीय अग्नि के कुण्ड में आहुति दी जाती है॥३८॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.१२-१५) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'उरु विष्णो' मन्त्र का विनियोग वैसर्जनीय होम में आहुति प्रदान करने में उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थस्तु—हे विष्णो यज्ञात्मक, त्वम् उरु प्रभूतं द्युलोकपर्यन्तं विक्रमस्व विक्रमणं कुरु। देवयानाभिप्रायं त्रिलोकाभिप्रायं वा। किमर्थं क्षयाय ब्रह्मगृहनिवासाय, नोऽस्मान् उरु विस्तीर्णं यथा स्यात्तथा कृधि कुरु, विस्तीर्णशरीरान् वा कृधि। घृतयोने हे अग्ने, घृतं हुतं पिब यज्ञपतिं यजमानं प्रतिर वर्धयस्व। प्रपूर्वकस्तिरतिर्वर्धनार्थः। स्वाहा इदं घृतं तुभ्यं सुहुतमस्तु। यद्वा हे विष्णो व्यापिन्नाहवनीयाग्ने, उरु विक्रमस्व शत्रुषु बहुलं पराक्रमं कुरु। नोऽस्माकं क्षयाय निवासार्थं उरु कृधि बहुधनादिकं सम्पादय। हे घृतयोने घृतेन ज्वालोद्भवाद् घृतयोने, 'अग्निर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्यै घृतमुल्बमासीत्' इति श्रुतेः। हूयमानमिदं घृतं पिब। यज्ञपतिं यजमानं प्रतिर अतिशयेन वर्धय। प्रशब्दस्य द्वित्वं पादपूरणार्थम्, 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा. सू. ८.१.६)। 'यद्वेव वैष्णव्यर्चा जुहोति कनीयाꣳसं वा एनमेद्वधात्कृत्वात्यनैषु स्तोकमेव स्तोको ह्यप्तुस्तमेतदभयं प्राप्य य एवैष तं करोति यज्ञमेव यज्ञो हि विष्णुस्तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति' (श. ३.६.३.१६)। मन्त्रे यद्वैष्णवत्वमुक्तं तस्याल्पत्वपरिहारेण स्वाभाविकरूपप्राप्तिरूपत्वकरणेन प्रशंसति—यद्वेवेति। एतद् एतेन वैष्णवत्वकरणेनाभयं नाशकारिरक्षोभयरहितं कृत्वा एष सोमः पूर्वं य एव यादृग् यज्ञरूप आसीत्तं करोति। अन्यत् स्पष्टम्। अनया कण्डिकयापि रक्षोभयात् स्तोकरूपकरणादेव सोमस्याप्तुत्वं समर्थ्यते।

अध्यात्मपक्षे — हे विष्णो व्यापनशील विष्णो, भक्तानामनुग्रहाय क्षयाय ब्रह्मात्मपुरनिवासाय विक्रमस्व विक्रमं पराक्रमं त्रैलोक्यक्रमणादिकं कुरु, तल्लीलावर्णनश्रवणादिभिरेव भक्तानां तत्पदप्राप्तिसम्भवात्। नोऽस्मान् उरु विस्तीर्णान् ब्रह्मरूपान् उपाध्यध्यारोपापोहनेन कृधि कुरु। हे घृतयोने, घृतं स्नेहो योनिः कारणं यस्य प्राकट्ये स घृतयोनिः, तत्सम्बुद्धौ। घृतं स्नेहं पिब प्रेमरसमास्वादय। प्रेमपरिप्लुतं पत्रपुष्पादिकमपि भगवानश्नाति, 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥' (भ. गी. ९.२६) इति गीतोक्तेः। यज्ञपतिं ज्ञानोपास-नादिनिर्वर्तयितारं प्र प्र तिर प्रकर्षेण वर्धय ज्ञानध्यानसामर्थ्यप्रदानादिना। तस्मै तुभ्यं स्वाहा मदीयं सर्वस्वमर्पितमस्तु।

दयानन्दस्तु—'यथा विष्णुर्विक्रमते, तथा हे विष्णो विद्यादिगुणैर्व्यापनशील वीरपुरुष, त्वमुरु विक्रमस्व विद्या-फलमुरु क्रमस्व प्राप्नुहि। निवासार्थाय गृहाय विज्ञानादिप्राप्तये वा नोऽस्मान् कृधि घृतमाज्यं यथा घृतयोनिरग्निर्यथा पिबति तथा त्वं घृतं प्रपिब। यथा ऋत्विगादयो यज्ञपतिं संरक्ष्य दुःखं तरन्ति, तथा त्वं स्वाहावाचं वदन् सन् विजयेन यज्ञेन यज्ञं प्र प्र तिर' इति, तदपि न किञ्चित्, निर्मूलाध्याहार-विपरिणाम-मुख्यार्थत्याग-गौणार्थस्वीकारबाहुल्यात्। 'हे घृतयोने विद्यादिसुशिक्षायुक्त, यथाग्निर्घृतं पीत्वा प्रदीप्यते, तथा त्वं स्वीयैर्गुणैर्घृतं वारं वारं पीत्वा बलादिभिः प्रकाशितो भव' इत्यपि न सङ्गतम्, अक्षरबाह्यत्वात्। कथं गुणैर्वारं वारं घृतपानं भवति? 'यथा ऋत्विगादयो यजमानं रक्षित्वा यज्ञात् पारं कुर्वन्ति, तथा त्वं यज्ञस्य क्रियया यज्ञं प्लवस्व' इत्यप्यस्पष्टमेव। यज्ञस्य क्रियात्मकत्वेन यज्ञक्रियया यज्ञस्य पारगमनमर्थशून्यं वचः। भावार्थस्तु सर्वथा अक्षरासम्बद्ध एवेत्युपेक्षणीयः॥३८॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे व्यापनशील विष्णुदेव! भक्तों के अनुग्रह के लिये निवासार्थ त्रैलोक्य का क्रमण करें, हम लोगों को विस्तीर्ण ब्रह्मरूप बनावें। हे स्नेह के कारण प्रादुर्भूत होने वाले! आप स्नेह, प्रेमरस का आस्वादन करें। ज्ञान, उपासना आदि का अत्यन्त अभिवर्धन करें। इस प्रकार के आपके लिये मेरा सर्वस्व समर्पित हो।

स्वामी दयानन्द का व्याख्यान मूलरहित अध्याहार, विपरिणाम (परिवर्तन), मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के ग्रहण की अधिकता के कारण अनुचित है। 'यज्ञक्रिया के द्वारा यज्ञ का पारगमन' यह अर्थहीन उक्ति है, क्योंकि यज्ञ क्रियात्मक ही होता है॥३८॥

देवं सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्। एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ उपागा इदमहं मनुष्यान् सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये॥३९॥

'अथासाद्य स्रुचः। अप उपस्पृश्य राजानं प्रपादयति' (श. ३.६.३.१७)। उत्तरवेदेः पश्चाद्देशे बर्हिषि स्रुच आसाद्य राजानं सोमं प्रपादयति हविर्धानं प्रवेशयति। 'स दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति। तदेनमासादयति देव सवितरेष .... दभन्निति तदेनं देवायैव सवित्रे परिददाति गुप्त्यै' (श. ३.६.३.१८)। दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे परिवृते मध्यप्रदेशे कृष्णाजिनोपरि सोमं निदध्यात्। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'आसाद्याज्यानि दक्षिणेऽनसि कृष्णाजिनमास्तीर्य तस्मिन् सोमं निदधाति देव सवितरिति' (का. श्रौ. ८.७.१५)। उत्तरत्र विसर्गोपदेशाद् यजमानान्वारब्धोऽध्वर्युः सोमं निदध्यादित्यर्थः। 'अथानुसृज्योपतिष्ठते। एतत् त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ उपागा .... रायस्पोषेणेत्यग्नीषोमौ वा एतमन्तर्जम्भ आदधाते यो दीक्षत आग्नावैष्णवꣳ ह्यदो दीक्षणीयꣳ हविर्भवति यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वा एष देवानां भवति यो दीक्षते तदेनमन्तर्जम्भ आदधाते तत्प्रत्यक्षꣳ सोमान्निर्मुच्यते यदाहैतत् त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ उपागा ... रायस्पोषेणेति भूमा वै रायस्पोषः सह भूम्नेत्येवैतदाह' (श. ३.६.३.१९)। 'एतत् त्वमिति विसृज्योपतिष्ठते' (का. श्रौ. ८.७.१६)। कृष्णाजिनस्योपरि सोमनिधानकाले सोमस्यान्वारम्भं कुर्वन् यजमानः सोमं विसृज्य हस्तेन मुक्त्वा एतत् त्वमित्युपतिष्ठेत। काण्वशाखीयसायणभाष्यरीत्या तु कृष्णाजिने स्थापितं बद्धं सोमं विस्रंस्योपस्थानं कुर्यात्। महीधराचार्योऽपि तथैव। अग्नीषोमौ वा एतमन्तर्जम्भे दंष्ट्राकराले मुखे आदधाते यो दीक्षते। आग्नावैष्णवं ह्यदो दीक्षणीयं हविः। यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वा एष देवानां भवति यो दीक्षते। सोमोऽयं यजमानस्यात्मनिष्क्रयरूपः। यस्मादस्य यजमानस्यादो विप्रकृष्टकाले दीक्षणीयेष्टौ हविरभूद् यो विष्णुः स सोमः, सोमस्य यज्ञनिर्वर्तकत्वाद् यज्ञत्वम्। यज्ञद्वारा विष्णोः सोमत्वम्। दीक्षा संस्कारः। दीक्षणीयेष्ट्या संस्कृतत्वादेव दीक्षणीयेष्टिदेवतयोर्हविश्च एनं जम्भे स्थितम्। अतो जम्भाद्विमोक्षायाग्नीषोमीयं सोमं दत्वा आत्मनिष्क्रयणं कृतवान् भवतीत्यर्थः। तत्प्रत्यक्षं सोमान्निर्मुच्यते। यदाह — एतत् त्वं देव सोम देवान् उपागा इति। 'अथोपनिष्क्रामति। स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्य इति वरुणपाशे वा एषोऽन्तर्भवति योऽन्यस्यासंस्तत्प्रत्यक्षं वरुणपाशान्निर्मुच्यते यदाह स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान् मुच्य इति' (श. ३.६.३.२०)। 'स्वाहा निरिति निष्क्रम्य' (का. श्रौ. ८.७.१७)। हविर्धानान्निष्क्रम्य पूर्वं सङ्कोचिता अङ्गुलीर्विसृजेद्यजमानः।

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक सविता देवता! आपको हम यह सोमरस अर्पित करते हैं, इसकी आप रक्षा कीजिये, आपके रक्षा कार्य में कोई विघ्न (उपद्रव) न हो। हे सोमदेव! तुम देवता हो, अतः देवताओं के पास चले जाओ। मैं यजमान धन और पुष्टि के साथ अपने परिजनों के साथ सुख से रहूँ। सोमरूप अन्न देवताओं को पहुँचे। उस सोमदान के प्रभाव से मैं वरुण के पाश से मुक्त हो जाऊँ॥ जुहू आदि आज्यस्थाली पर्यन्त पात्रों को स्थापित करके यजमान से सोम लेकर अध्वर्यु हविर्धान में प्रवेश करे। वह दक्षिण हविर्धान में मृगचर्म बिछाकर उस पर सोम रखे, सोम का उपस्थान करे और हविर्धान मण्डप से बाहर निकले॥३९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.१६-१८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देव सवितः' इस कण्डिका के मन्त्रों से कृष्णाजिन पर सोम का स्थापन, उपस्थान तथा निष्क्रमण आदि कार्य किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में तथा तदनुसार महीधर आदि आचार्यों के द्वारा याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट किया गया है।

मन्त्रार्थस्तु—हे देव द्योतमान सवितः सर्वस्य प्रेरक, एष सोमस्ते तवार्पितः। तं सोमं रक्षस्व। तादृशं सोमस्य पातारं त्वामसुरा मा दभन् मा हिंसिषुः। सौम्यं यजुः। हे सोम देव, त्वमिदानीं भवदीयान् देवान् उपागाः प्राप्तोऽसि। अहमपि मनुष्यः सन् एतदिदानीं मनुष्यानस्मदीयानुपागां प्राप्तोऽस्मि। न केवलमहमेव, किन्तु रायस्पोषेण सह धन-पोषणसहित एव, यजमानस्याग्नीषोमयोर्जम्भानुप्रवेशेन तदीयधनस्याप्यनुप्रवेशात्। स्वाहा सोमरूपमन्नं देवेभ्यो दत्त-मस्तु। अनेन देवानां सोमप्रदानेनाहं वरुणस्य पाशान्निर्मुच्ये निर्मुक्तोऽस्मि। यद्वा हानं हा, न हा अहा, स्वस्य अहा स्वाहा स्वात्यागः, सोमेनात्मानं निष्क्रीयात्मीयोऽहमस्मीत्यर्थः। तस्माद्धेतोर्निर्मुक्तोऽहं वरुणस्य सम्बन्धिनः पाशात्। ननु कुतो वरुणपाशप्रसङ्गः? इति तत्राह—वरुणपाशे वा एषोऽन्तर्भवति योऽन्यस्यासन् भवतीति तस्मात् स्वाहेति। स्वस्य देवानामात्मीयत्वसम्पादनेनान्यदीयत्वव्यावृत्त्या वरुणपाशान्निर्मुक्तिः, तथैव स्वीयस्य द्रव्यस्य देवार्थं दत्तत्वेनापि। यद्वा स्वाहा स्वः अहमिति विगृह्य वचनम्, तदनेन स्वःस्वरूपस्य सोमस्य देवानां प्रदानेन स्वस्य देवानामात्मीयत्वं सम्पद्यते। तस्मादप्यन्यत्वव्यावृत्त्या वरुणपाशान्निर्मुक्तिः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे देव जगदुत्पत्त्यादिक्रीडनपरायण सवितः, जगत्प्रेरकान्तर्यामिन्, एष प्रत्यगात्मा ते तव सोमः सोमोपलक्षितः समर्पणीयः पदार्थः, 'अहमन्नम्' (तै. उ. ३.१०) इति श्रुतेः। तं रक्षस्व मायामयेभ्यः कामक्रोधादिभ्यः शान्तिदान्तिब्रह्मात्मज्ञानादिसम्पादनेन पालय। नन्वेते बलवन्तो मामेव बाधिष्यन्त इति तत्राह — मा त्वा दभन्निति। एते मायासहिता अपि कामादयः शरणागतपालकं त्वां मा दभन्, किं हिंसितुं समर्था भविष्यन्ति? कथमपि न, तव नित्यनिरस्तसमस्तानर्थसत्ताकत्वात्। यथा सूर्यस्य संमुखे तमिस्रा (रात्रिः) स्थातुं न शक्नोति, तथा मायापि त्वत्संमुखे स्थातुं न शक्नोति, किमुत कामादयः? 'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया' (२.५.१३) इति श्रीमद्भागवत-वचनात्। हे सोमभूत द्योतमान प्रत्यगात्मन्, देवः सन् त्वं देवान् देवदेवं परमात्मानमुपागाः प्राप्तवानसि। पूजायां बहुवचनम्। साधकश्च तथैवानुभूय वक्ति—इदं प्रत्यक्षमहं रायस्पोषेण रायो लक्ष्म्या दैवीसम्पदः पोषेण भगवदनुग्रहेण पुष्ट्या मनुष्यान् मननशीलान् तत्त्वविद उपागां प्राप्तोऽस्मि। तत्प्रसादात्तस्मै ब्रह्मणे परमात्मने स्वाहा स्वात्मानमर्पयामि। तत एव वरुणस्य सर्वावरकस्याज्ञानस्य पाशात् संसारबन्धनान्निर्मुच्ये निर्मुक्तो भवामि।

दयानन्दस्तु — 'हे देव सवितः सभाध्यक्ष, यथाहं भवत्सहायेन स्वकीयमैश्वर्यं रक्षामि, तथा त्वं य एष ते सोमोऽस्ति, तं रक्षस्व। यथा मां शत्रवो न हिंसन्ति तथा त्वामस्मत्सहायेन मा दभन्। हे देव सोम, देवस्त्वं यथैतदस्माद् देवानुपागाः, तथाहमप्युपागाम्। यथाहमिदमनुष्ठाय रायस्पोषेण सह वर्तमानो मनुष्यान् देवांश्चेत्य स्वाहा वरुणस्य पाशान्निर्मुच्ये, तथा त्वमपि निर्मुच्यस्व' इति, तथा हिन्दीभाष्ये तु—'हे देव सर्वविद्याप्रकाशक सवित ऐश्वर्यवन् सभाध्यक्ष,

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे देव! जगदुत्पत्ति आदि क्रीडा करनेवाले, जगत् के प्रेरक, अन्तर्यामी, यह प्रत्यगात्मा आपका सोम के समान समर्पणीय पदार्थ है। इसे मायामय काम, क्रोध आदि पदार्थों से शान्ति, ज्ञान आदि के सम्पादन द्वारा सुरक्षित कीजिये। ये मायासहित काम आदि शरणागतपालक आपको क्या दबा सकेंगे? जिस प्रकार सूर्य के संमुख रात्रि नहीं टिक सकती, उसी प्रकार माया भी आपके संमुख नहीं स्थित हो सकती। हे सोमरूप प्रत्यगात्मा, तुमने देव होकर देवाधिदेव परमात्मा को प्राप्त किया है। साधक कहता है कि मैं दैवी सम्पत् तथा भगवदनुग्रह से तत्त्ववेत्ताओं को प्राप्त हूँ। उसकी कृपा से परमात्मा के लिये स्वयं को समर्पित करता हूँ। उससे आवरणकर्ता अज्ञान के पाश, संसारबन्धन से मुक्त होता हूँ।

स्वामी दयानन्द के संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ की उक्तियों के प्रामाण्य में कोई मूल न होने के कारण अनौचित्य है। सोम शब्द का अर्थ 'ऐश्वर्यसमूह' करना भी अप्रामाणिक है॥३९॥

यथाहं भवत्साहाय्येन स्वीयमैश्वर्यं रक्षामि, तथैव त्वं स्वीयं सोममैश्वर्यसमूहं रक्षस्व । यथा मां शत्रवो न हिंसन्ति, तथैव मत्साहाय्येन त्वामपि मा दभन् । हे देव सुखदातः सोम, सज्जनमार्गेषु जलानां सञ्चालक, त्वमेतस्मात् कारणाद् हे सभाध्यक्ष, पूर्णविद्याप्रकाशे तिष्ठन् देवानुपागाः श्रेष्ठविदुषां समीपं गच्छ, अहमपि गच्छामि । यथाहमेतदाचर्य अत्यन्त-धनस्य पुष्ट्या सह मनुष्यान् देवान् विदुषः प्राप्य स्वाहा समीचीनां वाणीं वदामि, दुःखैराच्छादकानां दुष्टानां जनानां तिरस्कारकारकान् पाशान् बन्धनान्निरन्तरं मुच्ये मुक्तः स्याम्, तथा त्वमपि मुच्यस्व' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैतस्य संवादस्य प्रामाणिकत्वे मानाभावात् । न च तत्रास्य मन्त्रस्यैव प्रामाण्यम्, मन्त्रे तादृशपदानामभावात्, लुप्तोपमालङ्कारादिकल्पनया त्वद्वाक्यानामप्यन्यथानयनसम्भवात् । सोमपदस्य ऐश्वर्यसमूहोऽर्थ इत्यपि निर्मूलम् । 'यथा मां शत्रवो न हिंसन्ति' इत्यपि मन्त्रबाह्यमेव । यः सर्वविद्याप्रकाशको यश्चैश्वर्यसमूहवान् यश्च जनानां सन्मार्गेषु प्रवर्तकः, स विद्वांसं किमर्थमुपगच्छेत् ? उपदेष्टव्यश्च ततोऽन्यं विद्वांसं किमर्थमुपयास्यति ? दुःखैराच्छादकानां तिरस्कारकारकस्य कुतः पाशत्वमित्यपि चिन्त्यमेव ॥३९ ॥

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा॒ या तव॑ त॒नूर्मय्य॑भू॒देषा सा त्वयि॒ या मम॑ त॒नूस्त्वय्य॑भू॒दि॒यꣳ सा मयि॑ । य॒था॒य॒थं नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒रम॒ꣳस्ता॒नु॒ तप॒स्तप॑स्पतिः ॥४० ॥

'अथेत्याहवनीये समिधमभ्यादधाति । अग्ने व्रतपा. . . अथात्राङ्गुलीर्विसृजते' (श. ३.६.३.२१) । अग्ने व्रतपा इत्याहवनीये समिधमाधाय मदन्तीरुपस्पृश्याङ्गुलीर्विसृजते । पत्नी गार्हपत्ये तूष्णीं समिधमाधाय स्वमदन्तीरुपस्पृश्या-ङ्गुलीर्विसृजते । तप्ता आपो मदन्त्यः । आग्नेयं यजुः । हे अग्ने, व्रतपाः स्वभावतस्त्वं सर्वेषां व्रतानां पालकोऽसि । तस्मादिदानीमपि त्वमेव व्रतपाः । त्वं मदीयस्य व्रतस्य पालको भवेति शेषः । अग्ने व्रतपते त्वं व्रतानां पतिः । पूर्वत्र यजमानोऽग्निशरीरस्वशरीरयोर्व्यत्ययं कृत्वा स्वकीयव्रतपालनं प्रार्थितवान् । इदानीं व्रतस्य पालितत्वाद् व्यत्ययं परिहृत्य स्वशरीरस्वीकाराभिप्रायेण व्रतपास्तव तनूरित्याह—हे अग्ने, व्रतपालनप्रार्थनाकाले तव सम्बन्धिनी या तनूर्मय्यवस्थि-तासीत्, सैषा तनूरद्य त्वय्यवतिष्ठताम् । यो या उ या च मम तनूस्त्वय्यासीत्, सा इयं मयि भवतु । हे व्रतपते व्रतपरिपालकाग्ने, नौ व्रतानि आवयोः कर्माणि यथायथं स्वस्वसम्बन्धमनतिक्रम्यातिष्ठन्ताम् । अनुष्ठानरूपं व्रतं ममास्तु । तत्पालनरूपं व्रतं तवास्तु । किञ्च, दीक्षापतिर्दीक्षायाः पालकोऽग्निर्मे दीक्षां मदीयदीक्षार्थं व्रतं नियममन्वमंस्त अनुमतवान् अङ्गीकृतवान् । तपस्पतिः तपसः पालकोऽग्निः, तपोऽनु मदीयं तपोऽनुमतवान्, उपसद्रूपतपोऽङ्गीकृतवानित्यर्थः । तपः-प्रधानत्वात् तपःशब्देनोपसद उच्यन्ते । यद्वा—'व्रतपा' इत्यामन्त्रितस्याभ्यासभूयस्त्वबोधनाय । 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' इति यास्कोक्तेः । 'त्वे' इत्यत्र द्वितीयार्थे शेप्रत्ययः । अतिशयेन त्वं व्रतपस्य गोपा ।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप स्वभाव से सब व्रतों के रक्षक हैं, अतः मेरे व्रत की भी आप रक्षा कीजिये । आपका जो शरीर मुझमें स्थित हुआ था, वह पुनः आपका ही हो जाय और जो यह मेरा शरीर आपमें स्थित था, अब वह मेरा हो जाय । हे व्रत के पालक ! हमारा और तुम्हारा कर्म का सम्बन्ध कभी न टूटे । हे दीक्षा के स्वामिन् ! आपने मेरी दीक्षा को अंगीकार किया है । हे उपसद के पालक अग्नि ! आपने मेरे उपसदरूप व्रतपालन (तप) को स्वीकार किया है ॥ इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में समिधा रख कर मदन्ती का स्पर्श कर उसे गाड़ कर मुष्टि की मेखला बनावे ॥४० ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (८.७.१९-२१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुसार 'अग्ने व्रतपाः' इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में समिदाधान करने के अनन्तर यजमान अङ्गुलि-विसर्ग करता है । याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है ।

'अग्ने - - - तपस्पतिरिति तत्रत्यक्षमग्नेर्निर्मुच्यते स स्वेन सतात्मना यजते तस्मादस्यात्राश्नन्ति मानुषो भवति तस्मादस्यात्र गृह्णन्ति मानुषो हि भवत्यथ यत्पुरा नाश्नन्ति यथा हविषोऽहुतस्य नाश्नीयादेवं तत्तस्माद्दीक्षितस्य नाश्नीयादथात्राङ्गुलीर्विसृजते' (श. ३.६.३.२१)। स्वशरीराग्निशरीरयोर्व्यत्ययपरिहारेण स्वशरीरस्वीकारेण तत्प्रतीत्यर्थमग्नेर्निर्मुच्यते। पूर्वमग्न्यात्मना सता इदानीं स स्वेन सतात्मना यजते, स्वशरीरस्य पुनः प्राप्तत्वात्। दीक्षितान्ननिषेधभावाभावयोरयमेवाभिप्राय इत्याह—तस्मादस्यात्राश्नन्तीति। तस्मादिति हेतुमेव विवृणोति—मानुषो हीति। नामग्रहणस्यापि मानुषभावः। अतो वैसर्जनहोमपर्यन्तं दीक्षितस्य नाम न गृह्णीयादिति विधिः परिकल्प्यते। यथा देवातिथिषु मनुष्यो नाश्नीयात्, एवं तदपि भवति, धनस्यापि यजमानेन सह प्रवेशादित्यभिप्रायः। 'नामग्रहणभोजने अस्यातः कुर्वन्ति' (का. श्रौ. ८.७.२१)। अत ऊर्ध्वमस्य दीक्षितस्य नामोच्चारणं भोजनं च कुर्युः, अर्थादतः पूर्वं न कुर्युः, 'न दीक्षितस्यान्नमश्नीयात्', 'न दीक्षितस्य नाम गृह्णीयात्' इति वचनाभ्याम्। व्यतिक्रमे भोक्त्रादीनां प्रायश्चित्तम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने हे परमेश्वर ! त्वमतिशयेन व्रतपालकोऽसि। या तव तनूः शरीरं मयि ध्येयरूपेणासीत्, सा त्वयि भवतु। या च मम तनूस्त्वय्यनुग्राह्यरूपेणासीत्, इयं सा मयि तिष्ठतु। यथायथं नौ आवयोर्व्रतानि कर्माणि यथायथं यथास्वं सम्बन्धमनतिक्रम्य सन्तु। मय्यनुग्राह्यानुगुणानि त्वयि चानुग्राहकानुगुणानि व्रतानि भवन्तु। किञ्च, त्वत्प्रसादनाय तदनुगुणकर्मोपासनादिदीक्षाया अपि त्वमेव पालकः, त्वदनुग्रहमन्तरेण तदसिद्धेः, 'सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये। पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥' (भा. पु. १०.४०.२८) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। मे दीक्षां दीक्षार्थं नियमममंस्त अङ्गीकृतवान्, त्वदङ्गीकारेणैव तत्पूर्तेरपि सम्पन्नत्वात्।

दयानन्दस्तु —'यथा व्रतपाः सत्यपालको विद्वान् स्यात्तथैव हे अग्ने विशेषज्ञानवन्, यथा सत्यविद्यागुणोपेत आचार्य आसीत्तथैवाहं तव स्याम्। या तव तनूर्विद्यादिगुणेषु व्यापको देहोऽस्ति, सा मयि। यैषा त्वयि मतिरस्ति सा मयि स्यात्। यो या मम तनूः सा त्वयि भवतु। यथाऽयं जनो व्रतपतिर्भवति तथा त्वं चाहं च नौ सखायौ भूत्वा यथायथं व्रतानि सत्याचरणान्यनुचरेव। हे मित्र, यथा तव दीक्षापतिस्तुभ्यं दीक्षामन्वमंस्त, तथा मम दीक्षामन्वमंस्त। यथा ते तव तपस्पतिस्त्वदर्थं तपोऽन्वमंस्त, तथा मे ममापि तपस्पतिर्मदर्थं तपोऽन्वमंस्त' इति, हिन्द्यां तु—'तव मित्रं मय्यपि भवतु मम मित्रं त्वयि बुद्धिर्भवतु। या मे तनूर्विद्याविततिः सा त्वयि। मम पाठकास्त्वयि सन्तु। अयं तव शिष्यो मयि बुद्धिर्भवतु। हे सत्याचरणपालक, यथा सत्यगुणानां सत्योपदेशानां च पालको विद्वान् भवति, तथा आवां मित्रे भूत्वा सत्याचरणान्यनुचरेव। हे मित्र, यथा ते दीक्षापतिर्यथोपदेशपालयितारं त्वां सत्योपकरणममंस्त, तथा ममापि मामनुजानातु। यथा ते तपस्पतिराचार्योऽखण्डब्रह्मचर्यपालकस्तुभ्यं प्रथमं क्लेशकरं पश्चात् सुखकरं ब्रह्मचर्यमनुजानाति,

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे अग्नि परमेश्वर ! आप श्रेष्ठ व्रतरक्षक हैं। आपकी जो मूर्ति ध्येय रूप से मुझमें विद्यमान थी, वह आपमें स्थित हो तथा जो मेरा शरीर अनुग्राह्य के रूप में आपकी दृष्टि में था, वह मुझमें बना रहे। यथावत् हम दोनों अपने अपने कार्यों को सम्पादित करें। मुझमें अनुग्राह्य गुण तथा आपमें अनुग्राहक गुण व्रत के रूप में रहें। आपकी प्रसन्नता के लिये किये जाने वाले उपासना, कर्म आदि के भी आप ही रक्षक हैं। आपकी कृपा के बिना वह सिद्ध नहीं होंगे। मैंने दीक्षा के लिये नियम को स्वीकृत किया है, क्योंकि आपकी स्वीकृति से ही व्रतपूर्ति सम्भव हो सकती है।

स्वामी दयानन्द के व्याख्यान के अनुरूप अर्थ वाले शब्द मूल मन्त्र में नहीं है। अतः वह व्याख्या बालभाषित की भाँति है। 'तनु' शब्द से 'मति' अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है॥४०॥

तथा ममापि तथाभूत आचार्यो मामनुजानातु' इति, तदेतत्सर्वं केवलं बालविलसितम्, तथार्थकानां पदानां मूलेऽभावात्, तनुपदेन मतेर्ग्रहणे मानाभावात्। मतेः परिवर्तनमपि निर्मूलं निष्प्रयोजनं च। कथञ्चिदाचार्यमतिः शिष्यायापेक्षितापि स्यात्, तथापि शिष्यमतिराचार्याय नापेक्षिता भवति। 'यथा ते दीक्षापतिस्तथा ममापि स्यात्' इत्याद्यपि निरर्थकं प्रलापमात्रम्। एकस्य सौष्ठवे निश्चित एव तादृशस्य कामना सम्भवति। तव शिष्यो मयि बुद्धिरित्यादिकं तु विचित्रमेव पाण्डित्यम्। वस्तुतस्तु तद्व्याख्यानस्य स्वरूपनिरूपणमेव तन्निराकरणम्॥४०॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥४१॥

यूपसम्पादनमन्त्राः—'गृहेषु, यूपाहुतिं जुहोति चतुर्गृहीतꣳ स्रुवेण वोरु विष्णाविति' (का. श्रौ. ६.१.३-४)। यूपच्छेदनार्थमरण्यं गच्छन् स्रुवेण स्रुचा वा चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा यूपाहुतिमाहवनीये जुहुयात्। शतपथे च—'यूपं व्रक्ष्यम् वैष्णव्यर्चा जुहोति' (श. ३.६.४.१)। व्रक्ष्यन् छेत्स्यन्, वैष्णव्या 'उरु विष्णो विक्रमस्व' इत्यनयर्चा आहवनीये यूपाहुतिं जुहुयात्। 'द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिꣳसी पृथिव्या सम्भव' (वा. सं. ५.४३) इति मन्त्रेण वा। मन्त्रादौ लोकत्रयाक्रमणस्योक्तत्वेन विष्णुसाम्याद्वैष्णवत्वम्। तदर्थवाच्यृचो वैष्णवत्वं युक्तम्। 'यद्वेव वैष्णव्या जुहोति। यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैवैतद्यूपमच्छैति तस्माद्वैष्णव्यर्चा जुहोति' (श. ३.६.४.२)। ऋचो वैष्णवत्वं प्रशंसति—यद्वेवेति। यज्ञेनैव यूपमभिलक्ष्य गतवान् भवति। 'स यदि स्रुचा जुहोति। चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति यद्यु स्रुवेण स्रुवेणैवोपहत्य जुहोत्युरु विष्णो .... स्वाहेति' (श. ३.६.४.३)। मन्त्रव्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

अध्यात्मपक्षे—हे विष्णो व्यापनशील जीवात्मन्, क्षयाय दोषाणामपगमाय ब्रह्मनिवासाय उरु विक्रमस्व बहुधा साधनानुष्ठानलक्षणं पराक्रमं कुरु। नोऽस्मान् त्वत्सम्बन्धिन उरु कृधि गौरवान्वितान् कुरु। हे घृतयोने, घृतं रसः, रसो ब्रह्म, 'रसो वै सः' (तै. उ. २. ७) इति श्रुतेः। तद्योनिः कारणं यस्यासौ घृतयोनिः, तत्सम्बुद्धौ हे ब्रह्मपुत्र, 'अमृतस्य पुत्राः' (वा. सं.) इति मन्त्रवर्णात्। घृतं रसं (भक्तिरसं) पिब सेवस्व। परमात्मरूपो रस एव भक्तिरसतामुपगच्छति। 'भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि। मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्॥' इत्यभियुक्तोक्तेः। तेनैव भक्तिरसेनैव यज्ञपतिं यज्ञभोक्तारं परमात्मानं प्र प्र तिर प्रवर्धय प्रहर्षय, स्वाहा तस्मै स्वाहा त्वदीयं सर्वं सुहुतमस्तु॥४१॥

मन्त्रार्थ—हे व्यापक आहवनीय अग्निरूप परमात्मन्! आपके पराक्रम की हमें अपेक्षा है। ब्रह्मसद् में निवास के निमित्त हमें आप समृद्ध बनाइये। हे घृत से बढ़ने वाले अग्निदेव! आप घृत पीजिये, यजमान को समृद्ध कीजिये। हम आपके निमित्त यह आहुति देते हैं॥ यूप काटने के लिये वन को जाता हुआ यजमान अपनी सफलता के लिये स्रुवे में घी लेकर इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में हवन करे॥४१॥

भाष्यसार—यूपनिर्माण के लिये काष्ठच्छेदन हेतु वन में जाते हुए 'उरु विष्णो' इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में घृत की आहुति प्रदान करे, यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६.१.४) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे व्यापक जीवात्मा! दोषों के निराकरण तथा ब्रह्म में निवास के लिये अनेकविध साधनानुष्ठान आदि पराक्रम का सम्पादन करो। तुमसे सम्बद्ध हम लोगों को गौरवान्वित करो। हे ब्रह्मरूप रस के तनय, तुम भक्तिरस का सेवन करो। परमात्मरूप रस ही भक्तिरस के रूप में प्राप्त होता है। उस भक्तिरस से ही यज्ञभोक्ता परमात्मा को निरन्तर प्रसन्न करो। उस परमात्मतत्त्व के लिये तुम्हारा सर्वस्व समर्पित हो।

स्वामी दयानन्द के अर्थ की समीक्षा के लिये पूर्वभाष्य (५.३८) द्रष्टव्य है॥४१॥

अत्यन्याँ २॥ अगां नान्याँ २॥ उपांगामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं पुरोऽवरेभ्यः। तं त्वां जुषामहे देव वनस्पते देवयुज्यायै देवास्त्वां देवयुज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनंꣳ हिꣳसीः ॥४२॥

'यदाज्यं परिशिष्टं भवति। तदादत्ते यत्तक्षणः शस्त्रं भवति तत्तक्षादत्ते त आयन्ति स यं यूपं जोषयन्ते' (श. ३.६.४.४), 'तमेवमभिमृश्य जपति' (श. ३.६.४.५)। अवशिष्टमाज्यमध्वर्युरादत्ते। यत्तक्षकस्य शस्त्रं वास्यादिकं तत्तक्षा आदत्ते। तत् शिलादौ जोषयन्ते वासीनिशानाय तं यूपमेवमभिमृश्य जपति 'अत्यन्यान्' इत्यादिमन्त्रम्। अथवा अभिमर्शनं न कर्तव्यम्। पश्चात् प्राङ् तिष्ठन्नेवाभिमन्त्रयते। कात्यायनोऽपि 'आज्यशेषमादाय सतक्षा गच्छति यूपमभिमृशत्यन्यानिति प्राङ् तिष्ठन्नभिमन्त्रयते वेति'। (का. श्रौ. ६.१.५-७)। तक्ष्णा वर्धकिना सहितो यूपाहुतिशेषमाज्यमादाय यूपच्छेदनायारण्यं गच्छेत्। तत्र यूपीयं वृक्षमभिमृशेत्। अथवा यूपस्य वृक्षस्य पश्चात् प्राङ् तिष्ठन् यूपवृक्षं विलोकयन् अमुं मन्त्रं पठेत्। वृक्षा द्विविधा यूपा अयूपाश्च। पलाशखदिरादयो यूपाः, निम्बजम्बीरादयस्त्वयूपाः। तदाह कात्यायनः—'पालाशं बहुलपर्णमशुष्काग्रमूर्ध्वशकलशाखं मध्याग्रोपनतमव्रणम्' (का. श्रौ. ६.१.८), 'अभावे खदिर-विल्व-रौहितकान्' (का. श्रौ. ६.१.९)। अशुष्कमार्द्रमग्रं यस्य तम्, ऊर्ध्वाः सकलावेष्टनत्वचः शाखाप्ररोहाश्च यस्य तम्, मध्येऽग्रे च वक्रत्वचम्, नास्ति व्रणं ग्रन्थिर्यस्य तमिति।

मन्त्रार्थस्तु—हे पुरोवर्तियूपवृक्ष, त्वत्तोऽन्यान् कांश्चिद्यूप्यानपि समप्रदेशादिजन्मादिलक्षणरहितान् अत्यगाम् अतिक्रान्तवानस्मि। अन्यांस्त्वयूपान् नोपागां न प्राप्तवानस्मि। अर्वाक् परेभ्य उत्कृष्टेभ्यो लक्षणेभ्यः प्रत्यासन्नं लक्षणयुक्तं त्वामविदं लब्धवानस्मि। पुनः कीदृशम्? परोवरेभ्योऽत्यन्तनिकृष्टलक्षणेभ्यो दूरवर्तिनं तद्रहितमिति यावत्। अर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं ये त्वत्तः पराञ्चो वृक्षास्तेभ्यस्त्वामर्वाग् अविदम्, विदिर्लाभार्थो ज्ञानार्थो वा, लब्धवान् ज्ञातवान् वा। परः परस्तादवरेभ्यस्त्वामविदमित्यनुवर्तते। तं त्वा लक्षण्यं जुषामहे लक्षणानामुत्कर्षापकर्षापेक्षयैव निकटत्वदूरत्वाऽर्वाक्त्वपराक्त्वादिकं मन्तव्यम्। तथा च पूर्वस्मिन् सायणसम्मते व्याख्याने उक्तमेव। हे वनस्पते देव, तस्य पालक दीप्यमान वृक्ष, तं तादृशं त्वा देवयज्यायै देवयागार्थं जुषामहे सेवामहे। देवा अपि देवयागार्थं त्वां सेवन्ताम्। हे यूपवृक्ष, त्वा त्वां विष्णवे यज्ञार्थमुपस्पृशानीति शेषः। यद्वा परेभ्यो दूरवर्तिभ्योऽर्वाग् निकटं त्वामविदम्। अवरेभ्यो निकटेभ्यः परः परस्तादतिनिकटमविदम्, 'विद्लृ लाभे', 'पुषादिभ्योऽङ्' (पा. सू. ३.१.५५) इत्यङ्, लुङि रूपम्। 'अथ

मन्त्रार्थ—हे आगे वर्तमान यूप वृक्ष! मैं तुम्हारे पास अन्य वृक्षों को छोड़ कर आया हूँ, यूप के योग्य अन्य वृक्षों के समीप नहीं गया। तुमको दूर के वृक्षों से निकट और निकट के वृक्षों में श्रेष्ठ पाकर आया हूँ। हे वन के पालक देव! देवयज्ञ के निमित्त हम तुम्हारी सेवा करते हैं। देवता भी देवयजन के निमित्त तुम्हारी सेवा करें। हे यूपवृक्ष! परमात्मा की प्रीति के लिये हम तुम्हारा स्पर्श करते हैं। हे औषध! तुम वज्र के भय से मेरी रक्षा करो। हे कुठार! इस यूप के अन्य स्थान का व्याघात मत करो॥ यजमान हुतशेष घृत लेकर तक्षा (बढ़ई) के साथ वन में जाकर इस मन्त्र का पाठ करता हुआ यूप के योग्य एक वृक्ष का पूर्वाभिमुख हो अभिमर्शन और अभिमन्त्रण करे। स्रुवे में विद्यमान हुतशेष घृत को वृक्ष पर लगावे और कुशतरुण को रखकर उसके ऊपर कुठार से प्रहार करे॥४२॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (६.१.५-१२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अत्यन्याम्' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग यूप-वृक्ष का स्पर्श करते हुए अभिमन्त्रण में, स्रुव द्वारा स्पर्श तथा परशु से प्रहार करने में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट व्याख्यान याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल है।

स्रुवेणोपस्पृशति । विष्णवे त्वेति .... विष्णवे त्वेति' (श. ३.६.४.९), 'अथ दर्भतरुणकमन्तर्दधाति । ओषधे त्रायस्वेति' (श.३.६.४.१०) । कात्यायनोऽपि— 'स्रुवेणोपस्पृशति विष्णवे त्वेति' (का. श्रौ. ६.१.११) । घृताक्तेन स्रुवेण छेदनप्रदेशे यूपवृक्षमुपस्पृशेदिति । 'ओषध इति कुशतरुणकं तिरस्कृत्य स्वधित इति परशुना प्रहरति' (का. श्रौ. ६.१.१२) । कुशपत्रमेकं सन्धाय कुठारेणान्तर्हितस्य तृणस्योपरि छेदनाय प्रहारं कुर्यात् ।

तथा च मन्त्रार्थः—हे यूपवृक्ष, त्वा त्वां विष्णवे यज्ञार्थमुपस्पृशामीति शेषः, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः । हे ओषधे, त्रायस्व मां स्वधितिभयाद्रक्ष । स्वधिते परशो एनं यूपं मा हिꣳसीः मा वधीः । मन्त्रमिमं शातपथी श्रुतिरेवं व्याख्यातंवती—'अर्वाग्घ्येनं परेभ्यो वृश्चति य एतस्मात् पराञ्चो भवन्ति परोऽवरेभ्य इति परो ह्येनमवरेभ्यो वृश्चति य एतस्मादर्वाञ्चो भवन्ति तस्मादाहार्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्य इति' (श. ३.६.४.६) । परेभ्योऽर्वाग्घ्येनं वृश्चति, अवरेभ्यश्च परस्तादेनं वृश्चति ।' तद्यथा बहूनां मध्यात् साधवे कर्मणे जुषेत, स रातमनास्तस्मै कर्मणे स्यादेवमेवैनमेतद्बहूनां मध्यात् साधवे कर्मणे जुषते स रातमना व्रश्चनाय भवति' (श. ३.६.४.७) । मन्त्रतात्पर्यमाह—यथा बहूनां पुरुषाणां मध्यादेकमवकृष्य साधवे शोभनाय कर्मणे जुषेत सेवेत, स जोष्टा रातमना दत्तचित्तः कर्मार्थमङ्गीकृतमनस्कः सन् तस्मै कर्मणे तत्कर्म कर्तुं प्रवृत्तो भवेत्, एवमेव बहूनां वृक्षाणां मध्यादेकं वृक्षं साधवे कर्मणे जुषामि । 'तद्वै समृद्धं यं देवाः साधवे कर्मणे जुषान्तै तस्मादाह देवास्त्वा देवयज्यायै' (श. ३.६.४.८) । जुषान्तै जुषेरन् । देवानां जोषणाभिधानस्य प्रार्थनायाः प्रयोजनमाह—तद्वै समृद्धं यं देवाः साधवे कर्मणे जुषेरन्निति । 'वज्रो वै परशुस्तथो हैनमेष वज्रः परशुर्न हिनस्त्यथ परशुना प्रहरति' (श. ३.६.४.१०) । एवं पूर्वोक्तब्राह्मणानुसारेण मन्त्रस्यायमर्थः सायणेन स्पष्टीकृतः—'हे पुरोवर्तिपालाशादिरूप वृक्ष, तव प्राप्तेः पूर्वमन्यान् यूप्यानपि नानाजातीयान् वृक्षानत्यगाम् अतिक्रम्य त्वां प्राप्तोऽस्मि । एवमन्यान् ब्राह्मणोक्तातिरिक्तानितः परमपि नोपागां नोपगच्छामि । त्वा त्वां परेभ्यस्त्वत्तोऽप्युपरि वर्तमाना ये सन्ति, तेभ्योऽर्वागधस्तात् प्रथमं वर्तमानमविदम् । तथा अवरेभ्यः पूर्वभाविभ्यः सकाशात् त्वां परः परस्ताद्वर्तमानमविदं लब्धवानस्मि । आद्यन्तयोर्वर्तमानानां वातातपादिकृतदोषसम्भवान्निकृष्टत्वम् । अतः सर्वेषां मध्ये वर्तमानं त्वामेव निर्दोषमविदं ज्ञातवानस्मि । हे देव वनस्पते, तादृशं वर्तमानं यूपार्हं त्वां देवयज्यायै यागार्थं जुषामहे प्रीत्या सेवामहे' इति ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सर्वेश्वर, अन्यान् त्वदतिरिक्तान् सर्वानतीत्य त्वामगां त्वां परित्यज्य नान्यान् कदाचिदप्युपागामुपगच्छामि । परेभ्यः परः परस्ताद् महतो महीयांसमवरेभ्योऽर्वाग् अणोरणीयांसं त्वामेवाविदं विज्ञातवानस्मि, विज्ञाय च प्राप्तवानस्मि । तं तादृशं त्वां सकलविरुद्धधर्माश्रयत्वात् सर्वकारणं परमेश्वरं त्वा जुषामहे प्रीत्या सेवामहे । हे देव द्योतमान स्वप्रकाश परमेश्वर वनस्पते, (वनस्पतिशब्दो यद्यप्यश्वत्थादिषु रुढस्तथापि यौगिकीं वृत्तिमाश्रित्य) संसारारण्यपते संसारपालक हे परमेश्वर, त्वां देवयज्यायै देवानां यजनाय देवानामपि देवं सर्वदेवात्मकं त्वामस्माकमिन्द्रियाणि मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराश्च त्वां प्रीत्या सेवन्ताम् । विष्णवे व्यापनशीलाय त्वत्प्राप्तय एव त्वां जुषामः । हे

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है — हे सर्वेश्वर परमात्मन्, आपके अतिरिक्त सबको छोड़कर मैं आपके पास आया हूँ । मैं आपको छोड़कर अन्यों के प्रति कभी न जाऊँ । महान् से भी महत्तर तथा अणु से भी अणुतर आपको ही मैंने जाना है, तथा जान कर प्राप्त किया है । ऐसे समस्त विरुद्ध धर्मों के आश्रय रूप होने के कारण सबके कारणभूत आप परमेश्वर की हम प्रीतिपुरःसर सेवा करते हैं । हे स्वप्रकाश परमेश्वर ! संसाररूपी अरण्य के पालक, देवताओं के यजन के लिये सर्वदेवात्मक आपको हमारी सब इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि प्रीति से सेवित करें । हे व्यापक ! आपकी प्राप्ति के लिये हम आपकी सेवा करते हैं । हे संसाररोग की महौषधिरूप ! संसार-बन्धन का विच्छेद करने वाले ! इस शरणागत की रक्षा करें, तथा इसे हिंसित न होने दें ।

ओषधे भवरोगमहौषधरूप, हे स्वधिते संसारबन्धच्छेदक, एनं शरणागतं त्रायस्व भवरोगनिवर्तनेन पालय, चिज्जड-ग्रन्थिच्छेदनेन च स्वात्मतादात्म्यसम्पादनेनैनं मा हिंसीर्मा परादाः, 'देवास्तं परादुर्यो देवानन्यत्रात्मनो वेद' (बृ. उ. २.४.६) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

दयानन्दस्तु—'हे वनस्पते वनरक्षक विद्वन्, यथा त्वमन्यानतीत्यान्यानुपगच्छसि मूर्खानतीत्य तद्विरोधिनो विदुष उपगच्छसि, तथैवाहमपि विद्वद्विरोधिनस्त्यक्त्वा विदुषां समीपं गच्छामि' इति हिन्दीभाष्ये, संस्कृतान्वये तु—'तथाहमन्यान् नागामन्यानुपागाम्' इत्युक्तवान्। 'यस्त्वं परेभ्यः परोऽसि, अवरेभ्योऽर्वाक् च तं त्वामहं प्राप्नुयाम्। यथा देवा देवयज्यायै उत्तमगुणदानाय त्वां कामयन्ते, तथैव वयमपि त्वां जुषामहे। यथा वयं देवयज्यायै उत्तमगुणसङ्गतये त्वां कामयामहे, तथैवेमेऽपि जुषन्ताम्। यथा औषधिसमूहो यज्ञाय सम्भूय सिद्धः सर्व त्रायते, तथैव हे औषधे सर्वरोगनिवारक स्वधिते दुःखविच्छेदक विद्वन्, वयं त्वां यज्ञाय कामयामहे। यथाहमस्य विनाशं न कामये, तथा त्वमपि यज्ञं मा हिंसीः' इत्यादिकं व्याख्यायामुक्तवान्, तदेतत्सर्वमव्यापारेषु व्यापार एव, वाचकलुप्तोपमालङ्कारस्य दुरुपयोगश्च। मुख्यार्थपरि-त्यागादसङ्गतगौणार्थस्वीकाराच्च तत्रार्थे नितरां दोषाधायकता। 'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः' (१.४७) इति मनुपरिभाषया वनस्पतिशब्दस्य महावृक्षेषु रूढत्वात्, तथैव कोषेषूल्लेखाच्च तदीयो गौणार्थो हेय एव। न चैक एव मनुष्यः परेभ्यः परोऽवरेभ्यश्चार्वाग् भवति, परस्परविरोधात्। देवपदेन गुणानां ग्रहणमपि निर्मूलमेव। नहि जडस्यौषधि-गणस्य स्वतः सम्भूय सर्वत्राणकरत्वं सम्भवति, तस्य विशेषज्ञाधीनस्यैव कार्यकरत्वोपपत्तेः। न च विदुष ओषधित्वेन स्वधितित्वेन वा सम्बोधनं सम्भवति, 'गौणमुख्यार्थयोर्मुख्यार्थे कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायात् ॥४२॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिꣳसीः पृथिव्या सम्भव। अयꣳ हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय। अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयꣳ रुहेम ॥४३॥

'स यं प्रथमꣳ शकलमपच्छिनत्ति। तमादत्ते तं वा अनक्षस्तम्भं वृश्चेदुत ह्येनमनसा वहन्ति तथोऽनो न प्रतिबाधते' (श. ३.६.४.११)। प्रथमच्छिन्नयूपोपादानवृक्षच्छिन्नकाष्ठशकलं यूपावटे प्रक्षेपार्थमाददीत। 'प्रथमशकलं निदधाति' (का. श्रौ. ६.१.१३), 'अनक्षस्तम्भं वृश्चति' (का. श्रौ. ६.१.१४)। गच्छतः शकटस्याक्षं छेदनावशिष्टः स्थाणुर्यथा न

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में वाचक लुप्तोपमा का दुरुपयोग ही किया गया है। मुख्य अर्थ को छोड़ देने तथा असंगत गौण अर्थ को ग्रहण करने के कारण उसमें दोष प्राप्त हो जाता है। देव शब्द से गुणों का ग्रहण करना भी अप्रामाणिक है ॥४२॥

मन्त्रार्थ—हे यूपवृक्ष! तुम द्युलोक को मत बिगाड़ो, अन्तरिक्ष को पीड़ा मत दो, पृथ्वी के साथ मिलो, अर्थात् तीनों लोकों में शान्ति हो। यह अतितीक्ष्ण कुठार बड़ा भारी ऐश्वर्य पाने के लिये तुमको यूप बनाता है। हे वृक्षदेवता! इस स्थाणु से तुम बहुत अंकुर वाले होते हुए उपजो और हम भी पुत्र-पौत्र आदि बहुत सी शाखा वाले हों॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान यूप के निमित्त कट कर गिरती हुई शाखा का अभिमन्त्रण करे, उस शाखा के पत्ते आदि दूर करे और आज्यस्थाली में से जुहू में घृत लेकर काटने के स्थान पर एक आहुति दे ॥४३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (६.१.१३-१९) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'द्यां मा लेखीः' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग छेदन से गिरते हुए यूपवृक्ष का अभिमन्त्रण तथा शोधन आदि कर्मों में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

स्तभ्नाति, तथा नीचं यूपवृक्षं छिन्द्यात्। अनसोऽक्षं स्तभ्नातीत्यक्षस्तम्भः, न अक्षस्तम्भोऽनक्षस्तम्भः। एतेन न वृक्षशाखां छित्त्वा तेन यूपः कार्यः, किन्तु समग्रस्यैव वृक्षस्य नातिस्थूलस्य छेदनमभिप्रेतं भवति। उत ह्येनमनसा वहन्ति तथा सत्यवशिष्टः स्थाणुरनसो गमने बाधको न भविष्यति। 'तं प्राञ्चं पातयेत्। प्राची हि देवानां दिगथो उदञ्चमुदीची हि मनुष्याणां दिगथो प्रत्यञ्चं दक्षिणायै त्वेवैनं दिशः परिविबाधिषेतैषा हि दिक् पितॄणां तस्मादेनं दक्षिणायै दिशः परिविबाधिषेत' (श. ३. ६.४.१२)। यूपस्याधःपातनविषये प्रागादिदिक्त्रयं विकल्पयति—तं प्राञ्चमित्यादि। दक्षिणस्यां पातनं निषेधति—दक्षिणायै त्वेवैनं दिश इति। एनं यूपं दक्षिणायै दक्षिणस्या दिशः परिबाधकं कारयितुमिच्छेत्, तस्याः पितृदेवत्यत्वात्। 'तं प्रच्यवमानमनुमन्त्रयते। द्यां मा लेखीरन्तरिक्षम्. . . . पृथिव्या सम्भवेति वज्रो वा एष भवति यं यूपाय वृश्चन्ति तस्माद् वज्रात् प्रच्यवमानादिमे लोकाः सꣳरेजन्ते तदेभ्य एवैनमेतल्लोकेभ्यः शमयति तथेमांल्लोकान् शान्तो न हिनस्ति' (श. ३.६.४.१३)। अधः पतन्तं द्यामिति मन्त्रेणानुमन्त्रयते। 'स्फ्यस्तृतीयः, रथस्तृतीयः, यूपस्तृतीयः' (तै. सं. ५.२.६.२) इति वज्रावयवत्वाद् यूपस्य वज्रत्वम्। अतो वज्रपात इव यूपार्थवृक्षपातः। लोकाः संरेजन्ते भीत्या वेपन्ते, 'भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः' (निरु. ३.२१) इति यास्कोक्तेः।

'द्यां मा लेखीरिति पतन्तमभिमन्त्रयते' (का. श्रौ. ६.१.१६)। हे यूपवृक्ष, त्वं पतन् द्यां द्युलोकं मा लेखीर्मा हिंसीः। अन्तरिक्षलोकं च मा हिंसीः। पृथिव्या सम्भव सङ्गतो भव। यूपस्य वज्ररूपत्वाल्लोकानामतः शान्तिराशास्यते। शतपथे स्पष्टमुक्तम्—वज्रात् प्रच्यवमानादिमे लोकाः संरेजन्ते भीत्या वेपन्ते तदेभ्यः शमयति तथेमांल्लोकान् शान्तो न हिनस्तीति। यद्यप्यन्यत्र लिखधातुरक्षरविन्यासे वर्तते, तथाप्यत्र हिंसार्थकः, 'स यदाह द्यां मा लेखीरिति दिवं मा हिꣳसीरित्येवैतदाह' (श. ३.६.४.१४) इति श्रुतेः। पृथिव्या सम्भवेत्यस्यापि तात्पर्यमाह श्रुतिः—'पृथिव्या सम्भवेति पृथिव्या सञ्जानीष्वेत्येवैतदाह' (श. ३.६.४.१४)। पृथिव्या सम्मतिमैकमत्यं प्राप्नुहीत्यर्थः। 'अयꣳ हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगायेत्येष ह्येनꣳ स्वधितिस्तेतिजानः प्रणयति' (श. ३.६.४.१४)। 'न दक्षिणा पतेत्' (का. श्रौ. ६.१.१७) तथा यत्नः कार्यो यथा यूपवृक्षो दक्षिणस्यां दिशि न पतेत्। 'अयꣳ हि त्वेति शोधनम्' (का. श्रौ. ६.१.१८) छिन्नस्य यूपवृक्षस्य कुठारेण शाखापर्णादिपातनं कुर्यात्, तदेव शोधनम्। 'अभिमन्त्रणशेषो वा विशेषोपदेशात्' (का. श्रौ. ६.१.१९)। वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ। अयं हि त्वेति मन्त्रो न मन्त्रान्तरमतोऽभिमन्त्रणमन्त्रस्य 'द्यां मा लेखीः' इत्यस्यैव शेषः। अतो नानेन शोधनं कार्यम्। कुतः? विशेषोपदेशात्, तं प्रच्यवमानमभिमन्त्रयते द्यां मा लेखीरिति शतपथे विशिष्याभिमन्त्रणमुद्दिश्यैव विधानात्। अर्थप्राप्तं शोधनं तु तूष्णीं कार्यम्।

तथा चायं मन्त्रार्थः—अयं खलु स्वधितिश्छेदनसाधनभूतः परशुः, तेतिजानो निशितो भवन्, महते सौभगाय सुभगत्वाय, अष्टास्राकाराश्रयणाद्धि सुभगवत्ता, अथवा सुभगो यज्ञः, स एव सौभगः, तदर्थत्वाय यूपप्रणयनस्य प्रणिनाय प्रणयनं कृतवान्, पृथक् कृतवानित्यर्थः छेदनाभावे प्रणयनासम्भवात्। पूर्वशेषत्वपक्षे परशुना छिन्नस्त्वं लोकत्रयमपीडयन्नधः पतेत्यर्थः। पृथग्विनियोगपक्षे उक्तलक्षणं त्वां शोधयामीत्यर्थः। यद्वा हे छिन्नवृक्ष, तेतिजानोऽतितीक्ष्णोऽयं स्वधितिः परशुर्महते सौभगाय सौभाग्याय दर्शनीयत्वाय तिर्यक्शाखोच्छेदनेन प्रणिनाय प्रकृष्टं यूपत्वं प्रापयामास, छेदनमन्तरा अष्टास्रीकरणाद्यभावेन तदसम्भवात्। यद्वा यज्ञाय त्वा प्रणिनाय कुठार एव त्वा यूपत्वं प्रापयति, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा. सू. ३.४.६) इति कालसामान्ये लिट्। अतस्त्वया छेदनात्र भेतव्यमित्यभिप्रायः। 'अथाव्रश्चनमभिजुहोति' (श. ३.६.४.१५)। अतस्त्वमित्याव्रश्चने जुहोति यूपे वा तत्संस्कारात्। आवृश्च्यते यूपोऽस्मादित्याव्रश्चनः। यूपोपादानस्थाणौ छेदनप्रदेशः, तत्र स्रुवेण जुहुयात्। अथवा. . . यूप एव जुहुयान्न स्थाणौ, कुतः? यूपसंस्कारात्,

तत्संस्कारस्य तत्रैव करणौचित्यात्। हे दीप्यमान वनस्पते, त्वमतोऽस्मात् स्थाणोः शतवल्शो बह्वङ्कुरः शतशाखो विरोह विशेषेण जायस्व। वयं च सहस्रवल्शाः पुत्रपौत्रादिभिर्बहुशाखोपेता विशेषेण रुहेम प्रजायेमहीति यजमानेन आशास्यते।

होमसाधनस्याज्यस्य द्वे सामर्थ्ये—वज्ररूपेण रक्षकत्वम्, रेतोरूपेणोत्पादकत्वं च। तस्मात् स्थानाद् राक्षसादिकमुत्पन्नं न भवेदुत्पन्नं च परिकृतं भवति, तथा तत्र व्रश्चनप्रदेशे रेतःस्थापनात् शाखा बहुधा जायन्ते। तदप्युक्तं शतपथे—'नेदतो नाष्ट्रा रक्षाᳬंस्यनूत्तिष्ठानिति वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाᳬंस्यवबाधते .... रेतो वा आज्यं तद्वनस्पतिष्वेवैतद्रेतो दधाति तस्माद्रेतस आव्रश्चनाद्वनस्पतयोऽनु प्रजायन्ते' (श. ३.६.४.१५) इति।

अध्यात्मपक्षे तु—प्रह्लादानुग्रहाय हिरण्यकशिपोर्वक्षःस्थलं नखैर्विदार्याप्यशान्तं भगवन्तं त्रिलोकीरक्षणाय देवाः प्रार्थयन्ते। अथवा सीताहरणेन कुपितं त्रिलोकीसंहाराय प्रवृत्तं भगवन्तं श्रीरामं भक्ताः प्राहुः—हे भगवन्, द्यां द्युलोकं मा लेखीर्मा हिंसीः, अन्तरिक्षं च मा हिंसीः। पृथिव्या सम्भव सञ्जानीष्वैकमत्यं सम्पादय, तामपि रक्षेत्यर्थः। अयं हि तेतिजानोऽतितीक्ष्णीकृतः स्वधितिरेव वियद्विदारकः। अतः सर्वं रक्ष। यद्वा श्रुतिर्भक्तान् प्रेरयति— हे भक्तसमूह, त्वा त्वां महते सौभगाय सौभाग्याय ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयाय परमपदप्राप्तये च प्रणिनाय त्वद्विरोधिसंहारेण प्रापयति। अतोऽस्माद्भक्तसौभाग्यदानाद् हे वनस्पते संसारारण्यरक्षक हे देव, शतवल्शः शतशाखो भूत्वा विरोह। वयं भक्ताः श्रुतयो वा सहस्रवल्शा विरुहेम पुत्रपौत्रादिसहस्रशाखाः सन्तः प्रजायेमहि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाहं द्यां न लिखामि तथा त्वमेनां मा लेखीः। यथाहमन्तरिक्षं न हिंसामि तथा त्वमपि मा हिंसीः। यथाहं पृथिव्या सह सम्भवामि तथैतया सह त्वमपि सम्भव। हि यतः कारणात्। यथा तेतिजानः स्वधितिः शत्रून् विच्छिद्यैश्वर्यं प्रापयति तथा त्वमपि प्रापयेः। अतो वयं त्वां महते सौभगाय सम्भावयेम। यथा कश्चिदैश्वर्यं प्रणिनाय प्रापयति, तथा वयं त्वां प्रापयेम। हे देव वनस्पते, पूर्वोक्तेन महता सौभगेन यथा शतवल्शो वृक्षो विरोहति तथा विरोह। यथा सहस्रवल्शा वनस्पतयो विरोहन्ति, तथा वयमपि विरोहेम' इति, तदप्यसङ्गतम्, विप्रतिषिद्धत्वात्। पदार्थे 'द्यां सूर्यप्रकाशम्' इत्युक्तवान्, हिन्द्यां तु 'सुखस्वरूपं मा नाशय' इत्युक्तम्, न च तद् द्वयमपि सम्भवति, स्वरूपसुखस्य सूर्यप्रकाशस्य वा नाशयितुमशक्यत्वेन नाशाप्राप्तौ निषेधायोगात्। अन्तरिक्षपदेन तत्स्थपदार्थग्रहणेऽपि बीजं वक्तव्यम्। पृथिव्या सह सम्भवनं कीदृशमिति नोक्तम्। हिन्द्यां तु 'निष्पादनं कुरु' इत्युक्तम्, तदपि

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—प्रह्लाद पर कृपा करने के लिये हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को नखों से विदीर्ण करने के बाद भी अशान्त भगवान् नृसिंह की अथवा सीताहरण से क्रुद्ध, त्रिलोकसंहार के लिये उद्यत भगवान् राम की प्रार्थना भक्तगण करते हैं कि हे भगवन्! द्युलोक का संहार न करें, अन्तरिक्ष का विनाश न करें तथा पृथिवी के प्रति भी ऐकमत्य रखें, अर्थात् उसकी रक्षा करें। यह अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र ही विदारक है, अतः इससे सबकी रक्षा करें। अथवा हे भक्तों, तुम्हारे ऐहिक आमुष्मिक सौभाग्याभ्युदय के लिये यह विरोधियों के संहार के द्वारा परम पद प्राप्त कराता है। अतः इस भक्तसौभाग्य दान से हे संसाररक्षक देव! आप शताधिक शाखाओं से वृद्धिगत हों, तथा हम भक्तगण भी हजारों पुत्र-पौत्रादि शाखाओं से परिवर्धित होवें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या असंगत है, क्योंकि स्वरूपसुख अथवा सूर्यप्रकाश को विनष्ट करना असम्भव है, अतः नाश प्राप्त न होने पर उसका निषेध संगत नहीं होता। स्वधिति का अर्थ यज्ञ कहा गया है, यह भी अनुचित है। तब तो भोजन भी क्षुधाविनाशक तथा बलोत्पादक होने के कारण स्वधिति हो जायगा। यहां लुप्तोपमा अलंकार भी प्रमाणरहित है। हमारे सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मात्मपरक अर्थ करना श्रुत्यादि-विरुद्ध नहीं है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस श्रुतिवचन के अनुसार आध्यात्मिक अर्थ उचित ही है ॥४३॥

निर्मूलम्। न च तया मिथुनीभावः सम्भवति। संस्कृते स्वधितिः शत्रून् विच्छिद्यैश्वर्यं प्रापयतीत्युक्तम्, तथा त्वमपि प्रापयेरित्यपि निरर्थकम्, शत्रुविच्छेद ऐश्वर्यप्राप्तिश्च स्वप्रयासेन साध्यते, परमेशप्रार्थनया वा, न विद्वत्प्रार्थनया, तस्या-समर्थत्वात्। हिन्द्यां तु 'स्वधितिर्दुर्गन्धादिदोषोत्पन्नदुःखनाशकत्वात् स्वधितिर्यज्ञ उक्तः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भोजनमपि क्षुधामपनीय बलवत्त्वमापादयतीति तस्यापि स्वधितित्वापत्तेः, अस्मिन् पर्यनुयोगे प्रतिवचनाभावात्। तत्र तेतिजान इति विशेषणं कथं सङ्गच्छत इत्यपि विचारणीयम्। 'यथा कश्चिद् ऐश्वर्यं प्रापयति तथा वयं त्वां प्रापयेम' इत्यपि निरर्थकमेव वचः। के यूयमैश्वर्यप्रापकाः ? किञ्च प्रयोजनं तत्कथनस्य ? लुप्तोपमालङ्कारोऽप्यत्र निष्प्रमाणक एव, यथा तथा तदाश्रयणस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। शतपथविरुद्धं च सर्वमेतत्। आशीरपि चार्वाकप्रायस्य तव मते न सम्भवति। ब्रह्मात्मपरत्वं तु न विरुध्यते, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो. १.२.१५) इति श्रुतेः ॥४३ ॥

इति माध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठोऽध्यायः

सौमिकवेदिप्रधाने पञ्चमेऽध्याये आतिथ्येष्टिमारभ्य यूपनिर्माणमन्त्रा उक्ताः । अग्नीषोमीयपशुप्रधाने षष्ठेऽध्याये यूपसंस्कारमारभ्य सोमाभिषवोद्योगपर्यन्ता मन्त्रा उच्यन्ते – 'अभ्रिमादत्ते देवस्य त्वा....नार्यसीति समान एतस्य यजुषो बन्धुर्योषा वा एषा यदभ्रिस्तस्मादाह नार्यसीति' (श.३।७।१।१) । 'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादाय यूपावटं परिलिखतीदमहमित्याहवनीयस्य पुरस्तादन्तर्वेद्यर्धम्' (का.श्रौ.६।२।८) । आज्यासादनानन्तरं देवस्य त्वेतिमन्त्रेणाभ्रिमादाय आहवनीयस्य पुरस्ताद् यूपनिखननार्थमिदमहमिति मन्त्रेण देशं परिलिखेत् । तस्य देशस्यार्धभागो वेद्यामन्तः, भागार्धं वेदेर्बहिर्यथा स्यात् तथा गर्तयोग्यं देशं परिलिखेदित्यर्थः । सूत्रमिदं शतपथादिब्राह्मणानुसार्येव । पूष्णो हस्ताभ्यामित्यन्तो मन्त्रो व्याख्यातपूर्वः ।

ॐ दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आद॑दे नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वा अपि॑कृन्तामि । यवो॑ऽसि य॒वया॒स्मद् द्वेषो॑ य॒वयाऽरा॑तीर्दि॒वे त्वा॒ऽन्तरि॑क्षाय त्वा पृथि॒व्यै त्वा॒ शुन्ध॑न्ताँल्लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पितृ॒षद॑नमसि ॥१॥

'यवोऽसी त्यप्सु यवानोप्य प्रोक्षत्यग्रमध्यमूलानि दिवेति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।२।१५) । 'अवटे शेषमासिञ्चति । क्वचित्पात्रस्थासु लौकिकीष्वप्सु यवान् प्रक्षिप्य यूपस्याग्रं मध्यं मूलं च प्रोक्षेच्छुन्धन्तामिति' (का.श्रौ.६।२।१७) । बर्हींषि प्राञ्चि उदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीति । दिवे त्वेत्यादिषु त्रिषु मन्त्रेषु निराकाङ्क्षीकरणाय प्रोक्षामीति क्रियापदं योज्यम् । प्रोक्षणशेषं जलं गर्ते क्षिपेत् । प्रागग्रानुदगग्रांश्च कुशान् पूर्वं यूपस्योपरि निहितान् गर्ते प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः । मन्त्रार्थास्तु औदुम्बरीविषये यथा व्याख्यातास्तथैवात्र यूपविषये व्याख्यातव्याः ।

अध्यात्मपक्षे – भगवदाराधनाय पूजोपकरणानि गृह्णन् साधकः प्रार्थयते – हे पूजोपकरणानि, त्वा युष्मान् अहम् अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे । ध्वजारोपणाय लेखनेन च रक्षसां यज्ञघ्नानां ग्रीवा अपि कृन्तामि । पूजास्थानोपशोभनाय यवानुप्यन् प्रार्थयते – हे यव, त्वं यवोऽसि । अस्मद् द्वेषो यवय अदानानि च पृथक्कुरु । भगवदीयं ध्वजं च स्थापयन् प्रार्थयते । शेषं यज्ञव्याख्यानवदेव प्रत्येतव्यम् ।

मन्त्रार्थ – 'देवस्य ...कृन्तामि' का अर्थ ५।२२ पर दिया जा चुका है । हे शस्य, तुम यव हो । हमारे शत्रु अथवा दुर्भाग्य को हमसे दूर करो, हमारे वैरियों को दूर करो । हे गूलर की शाखा के अग्र भाग, द्युलोक की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ । हे मध्य भाग, अन्तरिक्ष की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ । हे मूल भाग, पृथ्वी की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ । पितरों के निवासस्थान लोक इससे शुद्ध हों। हे कुशाओं, तुम पितरों के बैठने के लिये आसन बनो ॥१॥

भाष्यसार – पंचम अध्याय में आतिथ्या इष्टि से प्रारम्भ करके यूपनिर्माण तक के मन्त्र उपदिष्ट हैं । छठे अध्याय में अग्नीषोमीय पशु की प्रधानता है तथा यूप के संस्कार से लेकर सोम के अभिषव की तैयारी तक के मन्त्र उपदिष्ट हैं । शतपथ ब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार आज्यासादन के बाद 'देवस्य त्वा' इस मन्त्र से अभ्रि हाथ में लेकर आहवनीय के पूर्व भाग में यूप गाड़ने के लिये 'इदमहम्' इस मन्त्र से स्थान खोदा जाता है । उस स्थान का आधा हिस्सा वेदि के भीतर तथा आधा हिस्सा वेदि के बाहर जैसे रहे, इस प्रकार खोदना चाहिये ।

दयानन्दस्तु – 'देवस्येति देवस्य द्योतमानस्य त्वा त्वां सभाध्यक्षं सवितुः सर्वविश्वोत्पादकस्य प्रसवे सृष्टौ अश्विनोः प्राणोदानयोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां पूष्णः पुष्टिनिमित्तस्य प्राणस्य हस्ताभ्यां धारणाकर्षणाभ्यामाददे गृह्णामि । नारि यज्ञसहकारिणि असि । इदं युद्धाख्यमहं रक्षसां दुष्टकर्मकारिणां ग्रीवाः कण्ठान् अपिकृन्तामि छिनद्मि । यतः संयोगविभागकर्ता असि । यवय वियुहि । अरातीः शत्रून् दिवे विद्यादिप्रकाशनाय त्वा त्वां न्यायप्रकाशम् अन्तरिक्षाय त्वा सत्यानुष्ठानाय प्रकाशं पृथिव्यै भूमिराज्याय त्वा राज्यविस्तारकं शुन्धन्ताम् । लोका न्यायदृष्ट्या समीक्षणीयाः पितृषदना यथा पितृषु विद्वत्सु रक्षितृषु सीदन्ति ते पितृषदनाः, यथा विद्वत्स्थाने' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्बीजलाक्षणिकार्थाश्रयणमूलकत्वात् । 'इदम्' इत्यनेन युद्धं कथं गृह्यते ? युद्धग्रहणे च नार्या यज्ञसहकारिण्याः कः प्रसङ्गः ? समाध्यक्षश्च कथं सम्बोधनीयः ? 'त्वां न्यायप्रकाशम्, लोका न्यायदृष्ट्या समीक्षणीयाः' इत्यादयोऽर्था निर्मूला एव, कैश्चिदपि ऋषिभिस्तथाऽव्याख्यानात् । सायणादिव्याख्यानानि तु श्रुतिसूत्रमूलकत्वादेवोपादेयानि विश्वसनीयानि च ॥१॥

अ॒ग्रे॒णीर॑सि स्वावे॒श उ॑न्नेतृ॒णामे॒तस्य॑ वि॒त्तादधि॑ त्वा स्थास्यति दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता मध्वा॑नक्तु सुपिप्पलाभ्य॒स्त्वौष॑धीभ्यः । द्यामग्रे॑णास्पृक्ष॒ आन्तरि॑क्षं॒ मध्ये॑नाप्राः पृथि॒वीमुप॑रेणादृꣳहीः ॥२॥

'प्रथमशकलं चाग्रेणीरसीति' (का.श्रौ.६।२।१९) । यूपावटे शकलं निःक्षिपेत् प्रथमशकलं च यूपस्योपरि प्रथमच्छिन्नं शकलं निदध्यात् । अग्रमुत्तरेण चषालम् । यूपाग्रस्योत्तरतः समीप एव चषालं निदध्यात् । मन्त्रार्थस्तु – हे यूपशकल, स्वावेशः सुष्ठु शोभन आवेशो यूपावस्थितिलक्षणो यस्मिंस्तादृशस्त्वम् । यूपस्य त्रयो नेतारः – (१) प्रथमशकलः, (२) स्वरुः, (३) चषालश्चेति । तेषामूर्ध्वनेतॄणां मध्येऽग्रेऽवस्थितो यूपोऽवटं प्रति नीयत इत्यग्रेणीरसि । यूपस्य प्रथमावयवभूतोऽसीत्यर्थः । यद्वा अग्रे प्रथमं यूपस्य छिद्यमानस्यापनीयत इत्यग्रेणीः, यूपावयवभूतोऽसि । अग्रेऽवस्थितो यूपमवटं प्रति नयतीत्यग्रेणीः पुरःसरोऽसीति वा । कथम्भूतस्त्वम् ? उन्नेतॄणामुन्नयनकर्तॄणामध्वर्यूणां स्वावेशः सुखेनावेशयितुं शक्यः । त एव यूपावटे यूपशकलमेनं सुखेनावेशयन्ति स्थापयन्ति, लघुप्रमाणत्वात् । तादृशस्त्वं हे यूपशकल, एतस्य कर्मणो वित्तात् । कर्मणि षष्ठी । एतत्कर्म विद्धि ।

कात्यायन श्रौतसूत्र (६।२।१५-१७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'यवोऽसि' इस मन्त्र से किसी पात्र में रखे हुए लौकिक जल में जौ डालकर उससे यूप के अग्रभाग, मध्यभाग तथा मूलभाग का प्रोक्षण करे । प्रोक्षण के बाद यूप के ऊपर प्रागग्र तथा उत्तराग्र रखी गई कुशाओं को 'पितृषदनमसि' इस मन्त्र से गड्ढे में फेक देता है । प्रोक्षण के 'दिवे त्वा' इत्यादि तीन मन्त्रों में वाक्यपूर्ति के लिये 'प्रोक्षामि' यह क्रियापद लगाना चाहिये । प्रोक्षण से बचा हुआ जल गड्ढे में गिरा दिया जाता है । इन मन्त्रों के अर्थ औदुम्बरी के प्रसङ्ग में जिस प्रकार वर्णित किये जा चुके हैं, उसी प्रकार यहाँ भी व्याख्या की जानी चाहिये ॥१॥

मन्त्रार्थ– हे यूपखण्ड, उठाने वाले ऋत्विजों के लिये हल्के बनकर सुख से प्रवेशयोग्य होकर आगे बढ़ो । तुम इस बात को जानो कि तुम्हारे ऊपर दूसरा और खण्ड स्थापित होगा । सबके प्रेरक सविता देव मधु और घृत से तुमको सींचे । हे चषाल, शुभ फलयुक्त औषधियों के निमित्त तुमको यूपखण्ड पर स्थापित करता हूँ । हे यूप, तुमने अग्र भाग से द्युलोक को स्पर्श किया है, मध्य भाग से अन्तरिक्ष को पूर्ण किया है और अधो भाग से पृथ्वी को दृढ़ किया है ॥२॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।२।१९, ६।३।२-४,७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अग्रेणीरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से यूप के लिये खोदे गये गड्ढे में शकलप्रक्षेप, प्रथम शकल का स्थापन, चषाल का निधान, यूप का घृत से लेपन तथा यूप

कतमत् कर्म ? यद् अधि त्वा स्थास्यति । अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा । यूपस्त्वामधिष्ठास्यति त्वदुपर्यवस्थानं करिष्यतीति त्वया बोद्धव्यमित्यर्थः । सायणरीत्या तु – त्वा त्वां यस्मात् कर्मण्यध्वर्युरधिष्ठास्यंति स्थापयिष्यति त्वमेतद्विद्धीति । 'देवस्त्वेत्यनक्ति' (का.श्रौ.६।३।२) । 'आज्येन यूपमञ्ज्यादुपरवर्जम् (६।३।२) इत्युपरस्याग्रेऽञ्जनविधानाद् यूपस्य निखननीयः पञ्चमो भाग उपरो नामेत्युक्तमेव । हे यूप, त्वा त्वां सविता प्रेरको देवः, मध्वा मधुरेणाज्येन आनक्तु । 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' । म्रक्षयतु श्लक्ष्णं करोतु । आगमशास्त्रस्यानित्यत्वान्नुमभावे रूपम् । 'चषालमुभयतोऽक्तं प्रतिमुञ्चति सुपिप्पलाभ्य इति' (का.श्रौ.६।३।३-४) । चषालो यूपस्योपरि प्रतिमोक्तव्योऽष्टाश्रिर्मध्ये सन्ततो वलयः । तं चषालमुपरिष्टादधस्ताच्च अन्तबर्हिश्चानेनैव मन्त्रेणाञ्ज्यात् ।। अक्तं चषालमधस्तादुपरिष्टादाज्येन सिक्तं यूपचूडायां सुपिप्पलाभ्य इति मन्त्रेण प्रतिमुञ्चेत् । 'अग्रमुत्तरेण चषालम्' (का.श्रौ.६।२।१४) यूपाग्रस्योत्तरतः समीप एव चषालं निदध्यात् । हे चषाल, त्वा त्वां सुपिप्पलाभ्यः, पिप्पलं फलम्, शोभनफलोपेताभ्य ओषधीभ्यस्तन्निष्पत्त्यर्थं यूपस्याग्रे प्रतिमुञ्चामीति शेषः । 'द्यामग्रेणेत्युच्छ्रयतीति' (का.श्रौ.६।३।७) । तं नाभिमात्रे सर्वतो गृहीतं यूपमुच्छ्रयेत् । हे यूप, तवाग्रेण द्यां द्युलोकमस्पृक्षः, त्वं स्पृष्टवानसि । तथा अन्तरिक्षमन्तरिक्षलोकं मध्येन मध्यप्रदेशेनासमन्तात् प्राः पूरितवानसि । 'प्रा प्रपूरणे' । तथा पृथिवीं भूलोकमुपरेण पूर्वोक्तेन भूमिष्ठेन निखननीयेन पञ्चमभागेन तव मूलभागेन अदृंहीः दृढीकृतवानसि । अस्पृक्ष इति स्पृशतेर्लुङि 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (पा.सू.३।१।४५) इति क्सप्रत्यये रूपम् ।

सिद्धान्तरीत्या तु औदुम्बरीविषय इवात्रापि मन्त्रा व्याख्येयाः । हे अभ्रे ! काष्ठनिर्मितखननसाधनविशेष, त्वा त्वां सवितुः परमेश्वरस्य देवस्य प्रसवे प्रेरणे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे, न तु प्राकृताभ्यां स्वीयाभ्यां बाहुभ्यां न वा स्वाभ्यां हस्ताभ्याम् । अत्र स्वबाह्वोर्हस्तयोश्चाश्विबाहुपूषहस्तभावना कर्तव्या कर्मसाद्गुण्याय । त्वं नार्यसि खननसाधनत्वेन कर्मोपयोगित्वेन च नराणामनुष्ठातॄणां सम्बन्धिन्यसि 'योषा वा एषा' (श.३।७।१।१) इति श्रुत्यनुसारेण स्त्रीलिङ्गत्वाद् नार्यसि । यूपावटपरिलेखमभिलक्ष्याह – इदमिति । व्यत्ययेन अनेनेति । अनेन अवटपरिलेखनेन रक्षसां यज्ञघ्नानां ग्रीवाः कण्ठान् अपिकृन्तामि छिनद्मि । यवोऽसीत्यप्सु यवानोप्येति कात्यायनरीत्या हे यव धान्यविशेष, त्वं यवोऽसि 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' पृथक्करोषि । अस्मद् अस्माकं सकाशाद् द्वेषो द्वेष्टॄन् दौर्भाग्यं च यवय पृथक्कुरु । अरातीः अदानानि शत्रून् वा यवय पृथक्कुरु । 'प्रोक्षत्यग्रमूलानि दिवे त्वेति प्रतिमन्त्रं 'प्रोक्षामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादिति' (का.श्रौ.६।२।१६) । हे यूपाग्रभाग, दिवे द्युलोकप्रीत्यर्थं त्वा प्रोक्षामि । हे मध्यमाग, अन्तरिक्षाय अन्तरिक्षलोकप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि । हे मूलभाग, पृथव्यै पृथिवीलोकप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि । 'अवटे (प्रोक्षण) शेषमासिञ्चति शुन्धन्तामिति' (का.श्रौ.६।२।१७) अनेनोदकसेचनेन पितृषदनाः पितृदेवमनुष्यनिवासभूता लोकाः शुन्धन्तां शुद्धा भवन्तु । खननेनोत्पन्नस्य क्रौर्यस्य शान्त्यर्थमिदमुदकसेचनम् । 'बर्हीꣳषि प्राञ्च्युदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीति' (का.श्रौ.६।२।१८) । तस्मिन्नवटे प्रागग्रानुदगग्रांश्च दर्भानास्तृणाति । हे बर्हिः, त्वं पितृसदनमसि पितरः सीदन्त्युपविशन्त्यस्मिन्निति तदसीति । 'सोऽभ्रिमादत्ते योषा वा एषा । अथावटं परिलिखति । अथ खनति प्राञ्चमुत्करमुत्किरत्युपरेण सम्मायावटं खनति तदग्रेण प्राञ्चं यूपं निदधात्येतावन्मात्राणि बर्हीꣳष्युपरिष्टादधिनिदधाति तदुपरिष्टाद्यूपशकलमधिनिदधाति पुरस्तात्पार्श्वतश्चषालमुपनिदधात्यथ यवमत्यः प्रोक्षण्यो भवन्ति सोऽसावेव बन्धुः' (श.३।७।१।१-३) । यूपस्याष्टमो भागो मूलभाग उपरः । तावत्परिमितं यूपावटं कुर्यात् । मुष्टिपरिमितानि बर्हींषि यूपाग्रे निदध्याद् यूपशकलं च ।

'सयवानावपति । यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयाऽरातीरिति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ प्रोक्षत्येको वै प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत् करोति' (श.३।७।१।४) । 'स प्रोक्षति । दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेति वज्रो वै यूप एषां लोकानामभिगुप्त्यै एषां त्वा लोकानामभिगुप्त्यै प्रोक्षामीत्येवैतदाह' (श.३।७।१।५) । 'अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते । ता अवटेऽवनयति शुन्धन्तां लोकाः पितृषदना इति पितृदेवत्यो वै कूपः खातस्तमेवैतन्मेध्यं करोति' (श.३।७।१।६) । 'अथ बर्हीꣳषि । प्राचीनाग्राणि चोदीचीनाग्राणि चावस्तृणाति पितृषदनमसीति पितृदेवत्यं वा अस्यैतद् भवति यन्निखातꣳ स यथानिखात ओषधिषु मितः स्यादेवमेतास्वोषधिषु मितो भवति' (श.३।७।१।७) 'अथ यूपशकलं प्रास्यति । तेजो ह वा एतद्वनस्पतीनां यद्बाह्याशकलस्तस्माद्यदा बाह्याशकलमपतक्ष्णुवन्त्यथ शुष्यन्ति तेजो ह्येषामेतद्यद्यूपशकलं प्रास्यति सुतेजसं मिनवानीति तद्यदेष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्माद्यूपशकलं प्रास्यति' (श.३।७।१।८)। यूपशकलस्य गर्ते प्रक्षेपं सार्थवादमाह – 'अथ यूपशकलं प्रास्यतीति । तेजो वा एतद्वनस्पतीनां यद्बाह्याशकलस्तस्मादेव यदा बाह्याशकलमपतक्ष्णुवन्ति बाह्यशकलं तक्षणेन पृथक्कुर्वन्ति, अथानन्तरमेव वनस्पतयः शुष्यन्ति । अतो बाह्यशकलमेव वनस्पतीनां तेजः, जीवनहेतुभूतं सारतत्त्वम् । यूपावटे तस्य बाह्यशकलस्य स्थापनेन यूपं सतेजसं करोति । 'यूपं तक्षति, यूपमष्टास्रीकरोति' इत्यादिभिस्तक्षणादिभिर्निस्त्वचं यूपं सत्वचमेव करोति । एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्माद्यूपशकलं प्रास्यति । 'स प्रास्यति अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतॄणामित्येतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यतीत्यधि ह्येनं तिष्ठति तस्मादाहैतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यतीति' (श.३।७।१।९) । शकलप्रासनं समन्त्रकं विधत्ते – स प्रास्यति अग्रेणीरसीति । इत्याद्युपर्युक्तासु शातपथीषु श्रुतिषु स्पष्टमेव सिद्धान्तपक्षः समर्थितः ।

मन्त्रस्तु व्याख्यातः । श्रुतिरेव मन्त्रतात्पर्यमाह – पुरस्ताद्वा अस्मादेषोऽपच्छिद्यते यस्मादेष शकलोऽस्माद् यूपात् पुरस्तादपि च्छिद्यते तस्मादाह अग्रेणीरिति । अस्य प्रथमशकलत्वाद् यूपात् प्रथमं नीयमानत्वाद् अग्रेणीः स्वावेश इत्यर्थः । अधि त्वा स्थास्यतीत्यस्य तात्पर्यमाह – त्वामधि तवोपरि यूपः स्थास्यतीति तस्यावस्थानं वित्ताद् विजानीहीत्यर्थः । 'अथ स्रुवेणोपहत्याज्यम् । अवटमभिजुहोति नेदधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्युपोत्तिष्ठानिति वज्रो वा आज्यं तद्वज्रेणैवैतं नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपबाधते तथाधस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि नोपोत्तिष्ठन्त्यथ पुरस्तात्परीत्योदङ्ङासीनो यूपमनक्ति स आह यूपायाज्यमानायानुब्रूहीति' (श.३।७।३।१०) । आज्यमुपहत्य स्रुवेणादाय अवटमभि तूष्णीं जुहोति । 'स्रुवेणावटे जुहोति तूष्णीम्' (का.श्रौ.६।२।२०) । होमसाधनस्याज्यस्य द्वे सामर्थ्ये – वज्ररूपेण रक्षकत्वम्, रेतोरूपेणोत्पादकत्वं च । अतो नाष्ट्रा नाशकानि रक्षांसि नोत्तिष्ठेरन्निति वज्ररूपेण आज्येन रक्षांस्यपबाधते ।। अथ अवटस्य पुरस्तात् परीत्य परिक्रम्य उदङ्मुख आसीनोऽध्वर्युर्यजमानो वा यूपमनक्ति । 'पुरस्तात्परिक्रम्याध्वर्युर्यजमानो वा यूपमनक्ति उदङ्ङुपविश्येति' (का.श्रौ.६।२।२१) । स यूपायाज्यमानायानुब्रूहीति यूपाञ्जनप्रैषः । 'सोऽनक्ति । देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति सविता वै देवानां प्रसविता यजमानो वा एष निदानेन यद् यूपः, सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्च तदेनमनेन सर्वेण सꣳस्पर्शयति तदस्मै सविता प्रसविता प्रसौति तस्मादाह देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति' (श.३।७।३।११) । देवस्त्वेत्यञ्जनमन्त्रस्य तात्पर्यमाह – सविता वै देवानामिति । यजमाननिष्पाद्यस्य यागस्य यूपेनापि निष्पाद्यत्वात् तत्सिद्धिन्यायाद् यजमानो यूपत्वेनोपचर्यते । यजमानो वा एष निदानेन यद् यूपः । सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्चेति सर्वस्य मधुरूपत्वमुच्यते । 'इयं वै पृथिवी सर्वेषां मधु' (श.१४।५।५।१) इति मधुब्राह्मणेन सर्वं सर्वस्योपकारकत्वेन मोदकत्वान्मधूच्यते । तत् तत एनं यूपमेव यूपद्वारेणानेन सर्वेण मधुभूतेन चराचरेण आज्यद्वारेण संस्पर्शयति । 'अथ चषालमुभयतः प्रत्यज्य प्रतिमुञ्चति ।

सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्य इति पिप्पलꣳहैवास्यैतद्यन्मध्ये संगृहीतमिव भवति तिर्यग्वा इदं वृक्षे पिप्पलमाहतꣳ स यदेवेदꣳ सम्बन्धनं चान्तरोपेनितमिव तदेवैतत्करोति तस्मान्मध्ये संगृहीतमिव भवति' (श०३।७।३।१२) । चषालं पूर्वोक्तप्रकारं वलयमाज्येन प्रत्यज्य प्रतिमुञ्चति उपरि बध्नाति । मन्त्रार्थस्तूक्त एवानुसन्धेयः । अस्य यूपस्य चषालं सुपिप्पलं सुफलं खलु । तच्च मध्ये संगृहीतमिव कुर्यात् । उक्तं यूपफलरूपत्वं लौकिकवृक्षदृष्टान्तेन द्रढयति – तिर्यग्वा इदं पिप्पलं फलं वृक्षे आदृतं सम्बद्धं भवति । यदेवेदं सम्बन्धनं सम्यग्बन्धनसाधनं वृन्तं फलं चान्तरा वृन्तफलयोर्मध्ये उपेनितमिव उपेनितम् अल्पपरिमाणं विद्यते, तदेव एतद् एतेन चषालोपेनितेन कृतवान् भवति तस्मान्मध्ये संगृहीतमिव भवति ।

'आन्तमग्निष्ठामनक्ति । यजमानो वा अग्निष्ठा रस आज्यꣳ रसेनैवैतद्यजमानमनक्ति तस्मादान्तमग्निष्ठामनक्त्यथ परिव्ययणं प्रति समन्तं परिमृशत्यथाहोच्छ्रीयमाणायानुब्रूहीति' (श.३।७।३।१३) पुनरञ्जनं विधत्ते – अग्निष्ठा अग्नेरभिमुखाश्रिस्तामग्निष्ठाम् आन्तम् उपरिप्रदेशपर्यन्तमनक्ति। 'सोपरमग्निष्ठादेशमङ्क्त्वा परिव्ययणदेशꣳ समन्तं परिमृश्याध्वर्युर्नावसृजेदापरिव्ययणात्' (का.श्रौ.६।३।५) । उपरेण सह वर्तते सोपरम्, अग्निसमीपे तिष्ठतीत्यग्निष्ठा अग्नेरभिमुखीभूता प्रत्यासन्ना यूपस्याश्रिर्यूपस्य सोपरमग्निसम्मुखाश्रिदेशं पुनस्तेनैव मन्त्रेणैवाक्त्वा परिव्ययणदेशं यूपस्य रशनाबन्धनस्थानं सर्वतो हस्तेन गृहीत्वाऽपरिव्ययणादध्वर्युर्न विसृजेत । अधुना अग्निसमीपेऽवस्थानाभावादग्निष्ठादेशमित्युक्तमिति सूत्राभिप्रायः । सोपरं मूलभागसहितं समन्तमुपरिदेशपर्यन्तम् अग्निष्ठादेशमञ्ज्यादित्याद्युक्तमेव । यजमानो वा एष अग्निष्ठा, अग्निसन्निधिसाम्याद् रस आज्यं यदग्निष्ठामाज्येनानक्ति तद्यजमानं रसेनानक्ति तस्मादान्तमग्निष्ठानक्ति । अथ परिव्ययणमिति । परिव्ययणो रशनावेष्टनप्रदेशस्तं प्रति समन्तम् आज्येन परिमृशति परिमृशेत् । उच्छ्रीयमाणायानुब्रूहीति सम्प्रैषः । 'स उच्छ्रयति । द्यामग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृꣳहीरिति वज्रो वै यूप एषां लोकानामभिजित्यै तेन वज्रेणेमाँल्लोकान् स्पृणुत एभ्यो लोकेभ्यः सपत्नान् निर्भजति' (श.३।७।१।१४) । द्यामग्रेणेति मन्त्रेण यूपोच्छ्रयणं कुर्यात् । अन्यत् सर्वं स्पष्टम् ।

अध्यात्मपक्षेऽपि – हे यूपशकलोपलक्षित शुद्धचैतन्य, त्वमग्रेणीरसि सर्वासु वृत्तिषु स्वस्वविषयप्रकाशनायाग्रे नीयसे, वृत्तिपुरःसरोऽसि । उन्नेतॄणामुन्नयनकर्तॄणां स्वावेशोऽसि सुष्ठु सर्वे उन्नयनकर्तार आविशन्ति यस्मिन् स त्वं सर्वाधिष्ठानभूतपरमात्मस्वरूपोऽसि । एतस्य वित्ताद् एतत् त्वं विद्धि । अधिष्ठानतत्त्वाज्ञानादेव नानाविधाः परिच्छेदा भवन्ति । अधिष्ठानसाक्षात्कारादेव तद्बाधात् शुद्धमधिष्ठानभूतं चैतन्यं त्वामधिष्ठास्यति तवोपरि स्थास्यति, अधिष्ठानस्यैव स्वाध्यस्तनियन्तृत्वात् । देवः परमेश्वरः सविता प्रेरकस्त्वा त्वामनक्तु श्लक्ष्णं करोतु भक्तिभावनया स्नेहवन्तं करोतु, मधुना मधुरेण घृतगन्धिना स्नेहेन भक्त्या विशुद्ध एवाधिष्ठानचैतन्यस्याभिव्यक्तेः । सुपिप्पलाभ्यः सुफलाभ्य ओषधिभ्यस्तन्निष्पत्त्यर्थं त्वा त्वां प्रतिमुञ्चामि, अधिष्ठानचैतन्येऽवलगयामि । हे विराट्,

---

का उच्छ्रयण आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे यूपशकल से सङ्केतित शुद्ध चैतन्य, आप अग्रणी हैं, समस्त वृत्तियों में अपने - अपने विषय के प्रकाशन के लिये आगे नयन किये जाते हैं । उन्नयन कर्ताओं के अधिष्ठानभूत हैं, अर्थात् सभी उन्नयनकर्ता भली भांति जिसमें निविष्ट होते हैं, इस प्रकार के परमात्मस्वरूप हैं, यह जानें । अधिष्ठान तत्त्व के अपरिज्ञान के कारण ही अनेक प्रकार के बन्धन होते हैं, अधिष्ठान के साक्षात्कार से ही उनका बाध होता है । शुद्ध अधिष्ठानभूत चैतन्य तुम पर अधिष्ठित होगा, क्योंकि अध्यस्त

त्वमग्रेणाग्रभागेन द्यां द्युलोकं स्पृष्टवानसि, मध्येन मध्यभागेन अन्तरिक्षमाप्राः पूरितवानसि, उपरेण मूलभागेन पृथिवीमदृंहीः दृढीकृतवानसि ।

दयानन्दस्तु – 'यथाध्यापकः शिष्यान् पिता स्वसन्तानान् पुरस्तादेव सुशिक्षया विद्यां प्रापयति, तथा असि स्वावेशः । यथा शोभनं धर्ममाविशति तथा नेता । उन्नेतॄणां यथोन्नेतॄणामुत्कर्षं प्रापयितॄणां राज्यमेतस्य प्रकृतं राज्यं पालयितुं वित्ताद् विजानीहि । अधि त्वां स्थास्यति । देवः अखिलराज्येश्वरस्त्वां सविता सर्वस्य जनयिता मध्वा मधुरगुणेन अनक्तु सिञ्चतु । सुपिप्पलाभ्यः सुष्ठुफलाभ्यस्त्वामोषधीभ्यः प्रसिद्धाभ्यो द्यां विद्यान्यायप्रकाशमग्रेण पुरस्ताद् अस्पृक्षः । स्पृशेर्लेडर्थे लुङ् । आसमन्ताद् अन्तरिक्षं धर्मप्रचारस्यावकाशं मध्येन मध्यमावस्थाविशेषेण आप्राः पिपृहि । पृथिवीं भूमिराज्यम् उपरेण उत्कृष्टनियमेन अदृंहीः प्राप्य वर्धस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्रेणीत्यादेरध्यापकादिबोधने मानाभावात् । 'नेता यथा धर्मपथमाविशति' इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव, 'एतस्य' इति प्रकृतराज्यं पालयितुमित्यपि स्वाभ्यूहितमेव । अन्तरिक्षमित्यस्य धर्मप्रचारस्यावकाशम् अग्रेण प्रथमयशसा मध्येन यशसा' इत्याद्यपि सर्वथा निर्मूलम् । उपरेण उत्कृष्टनियमेनेत्यपि प्रमाणशून्यमेव ॥२॥

या ते धामा॑न्युश्मसि॒ गम॑ध्यै॒ यत्र॒ गावो॒ भूरि॑शृङ्गा अ॒यास॑: । अत्राह॒ तदु॑रुगायस्य॒ विष्णो॑: पर॒मं प॒दमव॑भारि॒ भूरि॑ । ब्र॒ह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ रायस्पोष॒वनि॒ पर्यू॑हामि । ब्रह्म॑ दृꣳह क्ष॒त्रं दृꣳहायु॑र्दृꣳह प्र॒जां दृꣳह ॥ ३ ॥

'या त इति मिनोत्यग्निष्ठा सम्प्रत्याहवनीयम्' (का.श्रौ.६।३।८) । यूपस्य पञ्चमांशं गर्ते प्रक्षिप्य या अश्रिः पूर्वं सोपरा अक्ता तां चिह्नितां कृत्वा तामाहवनीयसमीपे कुर्यादिति सूत्रार्थः । यूपदेवत्या त्रिष्टुप्, दीर्घतमोदृष्टा । हे यूप, या यानि तव सम्बन्धीनि धामानि स्थानानि गमध्यै गन्तुं 'तुमर्थे सेसेन...' (पा.सू.३।४।९) इति कध्यैन्प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः । उश्मसि उश्मः, वयं कामयामहे । 'वश कान्तौ' । लटि उत्तमबहुवचने शपो लोपे सम्प्रसारणे 'इदन्तो मसि' (पा.सू.७।१।४६) [illegible]ीकारः । यत्र येषु स्थानेषु उरुगायस्य उरुभिः प्रभूताभिर्वाग्भिः प्रभूतैर्महात्मभिर्वा गेयस्य गीयमानस्य विष्णोर्व्यापकस्य भगवतः परममुत्कृष्टं भूरि महत्पदमवभारि अवभाति । तकारस्य छान्दसो रेफः । तादृशस्थानप्राप्तिहेतुभूताय ज्योतिष्टोमादिकर्मणे हे यूप, अवटे तिष्ठेत्यर्थः । यत्र येषु स्थानेषु

का नियन्ता अधिष्ठान ही है । प्रेरक परमेश्वर तुमको निर्मल भक्तिभावना के द्वारा स्नेह युक्त करें, क्योंकि मधुर भक्ति के द्वारा विशुद्ध चित्त में ही अधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति हो सकती है । सुफल औषधियों की निष्पत्ति के लिये तुमको अधिष्ठान चैतन्य में संधृत करता हूँ । हे विराट्, तुमने अग्रभाग से द्युलोक का स्पर्श किया है, मध्यभाग से अन्तरिक्ष को परिपूर्ण किया है तथा मूलभाग से पृथिवी को सुदृढ़ किया है ॥२॥

मन्त्रार्थ – हे यूप, जो तुम्हारे स्थान पर गमन करने की कामना करे, जहाँ सूर्य देवता की अति प्रकाशवान् किरणें विस्तृत होती हैं, जिस स्थान को महात्माओं से प्रशंसित व्यापक परमात्मा का उत्तम स्थान कहते हैं, वह स्थान अनेक प्रकार से प्रकाशित है । हे यूप, ब्राह्मणों के स्वीकार योग्य, क्षत्रियों के चाहने योग्य धन और पुष्टि के निमित्त तुम पर चारों ओर से मिट्टी डालता हूँ । हे यूप, तुम ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति को दृढ़ करो, आयु और संतान को दृढ़ करो ॥३॥

भाष्यसार – 'या ते' इस ऋचा से यूप के पांचवें हिस्से को भूमि में गाड़ा जाता है तथा यूप के जिस भाग पर घृत लगाया गया है, उसे आहवनीय अग्नि के सामने रखा जाना चाहिये । तदनन्तर इस कण्डिका के परवर्ती मन्त्र 'ब्रह्मवनि त्वा' से यूप के गर्त को

गावो रश्मयः, अयासः अयन्त इत्ययासो गन्तारो वर्तन्ते, सर्वे किरणा येषु गता इत्यर्थः । कीदृशा गावः ? भूरिशृङ्गा भूरि बहु शृङ्गं दीप्तिर्येषां ते भूरिशृङ्गाः । 'प्रज्वलननामसु शृङ्गाणीति पठितम्' (निघ.१।१७) । यद्वा भूरि बहुप्रकारं यथा स्यात्तथा, अत्राह अहेत्यर्थकः, अत्रैव एष्वेव स्थानेषु भूरि आदित्यमण्डललक्षणं पदम् अवभारि अवभाति शोभते । अव अवाचीनं वा भाति । उरुगायस्य महागतेः, 'गाङ् गतौ' इति धातो रूपम् ।

'ब्रह्मवनि त्वेति पाꣳसुभिः पर्य्यूहति' (का.श्रौ.६।३।९) । यूपावटं पांसुभिर्ब्रह्मवनीति मन्त्रेण पूरयति । 'ब्रह्म दृꣳहेति मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यूहति' (का.श्रौ.६।३।१०) । पांसुभिः पूरितं गर्तं सर्वतस्त्रिः कुट्टयति । कुट्टनेन च पांसूनवटे प्रवेशयेत् । हे यूप, त्वा त्वां पर्यूहामि परितो मृत्तिकां प्रक्षिपामि । कीदृशं त्वाम् ? ब्रह्मवनि । ब्रह्म वनोतीति ब्रह्मवनिः । मन्त्रेऽविभक्तिको निर्देशः । क्रियाविशेषणतया वा क्लीबत्वम् । क्षत्रं क्षत्रियजातिं वनोतीति क्षत्रवनिः । रायस्पोषवनि रायो धनस्य पोषं पुष्टिं वनतीति तथोक्तम् । सर्वत्र 'सुपां सुलुक्....' (पा.सू.७।१।३९) इति विभक्तिलोपः । ब्रह्म ब्राह्मणजातिं क्षत्रं क्षत्रियजातिम् आयुर्जीवनं प्रजां पुत्रादिरूपां च दृंह दृढीकुरु । सिद्धान्ते तु यूपावच्छिन्नचैतन्यरूपस्तदधिष्ठातृदेवोऽत्र प्रार्थ्यते । ब्रह्मजातिं क्षत्रजातिं रायस्पोषं यजमानस्य ब्रह्मक्षत्ररायस्पोषादिकामयितारं संविभक्तारं तादृशं देवमनुकूलयितुं यूपं यज्ञाङ्गं पांसुभिः स्थिरं करोमि । स त्वं हे यूप, मम ब्रह्मक्षत्रादिकं दृढीकुरु – इत्यर्थकेन मन्त्रेण मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यूहामि दृढीकरोमीति । श्रुतिसम्मतश्चायमर्थः । सूत्राणि तु सव्याख्यानान्युक्तानि ।

दयानन्दीयं तु व्याख्यानं तन्मनोराज्यमात्रम् । तथाहि – 'पुनस्तं कीदृशमिति वाणिज्यकर्म कुर्वाणा जना आश्रयन्तीत्युच्यते उपदिश्यते । हे सभाध्यक्ष, यानि ते तव धामानि दधति सुखानि येषु तानि राज्यप्रबन्धस्थानानि देशदेशान्तरवाणिज्यार्हाणि इति तदीयोऽर्थः । स तु निर्मूल एव, वाणिज्यस्थानापेक्षयापि भोजनरमणादिस्थानान्यधिकसुखदानि भवन्तीति तान्येव कुतो न गृह्येरन्निति विनिगमनाभावात् । यदपि 'मारि. म्रियते लडर्थे लुङ्, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा.सू.६।४।७५) इत्यडभावः' इति, तदपि तुच्छम्, तादृग्गौरवापेक्षया तकारस्य छान्दसो रेफ इति पक्षे लाघवात् । यत्तु हिन्दीभाष्ये –'विष्णोः परमेश्वरस्य भूरिशृङ्गा अत्यन्तप्रकाशवन्तः किरणाश्चैतन्यकला अयासो विस्तृताः' इति, तदपि निर्मूलम्, निष्कलस्य चैतन्यकलाऽयोगात् । नहि सूर्यस्य किरणा एव परमेश्वरस्य तत्स्वरूपातिरिक्ताश्चैतन्यात्मिकाः कलाः सन्तीत्यत्र प्रमाणमस्ति । 'विद्वद्भिर्म्रियतेऽवधार्यते' इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे तथाभूतपदानुपलब्धेः । 'त्वा त्वां परमेश्वरं वेदविज्ञानं वा कामयानं राज्यं वीरांश्च वा कामयानं धनपोषसंविभक्तारमहं पर्यूहामि विविधैस्तर्कैरवगच्छामि' इत्यादिकमप्युपहासास्पदम्, विकल्पासहत्वात् । सभाध्यक्षस्योपदेष्टा कोऽस्ति ? परमेश्वरोऽन्यो वा ? नान्त्यः, तथात्वे वेदस्य पौरुषेयत्वापत्तेः । नाद्यः, तस्य सर्वज्ञस्य ज्ञाने तर्कानपेक्षणात् । ब्रह्म दृंहेत्यत्रापि 'ब्रह्म परमेश्वरं वेदं वा दृंह स्वचित्ते स्थिरं कुरु, क्षत्रं धनुर्वेदवेत्तारं दृंह उन्नमय। आयुः स्वीयावस्थां वर्धय। प्रजां रक्षायोग्यं प्रजाजनमुन्नमय' इत्यादिकं सर्वमपि विसङ्गतमेव, धात्वर्थविरोधात्। दृढीकरणमेव दृंहतेरर्थः। तत् परिहाय लक्षणायां लक्षितलक्षणायां वा बीजं वक्तव्यम्। तत्तु नोक्तम्।

मिट्टी से पूर्ण किया जाता है तथा 'ब्रह्म दृंह' इस मन्त्र से मैत्रावरुण दण्ड से यूप के गर्त की मिट्टी को दबाया जाता है । कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।८-१०) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

सैद्धान्तिकेऽर्थे शातपथी श्रुतिरुद्ध्रियते – 'अथ मिनोति। या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भारि भूरीत्येतया त्रिष्टुभा मिनोति वज्रस्त्रिष्टुप् वज्रो यूपस्तस्मात् त्रिष्टुभा मिनोति' (श.३।७।१।१५)। या त इति मन्त्रेण यूपं मिनुयात्। यानि धामानि स्थानानि गमध्यै गमनाय प्राप्तये उश्मसि कामयामहे। यत्र येषु धामसु गावो रश्मयो भूरिशृङ्गाः प्रभूतोर्ध्वप्रदेशाः। अयासो गन्तारो रश्मयः। तं परिवेषं हे विष्णो, अत्र एषु स्थानेषु उरुगायस्य प्रभूताभिर्वाग्भिः प्रभूतैर्ऋषिभिर्वा गीयमानस्य विष्णोर्व्याप्तस्य तव श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं परममुत्कृष्टं पदं भूरि प्रभूतमवभाति सर्वदा प्रकाशते, तत्प्रार्थयामह इति शेषः। अधियज्ञपरतया तु विष्णोः सवनत्रयव्याप्तस्य यज्ञस्य धामानि स्थानानि गमध्यै प्रापणाय उश्मसि कामयामहे। अत्राह अत्रैवोरुगायस्य उरुभिर्वेदैर्याज्ञिकैश्च गीयमानस्य विष्णोस्ते राध्यं पदं यूपाख्यमवभाति। मन्त्रस्य त्रिष्टुप्त्वं यूपमानस्योचितमिति प्रशंसति–एतया त्रिष्टुभामिनोतीति। 'सम्प्रत्यग्निमग्निष्ठां मिनोति। यजमानो वा अग्निष्ठाग्निरु वै यज्ञः स यदग्नेरग्निष्ठाꣳ ह्वलयेद्ध्वलेद्ध यज्ञाद्यजमानस्तस्मात्सम्प्रत्यग्निमग्निष्ठां मिनोत्यथ पर्यूहत्यथ पर्यूषत्यथाप निनयति' (श.३।७।१।१६)। माने विशेषमाह– सम्प्रत्यग्निष्ठामिति। अग्न्यभिमुखं मिनोति प्रक्रमार्थम्। विपक्षे दोषदर्शनेन द्रढयति–यजमानो वाग्निष्ठाग्निः। उ एव यज्ञः। सोऽध्वर्युर्यद् यदि, अग्नेः सकाशादग्निष्ठां ह्वलयेत् चालयेत यज्ञाद् यजमानोऽपि ह्वलेद् नश्येत्। तस्मात् सम्प्रत्यग्निमग्न्यभिमुखमेव मिनुयात्। अथ पर्यूहति। मृदामेकीभावापादने पर्यूहणादि मन्त्राणामौदुम्बर्यामुक्तत्वात् (श.३।७।१।१७-१९) समानत्वादत्र नोक्ता। मन्त्रव्याख्याने तु स्पष्टं पांसुभिः 'पर्यूहणम्', मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्यूषणं चोक्तमेव।

अध्यात्मपक्षे – हे विष्णो व्यापनशील परमेश्वर, यानि ते वैकुण्ठगोलोकसाकेतादिधामानि स्थानानि गमध्यै गन्तुं वयमुश्मसि कामयामहे, यत्र च भूरिशृङ्गा बृहच्छृङ्गा बहुदीप्तयो वा गावो धेनवः, अयासो विचरन्ति, अत्र एषु स्थानेषु, अह एव एषु स्थानेष्वेव, उरुगायस्य वेदैर्वेदज्ञैमहर्षिभिश्चोरुभिर्गीयमानस्य परममुत्कृष्टं पदं पद्यते गम्यते प्राप्यत इति पदं प्रापणीयं परप्रेमास्पदं भूरि बहुधा अवभाति श्रीविष्णुरूपेण श्रीकृष्णरूपेण श्रीरामरूपेण अवभाति। हे विष्णो, भक्तानां हिताय ब्रह्मवनि ब्रह्म वेदं ब्राह्मणजातिं वा वनुते संभजत इति ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि क्षत्रं क्षत्रजातिं क्षात्रमैश्वर्यं वा वनुत इति क्षत्रवनि, रायस्पोषवनि रायो धनस्य पोषं पोषकं वनुते संभजते भक्तानां कृते ब्रह्मक्षत्ररायस्पोषादिकामयितारं त्वा त्वां पर्यूहामि परितोऽवगच्छामि साक्षात्करोमि। हे प्रभो, प्राप्तान् ब्रह्मक्षत्रादीन् दृंह दृढीकुरु, अर्थादप्राप्तान् ब्रह्मादीन् प्रापय प्राप्तांश्च तान् सर्वतो रक्ष, परमेश्वरस्यैव योगक्षेमयोः सम्पादकत्वात्। आयुर्दीर्घजीवनं प्रजां च दृंह सुस्थिरं कुरु॥३॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है– हे व्यापनशील परमेश्वर ! आपके जिन वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत आदि धामों में जाने की हम इच्छा करते हैं और जहाँ बड़े शृंगों से युक्त अथवा दीप्तिमती गायें विचरण करती हैं, उन धामों में ही वेदज्ञ महर्षियों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले का परम उत्कृष्ट स्थान श्रीविष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीराम के रूप से अत्यन्त प्रकाशित होता है। हे विष्णुदेव, भक्तों के हित के लिये वेद अथवा ब्राह्मण्य को धारण करने वाले, ऐश्वर्य अथवा क्षत्रियत्व को सेवन करने वाले, धन के पोषण को धारण करने वाले आपका मैं सर्वतोभावेन साक्षात्कार करता हूँ। हे प्रभो, प्राप्त ब्रह्म-क्षत्र आदि को मुझमें दृढ़ करें, अर्थात् अप्राप्त ब्रह्मक्षत्रादि को प्रदान करें तथा प्राप्त का रक्षण करें, क्योंकि परमेश्वर ही योगक्षेम के सम्पादक हैं। दीर्घजीवन तथा प्रजा को भी सुस्थिर करें॥३॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥४॥

'समं भूमि कृत्वाद्भिरुपसिच्य विष्णोः कर्माणीति वाचयति यूपमन्वारब्धमिति' (का.श्रौ.६।३।११) तमवटं परिपिष्टेन वर्तमानया भूम्या समं कृत्वा लौकिकाद्भिरुपसिच्य यूपकृतान्वारम्भं यजमानं विष्णोः कर्माणीति मन्त्रमध्वर्युर्वाचयेत्। यूपमन्वारभस्वेत्यध्येषणा कार्येति कर्कादयः। द्वे वैष्णव्यौ गायत्र्यौ मेघातिथिदृष्टे। हे ऋत्विजः, विष्णोः परमेश्वरस्य कर्माणि सृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादीनि, हिरण्याक्षहिरण्यकशिपु-रावणशिशुपालादिवध –भक्तानुग्रहादीनि चरितानि पश्यत चिन्तयत। यतो यैः कर्मभिर्व्रतानि भावत्कानि लौकिकवैदिककर्माणि पस्पशे बद्धवान् निर्मितवान्, 'स्पश बन्धने' सृष्ट्यादिभिर्देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारादिसत्त्व एव लौकिकवैदिककर्मणामनुष्ठानसम्भवात्। स विष्णुरिन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिनः शतक्रतोः, युज्यो योग्यः सखा स्निग्धं मित्रमस्ति। यद्वा विष्णोर्यज्ञस्य सम्बन्धीनि कर्माणि वीर्याणि पश्यत, यतो यैर्वीर्यैर्व्रतान्याधानपशुसोमादीनि कर्माणि पस्पशे बद्धवान्। अन्यत् पूर्ववत्। व्रतमिति कर्मनाम। विष्णुर्हि यज्ञानामधिष्ठात्री देवता। यद्वा विष्णोः कर्माणि वीर्याणि पश्यत यैर्वीर्यैस्तानि व्रतानि कर्माण्यग्निवायुसूर्याणां स्वानि स्वान्यप्रमत्ता एतानि कुरुतेत्येवं नियमैः पस्पशे निबद्धवान्। यश्च विष्णुरिन्द्रस्य सखा वृत्रवधादिकर्मसु सहायकः। युज्यो योगार्हः, अनुरूप इत्यर्थः।

आध्यात्मिकोऽपि पूर्वोक्त एवार्थः।

स्वामिदयानन्दस्तु–'यतो येन विज्ञानेन व्रतानि नियतसत्यभाषणादीनि पस्पशे बध्नामि, लडर्थे लिट्। हे सभ्यजनाः, यूयं यथेन्द्रस्य युज्यः सखा विष्णोः कर्माणि पश्यन्नहं यतो विज्ञानेन मनसि व्रतानि सत्यभाषणादिनियमान् पस्पशे बध्नामि, तथैवानेनैव विज्ञानेन तानि पश्यत, यतो राज्यकर्मणि सत्यानुष्ठातारो भवत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, कोऽत्र वक्तेत्यनिर्णयात्। न चेश्वरो वक्ता, तस्य द्रष्टव्यकर्मसम्बन्धित्वेनोक्तत्वात्। नापि जीवः, तस्योपदेष्टव्यसाधारण्यात्। नापि तस्य युज्यत्वं सखित्वं च विशेषः, 'सयुजा सखाया' (मु.उ.३।१) इति तस्यापि सर्वजीवसाधारण्यात्।

मन्त्रार्थ – हे ऋत्विजों, तुम लोग परमात्मा के सृष्टि-संहार आदि कार्यों को देखो । वह इन्द्र का अनुरूप मित्र है, उसने लौकिक और वैदिक कर्मों की रचना की है ॥४॥

भाष्यसार – यूप के गर्त को समतल करके उसमें जलसेचन के अनन्तर यूप का स्पर्श करते हुए यजमान से 'विष्णोः कर्माणि' इस ऋचा का पाठ अध्वर्यु कराता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।११ - १२) में उपदिष्ट है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है । मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे ऋत्विग्गण ! श्रीविष्णु परमेश्वर के सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह आदि कर्मों को; हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, शिशुपाल आदि के वधरूपी भक्तों के प्रति अनुग्रहात्मक चरितों को देखिये , जिन कर्मों के द्वारा आप लोगों के लौकिक, वैदिक कर्मों को निर्मित किया है, क्योंकि सृष्टि आदि के द्वारा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि के होने पर ही लौकिक - वैदिक कर्मों का अनुष्ठान सम्भव है । वे विष्णु ही परमैश्वर्यवान् शतक्रतु इन्द्र के प्रिय मित्र हैं । अथवा विष्णुदेव के यज्ञसम्बन्धी कर्मों को देखें, जिनसे उन्होंने आधान, पशु, सोम आदि कार्यों का निर्माण किया है । अथवा विष्णुदेव के उन कर्मों को देखिये, जिनके द्वारा अग्नि, वायु, सूर्य के अपने-अपने कार्यों में नियत रहने के नियमों से कर्मों का नियन्त्रण किया है । आध्यात्मिक अर्थ भी पूर्वोक्त की भाँति ही है ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ विसंगत है, क्योंकि यहां वक्ता कौन है, यह निर्णय नहीं किया गया । द्रष्टव्य कर्म से सम्बद्ध कहे जाने के कारण ईश्वर वक्ता नहीं हो सकता । उपदेश का पात्र होने के कारण जीव भी वक्ता नहीं हो सकता । इन्द्र शब्द का भी

अत्र शातपथी श्रुतिरुद्ध्रियते – 'अथैवमभिपद्य वाचयति विष्णोः कर्माणि.... सखेति वज्रं वा एष प्राहार्षीद्यो यूपमुदशिश्रियद्विष्णोर्विजितिं पश्यतेत्येवैतदाह यदाह विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता वैष्णवो यूपस्तꣳ सेन्द्रं करोति तस्मादाहेन्द्रस्य युज्यः सखेति' (श.३।७।१।१७)। एवं कर्मकलापं कृत्वा यूपमन्वारभ्य वाचयति। 'विष्णोः कर्माणीति वाचयति यूपमन्वारब्धमिति' (का.श्रौ.६।३।११)। मन्त्रार्थस्तूक्तः। श्रुतिर्मन्त्रतात्पर्यमाह – उदशिश्रियत यो यूपमुदशिश्रियत यूपमुच्छ्राययति वज्रं वा एष प्रहरति, उभयत्र लडर्थे लुङ्, रक्षोभ्योऽरातिभ्यः कर्माणि पश्यतेति विष्णोर्विजितिं विजयमुत्कर्षं पश्यतेत्येवार्थः। यो विष्णुरिन्द्रस्य यज्ञाभिमानिनो देवस्य युज्यः सखा सखिभूतः। अत्र विष्णुरेव इन्द्रस्य युज्यः सखा गदितः। इन्द्रपदस्यापि विष्ण्वर्थत्वेन दयानन्दरीत्या कथं सङ्गतिः स्यात्? इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता प्रोक्ता। वाय्वादिशुद्धिप्रयोजनकस्य यज्ञस्य देवता किमर्थमुपदिश्यते? त्वद्रीत्या देवानां हविर्भुक्त्वानुपपत्तेः। यूपस्य वैष्णवत्वकथनेन यज्ञे यूपस्य प्रयोगेण यूपं सेन्द्रं करोतीदमेव विष्णोरिन्द्रस्य सखित्वम्, तदेतदपि कथं तद्रीत्या सङ्गच्छते? ॥४॥

तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥५॥

'तद्विष्णोरिति चषालमीक्षमाणम्' (का.श्रौ.६।३।१२)। यूपवलयं चषालं यजमानं प्रेक्षमाणं वाचयेत्। मन्त्रार्थस्तु – सूरयो विद्वांसो वेदवेदान्तपारगा विष्णोस्तत्प्रसिद्धं परममुत्कृष्टं पदं पद्यते गम्यत इति पदं सदा पश्यन्ति। कीदृशं तत्? दिवि आकाशे निरावरणे चक्षुरिवाततं व्याप्तम्। यद्वा यद् दिवि आकाशे चक्षुरादित्यमण्डलं ततं विस्तारितम्। इवोऽनर्थकः। 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य' (वा.स.७।४२) इत्यत्र 'तच्चक्षुर्देवहितम्' (वा.स.३६।२४) इत्यत्र च चक्षुःपदेन आदित्यमण्डलस्योक्तत्वात्। 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यत्र तदित्यनेन यदित्याक्षिप्यते। यद्विज्ञानानन्दघनं ब्रह्म, तद्विष्णोः परमेश्वरस्य परमं पदं स्वरूपं सूरयो वेदान्तविदः पश्यन्ति। कीदृशं तत्? दिवीव चक्षुर्द्युलोकगतमादित्यमण्डलम् आततं विस्तारितम्। निरावरणे आकाशे आततं आसमन्तात् प्रसृतं चक्षुरिव विष्णोः पदं व्याप्तम्। यद्यपि चक्षुषो व्याप्तिः सापेक्षैव, सा हि नीरूपस्य चाक्षुषालोकस्य यथा तत्रत्यप्रकाश्यप्रकाशनाद् विज्ञायते, तथैव व्यापकस्य विष्णोर्नित्यापरिच्छिन्ननित्यज्ञानरूपस्य सर्वावभासकस्य सत्त्वं विज्ञायते। यज्ञपक्षे तु विष्णोर्यज्ञस्य तत् परमं पदं पद्यत इति पदं दिवि निरावरण आकाशे चक्षुरिव आततं प्रसृतम्। अन्यत् समानम्।

शतपथे तु – 'अथ चषालमुदीक्षते। तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततमिति वज्रं वा एष प्राहार्षीद्यो यूपमुदशिश्रियत् तां विष्णोर्विजितिं पश्यतेत्येवैतदाह यदाह तद्विष्णोः....ततमिति'

विष्णु अर्थ मानने पर उसकी संगति कैसे संभव है? वायु आदि की शुद्धि के उद्देश्य से किये जाने वाले यज्ञ के लिये देवता का उपदेश क्यों किया जा रहा है? क्योंकि उनके मत के अनुसार देवताओं का हविर्भुक् होना असिद्ध है ॥४॥

मन्त्रार्थ – वेदान्त के वेत्ता योगी सर्वव्यापक परमात्मा के उस मोक्षस्वरूप परम पद को सदा देखते हैं, जो कि निरावरण आकाश में चक्षु के समान व्याप्त है ॥५॥

भाष्यसार – 'तद् विष्णोः' इस ऋचा का पाठ अध्वर्यु यजमान से कराता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।१२) में निर्दिष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञप्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्र की अर्थ योजना इस प्रकार है – विद्वान् लोग वेदवेदान्त के ज्ञाता, विष्णु के उस प्रसिद्ध परम उत्कृष्ट स्वरूप को सदा देखते हैं, जो निरावरण आकाश में चक्षु की भांति व्याप्त है, अथवा जो आकाश में आदित्यमण्डल के रूप में विस्तीर्ण है। याज्ञिक

(श.३।७।१।१८)। 'अथ परिव्ययति। अनग्नतायै न्वेव परिव्ययति तस्मादत्रेव.... हीदं वासो भवत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यत्रेव हीदमन्नं प्रतितिष्ठति तस्मादत्रेव परिव्ययति' (श.३।७।१।१९)। तद्विष्णोरिति मन्त्रेण चषालमुदीक्षते ऊर्ध्वमुदीक्षते विष्णोर्यज्ञस्य तत्परमं पदं पद्यत इति पदं यूपस्तं सदा पश्यन्ति सूरयो विद्वांसः। कीदृशम्? दिवि निरावरण आकाश आततं प्रसृतं चक्षुरिव। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—परमपदस्य यूपस्य शत्रुवधार्थमुद्यतवज्ररूपत्वात्, तद्दर्शनेन यज्ञविघातकासुराणां पलायनात्। उच्छ्रितयूप एव विष्णोर्विजितिस्तं पश्यतेति मन्त्र आह। अनेन विवरणेनाध्यात्मपक्षोऽप्युक्तप्रायः।

दयानन्दस्तु—'सूरयः स्तोतारः। सूरीति स्तोत्रनामसु पठितम्' (निघ.३।१६) इति, तन्न, स्तोतारस्तु दर्शनमन्तरापि स्तुवन्त्येव। प्रकृते पश्यन्तीत्युक्तम्, दर्शनं तु वेदविदामेवोपपद्यते। यदपि—'दिवीति आदित्यप्रकाश इव' इति, तदपि न युक्तम्, प्रकाशरहितेऽपि चक्षुषो व्याप्तिमत्त्वाविशेषात्। यत्तु—'पदधातोः 'खनो घ च' (पा.सू.३।३।१२५) इति घप्रत्ययः। यतः खनेर्घो विधीयते, न खनेः कश्चिदवयवः कुत्वभागिति तेन घित्करणमर्थकं सद् ज्ञापयत्यन्येभ्योऽप्ययं भवतीति। तेन भर्जेर्भगः, पदेः पदम्, खलेरधिकरणे खल् इत्यादयः सिद्ध्यन्ति। तेन पदशब्दः पचाद्यजन्तः, 'चितः' (पा.सू.६।१।१६३) इत्यन्तोदात्त इति सायणः (ऋ.सं.१।२२।५)। 'पदं यजमानेन प्राप्यं स्थानमिति स्वोक्तार्थविरोधादयुक्तम्' इति, तदप्ययुक्तम्, बाहुलकाद्वा समाधानमिति 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा.सू.३।३।११३) । इति तद् भङ्क्त्वा भाष्यकार आह 'कृतो बहुलम्', अर्थात् सर्वे कृतो बाहुलकात् कर्मादौ भवन्तीति सायणोक्तस्यार्थस्य साधुत्वात् ॥५॥

परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणाम्। दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्यां लोक आरण्यस्ते पशुः ॥६॥

'परिवीयमाणायानुवाचयति त्रिगुणा त्रिव्यामा कौशी रशना तया नाभिमात्रे त्रिवृतं परिव्ययति परिवीरसीति' (का.श्रौ.६।३।१३)। यूपाय परिवीयमाणायानुब्रूहीति होतारं प्रेष्येदध्वर्युः। त्रिगुणिता व्यामत्रयप्रमाणा (प्रसारितभुजयोरन्तरालं व्यामः) कौशी रशना रज्जुः, तया रज्ज्वा मध्यभागे वासःपरिधानस्थाने यजमाननाभिसम्मिते यूपस्य प्रदेशे प्रदक्षिणं यूपं त्रिर्वेष्टयेत्। हे यूप, त्वं परिवीरसि 'व्येञ् संवरणे' इत्यस्य स्वार्थे क्विपि सम्प्रसारणे रूपम्।

पक्ष में तो विष्णु, अर्थात् यज्ञ का परम पद व्याप्त है, इस प्रकार अर्थ है।

स्वामी दयानन्द के अर्थ में 'सूरयः' का अर्थ स्तोतागण करना उचित नहीं है, क्योंकि स्तोता तो दर्शन के बिना भी स्तुति करते हैं। मन्त्र में 'पश्यन्ति' यह कहा गया है। दर्शन तो वेदवेत्ताओं को ही संभव है और 'पद' धातु से घ प्रत्यय आदि कथन भी अनुचित है, क्योंकि भाष्यकार ने कहा है कि सभी कृत् प्रत्यय बाहुलक से कर्मादि में होते हैं। अतः सायणाचार्य द्वारा प्रतिपादित अर्थ ही समीचीन है ॥५॥

मन्त्रार्थ— हे यूप, तुम चारों ओर रस्सी से और हमसे घिरे हुये हो, देवताओं की मरुद्गण आदि प्रजा अथवा पशु तुमको चारों ओर से घेरे हुए हैं। इसी तरह से मनुष्य सम्बन्धी धन इस यजमान को चारों ओर से घेरे। हे स्फ्य, तुम स्वर्ग के पुत्र हो, अर्थात् द्युलोक से वर्षा होने पर वृक्ष से यूप और यूप से स्फ्य बनता है, इस कारण स्फ्य स्वर्ग का पुत्र कहलाता है। हे यूप, तुम्हारा आश्रयस्थान यह पृथ्वी है, वन सम्बन्धी पशु भी तुम्हारे लिये ही हैं ॥६॥

भाष्यसार— यूप में लपेटने के लिये त्रिगुणित तथा तीन व्याम की कुशा की रस्सी ग्रहण की जाती है। यूप के परिव्ययण के समय 'परिवीरसि' यह मन्त्र पढ़ा जाता है। कण्डिका के अन्य मन्त्रों से यूप के खण्ड का स्थापन आदि कार्य किये जाते हैं। यह

हे यूप, त्वं परिवीरसि । परितो रशनयाऽस्माभिश्च वीतो वेष्टितो भवसि । दैवीर्विशो देवसम्बन्धिनीः प्रजा मरुद्गणादयः पशवो वा त्वां परितो व्ययन्तां वेष्टयन्तु, 'देव्यो वा एता विशो यत्पशवः' इति श्रुतेः । तद्वदिमं यजमानं मनुष्याणां सम्बन्धीनि, मनुष्याणां मध्ये वा इमं यजमानं रायो धनानि परिवेष्टयन्तु । 'यूपशकलमस्यामुपगूहत्युत्तरेणाग्निष्ठां दिवः सूनुरसीति' (का.श्रौ.६।३।१५) । अग्निष्ठामस्रिमुत्तरेण यूपे त्रिर्वेष्टितायामस्यां रशनायां यूपशकलं स्वरुमधोमुखं रशनायूपान्तराले प्रवेशयेत् । यूपनिर्माणोपक्रमे कुठाराघातेन प्रथमच्छिन्नकाष्ठशकलं स्वरुपदवाच्यं भवति । स्वरुहोमश्च भवति । अष्टास्रेर्यूपस्य याग्निसमीपस्थिता तस्या उत्तरभागे रशनायां स्वरुनामकं शकलमवसजेदित्यर्थः । हे शकल, त्वं दिवः सूनुरसि द्युलोकस्य पुत्रोऽसि । द्युलोकाद्वर्षति ततो यूपो जायते यूपात् स्वरुरिति रीत्या दिवः सूनुः स्वरुः । 'वर्षिष्ठाद् दक्षिणं वितष्टं द्वादशं निदधात्येष त इति' (का.श्रौ.८।८।२२) । यूपैकादशिनीपक्षे द्वादशं यूपं सकलमप्यतष्टम् । सायणरीत्या तु विशेषेणोपरप्रदेशे तष्टो वितष्टः । अतिशयेन महतो दक्षिणाद्यूपाद् दक्षिणं भूमौ स्थापयेत्, न निखन्यात् । अयमेव 'उपशयो यूप' इत्युच्यते, यूपानां समीपे शेत इत्युपशयः । अस्य च प्रयोजनम् – 'आरण्यं पशुमाखुं वोपशये निर्दिशेत्' (आपस्तम्बश्रौतसूत्र १४।७।१) इत्युक्तम् । तथा च हे उपशय यूप ! यूपानां दक्षिणप्रदेश, पृथिव्या ते तव लोकः स्थानम्, न भूम्यामन्तर्मिनामीत्यर्थः । ननु 'पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ति' (श.३।७।३।४) इति श्रुतेर्यूपे पशुना भवितव्यमित्यत आह – ते तव आरण्योऽरण्ये भवोऽरण्यसम्बन्धी पशुर्वने वर्तमानः पशुरस्तीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – 'यथा परितः सर्वा विद्या व्येति व्याप्नोति तथासि । परि सर्वतस्त्वां सभाध्यक्षं देवानां विदुषामिमा विशः प्रजा व्ययन्तां विशिष्टतया प्राप्नुवन्तु, जानन्तु वा । परि सर्वत इमं प्रत्यक्षं यजमानं रायो धनानि दिवः प्रकाशमयात् सूर्यात् सूनुः सूयत उत्पद्यत इति सूनुः किरणसमूह इव असि । एष ते तव पृथिव्यां लोके राष्ट्रं राज्यस्थानम् आरण्यः अरण्ये भवस्ते पशुः पश्यकश्चतुष्पात् सिंहात्' इति । सर्वमेतन्निष्प्रमाणं प्रलापमात्रम्, शाक्तेऽर्थे सम्भवति भाक्तस्यार्थस्याप्रामाणिकत्वात् । यूपः सम्बोधनीय इत्यर्थे तु श्रुतयः सूत्राणि च प्रमाणम् । सभाध्यक्षस्य सम्बोधनीयत्वे तु न किमपि बीजम् । सभाध्यक्षस्य विद्याव्यापकत्वमप्यौपचारिकमेव । अत एव व्यापकवदसीति तेनाप्युक्तम् । देवानां विदुषामिमाः प्रजा इत्यपि निर्मूलम्, प्रजानां राजसम्बन्धनियमात्, देवानां मनुष्यमित्रत्वस्य भूमिकायां साधितत्वाच्च । विदुषां सन्तानवत् प्रजास्त्वां व्याप्नुवन्त्विति हिन्दीभाष्यमपि निष्प्रमाणमेव, दृष्टान्तस्वारस्यस्यानिरूपणात् । दिवः सूनुरसि प्रकाशपुञ्जतुल्योऽसीत्यपि यत्किञ्चित्, गौणार्थकत्वे मानाभावात् । पृथिव्यां ते तव लोको राष्ट्रं राज्यस्थानमित्यपि निरर्थकम्, पृथिव्या अन्यत्र तदसम्भवेन व्यावर्त्याभावेन विशेषणवैयर्थ्यात् । लोकपदस्य राष्ट्रमर्थ इत्यपि निर्मूलम्, तथा शक्तिग्रहाभावात् । आरण्यस्ते पशुः सिंहस्ते वशेऽस्त्वित्यपि निर्मूलम्, तद्बोधकपदाभावात् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' श्रुत्या त्वध्यात्मपक्षोऽपि समर्थित एवेति ।

शतपथे तु – 'अथ परिव्ययति । अनग्नतायै न्वेव परिव्ययति तस्मादत्रेव परिव्ययतीत्यत्रेव हीदं वासो भवत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यत्रेव हीदमन्नं प्रतितिष्ठति तस्मादत्रेव परिव्ययति' (श.३।७।१।१९) । रशना – परिव्ययणं विधाय प्रशंसति – अथेति । अनग्नतायै परिव्ययति । परिव्ययणप्रदेशमभिनयेन निर्दिशति – अत्रेवेति । नाभिप्रदेशे 'नाभिदघ्ने' (तै.सं.६।३।४) । उक्तार्थे लोकस्थितिं हेतुत्वेन वक्ति – अत्रेव हीदमिति । लोके शरीरस्य मध्यदेशे । खल्विदं वसनं भवति । अन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यत्रेव हीदमन्नं प्रतितिष्ठति, रशनाया

याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।१३-१५) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अन्नसम्बन्धिविकारत्वेनान्नरूपत्वादन्नमेवास्मिन्नुपस्थापितवान् भवति । तत्रैवाशितमन्नमपि प्रतितिष्ठति, तस्मादन्नेन परिव्ययति । नात्र कश्चित् सभाध्यक्षो विवक्षितो न वा तस्य प्राप्तिरपि विवक्षिता । तस्मान्मुधैव दयानन्दीयमभ्यूहनम् । 'त्रिवृता परिव्ययति । त्रिवृद्ध्यन्नं पशवो ह्यन्नं पिता माता यज्जायते तत्तृतीयं तस्मात् त्रिवृता परिव्ययति' (श.३।७।१।२०) । रशनायास्त्रैगुण्यमाह – अन्नस्य त्रिवृत्त्वमिति, पशवो ह्यन्नम् । कथं तेषु त्रिवृत्त्वमिति तदुपपादयति – पिता माता यज्जायते तत्तृतीयमिति । दधिपयोरूपस्यान्नस्य त्रयाणामपि कारणत्वात् तेषामप्यन्नत्वोपचारः । तस्मात् त्रिवृता रशनया परिव्ययति 'परिवीरसि....रायो मनुष्याणामिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह परीमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणामिति' (श.३।७।१।२१) । परिव्ययणे मन्त्रमाह – परिवीरसीति । मन्त्रो व्याख्यात एव ।

'अथ यूपशकलमवगूहति । दिवः सूनुरसीति प्रजा हैवास्यैषा तस्माद्यदि यूपैकादशिनी स्यात् स्वꣳ स्वमेवावगूहेदविपर्यासं तस्य हैषा मुग्धानुव्रता प्रजा जायतेऽथ यो विपर्यासमवगूहति न स्वꣳ स्वं तस्य हैषा मुग्धाननुव्रता प्रजा जायते तस्मादु स्वꣳ स्वमेवागूहेदविपर्यासम्' (श.३।७।१।२२) । यूपशकलं स्वरुमवगूहेद् रशनामध्ये तस्मात् स्वरोर्यूपरूपत्वात्, एवं सर्वथाऽवगूहनीयत्वाद् यूपैकादशित्वपक्षेऽपि स्वस्वयूपानतिक्रमेणैवावगूहयेत्, यस्य यूपस्यांशो यः स्वरुः स तत्रैवावगूहनीयः । अविपर्यासं विपर्यासाया एकादशिन्याः क्रमेणाग्रहणात्, दोषाविधानेन विपर्यासं प्रशंसति –तस्य हैषा मुग्धानुव्रता प्रजा जायत इति । अनुव्रता यजमानव्यापारानुकूला प्रजा जायते । यो विपर्यासमवगूहति, अन्यदीयं स्वरुमन्यत्रावगूहति, तस्य मुग्धा अननुव्रता यजमानव्यापारप्रतिकूला प्रजा जायते । तस्मात् स्वं स्वमेवावगूहेदविपर्यासम् । 'स्वर्गस्यो हैष लोकस्य समारोहणः क्रियते । यद्यूपशकल इयꣳ रशना रशनायै यूपशकलो यूपशकलाच्चषालं चषालात् स्वर्गं लोकꣳ समश्नुते' (श.३।७।१।२३) । यूपशकलरशनाचषालानां क्रमेणोर्ध्वभावित्वात् स्वर्गारोहणसोपानत्वेन प्रशंसति – 'अथ यस्मात् स्वरुर्नाम । एतस्माद्वा एषोऽपच्छिद्यते तदस्यैतत् स्वमेवारुर्भवति तस्मात् स्वरुर्नाम' (श.३।७।१।२४) । यूपावयवत्वेन स्वरोः सर्वथावगूहनं प्रशंसितुं तन्नाम निर्वक्ति - एतस्माद्वा इति । एतस्मादेव एष यूपशकलोऽपच्छिद्यते । तद् एतत् छिन्नं द्रव्यम् अस्य यूपसम्बन्धि पुनः स्वकीयमेव अरुर् गन्ता भवति । स्वमियर्तीति स्वरुः, 'त एतं स्वरुमपश्यन् यूपशकलम्' (ऐ.ब्रा.२।१।३) इति नाम सम्पद्यते । 'तस्य यन्निखातम् तेन पितृलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं निखातादा रशनायै तेन मनुष्यलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वꣳ रशनाया आचषालात्तेन देवलोकं जयत्यथ यदूर्ध्वं चषालाद् द्व्यङ्गुलं वा त्र्यङ्गुलं वा साध्या इति देवास्तेन तेषां लोकं जयति स लोको ह वै साध्यैर्देवैर्भवति य एवमेतद्वेद' (श.३।७।१।२५) । यूपं लोकत्रयजयात्मना प्रशंसति – तस्य यन्निखातमिति । निखन्यत इति निखातो गर्तगतो भागस्तेन पितृलोकं जयति । यदूर्ध्वं निखातादा रशनायास्तेन मनुष्यलोकं जयति । चषालादुपरि यूपाग्रं हि त्र्यङ्गुलभागः, तेन साध्या इति प्रसिद्धास्तेषां साध्यानां देवानां लोकं जयति । 'तेषां लोकं जयति' (तै.सं. ६।३।४।७) । वेदितुः फलमाह – स लोको ह वै साध्यैर्देवैर्भवति य एवमेतद्वेद । 'तं वै पूर्वार्धे मिनोति । वज्रो वै यूपो वज्रो दण्डः पूर्वार्धं वै दण्डस्याभिपद्य प्रहरति पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मात्पूर्वार्धे मिनोति' (श.३।७।१।२६) । यूपस्य पूर्वार्धं भूमौ यन्मानं तद्दण्डसाम्यतः स्तौति – वज्रो वै यूपो वज्रो दण्ड इति । यज्ञस्य प्रहरणसाधनत्वाद् दीर्घत्वाच्च वज्रो दण्डो दण्डस्य पूर्वार्धम् अभिपद्य गृहीत्वा प्रहरति । यज्ञस्याप्येष यूपः पूर्वार्धः, होमात् पूर्वमनुष्ठेयत्वात् । तस्मात् पूर्वार्धे पूर्वभागे मिनोति ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे परमेश्वर, आप महदादि से, पांच कोषों से परिवेष्टित हैं । दिव्य प्रजाएं आपको परिवेष्टित करती हैं । आपके आराधक इस यजमान का सम्पूर्ण धन आवृत करे । हे उपासक जीव, तुम स्वप्रकाश ब्रह्म के पुत्ररूप हो । यह देह आदि तुम्हारा कर्मफल है । भोगभूमि पृथ्वी पर तुम उससे पृथक् चिद्रूप हो । संसाररूपी अरण्य में सब तुम्हारे ही पशु हैं ।

प्रकारान्तरेण पूर्वार्धमभिमातुं भूयो द्योतयति – 'यज्ञेन वै देवाः। इमां जितिं जिग्युर्येषामियं जितिस्ते होचुः कथं न इदं मनुष्यैरनारोह्यꣳ स्यादिति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा मधु मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ यदेनेनायोपयंस्तस्माद्यूपो नाम पुरस्ताद्वै प्रज्ञा पुरस्तान्मनोजवस्तस्मात्पूर्वार्धे मिनोति। देवैस्तिरोभावितस्य यज्ञस्य यूपस्य इतरेषामनुष्ठातॄणां प्रज्ञापकत्वात्, प्रज्ञापकस्य पुरस्ताद्भावित्वदर्शनाद् यूपोऽपि पुरस्ताद्देशे स्थाप्य इत्यर्थः । यूपस्य देवैराच्छादितयज्ञस्य प्रज्ञापालकत्वं तैत्तिरीयकेऽप्युक्तम् – 'यज्ञेन वै देवाः सुवर्गं लोकमायन् तेऽमन्यन्त मनुष्या नोऽन्वाभविष्यन्तीति ते यूपेन योपयित्वा सुवर्गं लोकमायन्। तमृषयो यूपेनैवानुप्राजानन् तद् यूपस्य यूपत्वम्' (तै.६।३।४।७) । 'स वा अष्टास्रिर्भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री पूर्वार्धो वा यज्ञस्य गायत्री पूर्वार्ध एष यज्ञस्य तस्मादष्टास्रिर्भवति' (श.३।७।१।२८) । अष्टसंख्यासाम्येन च गायत्र्या अष्टास्रियूपस्य चैक्यम् । 'तꣳह स्मैतं देवा अनुप्रहरन्ति यथेदमप्येतर्ह्येकेऽनुप्रहरन्तीति देवा अकुर्वन्निति ततो रक्षाꣳसि यज्ञमनूदपिबन्त' (श.३।७।१।२९) । 'ते देवा अध्वर्युमब्रुवन् । यूपशकलमेव जुहुधि तदा हैष स्वगाकृतो भविष्यति तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूत्पास्यन्तेऽयं वै वज्र उद्यत इति' (श.३।७।१।३०) । यूपे निगूढस्य स्वरोरुत्तरत्र प्रतिपत्तिकर्मत्वेन यूपप्रतिनिध्यात्मना होममभिधातुमाह – 'तं ह स्मेति । अप्येतर्हि इदानीमपि एके अनुष्ठातारः। इदमित्यनुप्रहरणक्रियाविशेषणम् । देवा यथा अनुप्रहरन्ति तथानुप्रहरन्तीति । इदानीमप्यनुप्रहरणमेव कुर्वन्ति । देवा अकुर्वन्निति । तेन यज्ञस्थानीयस्य यूपस्य दग्धत्वेन बाधकाभावाद् यथाकामं रक्षांसि यज्ञमुदपिबन्त । अत एव देवा अध्वर्युमब्रुवन् यूपशकलमेव जुहुधीति । तेनैव एष यूपः स्वगाकृतो भविष्यति । होमे कृतप्रतिपत्तिकोऽनुभवति, तत्प्रतिनिधिभूतस्य यूपशकलस्य स्वगाकृतत्वात् । तथा उ रक्षांसि यज्ञं नानूत्पास्यन्ते, यतोऽयं यूप उद्यतवज्र इव तेषां बाधको भविष्यति । 'सोऽध्वर्युः । यूपशकलमेवाजुहोत् तदु हैष स्वगाकृत आसीत् तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूदपिबन्तायं वै वज्र उद्यत इति' (श.३।७।१।३१) उक्तार्थमेतत् । 'तथो एवैष एतत् । यूपशकलमेव जुहोति तदु हैष स्वगाकृतो भवति तथो रक्षाꣳसि यज्ञं नानूत्पिबन्तेऽयं वै वज्र उद्यत इति स जुहोति दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मना पृण स्वाहेति' (श.३।७।१।३२) । यूपशकलहोतुरभिप्रायं वक्ति – दिवं ते धूमो गच्छत्वित्यादिना ।

अत्रैव शतपथेऽग्नीषोमीययूपप्रसङ्गाद् यूपैकादशिनीपक्षोऽप्युक्तः । 'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी । वज्रा वै यूपास्तदिमामेतत्पृथिवीमेतैर्वज्रैः स्पृणुतेऽस्यै सपत्नान्निर्भजति तस्माद्यूपैकादशिनी भवति द्वादश उपशयो भवति वितष्टस्तं दक्षिणत उपनिदधाति तद् द्वादश उपशयो भवति' (श.३।७।२।१) । एतैर्यूपैः पृथिव्यात्मिकां वेदिं स्पृणुते बलवतीं करोति । अतोऽत्यन्तदाढर्याय यूपैकादशिनी कर्तव्या । तस्मिन् पक्षे उप यूपानां समीपे शेते इत्युपशयोऽन्यो यूपः (तै.सं.६।६।४) । 'स द्वादशो भवति स च वितष्टः, विशेषेणोपरप्रदेशेऽपि तष्टः । केचित्तु वितष्ट इत्यस्य तक्षणरहित इत्यर्थं वदन्ति । तं यूपानां दक्षिणदेशे भूमौ निखातं कृत्वा तूष्णीं स्थापयेत् । 'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । ते असुरराक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तद्य एत उच्छ्रिता यथेषुरस्ता तया वै स्तृणुते वा न वा स्तृणुते यथा दण्डः प्रहृतस्तेन वै स्तृणुते वा न वा स्तृणुतेऽथ य एष द्वादश उपशयो भवति यथेषुरायतानस्ता यथोद्यतमप्रहृतमेवमेष

पशु की भाँति आपके भोगसाधन होने के कारण आपके उपकरण ही हैं । अतः अनात्मा के प्रति तादात्म्य को छोड़ कर चिदात्मक तुम ब्रह्माभिमुख होओ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ शक्तार्थ संभव होने पर अन्य वृत्ति के द्वारा उपलब्ध अर्थ के अप्रामाणिक होने के कारण असंगत ही है । सभाध्यक्ष को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण नहीं है । विद्वान् देवों की ये प्रजाएँ हैं, यह कहना भी अप्रामाणिक

वज्र उद्यतो दक्षिणतो नाष्ट्राणाॅ रक्षसामपहत्यै तस्माद् द्वादश उपशयो भवति' (श.३।७।२।२)। उपशयं रक्षोनाशकत्वेन प्रशंसति – तद्य एत इति। यथा मुक्तेषुः प्रहृतो दन्तिदण्डो वा यदा ऋजुर्गच्छति तदा लक्ष्यं विध्यति न चेन्नैवं यूपोऽपि स्थापितस्तत्पतनाशङ्काया अपगतत्वाद् रक्षसां यूपविषयं भयं नोदियादतो यूपस्य सोपशयत्वे सति यथेषुरनायता यथोद्यतमप्रहृतं यदोपशयाख्यं वज्रमुद्यच्छतीति रक्षसां भयमुत्पद्यते, तस्मादुपशयः कर्तव्यः।

'तं निदधाति। एष ते पृथिव्यां लोक आरण्यस्ते पशुरिति पशुश्च वै यूपश्च तदस्मा आरण्यमेव पशूनामनुदिशति तेनो एष पशुमान् भवति तद् द्वयं यूपैकादशिन्यै सम्मयनमाहुः श्वः सुत्यायै ह न्वेवैके सम्मिन्वन्ति प्रकुब्रतायै चैव श्वः सुत्यायै यूपं मिन्वन्तीत्यु च' (श.३।७।२।३)। निधानमन्त्रमाह – हे उपशय यूप, त्वं यूपानां दक्षिणप्रदेशः। पृथिव्यां ते तव लोकः स्थानम्, अतो भूम्यामन्तर्मिनामीत्यर्थः। तर्ह्यस्यै कः पशुरिति तं दर्शयति – आरण्यस्ते पशुरिति। अरण्ये भव आरण्यो व्याघ्रादिः, स एव ते पशुः। तथा च सूत्रम् – 'वितष्टं द्वादशं निदधात्येष त इति' (का.श्रौ.८।८।२२)। सर्वथापि लोको राष्ट्रं राज्यं पृथिव्यां सभाध्यक्षस्य भवतीति विशृङ्खलमेव व्याख्यानम्। यूपस्य सर्वथा पशुसम्बन्धोऽपेक्षित इत्याह – पशुश्च वै यूपश्चेति। एतावविनाभूतावित्यर्थः। वैशब्द इतरयूपानां पशुसम्बन्धनियमप्रसिद्धिद्योतनार्थः। तत् तस्माद् अव्यभिचाराद् आरण्यमेव पशूनामनुदिशति – तेनो एष इति। तेन उ एष यजमानः पशुमान् भवति। तद्द्वयं यूपैकादशिन्यां सम्मयनं द्वयं द्विविधमाहुर्विवदन्ते, अभिज्ञा इति शेषः। तत्रैकेषां पक्षमाह – श्वः सुत्यायै ह त्वेवैके सम्मिन्वन्तीति। श्वः परेद्युः क्रियमाणायाः सुत्यायाः पूर्वस्मिन् दिनेऽग्निष्ठप्रमुखाः सर्वान् यूपान् निखनन्ति। कीदृश्यै सुत्याया इत्याह – प्रकुब्रताया इति। कुबिति ककुप् प्रकृष्ट कुप् प्रकुप् दक्षिणा दिक्, तस्यां रता दक्षिणमार्गप्रापिकेति यावत्। तस्यै सुत्याया इत्यर्थः। अत्र खननमेव सम्मयनम्। 'तदु तथा न कुर्यात्। अग्निष्ठमेवोच्छ्रयेदिदं वै यूपमुच्छ्रित्याध्वर्युरापरिव्ययणान्नान्वर्जत्यपरिवीता वा एत एताॅ रात्रिं वसन्ति सान्वेव परिचक्षा पशवे वै यूपमुच्छ्रयन्ति प्रातर्वै पशूनालभन्ते तस्मादु प्रातरेवोच्छ्रयेत्' (श.३।७।२।४)। तं पक्षं निराकरोति – तदु तथा न कुर्यादिति। तस्मिन् कालेऽग्निष्ठमेकमेव उत्तरवेदेः पुरो-देशस्थमेवाग्नीषोमीयपश्वर्थमुच्छ्रयेत्। अन्येषामपि पूर्वेद्युरुच्छ्रयणे दोषमाह – अग्निष्ठमेवेति। इदं वै वक्ष्यमाणं भवति। यूपमुच्छ्रित्याध्वर्युरा परिव्ययणाद् रशनापरिव्ययणपर्यन्तं नान्वर्जति नैव हस्तस्य स्पर्शं परित्यजेत्। अतोऽग्निव्यतिरिक्तानां परिव्ययणस्य प्रातः परेद्युः पशूपकरणकाले कर्तव्यत्वात् कृत्स्नां रात्रिम् अपरिवीता नग्ना वसन्ति यूपाः। सा न्वेव सैव उक्तलक्षणैव परिचक्षा पूर्वेद्युरुच्छ्रयणस्य निन्दा भवति। स्वपक्षे युक्तिमाह – पशवे वै यूपमुच्छ्रयन्तीति। तस्मात् प्रातरेव परेद्युरेव उच्छ्रयणं कुर्यात्। ततः क्रमेण यूपोच्छ्रयणम्। ततो यूपस्य पशोश्चाविनाभावो दर्शितः। ततः पशूपाकरणं ततोऽग्निमन्थनं ततो यूपे पशुनियोजनम्।

अध्यात्मपक्षे तु – हे परमेश्वर, त्वं परिवीरसि महदादिभिः पञ्चकोषैश्च परिवेष्टितोऽसि। दैवीर्विशो दिव्याः प्रजास्त्वां परिव्ययन्तां परिवेष्टयन्ति। लकारव्यत्ययः। इमं त्वदुपासकं मनुष्याणां रायः सर्वाणि धनानीमं यजमानं त्वदीयमाराधकं परिव्ययन्ताम्। हे उपासक जीव, त्वं दिवः स्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः सूनुः पुत्रोऽसि, 'अमृतस्य पुत्राः' इति मन्त्रवर्णात्। एष देहादिस्ते लोकः कर्मफलम्, पृथिव्यां भोगभूमौ त्वं तु ततो विलक्षणश्चिद्रूपोऽसि। आरण्यः संसारारण्ये सर्वोऽपि प्रपञ्चस्ते पशुः। पशुवत् त्वदीयभोगसाधनत्वात् त्वदुपकरणभूत एव। तस्मादनात्मतादात्म्यमपहाय चिदात्मकस्त्वं दिवः सूनुत्वात् तदभिमुखो भवेत्यभिप्रायः ॥६॥

है, क्योंकि प्रजाओं का सम्बन्ध राजा से नियत है। लोक शब्द का 'राष्ट्र' अर्थ भी निर्मूल है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से अध्यात्मपक्ष तो समर्थित ही है ॥६॥

उपावीरस्युप देवान् दैवीर्विशोपागुरुशिजो वह्नितमान् । देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥७॥

'उपावीरसीति तृणमादाय तेन पशुमुपस्पृशत्युपदेवानिति' (का.श्रौ.६।३।१७) । स्तृतबर्हिषोऽन्यद् दर्भतृणमादाय तेन तृणेन पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखमवस्थितं पशुमुपस्पृशेत् । हे तृणविशेष, त्वमुपावीरसि उप समीपमवतीत्युपावीः, उप समीपेऽवस्थितः सन्नवतीति वा, पशोर्द्वितीयः सखा त्वमसीत्यर्थः । तेन गृहीतेन तृणेन पशुं प्रत्यञ्चं स्थितं स्पृशति उपदेवानिति मन्त्रेण । उपदेवानग्नीषोमादीन् प्रति दैवीर्विशो देवसम्बन्धिन्यः प्रजाः पशवः, प्रथमार्थे द्वितीया, उपागुर् उपगच्छन्तु, 'दैव्यो एता विशो यत्पशवः' इति श्रुतेः । 'इण् गतौ' इत्यस्मात् 'छन्दसि लुङ्लिङ्लिटः' (पा.सू.३।४।६) इति कालसामान्ये लुङ्, 'इणो गा लुङि' (पा.सू.२।४।४५) इति गादेशः । कीदृशान् देवान् ? उशिजो मेधाविनः, हवींषि कामयमानान् वा । वह्नितमान् वहन्तीति वह्नयः, अतिशयेन वह्नय इति वह्नितमास्तान् यजमानं स्वर्गं प्रति वहतां देवानां मध्ये श्रेष्ठतमान् । वहन्ति हि ते देवा यजमानं स्वर्गं प्रति कर्मस्वङ्गभावमुपगच्छन्तः । सायणाचार्यरीत्या तु वह्नितमान् यजमानं प्रति स्वर्गं वहतां प्रापयतां देवानां मध्ये श्रेष्ठतमान् तानुशिजो हवींषि कामयमानान् अग्नीषोमादीन् देवान् दैवीर्विशस्तत्सम्बन्धिनीः प्रजाश्च हे पशो, त्वदीयानि हृदयाद्यङ्गानि, उपागुर् उपागच्छन्तु । एवं स्वपशून् प्रार्थ्य त्वष्टारमाह – हे त्वष्टृनामकदेव, वसु पशुलक्षणं धनं रम रमयस्व । 'छन्दस्युभयथा' (पा.सू.३।४।११७) इति शपोऽप्यार्धधातुकसंज्ञत्वात् णिचो लोपः । हे पशो, त्वदीयानि हव्यानि हवींषि स्वदन्तां स्वादूनि भवन्तु । 'स्वद स्वाद आस्वादने' । यद्वा हवींषि स्वदन्ताम् आस्वादयन्तु, देवा इति शेषः । अत्रापि णिचो लोपः ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे परमेश्वर, त्वमुपावीरसि समीपेऽवस्थितः सन् सर्वान् जीवान् विशेषत उपासकान् अवसि । त्वमेव द्वितीयः सखासि । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु.उ.३।१) इति श्रुतेः । दैवीर्विशो दिव्याः प्रजा देवानुपप्रागुर् अग्नीषोमादीन् देवानुपाश्रयन्ते । कीदृशो देवान् ? उशिजो मेधाविनो हवींषि कामयमानान् वा, हे त्वष्टर्देव हे सर्वप्रपञ्चनिर्माणकुशल शिल्पिन्, त्वं वसुस्वरूपभूतं धनं नियोजय, स्वभक्तेभ्य इति शेषः । 'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः । भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥'(भ.गी.९।२५) इति गीतावचनात् । हे उपासक, ते तव त्वदीयानि हव्यानि हवींषि त्वदनुग्रहाय स्वदन्ताम् आस्वादयन्तु, त्वदीया इष्टदेवता इति शेषः । 'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते । यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥' (भा.पु.७।९।११) इति श्रीमद्भागवतवचनात् ।

मन्त्रार्थ– हे सुषुम्ना के अधिष्ठात्री देव, तुम प्राण वायु के निकट रह कर उसके रक्षक सखा हो । योगसाधना करने वाले के प्राण योगयुक्तों को चाहने वाले श्रेष्ठ अग्नि के समान प्रकाश स्वरूप नरनारायण को प्राप्त हों । हे दिव्यस्वरूप भगवन् योगी के आत्मप्रतिबिम्ब में या प्राणरूप धन में रमण कीजिये । हे भूतात्मन्,यह प्राणरूप हवि आपको रुचिकर हो ॥७॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।१७) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'उपवीरसि' इस ऋचा से कुशा के तृण से पशु का स्पर्श किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में तथा सायणादि द्वारा रचित भाष्यों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – हे परमेश्वर, आप समीप में रहते हैं तथा समस्त जीवों की, विशेषतः उपासकों

दयानन्दस्तु – 'हे देव त्वष्टः सभापते, यतस्त्वम् उपावीर् उपागतपालक इवासि उपदेवान् विदुषो दैवीर्देवसम्बन्धिनीर्दिव्या विशः प्रजाः प्रागुर् उशिजः कमनीयान् वह्नितमान् अतिशयितान् वोढॄन्, देव दिव्यगुणसम्पन्न त्वष्टः सर्वदुःखच्छिद् वसु वसूनि धनानि रम रमस्व । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । हव्या होतुमर्हाणि हव्यानि वसूनि ते तव स्वदन्तां भुञ्जताम्' इति, हिन्दीभाष्ये तु – 'हे दिव्यगुणसम्पन्न सर्वदुःखच्छित् सभाध्यक्ष, यस्मात्त्वं शरणागतपालकसदृशोऽसि, अतो दैवीर्विद्वत्सम्बन्धिन्यो दिव्याः प्रजा यथा उशिजः श्रेष्ठगुणशोभितान् कामनायोग्यान् अतिशयेन धर्ममार्गे गच्छतो गमयितॄंश्च विदुषो उपप्रागुस्तथैव त्वामपि प्राप्नुवन्तु । यथा त्वदाश्रयेण प्रजा धनाढ्या भूत्वा सुखिन्यो भवन्ति, तथैव त्वमपि प्रजाजनैः सत्कृतो रम । यथा त्वं प्रजायाः पदार्थान् स्वदसे, तथैव प्रजा अपि त्वदीयानि हव्यानि अमूल्यानि वसूनि स्वदन्ताम्' इति, भावार्थे तु – 'यथा गुणग्राहिण उत्तमगुणं विद्वांसं सेवन्ते, तथा न्यायविचक्षणं राजानं प्रजाः सेवन्ते, येन मिथः प्रीत्या परस्परोन्नतिर्भवति' इति, तदेतत् त्रिधापि व्याख्यानं सर्वथा स्वाभ्यूहितत्वात् श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वाद् मन्त्रविरुद्धत्वात् परस्परमसम्बन्धाच्च हेयमेव । कथं तावत् 'देव त्वष्ट' इतिपदेन सभापतिपदार्थोपलब्धिः ? किं त्वष्टृपदं दुःखच्छेतृषु क्वचिदपि प्रयुक्तमार्षग्रन्थेषु ? पूर्वमीमांसायां तु लोकवेदाधिकरणे स्पष्टमिदं निर्णीतं यद् य एव लौकिकाः शब्दास्तदर्थाश्च त एव वेदेष्वपि ग्राह्या इति । अन्यथा शक्तिग्रहोऽपि पृथगपेक्षितः स्यात् । दिव्याः प्रजाः का भवन्ति ? त्वद्रीत्या देवोऽपि न मनुष्यातिरिक्तः सम्भवति, विदुषां मनुष्याणामेव त्वया देवत्वोपगमात् । तत्प्रजासु दिव्यत्वमपि दुर्निरूपमेव। विशां राज्ञां सम्बन्धो भवति विद्वांसस्तु प्रजाजना अपि भवन्त्येव ।' शरणागतपालकतुल्यस्तद्भिन्न एव भवति । तथात्वे च स शरणागतपालको न भवतीत्येवायातम् । मूलमन्त्रे कश्चिदपि यथातथाशब्दो न दृश्यते । तस्माद्यथा दिव्याः प्रजा उशिजः प्राप्नुवन्ति, तथैव त्वामपि प्राप्नुवन्तु; यथा त्वदाश्रयेण धनाढ्या भूत्वा प्रजाः सुखिन्यो भवन्ति, तथा त्वमपि प्रजाजनैः सत्कृतो भूत्वा; यथा त्वं प्रजा भुङ्क्षे, तथा त्वदीयानि रत्नानि प्रजाः स्वदन्तु' इत्यादिकमपि निर्मूलमेव ।

शतपथे तु – 'अथ तृणमादायोपाकरोति – द्वितीयवान्निरुणधा इति द्वितीयवान् हि वीर्यवान् भवति' (श.३।७।३।८) । 'स तृणमादत्ते उपावीरसीत्युप हि द्वितीयोऽवति तस्मादाहोपावीरसीत्युप देवान् दैवीर्विशः प्रागुरिति दैव्यो वा एता विशो यत्पशवोऽस्थिषत देवेभ्य इत्येवैतदाह यदाहोप देवान् दैवीर्विशः प्रागुरिति' (श.३।७।३।९) । क्रममुक्त्वा सार्थवादमुपाकरणं विधत्ते – स तृणमुपादत्त इति । तृणादानस्य प्रयोजनमाह – द्वितीयवान् भवतीति । निरुणधै पशोर्निरोधं करवाणीति । तावता किमायातमित्यत आह – द्वितीयवान् हि वीर्यवान् भवतीति । असहायस्य व्यापाराक्षमत्वं लोकसिद्धम् । स तृणमादत्त इति तदङ्गभूतं सव्याख्यानं मन्त्रेणाह श्रुतिः – उपावीरसीति । समीपे स्थित्वा रक्षकोऽसि द्वितीय एकः कार्यकरोऽसीति । 'अवितॄस्तृ' (उ.३।४३८) इतीप्रत्ययः । दैवीर्विशः पशुलक्षणा देवसम्बन्धिन्यः प्रजा देवान् उपप्रागुः प्राप्ता देवतार्थमुपस्थिताः । 'उशिजो वह्नितमानिति । विद्वाꣳसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति' (श.३।७।३।१०) । उशिजो मेधाविनामैतत् ।

की रक्षा करते हैं । आप ही सखा हैं । दिव्य प्रजाएँ मेधावी अथवा हविष्कामी अग्नीषोम आदि देवताओं का आश्रय ग्रहण करती हैं । हे सर्वप्रपञ्च के शिल्पी त्वष्टा, आप अपने भक्तों के लिये वसुस्वरूप धन को नियुक्त करें । हे उपासकों, तुम्हारे इष्टदेव तुम लोगों के द्वारा प्रदत्त हविर्द्रव्यों को तुम्हारे प्रति अनुग्रह के लिये आस्वादित करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित संस्कृत एवं हिन्दी अर्थ तथा भावार्थ तीनों ही सर्वथा स्वकल्पित होने के कारण, श्रुति-सूत्रों से विरुद्ध होने के कारण, मन्त्र से विरोध के कारण तथा परस्पर भी असम्बद्ध होने के कारण अग्राह्य है । 'देव त्वष्टः' इस पद से 'सभापति' यह अर्थ कैसे प्राप्त होता है । प्राचीन ग्रन्थों में क्या कहीं भी 'त्वष्टा' पद दुःखविनाशक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ?

'वह्नितमान् वोढृतमान् । ''देव त्वष्टर्वसु रमेति । त्वष्टा वै पशूनामीष्टे पशवो वसु तानेतद् देवा अतिष्ठमानांस्त्वष्टारमब्रुवन्नुपनिमदेति यदाह देव त्वष्टर्वसु रमेति' (श.३।७।३।११) । मन्त्रं व्याचष्टे–उप हि द्वितीय इत्यादिना । लोक एकः कर्म कर्तुमशक्त इति द्वितीयः साहाय्यकरणेन तमवतीति प्रसिद्धम् । यथा विशः स्वामिनमुपकुर्वन्ति, एवं पशवो हविषा देवान् पुष्णन्तीति तेषां प्रजारूपत्वोपचारः । अस्थिषत देवेभ्य इतीति, तेषामर्थायात्मानं प्रकाशितवन्त इत्यर्थः । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (पा.सू.१।३।२३) इत्यात्मनेपदम् । उशिकृशब्दार्थमाह– विद्वांसो हि देवा इति । त्वष्टुः प्रार्थनायाः कारणमाह–त्वष्टा वै पशूनामीष्ट इति । अतिष्ठमानान् पशून् प्रति त्वष्टारं देवा उपनिमद इति यदब्रुवन् एतदेवाह– उपनिमद अस्मत्समीपे नितरां मादयेति तदर्थः । अथवा यदध्वर्युणा देव त्वष्टुरित्यभिधानम्, तत् पुरा यद् देवैरुक्तलक्षणं त्वष्टृप्रार्थनमुक्तं तत्स्थानीयम् । हव्या ते स्वदन्ताम् । यद्यप्युपाकरणकाले हविषामनिष्पत्तेः स्वदनं नोपपद्यते, तथापि पलायनमकृत्वा यदावृता अभवन् तदेव हविर्भविष्यतीत्यर्थः । त्वष्टर्देव पशुस्वामिन् वसु वस्वाख्यं धनं रम रमय, नियोजयेत्यर्थः । 'हव्या ते स्वदन्तामिति (श.३।७।३।१२) । यदा वा एव एतस्मा अध्रियन्त यद्धविरभविष्यंस्तस्मादाह हव्या ते स्वदन्तामिति । यदा एते पशव एतस्मै देवाय अध्रियन्त तदा यदेते हविर्भूता भविष्यन्ति तदाह पशोर्हव्या हवींषि तदङ्गानि हृदयादीनि स्वदन्ताम् । एतद्ब्राह्मणवचनैः सायणादिसम्मतमेव व्याख्यानं समर्थ्यते । दैवीर्विश इत्यस्य स्पष्टमेव पशवो देवसम्बन्धिन्यो विश उक्ताः । त्वष्टा देवविशेषः । स खलु विशेषतः पशूनामीष्ट इति ब्राह्मणवचनसिद्धम् । तस्माद् दुःखच्छित्त्वेन सभाध्यक्ष एव त्वष्टेत्यपास्तमेव ।।७।।

रेव॑ती॒ रम॑ध्वं॒ बृह॑स्पते धा॒रया॒ वसू॑नि । ऋ॒तस्य॑ त्वा देवहविः॒ पाशे॑न॒ प्रति॑मुञ्चामि॒ धर्षा॒ मानु॑षः ॥८॥

रेवती लिङ्गव्यत्ययेन हे रेवन्तः, क्षीरादिलक्षणधनवन्तः पशवः, रमध्वं यूयं क्रीडध्वम्, यजमानगृह इति शेषः । हे बृहस्पते, बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पते तदधिष्ठातृदैवत ब्रह्मन्, वसूनि पशुलक्षणानि धनानि धारय निश्चलीकुरु । 'धारया' इति 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा.सू.६।३।१३६) इति दीर्घः । 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु' (श.३।७।३।१३) इति श्रुतिः। 'द्विगुणरशनया द्विव्यामया कौश्या पाशं कृत्वा अन्तरा शृङ्गमभिदक्षिणं बध्नाति ऋतस्य त्वेति' (का.श्रौ.६।३।२४) । अवयवद्वयोपेतया व्यामद्वयपरिमितया कुशदर्भनिर्मितरशनया दक्षिणं पादं बध्नीयात् । शृङ्गद्वयमध्ये ता रशनामानीय बन्धकारणरशनाग्रवर्तिनं नागपाशं कृत्वा तेनाभिदक्षिणं

पूर्वमीमांसा के लोकबेदाधिकरण में यह स्पष्ट निर्णय है कि जो लौकिक शब्द एवं उनके अर्थ हैं, वेद में भी वही ग्रहण किये जाते हैं । दिव्य प्रजाएँ क्या हैं ? उनके मत में मनुष्य से अतिरिक्त देवता भी नहीं होते । अतः प्रजाओं में दिव्यत्व भी निरूपित करना कठिन है । मूल मन्त्र में 'यथा, तथा' शब्दों का कहीं भी प्रयोग न होने के कारण इस प्रकार व्याख्या करना अप्रामाणिक है ।।७।।

मन्त्रार्थ– दूध आदि धन वाली गायों के समान, शम-दम आदि धन से युक्त इन्द्रियरूप पशु आत्मस्वरूप यजमान के शरीर में क्रीड़ा करें । हे परमात्मन्, प्राण और इन्द्रियों को योगलक्ष्मी के द्वारा पुष्ट करो । हे भूतात्मन्, योगयज्ञ के पाश से मैं तुमको बाँधता हूँ और कर्मबन्धन के पाश से योगयज्ञ के द्वारा मुक्त करता हूँ । विष्णुरूप प्राणाभिमानी देवता तुमको शान्ति प्रदान करें ।।८।।

भाष्यसार – 'रेवती रमध्वम्' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों से कुशा की रस्सी के द्वारा पशु के दाहिने पैर को बांधा जाता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।२४) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

दक्षिणशृङ्गमभिमुखं पाशं प्रतिमुच्य बध्नीयादिति तदर्थः । हे देवहविः, देवानां हवीरूपपशो ! ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य अवश्यंभाविफलोपेतत्वाद् यज्ञस्य सत्यत्वात् तादृशस्य यज्ञस्य सिद्ध्यर्थं त्वां पाशेन प्रतिमुञ्चामि बध्नामि, प्रतिपूर्वस्य मुञ्चतेर्बध्नार्थत्वात् । धर्षा मानुषो धर्षेति विकरणव्यत्ययश्छान्दसः । प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषः । धृष्णोतु शक्नोतु शमयितुं मानुषः । यद्वा यस्मादृतस्य यज्ञस्य त्वां हे देवहविः, पाशेन प्रतिमुञ्चामि तस्माद् धृष्णोतु त्वां मानुषः । पाशेन बद्धत्वादेव धर्षा । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा.सू.६।३।१३५) इति धर्षेत्यत्र दीर्घः ।

अध्यात्मपक्षे तु – रेवन्तो दैवीसम्पत्तिमन्तः साधका ब्रह्मात्मतत्त्वे रमध्वं क्रीडध्वम् । हे बृहस्पते, बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पते पालक परमेश्वर, साधकानां वसूनि धनानि शमदमादीनि दिव्यसम्पल्लक्षणानि धनानि धारया धारय निश्चलानि कुरु । हे देवहविः, देवस्य परमात्मनो हविरन्नं भोग्यमिति देवहविः । उपासको हि भगवन्तं भोक्तारं मत्वा स्वात्मानं हविष्ट्वेन भोग्यत्वेन तदुपकरणत्वेनोपस्थापयति, यथा शेषः स्वात्मानमेव भगवतः शय्यासिंहासनछत्रपादुकादिरूपेणोपकल्पयतिः, तथा भक्ता अपि स्वात्मानं भगवद्भोग्यत्वेनोपकल्पयन्ति । ऋतस्य सत्यस्य पाशेन त्वा प्रतिबध्नामि । एवं वेदेन गुरुणा वा ऋतस्य सत्यस्य पाशेन बद्धो नियन्त्रितः सन् मानुषो धर्षा भगवन्तं वशीकर्तुं प्रगल्भो भवतीत्यर्थः । अन्यो न कोऽपि तं वशीकर्तुं शक्नोति ।

दयानन्दस्तु – 'रायो धनानि यासु विद्यन्ते ताः प्रजा रमध्वं क्रीडध्वम्, बृहत्या वेदवाचः पते परमविद्वन् धारय । ऋतस्य सत्यन्यायाख्यस्य यज्ञस्य त्वा त्वां देवहविः, यथा देवानां हविरादातुं चरित्रमस्ति, तथा पाशेन बन्धनेन प्रतिमुञ्चामि । धर्षा धृष्णुहि । मानुषः सर्वशास्त्रमननशीलः' इति । हिन्दीव्याख्यानरीत्या तु – 'हे प्रजाजनाः, यूयं विद्यादिशिक्षासु रमध्वम्, हे विद्वन् ! ऋतस्य सत्यन्यायव्यवहारप्राप्तस्य धनस्य अस्मदर्थं धारय स्वीकुरु' इति । उत्तरत्र – 'अध्यापकः शिष्यायोपदिशति – हे राजन्, प्रजापुरुषा वा अहं मानुषः सर्वशास्त्रविचारकः पाशेन अविद्याबन्धनाद् यथा देवानां विदुषां हविर्ग्राह्यचरित्रं तुभ्यं प्राप्नोतु, तथा त्वां प्रतिमुञ्चामि मोचयामि त्वं विद्यायां शिक्षायां धर्ष प्रगल्भो भव' इति, तदेतत् सर्वमनाकलितपौर्वापर्यस्य तस्य धाष्टर्यमेव, निर्मूलत्वात् । सिद्धान्ते तु 'रेवन्तो हि पशवः' (श.३।७।३।१३) इति श्रुतिबलेन रेवन्त इत्यस्य पशव एवार्थः । 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः, पशवो वसुः' (श.३।७।३।१३) इति श्रुत्यनुसारेण शब्दार्था निश्चिताः । सूत्राणि च तत्रानुगुणानि । विद्यायां रमध्वमित्याक्षेपोऽपि निराधारः । देवानां हविरादातुं चरित्रमित्यपि निर्मूलमेव । पाशेनेत्यस्याविद्याबन्धनादिति च कथमर्थः ? तृतीयायाः पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामे किं मूलम् ? पाशेन प्रतिबध्नामीति यथाश्रुतार्थे किं बाधकम् ? णिजर्थः कुतो लब्धः ? अध्यापकस्य शिष्यायोपदेश इत्यत्रापि किं मूलम् ? सिद्धान्तव्याख्याने तु श्रुतयः सूत्राणि च मूलमिति स्फुटमेव ।

शतपथे हि – 'रेवती रमध्वमिति । रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमध्वमिति बृहस्पते धारया वसूनीति ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु तानेतद् देवा अतिष्ठमानान् ब्रह्मणैव परस्तात्....परिदधाति तन्नातियन्ति तस्मादाह

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे दैवी सम्पत्ति से युक्त साधकगण, आप लोग ब्रह्मात्मतत्त्व में रमण कीजिये । हे वेदवाणी के पालक परमेश्वर, साधकों के शम, दम आदि दिव्यलक्षणसम्पन्न धनों को निश्चल करें । हे परमात्मा के भोग्य उपासकों, सत्य के पाश से तुमको प्रतिबद्ध करता हूँ । इस प्रकार वेद से अथवा गुरु से सत्य के पाश द्वारा नियन्त्रित होकर भगवान् को वश में करने के लिये समर्थ होता है । दूसरा कोई उसको वश में नहीं कर सकता ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ पौर्वापर्य की संगति से रहित है । 'विद्या में रमण करें' इसमें अध्याहार करना भी निर्मूल

बृहस्पते धारया वसूनीति पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चत्यथातो नियोजनस्यैव' (श.३।७।३।१३)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। अतिष्ठमानान् पशून् ब्रह्मणैव परस्तात् परे देशे पर्यदधुः परितोऽधारयन्। तत् तेन अत्यापनमतिक्रमणं न कृतवन्तः। एनान् एतद् ब्रह्मणैव परिदधाति तन्नातियन्ति। अथातो नियोजनस्यैव, विधानमभिधीयत इति शेषः। 'पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चति। ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामीति वरुण्या वा एषा यद्रज्जुस्तदेनमेतदृतस्यैव पाशेन प्रतिमुञ्चति तथो हैनमेषा वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति' (श.३।७।४।१)। समन्त्रकं सम्बन्धनमाह— पाशं कृत्वा प्रतिमुञ्चतीति। पाशाग्रग्रन्थ्याः सुषिरं कृत्वा तस्मिन्नितरमग्रं बहिः प्रसार्य बहिर्गतं पाशमाकृष्य यथा शिरो न गलति तथा कृत्वा बध्नीयादिति सायणः। ऋतस्य त्वेति। हे देवहविः पशो, त्वाम् ऋतस्य पाशेन प्रतिमुञ्चामि बध्नामि। कृतव्याख्यान एव मन्त्रः। बन्धनकर्मणो वरुणाभिमानिकत्वाद् वरुण्या वा एषा यद्रज्जुः, बन्धनसाधनभूताया वरुणसम्बन्धिरज्जोस्तत्त्वम्, तदपि परिहाय मन्त्रेण बन्धे सति ऋतपाशेन बन्धो भवति।'धर्षा मानुष इति। न वा एतमग्रे मनुष्योऽधृष्णोत् स यदैवर्तस्य पाशेनैतद्देवहविः प्रतिमुञ्चत्यथैनं मनुष्यो धृष्णोति तस्मादाह धर्षा मानुष इति' (श.३।७।४।२)। मन्त्रभागस्य तात्पर्यमाह— न वा एतमग्रे मनुष्योऽधृष्णादिति। यस्मात् पशुधर्षणसामर्थ्यं मनुष्यस्य देवकृतपाशविमोकायत्तम्, अतो मन्त्रो धर्षा मानुष इति ब्रूते ॥८॥

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥९॥

'अथ नियुनक्ति....स प्रोक्षति.... अनु त्वा माता' (श.३।७।४।३-५)। 'देवस्य त्वेति यूपे' (का.श्रौ.६।३।२५)। रज्जुबद्धं पशुं यूपे बध्नीयादित्यर्थः। 'अद्भ्यस्त्वेति पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्षति' (का.श्रौ.६।३।२७)। प्रोक्षणीशब्दो यौगिकोऽपि संस्कृतप्रोक्षणीविषयः, प्रोक्षणोपादानसामर्थ्यात्। पूर्वोक्तश्रुतिप्रामाण्येन मन्त्रस्यायमर्थः— हे पशो, देवस्य सवितुः प्रसवे प्रेरणे त्वा त्वामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् अग्नीषोमाभ्यां सम्मिलितदेवताभ्यां जुष्टमभिरुचितं त्वां पशुं नियुनज्मि बध्नामि। हे पशो, त्वामद्भिरोषधीभिश्च प्रोक्षामि मेध्यं करोमि। दर्भैरपामुत्पूतत्वादस्त्योषधीनामपि प्रोक्षणसाधनत्वम्। स्वमातृस्वीकृताभ्यां तृणोदकाभ्यां पशोरुत्पन्नत्वात् तेनोभयेन युक्तमिति। 'अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षामीत्याहाद्भ्यो ह्येष ओषधीभ्यः सम्भवति यत्पशुरिति' इति तैत्तिरिश्रुतेः।

है। 'पाशेन' इसका अर्थ 'अविद्या के बन्धन से' इस प्रकार कैसे हो सकता है ? 'यह अध्यापक का शिष्य के लिये उपदेश है' इस प्रकार कहने में क्या प्रमाण है ? हमारे सिद्धान्त पक्ष के व्याख्यान में तो श्रुतिवाक्य तथा सूत्र प्रमाण हैं, यह स्पष्ट ही है ॥८॥

मन्त्रार्थ— हे भूतात्मन्, आत्मविचार की प्रेरणा देनेवाले गुरु की प्रेरणा से मैं प्रकृति-पुरुष के प्रिय तुमको मन- (हृदय) की ग्रहण करने की शक्ति रूप बाहुओं से और मानस सूर्य के शक्तिरूप हाथों से निश्चल करता हूँ। हे भूतात्मन्, प्रकृति-पुरुष के प्रिय तुमको ज्योतिरस रूप जल और जन्म रूप रोग का नाश करने वाली ज्ञान-स्वरूप औषधियों से प्रोक्षित करता हूँ। प्रोक्षित हुए तुमको प्रकृति और पुरुष आज्ञा दें, सहोदर भ्राता के समान जीवात्मा अनुमति दें, समान यूथ वाले मित्र भी आज्ञा दें ॥९॥

भाष्यसार— 'देवस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा पशु का यूप में नियोजन तथा प्रोक्षणी जलों से पशु का प्रोक्षण आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।२५-२७) में उल्लिखित है।

हे पशो, एवं प्रोक्ष्यमाणं त्वां माता भूमिरनुमन्यताम्, तथा पिता द्यौरनुमन्यताम् । एवमुत्तरत्राप्यनुमन्यतामिति प्रत्येकं सम्बद्ध्यते । भ्राता समानजन्मा सगर्भ्यः समाने गर्भे उदरे भवः सगर्भ्यः सोदरः, सहैव ख्यायत इति सखा सुहृत्, समानयूथे भवः सयूथ्यः, अग्नीषोमाभ्यामेवं त्वां जुष्टमभिरुचितं प्रोक्षामि, 'इदꣳहि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्ते (श.३।७।४।४) इति श्रुतेः । 'तद्यथैवादौ देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशत्येवमेवैतद्देवताभ्योऽप्यादिशति....प्रोक्षणस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति' (श.३।७।४।३) । यथैवामुष्मिन् दर्शपूर्णमासयागे हविर्निवापे देवतादेशनम्, तथैवात्राप्यग्नीषोमाभ्यां देवताभ्यामेव हविरादिशति । प्रोक्षणस्य प्रयोजनमप्याह – मेध्यमेवैतद्धविः करोतीति । 'अद्भ्यस्त्वौषधीभ्य इति तद्यत एव सम्भवति, तत एवैतन्मेध्यं करोतीदꣳहि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्ते.....' (श.३।७।४।४) । अद्भ्य ओषधीभ्यश्च संभूतं त्वां प्रोक्षामि । यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्ते । ओषधीनां भक्षणादपां पानाच्च रसो जायते, तस्माद्रेतो जायते, तदैव पित्रोः शुक्रशोणिताभ्यां पशवो जायन्ते । तस्मादोषधीभ्योऽद्भ्यश्च सम्भूतमद्भिरोषधीभिश्च प्रोक्षति । संज्ञपनार्थं प्रोक्ष्यमाणं त्वां मात्रादिरनुमन्यतामिति । 'तद्यत एव जायते तत एवैतन्मेध्यं करोति....स यत्ते जन्म तेन त्वानुमतमारभे' (श.३।७।४।५) । मन्त्रस्य परमं प्रयोजनमाह – तद् यत इति । आपश्चौषधयश्चोपादानकारणम्, मातापितरावाश्रयत्वेन निमित्तकारणत्वम् । अतस्तत्सकाशाद् मेध्यं करोति । सगर्भ्यादीनामपि जन्मसम्बन्धसम्भवात् तेन सम्बन्धिना सगर्भ्यादिना अनुमन्यत इत्युक्तं भवति ॥९॥

अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः ।
सं ते प्राणो वातेन गच्छताꣳ समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा ॥१०॥

'अथोपगृह्णाति । अपां पेरुरसीति' (श.३।७।४।६), 'उ प्रोक्षत्यापो देवीः' (श.३।७।४।६), 'अपां पेरुरित्यास्य उपगृह्णाति' (का.श्रौ.६।३।२८) । पशोरास्ये मुखे प्रोक्षणीरपः प्रक्षिपेत्, अर्थात् तृडभावेऽपि पाययेत् । मुखस्याधस्तात् संलग्ना एव प्रोक्षणीर्धारयेत् । 'आपो देवीरित्यधस्तादुपोक्षति' (२९) । पशोरुदरप्रदेशे प्रोक्षेत । हे पशो, त्वमपां पेरुरसि उदकस्य पानशीलोऽसि । हे पशो, त्वाम् आपो देवीर् अब्रूपा देव्यः स्वदन्तु आस्वादयन्तु । स्वात्तं स्वकीयतया प्राप्तं चिद् अतिस्वादु सद् आपो देव्यः स्वदन्तु स्वादयन्तु । देवहविर्देवानामेव योग्यं हविर्भूयात् ।

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे पशु, सविता देवता की प्रेरणा में, अश्विनीकुमार देवताओं की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से, अग्नीषोम देवताओं के लिये अत्यन्त प्रिय तुमको नियुक्त करता हूँ । हे पशु, तुम्हें जल से तथा ओषधियों से प्रोक्षित करता हूँ । हे पशु, इस प्रकार प्रोक्षित किये जाते हुए तुमको माता भूमि तथा पिता द्युलोक अनुमत करें । इसी प्रकार भ्राता, सगर्भ्य, सखा तथा सयूथ्य अनुमत करें । अग्नीषोम देवताओं के लिये अभिरुचित तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ ।

आध्यात्मिक अर्थ अग्रिम मन्त्र में संयुक्त है ॥९॥

मन्त्रार्थ – हे भूतात्मन्, तुम ब्रह्म-ज्योति के रसरूप अमृत का पान करने वाले हो, ब्रह्मज्योति के रसरूप जल को स्वीकार करो । हे भूतात्मन्, तुम्हारा प्राण समष्टि प्राण से संयुक्त हो, तुम्हारे अंग योगयज्ञ की साधना में लगें, आत्मारूप यजमान योगयज्ञ के फलरूप आशीर्वाद से युक्त हो ॥१०॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।३।२८-२९,६।४।२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अपां पेरुः' इस कण्डिका के मन्त्र पशु को जल पिलाना, प्रोक्षण तथा जल का लेपन इत्यादि कार्यों में विनियुक्त हैं । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक विनियोग

तथा स पशुः स्वात्तं सुष्ठु स्वीकृतं भवतु । पशुर्विशेष्यते – देवहविरिति । देवतयोरग्नीषोमयोर्हविर्भूतं स पशुः स्वात्तं भवतु । यद्वा – हे आ अद्भ्य एतन्मन्त्रत्रयेण प्रोक्षणादिकमवश्यमनुष्ठेयमिति तित्तिरिः – 'उपरिष्टात् प्रोक्षत्युपरिष्टादेवैनं मेध्यं करोति पाययत्युत्तर एवैनं मेध्यं करोत्यधस्तादुपोक्षति सर्वत एवैनं मेध्यं करोति' । शतपथेऽपि – 'अपां पेरुरसीति तदेनमन्तरतो मेध्यं करोत्यधस्तादुपोक्षत्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित् सद्देवहविरिति तदेनꣳ सर्वतो मेध्यं करोति' (श.३।७।४।६) । 'स उत्तरमाघारमाघार्यासꣳ स्पर्शयन् स्रुचो पर्येत्य जुह्वा पशुꣳ समनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघारः ....। 'स ललाटे समनक्ति । सन्ते प्राणो वातेन गच्छतामिति समङ्गानि यजत्रैरित्यꣳसयोः सं यज्ञपतिराशिषेति श्रोण्योः स यस्मै कामाय पशुमालभन्ते तत्प्राप्नुहीति' (श.३।७।४।८) । 'उत्तराघारमाघार्य पशुं पूर्वꣳ समनक्ति ललाटाꣳसश्रोणिषु सन्त इति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।४।२) ।उत्तराघारहोमानन्तरं ध्रुवासमञ्जनात् प्राग् ललाटे दक्षिणोत्तरस्कन्धयोर्दक्षिणोत्तरकट्योश्च जुहूस्थाज्येन जुह्वैव समनक्ति । अंसयोः श्रोण्योश्च मन्त्रावृत्तिः । पशुदैवतानि यजूंषि । हे पशो, ते तव प्राणो वातेन वायुना सङ्गच्छतामिति मन्त्रेण ललाटे । अंसाद्यङ्गानि यजत्रैर्यागैः सङ्गच्छन्तामित्यंसयोः । सं यजमान आशिषेत्ययं यजमानो दीर्घेणायुषा संगच्छताम् । शतपथे स्पष्टमुक्तम् –प्राणो वातमभिपद्यते ....यत्तेऽङ्गैर्यजान्ता ....सं यज्ञपतिराशिषेति यजमानाय वा एतेनाशिषमाशासते' (श.३।७।४।९) ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे साधक, देवस्य सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् अग्नीषोमाभ्यां दान्तिशान्तिभ्यां तपःक्षान्तिभ्यां जुष्टं सेवितं त्वां नियुजज्मि परमेश्वरोपासनायां प्रवर्तयामि, अद्भ्य ओषधीभ्यश्च त्वा प्रोक्षामि मेध्यं करोमि । तदर्थं ते तव मातानुमन्यतां पितानुमन्यताम्, मातृमान् पितृमान् 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छा.उ ६।१४।२) इति श्रुतेः । तदनु भ्राता सगर्भ्यः सखा सयूथ्योऽनुमन्यताम् , सर्वेषां तत्रानुकूल्यस्यापेक्षितत्वात् । तैस्तैरनुमतं त्वां तपःक्षान्तिभ्यां जुष्टं प्रोक्षामि भगवदुपासनाय प्रोक्षणेन मेध्यं करोमि ।

हे साधक, त्वमपां लोकानां पेरुः पानशीलोऽसि । 'मिपीभ्यां रुः' (उ.४।१०१) इति रुः । ज्ञानी पुरुषः प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरब्रह्मसाक्षात्कारेण सर्वांल्लोकान् स्वात्मनि प्रविलापयति, 'दृश्यं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं पश्यन्नात्मनि मायया' इत्याद्यजगद्गुरुशङ्कराचार्योक्तेः । हे साधक, आपो देव्यः स्वदन्तु । अब्रूपा देव्यस्त्वां स्वदन्तु । ब्रह्मात्मरूपं त्वामास्वादयन्तु । त्वत्सत्तया सत्तावत्यस्त्वत्स्फूर्त्या स्फूर्तिमत्यस्त्वद्रसेन रसवत्यश्च भवन्तु । यद्वा आपो देवीर्दिव्या आपो गङ्गादिगतास्त्वा त्वां स्वदन्तु उक्षयन्तु समुक्षणेन त्वां पवित्रयन्तु । चिद् यस्मात् (चिदित्यव्ययं

के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में दो कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार है – हे साधक, सविता देवता की आज्ञा में, अश्विनी कुमार देवों की भुजाओं से, पूषा देव के हाथों से, दान्ति एवं शान्ति के लिये अथवा तप एवं क्षान्ति के लिये सेवित तुमको नियुक्त करता हूँ, परमेश्वर की उपासना में प्रवर्तित करता हूँ । जल तथा औषधियों से तुमको प्रोक्षित करता हूँ, पवित्र करता हूँ । एतदर्थ तुमको मातापिता अनुमत करें तथा भ्राता सगर्भ्य, सखा सयूथ्य अनुमत करें । उनके द्वारा अनुज्ञात तुमको तप एवं क्षान्ति के लिये सेवित, भगवान् की उपासना के लिये प्रोक्षण के द्वारा पवित्र करता हूँ ।

हे साधक, तुम लोकों का पान करने वाले, अर्थात् स्वात्मा में विलीन करने वाले हो । जलरूपिणी देवियां तुम्हारा ब्रह्मात्मरूप से आस्वादन करें, अथवा गङ्गा आदि की दिव्य जलधाराएं प्रोक्षण के द्वारा तुमको पवित्र करें , क्योंकि उन तीर्थगत पवित्र जल से

हेत्वर्थे) ताभिस्तीर्थगताभिः पवित्राद्भिः स्वात्तं स्वादितं सत् शोभनं देवस्य भगवतो योग्यं हविर्भोग्यं भवति । उपासको भगवतो भोग्यो भवति, भगवांश्च भक्तभोग्यो भवति । यमुपासकं भगवान् स्वात्मतादात्म्यमापादयति स एव भगवद्भोग्यो भवति । हे साधक, भगवद्भावापत्तौ ते प्राणो वातेन सङ्गच्छतां वाततादात्म्यापन्नो भवतु । ते तव अङ्गानि चक्षुःश्रोत्रादीनि यजत्रा यजनात् त्रायन्त इति यजत्रा देवास्तैः सङ्गच्छन्तां तत्तद्देवतादात्म्यापन्नानि भवन्तु । इज्यन्ते वा यजत्रा देवा यज्ञपतिर्यजमान उपासक आशिषा स्वाभीष्टेन सङ्गच्छतां संयुज्यतामिति मन्त्रद्वयस्याध्यात्मिकोऽर्थः ।

दयानन्दस्तु – देवस्य त्वेत्यत्राह – 'हे शिष्य, अहं सवितुर्देवस्य प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वाददे । अग्नीषोमाभ्यां तयोस्तेजःशान्तिगुणाभ्यां जुष्टं प्रीतं त्वां या ब्रह्मचर्यधर्मानुकूला आप ओषधयश्च सन्ति, ताभ्योऽद्भ्य ओषधीभ्यश्च त्वा मत्समीपे स्थातुं माताऽनुमन्यतां पिता भ्राता सगर्भ्यः सोदरः सखा सुहृत् सयूथ्यः सैन्यश्चानुमन्यताम् । अग्नीषोमाभ्यां पूर्वोक्ताभ्यां जुष्टं प्रीतम् उक्षामि सिञ्चामि' इति, तत्तु शतपथविरुद्धमेव, तादृशेऽर्थे मन्त्रविनियोगोऽपि प्रमाणशून्यः, मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे प्रमाणाभावश्च ।

अपां पेरुरिति मन्त्रे स आह – 'हे शिष्य, त्वमपां जलानां पेरू रक्षकोऽसि । आपो देवीः शुद्धा दिव्यसुखप्रदाः स्वेन समन्ताद् गृहीतं चिद् अपि स्वधर्मानुष्ठाने स्वीकृतं सद् देवहविरिव स्वदन्तु । मदाशिषा तवाङ्गानि यजत्रैः सह सङ्गच्छन्ताम् । प्राणो वातेन सङ्गच्छताम् । त्वं यज्ञपतिर्भव' इति, तदपि सर्वं तुच्छम्, निर्मूलत्वादध्याहारबाहुल्याच्च ॥१०॥

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाᳪ रेवति यजमाने प्रियं धा आविश। उरोरन्तरिक्षात् सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव। वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥११॥

स्वादित सुन्दर होकर उपासक भगवान् के योग्य भोग्य होता है, भगवान् भी भक्त के भोग्य हो जाते हैं । हे साधक, भगवद्भाव की प्राप्ति में तुम्हारा प्राण वायु से तादात्म्य प्राप्त करे । तुम्हारे नेत्र, कर्ण आदि अंग देवताओं से तादात्म्य प्राप्त करें । यज्ञपति उपासक भी आशीर्वाद के द्वारा अपने अभीष्ट से संयुक्त हो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित 'देवस्य त्वा' इस मन्त्र का अर्थ शतपथश्रुति से विरुद्ध है । उस प्रकार के अर्थ में मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है । 'अपां पेरुः' इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ मूलरहित तथा अध्याहारों की अधिकता के कारण अग्राह्य है ॥१०॥

मन्त्रार्थ – हे बुद्धि और मन, तुम दोनों अग्नि की समीपता से घृत के समान विषयों की समीपता से पिघलने वाली इन्द्रियों की सकल शक्तियों से लिप्त होकर भूतात्मा के अंग, प्राण आदि की रक्षा करो । हे महावाणी, आत्मरूप यजमान के मोक्ष को धारण करो । प्रकाशवान् प्राण के साथ प्रीतियुक्त होकर गुरु के हृदयाकाश से ज्ञान-दान के द्वारा यजमान में प्रवेश कर इस भूतात्मा के हविरूप शरीर की आहुति दो । इस भूतात्मा के शरीर से ब्रह्माकार में प्रकट होओ । हे विस्तार वाली सुषुम्ना, अति विस्तार वाले विष्णु परमात्मा में योगयज्ञ के कर्ता को स्थापित कर कर्मेन्द्रियों के लयस्थान में देवताओं के निमित्त उनकी आहुति दो, ज्ञानेन्द्रियों के लयस्थान में देवताओं के निमित्त ज्ञानेन्द्रियों की आहुति दो ॥११॥

'ते वा एत एकादश प्रयाजा भवन्ति । दश वा इमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशो यस्मिन्नेते प्राणाः प्रतिष्ठिता एतावान् वै पुरुषस्तदस्य सर्वमात्मानमाप्याययन्ति तस्मादेकादश प्रयाजा भवन्ति' (श.३।८।१।३) । सप्त शीर्षण्याः प्राणा द्वावपानौ (पायूपस्थौ) नाभिर्दशमी तेषामाधारो देह एकादशः । 'स आश्राव्याह । समिधः.... प्रेष्य प्रेष्येति चतुर्थे चतुर्थे प्रयाजे समानयमानो दशभिः प्रयाजैश्चरति दश प्रयाजानिष्ट्वाह शासमाहरेत्यसिं वै शास इत्याचक्षते' (श०३।८।१।४) । समिद्याग एव समिधः प्रेष्य, तथैव तनूनपात्प्रभृतीनां प्रेष्य.....जुहूगतेनाज्येन प्रयाजत्रयं कृत्वा पुनरुपभृति स्थितमाज्यमथ चतुर्थादिसप्तमान्त प्रयाजचतुष्टयाय समवनीय पुनरष्टमाद्येकादशान्तं प्रयाजचतुष्टयार्थमष्टममवनयेद् दशमप्रयाजानन्तरं शासमसिमाहरेति ब्रूयात् । शस्यते हिंस्यतेऽनेनेति शासोऽसिः, 'शसु हिंसायाम्', शासशब्दस्याप्रसिद्धार्थतामभिप्रेत्य व्याचष्टे– असिं वै शासमित्याचक्षत इति । 'अथ यूपशकलमादत्ते । नावग्रे जुह्वा अक्ता पशोर्ललाटमुपस्पृशति घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथामिति वज्रो वा यूपशकलो वज्रः शासो वज्र आज्यं तमेवैतत्कृत्स्नं वज्रꣳ सम्भृत्य तमस्याभिगोप्तारं करोति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हिनसन्निति पुनर्यूपशकलमवगूहत्येषा ते प्रज्ञाताश्रिरस्त्वित्याह शासं प्रयच्छन् सादयति स्रुचौ' (श. ३।८।१।५) । यूपशकलौ जुह्वा अग्रगतेनाज्येन समज्य ताभ्यामक्ताभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति ।

कात्यायनोऽपि – 'एकादश प्रयाजा अनुयाजाश्च' (का.श्रौ.६।४।७), 'दशेष्ट्वा प्रयाजानाह शासमाहरेति' (का.श्रौ.६।४।९) । शासहस्तं विशसितारं प्रत्यध्वर्युर्ब्रूयात् । 'स्वरुमादायाक्त्वोभौ जुह्वग्रे ताभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति घृतेनाक्ताविति' (का.श्रौ.६।४।१०) । विशसित्रा दत्तं शासमादाय यूपात् स्वरुं च स्वयमेवादाय उभौ असिस्वरू जुह्वा अग्रे प्रणालिकाया घृतेनाक्त्वा ताभ्यां स्वर्सिभ्यां पशोर्ललाटमालभेत । हे शास, हे यूपशकल, युवामुभौ घृतेनाक्तौ सन्तौ पशुमेनं त्रायेथां पालयेथां स्वर्गप्रापणेन दिव्यस्वर्गसुखादिप्रदानेन पालनं कुरुताम् । वज्रो वै यूपः शकलो वज्रः शासो वज्र आज्यं तमेवैतत्कृत्स्नं वज्रं सम्भृत्य तं वज्रसमूहमस्य पशोरभिगोप्तारं करोति तेनैनं पशुं नाष्ट्रा रक्षांसि न हिंसिष्यन्ति । पुनर्यूपशकलमवगूहति– हे शमितः ! एषा अष्टाश्रिस्ते प्रज्ञातास्तु । शासं प्रयच्छन् स्रुचावासादयति । 'स्वरुमवगुह्यासिं प्रयच्छन्नाहैषा ते प्रज्ञाताऽश्रिरस्त्विति' (का.श्रौ.६।४।११) स्वरुं यूपे यथास्थानेऽवगूह्य शमित्रेऽसिं प्रयच्छन् ब्रूयात्– एषा अश्रिधारा ते तव चिह्निता भवतु । असेर्धाराद्वयम् तत्रैका अक्ता, अपरा अनक्ता । त्वया अनक्तया धारया पशुविशसनं कर्तव्यम् । अक्तया तु शृतपशोरवदानं भविष्यति । 'सादयित्वा स्रुचौ चात्वालमुत्तरेण शामित्रायोल्लिखति' (का.श्रौ.६।४।१२) । शामित्राग्नेः स्थापनार्थमुल्लिखति । अत्रोल्लेखनोपलक्षिताः स्मार्ताः पञ्च भूसंस्काराः कर्तव्याः । शामित्रः पशुश्रपणोऽग्निरुच्यते । "अभिपर्यग्निकृते देशे उल्मुकं निदधाति स शामित्रः' (आप.श्रौ.७।१६।२ - ३) । स्रुचोः सादनानन्तरं पर्यग्नयेऽनुब्रुहीति पर्यग्निं करोति । आग्नीध्र उल्मुके पशोः परितोऽग्निं करोति' (श.३।८।१।६) । 'आहवनीयोल्मुकमादायाग्नीत् त्रिः समन्तं पर्येति पश्वाज्यशामित्रदेशयूपचात्वालाहवनीयान्' (का.श्रौ.६।५।२) । अग्नीत् त्रिः त्रिवारं सर्वतः प्रदक्षिणं पश्वाज्यशामित्रदेशयूपचात्वालाहवनीयान् पर्यग्निं करोति, 'आज्यपशुशामित्रान् वा' (का.श्रौ.६।५।३) ।

'अथोल्मुकमादायाग्नीत् पुरस्तात् प्रतिपद्यते । अग्निमेवैतत् पुरस्तात् करोत्यग्निः पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नन्नेत्यथाभयेनानाष्ट्रेण पशुं नयन्ति तं वपाश्रपणीभ्यां प्रतिप्रस्थाताऽन्वारभते प्रतिप्रस्थातारमध्वर्युरध्वर्युं यजमानः' (श.३।८।१।९) । 'न वा एतं मृत्यवे नयन्ति यं यज्ञाय नयन्ति' (श.३।८।१।१०) । 'अथ स्तीर्णायै

भाष्यसार – 'घृतेनाक्तौ' इस कण्डिका के मन्त्रों से पशु के ललाट का स्पर्श, यजमान द्वारा मन्त्रवाचन तथा आहुतिप्रदान आदि

वेदेः । द्वे तृणे अध्वर्युरादत्ते स आश्राव्याहोपप्रेष्य होतर्हव्या देवेभ्य इत्येतदु वैश्वदेवं पशौ' (श.३।८।१।११)। अन्वारम्भसमये वेद्यास्तीर्णे बर्हिषि तृणद्वयमादायान्वारभते । स तृणं गृहीत्वा अध्वर्युराश्रावणमुक्त्वा प्रपद्य होतर्हव्या देवेभ्य इत्याह, होतुर्हव्यान्युद्दिश्य देवेभ्य उपप्रैष्य मैत्रावरुणप्रैषादनन्तरमध्वर्युः प्रैषं पठतीति तस्यार्थः । देवेभ्य इत्यभिधानादेव पशौ वैश्वदेवत्वापादनम् । 'अथ वाचयति । रेवति यजमान इति' (श.३।८।१।१२)। 'रेवति यजमान इति वाचयति' (का.श्रौ.६।५।१०) । अध्वर्युर्यजमानं वाचयति – हे रेवति रयिमति वाग्देवते, यजमानेऽस्मिन् प्रियमभिप्रेतमनार्तिलक्षणमभिमतं वा धा धेहि । आविश ज्ञानप्रदानेन यजमानं प्रविश । 'वाग्वै रेवती सा यद्वाग् बहु वदति तेन वाग्रेवती प्रियं धा आविशेत्यनार्तिमाविशेत्येवैतदाह' (श.३।८।१।१२) इति श्रुतेः । हे रेवति, वातेन वायुना देवेन सजूः समानप्रीतिर्भूत्वा उरोर्विस्तीर्णादन्तरिक्षाद्यजमानं गोपायेति शेषः । 'अन्तरिक्षं वाऽनु रक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथाऽयं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद्वातेनैनꣳ संविदानादन्तरिक्षाद् गोपायेत्येवैतदाह यदाहोरोरन्तरिक्षादिति' (श.३।८।१।१२)। अमूलं मूलसम्बन्धरहितम् उभयत उपरिष्टादधस्ताच्च संश्लेषरहितम्।तेनान्तरिक्षे रक्षःसञ्चारकारणेन वातादन्तरिक्षाच्च गोपायतीत्याह मन्त्रः। किञ्चास्य पशुलक्षणस्य हविषः, त्मना आत्मना यज । 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा.सू.६।४।१४१) इत्याकारलोपः । तथा चास्य पशोर्हविष आत्मना यज, अस्य पशोस्तन्वा शरीरेण सम्भव एकीभव। हे रेवति, यजमानरूपेण वात्मना पशुरूपेण चात्मना भूत्वा त्मनैव यज । यद्वा अनार्तस्यास्य हविष आत्मना यजेत्युक्तत्वादनार्तिं कर्तुं पशूनाविशेत्यर्थः । शतपथेऽपि – 'अस्य हविषस्त्मना यजेति । वाचमेवैतदाहानार्तस्यास्य हविष आत्मना यजेति समस्य तन्वा भवेति वाचमेवैतदाहानार्तस्य हविषस्तन्वा सम्भवेति' (श.३।८।१।१३)।

तद्यत्रैनं विशसन्ति तत्पुरस्तात्तृणमुपास्यति वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः । पश्चात्तृणमुपास्यति वर्षो वर्षीयसीति शामित्रस्य पश्चाद् विशसनप्रदेशेऽध्वर्युर्हस्तस्थयोर्वेदितृणयोर्मध्येऽन्यतरत्तृणं प्रागग्रं प्रक्षिपेत् । हे वर्षो ! वर्षादुत्पन्नं वर्षुः, तत्सम्बोधने हे वर्षो, वृष्टिजन्यतृणदेवते, वर्षीयसि विस्तीर्णतरे यज्ञे यज्ञपतिं यजमानं धाः धेहि । एतद्बर्हिस्तरणेन स्थापनीयमिति स्तौति – 'बर्हिरेवास्मा एतत् स्तृणात्यस्कन्नꣳ हविरसदिति तद्यदेवास्य विशस्यमानस्य किञ्चित् स्कन्दति तदेतस्मिन् प्रतितिष्ठति तथा नामुया भवति' (श०३।८।१।१४) इति । तथा कृते सत्यन्यत्र पतितमङ्गममुयाऽमुत्रान्तरिक्षेऽनभिमतप्रदेशे न भवति न विनश्यतीत्यर्थः । 'तद्यत्रैनं निविद्ध्यन्ति तत्पुरा संज्ञपनाज्जुहोति स्वाहा देवेभ्य इत्यथ यदा प्राह संज्ञप्तः पशुरित्यथ जुहोति देवेभ्यः स्वाहेति' (श.३।८।१।१६)। 'स्वाहा देवेभ्य इति जुहोति' (का.श्रौ.६।५।२१) । अध्वर्युः सकृद्गृहीतमाज्यं पूर्णाहुतिधर्मेण जुहुयात् । 'संज्ञप्तः पशुरिति प्रोक्ते शेतान्नु मुहूर्तमित्याहाऽसोमे' (का.श्रौ.६।५।२२) । संज्ञप्तः पशुरिति शमित्रा प्रोक्ते अध्वर्युः सोमादन्यत्र निरूढे पशौ शेतान्नु मुहूर्तमिति ब्रूयात् । 'देवेभ्यः स्वाहेति जुहोति' (का.श्रौ.६।५।२३)। पूर्णाहुतिसंस्कृतेनैवाज्येन मन्त्रयोरनयोरर्थैक्येऽपि पाठभेदस्य तात्पर्यं श्रुतिः स्वयमेवाह – 'पुरस्तात् स्वाहाकृतयो वा अन्ये देवा उपरिष्टात् स्वाहाकृतयोऽन्ये तानेवैतत् प्रीणाति त एनमुभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति ते वा एते परिपशव्ये इत्याहुती' (श.३।८।१।१६) । उक्ते परिपशव्ये इति नामधेये परित आज्यं तयोः पशोर्हितं यतोऽतः नरिपशव्ये संज्ञपनात् प्राक् स्वाहा देवेभ्य इति जुहुयात्, संज्ञपनादूर्ध्वं देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात् ।

कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।४।७-६।५।२३) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे तु – हे कामेश्वरीकामेश्वरौ सीतारामौ राधाकृष्णौ लक्ष्मीनारायणौ वा, युवां घृतगन्धिना स्नेहेनाक्तौ व्याप्तौ परस्पराश्रयाभ्यां परस्परविषयाभ्यां स्नेहाभ्यामक्तौ परिप्लुतौ पशून् अनादिमायामोहितान् जीवान् परिपूर्णानुग्रहदृष्टिवृष्ट्या त्रायेथां पालयेथाम् । हे रेवति, प्रशस्तधनाद्यैश्वर्यवति राजराजेश्वरि भगवति, विशेषेण त्वं यजमान उपासके भवतोरर्चनापरायणे जने प्रियं धा विशेषानुग्रहं कुरु, त्वदनुग्रहादेव साधकानां पुरुषार्थसिद्धिसम्भवात् । आविश विद्यादिरूपेण तत्र प्रविश, स्वाहा-स्वधा-विद्या-वार्तादिरूपेण तवैव सर्वपुरुषार्थसाधकत्वात् । देवेन परमात्मना कामेश्वरेण श्रीरामेण श्रीकृष्णेन श्रीविष्णुना वातेन प्राणानां प्राणेन, सजूः समानप्रीतिमती सती हे रेवति, उरोरपरिच्छिन्नादन्तरिक्षाद् अपरिच्छिन्नानन्दमयाकाशात् तादृशस्वरूपाविर्भावनेन साधकं पालयेति शेषः । हे रेवति, अस्य साधकस्य हविषः, त्मना आत्मना, स्वात्मानमेव हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य यजमानस्य हविषो रूपेण यज, भगवन्तं सङ्गमय प्रापय, यजेः सङ्गतिकरणार्थत्वात् । अस्य तन्वा शरीरेण सम्भव एकीभव । एकीभूतया तन्वा च परमेश्वरं सङ्गमय त्वदनुग्रहेण त्वद्रूपो भूत्वा साधकस्त्वत्प्राणनाथं भगवन्तं प्राप्नोत्वित्यर्थः । हे वर्षो ! हे कृपामृतवर्षिन् भगवन् कामेश्वर, वर्षीयसि विस्तीर्णतमे ब्रह्मात्मनि यज्ञपतिं यजमानमुपासकं धाः धेहि । स्वाहा देवेभ्यः । हे साधक, साधनारम्भात् प्राग् देवेभ्यो देवदेवाय भगवते स्वाहा सर्वस्वं निवेदय, साधनसम्पत्तेरूर्ध्वं च देवेभ्यः सर्वस्वं निवेदय । पूर्वं स्वात्मसमर्पणेन देवा आवर्जनीयाः, पश्चादावर्जितेभ्यस्तेभ्यः साधनं तत्फलं च निवेद्य कृतार्थो भवेत्यर्थः । अत्र पूजायां बहुवचनम् ।

दयानन्दस्तु – 'हे कर्ताकारयितारौ घृतेनाक्तौ घृतमनस्कौ युवां पशून् त्रायेथाम् । त्वमेकैकेन देवेन वातेन सजूरुरोरन्तरिक्षात् प्रियं प्रेमोत्पादकं सुखं रेवति प्रशस्तैश्वर्यवति यजमाने धास्तथा आविश, तत्स्वान्तवृत्तमाप्नुहि । अस्य हविष आत्मना यज अस्य तन्वा सम्भव एकीभव । हे वर्षो ! यज्ञकर्मणा सुखसेचक, त्वं देवेभ्यः स्वाहा तद्यज्ञं दिदृक्षुभ्यः पुनः पुनरागतेभ्यो विद्वद्भ्योऽसकृत् सत्कृत्य वाचमुदीरयन् वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वात्, असम्बद्धत्वाच्च । 'वातेन पवनेन समानप्रीतिमान् भूत्वा विस्तृतादन्तरिक्षादुत्पन्नं प्रियं सुखं यजमाने स्थापय' इति हिन्द्यामुक्तम् । तच्च कथमुपपद्यते ? कथं यज्ञकर्तुर्यज्ञकारयितुर्वा सर्वगतेन वातेन प्रीतिमत्ता ? कथं चान्तरिक्षात् प्रीतिकारकं सुखमुत्पद्यते ? यदि तु सुगन्धिद्रव्यादिहोमेन वायोः शुद्धत्वापादनमेव

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – हे कामेश्वरी तथा कामेश्वर, सीता एवं राम, राधा और कृष्ण, अथवा लक्ष्मीनारायण, आप परस्पराश्रय तथा परस्परविषयत्व के स्नेहों से परिपूर्ण होते हुए अनादि माया से मोहित जीवों को पूर्ण अनुग्रह दृष्टि की वर्षा से रक्षित कीजिये । हे प्रशस्त धन ऐश्वर्य आदि की स्वामिनी, भगवती राजराजेश्वरी, विशेष रूप से आप उपासना में निरत भक्तजन पर अनुग्रह करें, क्योंकि आपके अनुग्रह से ही साधकों की पुरुषार्थसिद्धि सम्भव होती है । विद्या आदि के रूपों से उसमें निविष्ट होइये । परमात्मा कामेश्वर, श्रीराम, श्रीकृष्ण अथवा विष्णु से प्राणरूपी देव से समान प्रीतियुक्त होकर हे धनवती, आप अपरिच्छिन्न आनन्दमय आकाश के स्वरूपाविर्भाव के द्वारा साधक का पालन करें । हे रेवती, इस साधक के स्वात्मा को ही हवि के रूप में संकल्पित करके भनवान् से संगत करें । इसके शरीर से एकीकृत हों तथा उसे परमेश्वर से संगत करें, अर्थात् आपके अनुग्रह से तद्रूप होकर साधक भगवान् को प्राप्त करे । कृपामृत की वर्षा करने वाले हे भगवन् विस्तीर्ण ब्रह्मात्मा में उपासक को अवस्थित करें । हे साधक, साधना आरम्भ करने के पूर्व देवाधिदेव भगवान् के लिये सर्वस्व निवेदित करें, तथा साधना से सम्पन्न होने के पश्चात् भी देवताओं के लिये सर्वस्व निवेदित करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ श्रुति तथा सूत्र से विरुद्ध होने के कारण तथा असम्बद्ध होने के कारण असंगत है । यज्ञकर्ता अथवा कारयिता की सर्वगत वायु से प्रीतियुक्तता कैसे होगी ? अन्तरिक्ष से सुख उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सुख

प्रीतिमत्त्वम्, तदपि नोपपद्यते, परिच्छिन्नद्रव्याहुत्या व्यापकस्य वायोस्तदसम्भवात् । न चान्तरिक्षात् सुखमुत्पद्यते, सुखस्यात्मधर्मत्वात् । सुखनिमित्तत्वमपि नाकाशस्य सम्भवति, तस्य सर्वत्र सत्त्वेन कार्यमात्रं प्रति साधारणकारणत्वात् । अन्तरिक्षात् सौगन्ध्योपेताद् वान्तरिक्षादुत्पन्नं सुखं नह्यन्येनान्यत्र स्थापयितुं शक्यम्, तस्य तत्रत्यान् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥११॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि । घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु ॥१२॥

'यदा प्राह संज्ञप्तः पशुरिति । अथाध्वर्युराह नेष्टः पत्नीमुदानयेत्युदानयति नेष्टा पत्नीं पान्नेजनं बिभ्रतीं तां वाचयति नमस्ते' (श.३।८।२।१-२) । 'वपाश्रपणीभ्यां नियोजनीं चात्वाले प्रास्यति माऽहिर्भूरिति' (का.श्रौ.६।५।२५) । पशुबन्धनरज्जुं नियोजनीं चात्वाले क्षिपेदध्वर्युः । पान्नेजनहस्तां वाचयति नयन्नमस्त आतानेति । पादग्रहणमवयवप्रदर्शनार्थम् । पादौ निज्येते अनेनेति पान्नेजनो मुखाद्यवयवशोधनार्थो जलकलशो हस्ते यस्याः सा तां पत्नीं सोमे नेष्टा गार्हपत्यसमीपात् पशुशोधनाय नयन् वाचयेद् नमस्त इति मन्त्रम् । अध्वर्युराह – हे रज्जो, त्वमहिः सर्पाकारो मा भूः, पृदाकुरजगरो मा भूः । यज्ञदेवत्यं यजुः । नमस्त आतानेति । आ समन्तात् तन्यत इत्यातानो यज्ञः । हे आतान, ते तुभ्यं नमः । हे यज्ञ, त्वम् अनर्वा, इयर्ति वधार्थमित्यर्वा, नास्त्यर्वा यस्यासावनर्वा, असपत्नः सन् प्रेहि समाप्तिपर्यन्तं प्रकर्षेणागच्छ, 'अनर्वा प्रेहीत्याह । भ्रातृव्यो वा अर्वा भ्रातृव्यापनुत्त्यै' इति तित्तिरिश्रुतेः । इमं मन्त्रभागं शत्रुराहित्यार्थमुच्चारयेदिति तित्तिरिराह । घृतकुल्या जुह्वादिस्रुचिषु आगच्छ, जुह्वादिषु बह्वाज्यसम्भवात् । ता विशिनष्टि – ऋतस्य यज्ञस्य पथ्याः पथिभवास्तादृशीर्नदीरनुलक्ष्य उपप्रेहीत्यर्थः । सान्नाय्यपृषदाज्यकुल्योपलक्षणार्थं घृतकुल्याग्रहणम् ।

अयमेवार्थः शतपथे समर्थितः – 'यज्ञो वा आतानो वा यज्ञꣳहि तन्वते तेन यज्ञ आतानो जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी तामेतत् प्राचीं यज्ञं प्रसादयिष्यन् भवति तस्मा एवैतद्यज्ञाय निह्नुते तथो हैनामेष यज्ञो न हिनस्ति तस्मादाह नमस्त आतानेति' (श.३।८।२।२) । नमस्कारवचनं यज्ञातिक्रमपरिहारत्वेन प्रशंसति – जघनार्धो वा इति । यज्ञस्य जघनार्धे पत्नीशालायामवस्थिता पत्न्यपि जघनार्ध इत्युच्यते । तां प्राङ् नयति । तस्मिन् यज्ञायतने जघननिह्नवनकृतस्तस्या आगोऽनेन नमस्कारवचनेन च यज्ञातिक्रमक्षमापनं सम्पद्यते ।

आत्मा का धर्म है । आकाश का सुखनिमित्त होना भी संभव नहीं है, क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त होने के कारण प्रत्येक कार्य के प्रति साधारण कारण है ॥११॥

मन्त्रार्थ – हे सुषुम्ना, तुम सर्प के समान कुटिल चाल चलने वाली और बिच्छू के समान मर्म-स्थान को पीड़ा देने वाली मत बनो । हे योगयज्ञ, तुम्हारे लिये भूतात्मारूप अन्न विद्यमान है । हे योगयज्ञ के साधक, तुम काम आदि शत्रुओं से रहित होकर सुषुम्ना मार्ग से गमन करो, ब्रह्ममार्ग में हितकारी इन्द्रियों की सकल शक्तियों की प्रवाहरूप नदियों को देख कर त्रिदेव रूपधारी महाविष्णु को प्राप्त करो ॥१२॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।५।२५) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'माहिर्भूः' इस कण्डिका के मन्त्रों से पशु को बांधने वाली रस्सी का अग्नि में प्रक्षेप तथा पत्नी द्वारा मन्त्रपाठ आदि कार्य सम्पादित किये जाते हैं । शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे साधक, त्वमहिः सर्पतुल्यः पृदाकुरजगरतुल्यश्च मा भूः । आतानो यज्ञ इव पावनः, अनर्वा असपत्नः, प्रेहि प्रकर्षेण परमात्मानमेव गच्छ । घृतस्य भक्तिलक्षणस्नेहस्य कुल्या नदी, ऋतस्य परमेश्वरस्य प्राप्त्यै पथि मार्गे भवा पथ्या, ता अनुलक्ष्य परमात्मानं प्रेहि ।

दयानन्दस्तु – 'हे आतान विद्वन्, त्वमहिर्मा भूः । पृदाकुः मूढवदभिमानी व्याघ्रवद्धिंसको मा भूः । नमोऽस्तु त्वत्सुखायान्नादिपदार्थः पुरत एव वर्तते । अनर्वा अश्वहीनो घृतस्य कुल्या इवर्तस्य पथ्याः प्रोपेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरोधात् । 'यज्ञो वै आतानः' इति श्रुतिरुक्तैव । अहिपदस्य कुटिलगामीत्यादिगौणार्थाश्रयणमयुक्तम्, मुख्यार्थत्यागे कारणाभावात् । तत्र विदुषां सुखार्थे घृतकुल्याः प्रवर्तिता दृश्यन्ते चेत्, तथात्वे विदुषामर्थार्जने प्रवृत्त्यभावापातात् । 'अनर्वा' इत्यस्य अश्वराहित्यार्थकरणे न किञ्चित् स्वारस्यम् । 'असपत्नेन' इति श्रुतिविरोधश्च ॥ १२॥

दे॒वी॑रापः शु॒द्धा वो॑ढ्व॒ꣳ सुप॑रिविष्टा दे॒वेषु॒ सुप॑रिविष्टा व॒यं प॑रिवे॒ष्टारो॑ भूयास्म ॥१३॥

'अथ पशोः प्राणानद्भिः पत्न्युपस्पृशति' (श.३।८।२।४) । 'पशोः प्राणाञ्छुन्धति पत्नी । मुखं नासिके चक्षुषी कर्णौ नाभिं मेढ्रं पायुं पादान् सꣳहृत्य वाचं ते शुन्धामीति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।६।२-३) । नासिकयोश्चक्षुषोर्युगपत् स्पर्शासम्भवाद् भेदेन प्रवृत्तौ मन्त्रावृत्तिः । एवं यज्ञं स्तुत्वा आप इदानीं स्तूयन्ते । हे सुपरिविष्टाः ! पात्रेजनीपात्रेषु पूरिता देवीः ! हे देव्य आपः, यूयं स्वभावतः संस्कारतश्च शुद्धाः सत्यो देवेषु विषयभूतेषु वोढ्वं वहत, पशुमिति शेषः । एनं पशुं देवान् प्रति वहत प्रापयत । 'वह प्रापणे' इत्यस्य लुङि तङि मध्यमबहुवचनेऽडभावे रूपम् । किञ्च, वयमपि सुपरिविष्टाः, देवेष्विति पदमिहाप्यनुवर्तनीयम्, वयमपि देवेषु मध्येऽवस्थितास्तैरेव देवेषु सुपरिविष्टास्तर्पिताः सन्तस्तेषामेव देवानां परिवेष्टारः परिवेषणकर्तारो भूयास्मेत्याशीः । 'देवीरापः शुद्धा....भूयास्मेत्यप एवैतत् पावयति' (श.३।८।२।३) । देवीरित्यादिमन्त्रेण अप एव पावयति ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – हे साधक, तुम सर्प की भाँति तथा अजगर की भाँति न बनो । यज्ञ के समान पवित्र तथा शत्रुरहित होकर परमात्मा के प्रति गति करो । भक्तिरूपी स्नेह की नदी परमेश्वर की प्राप्ति के लिये मार्ग में विद्यमान है, उसको लक्षित करके परमात्मा के प्रति जाओ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ श्रुतिवाक्यों के विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है । 'अहि' शब्द का गौण अर्थ कुटिलगामी करना उचित नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थ के परित्याग में कोई कारण नहीं है । 'अनर्वा' शब्द का अर्थ भी 'अश्वरहित' करने में कोई प्रयोजन नहीं है ॥१२॥

मन्त्रार्थ – हे इन्द्रियसम्बन्धी गोलकरूप अन्तरिक्षों, सांसारिक सुख और शयन का दाता जो सुख है, उसको धारण करने वाले देह में प्रविष्ट होकर तुम भूतात्मा को देवताओं तक पहुँचाओ, अर्थात् उसकी ज्ञानदशा की प्राप्ति के साधन बनो । तुम्हारे प्रसाद से योगयज्ञ में प्रतिष्ठित होकर तृप्त हुए हम वाक् आदि ऋत्विग्गण देवताओं को कर्म का फल अर्पित करने वाले बनें ॥१३॥

भाष्यसार – 'देवीरापः' इस मन्त्र से पशु को प्रेक्षित करने के लिये जल का संस्कार किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक दृष्टि से अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे देव्यः ! महाकालीमहालक्ष्मीमहासरस्वत्यः, यूयम् आपो व्यापनशीलाः, व्यापकस्य परमात्मन उत्पादनपालनसंहरणशक्तित्वात् । अत एव शुद्धा निर्मला देवेषु सुष्ठु रीत्या परितश्च पूरिता निविष्टाः, अथवा देवेषु देवकार्येषु सुपरिविष्टा अभिनिविष्टाः, वोड्ढ्वं वहत प्रापयत , तत्सुखावहं हविरादिकमिति शेषः । हे भगवत्यः, वयं सुपरिविष्टा युष्माभिः, अर्थाद् युष्मत्कर्तृकाभीष्टपरिवेषणेन तर्पिताः सन्तो युष्माकं परिवेष्टरः परिवेषणकर्तारो भूयास्म ।

दयानन्दस्तु – 'हे कुमार्यः, यथापः सद्गुणेषु व्याप्ताः शुद्धा देवीर्देव्यो विदुष्यः सत्स्त्रियो देवेषु सद्विद्यादिगुणेषु विद्वत्सु सुपरिविष्टाः कृतब्रह्मचर्याः स्वसमानवरान् स्वीकृतवत्यः, तथा च ते विद्वांसस्ता विदुषीः प्राप्तास्तथा यूयं वोड्ढ्वं प्राप्नुतैवं वयमपि सुपरिविष्टाः परिवेष्टारो भूयास्मेति ब्रह्मचारिब्रह्मचारिणीनां परस्परं वरत्वेन पत्नीत्वेन च वरणमुपदिश्यते' इति, तन्न, निर्मूलत्वात् , श्रुतिसूत्रादिषु तथा विनियोगादर्शनात् । 'हे कुमार्यः' इति सम्बोधनमपि निर्मूलम् । यथातथापदानामुपस्थापनाय वाचकलुप्तोपमालङ्काराश्रयणमपि निर्मूलम्, अत एव वोड्ढ्वं स्वयंवरविवाहविधिं प्राप्नुतेत्यपि निर्मूलम् । सुपरिविष्टास्तत्तत्सेवासम्मुख्य इत्यपि निर्मूलम् । 'वयमपि सुपरिविष्टाः परिवेष्टारः परितो व्याप्ताः' इति, हिन्द्यां तु 'तत्कर्मयोग्यतामुपगच्छामः' इत्युक्तम्, तत्तु सर्वमसम्बद्धमुपहासास्पदं च । योऽन्यान् विदुषो विदुषीश्च विवाहाय प्रेरयति, स स्वयं तदयोग्यः, तद्योग्यतां प्राप्तुं कामयत इति चित्रम् ॥१३॥

वाचं॑ ते शुन्धामि प्रा॒णं ते॑ शुन्धामि॒ चक्षु॑स्ते शुन्धामि॒ श्रोत्रं॑ ते शुन्धामि॒ नाभिं॑ ते शुन्धामि॒ मेढ्रं॑ ते शुन्धामि पा॒युं ते॑ शुन्धामि च॒रित्राँ॑स्ते शुन्धामि ॥१४॥

'पशोः प्राणाञ्छुन्धति पत्नी । मुखं नासिके चक्षुषी कर्णौ नाभिं मेढ्रं पायुं पादान् सᳬहत्य वाचं ते शुन्धामीति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।६।२-३) । नासिकयोश्चक्षुषोर्युगपत् स्पर्शासम्भवात् भेदेन प्रवृत्तौ मन्त्रावृत्तिः । हे यज्ञियपशो, ते तव सम्बन्धिनीं वाचं वागिन्द्रियं शुन्धामि शोधयामि । प्राणं प्राणवायुं घ्राणेन्द्रियं

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – हे महाकाली महालक्ष्मी महासरस्वती देवियों, आप लोग व्यापनशील हैं, क्योंकि आप सब व्यापक परमात्मा की उत्पादन, पालन तथा संहरणात्मक शक्तियाँ हैं । अतः निर्मल तथा देवताओं में पूर्णतः निविष्ट अथवा देवकार्यो में अभिनिविष्ट होकर हविष्य आदि को पहुँचावें । हे भगवती, हम लोग आपके द्वारा सम्पादित अभीष्टपूरण से तृप्त होते हुए आपके लिये प्रदानशील हों ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुति तथा सूत्र में तदनुकूल विनियोग न उपलब्ध होने के कारण अप्रामाणिक है । 'हे कुमारियों' इस प्रकार के सम्बोधन में भी प्रमाण नहीं है । किसी भी प्रकार से पदों को जोड़ने के लिये वाचकलुप्तोपमा अलंकार की सहायता लेना अनुचित है । अतः 'स्वयंवर विवाह की विधि को प्राप्त करें' यह कहना भी निर्मूल है । हिन्दी अर्थ में 'उस कर्म की योग्यता को प्राप्त करें' यह कहना असम्बद्ध तथा उपहासास्पद है । जो दूसरे विद्वान् तथा विदुषी स्त्रियों को विवाह के लिये प्रेरणा देता है, वह स्वयं को उसके अयोग्य मानकर उसकी योग्यता की प्राप्ति के लिये इच्छा कर रहा है, यह विचित्र कल्पना है ॥१३॥

मन्त्रार्थ– बुद्धि कहती है कि हे भूतात्माओं, मैं तुम्हारी वाक् इन्द्रिय को शुद्ध करती हूँ, तुम्हारे प्राण, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और नाभि को शुद्ध करती हूँ, तुम्हारी लिंगेन्द्रिय, गुदेन्द्रिय और चरणों को शुद्ध करती हूँ ॥१४॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।६।३) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'वाचं ते' इस कण्डिका के मन्त्रों से

वा, तथा चक्षुरिन्द्रियं शुद्धं करोमि। श्रोत्रेन्द्रियं नाभिच्छिद्रं मेढ्रं लिङ्गं पायुं गुदं गुह्येन्द्रियं चरित्रान् चरण(गमन)साधनभूतान् पादान्, चरन्ति गच्छन्त्येभिरिति, एवमादीनि त्वदीयानि सर्वाणीन्द्रियाणि शुन्धामि। 'तद्यदद्भिः प्राणानुपस्पृशति जीवं वै देवानाᳬं हविरमृतममृतानामथैतत् पशुं घ्नन्ति यत्संज्ञपयन्ति यद्विशासत्यापो वै प्राणास्तदस्मिन्नेतान् प्राणान् दधाति तथैतमेतज्जीवमेव देवानाᳬं हविर्भवत्यमृतममृताम्' (श.३।८।२।४)। पशोः प्राणमुखनासाचक्षुरादीन्यद्भिः पत्नी उपस्पृशति, प्रक्षालयतीत्यर्थः। उपस्पर्शनं पशोः सजीवत्वकरणात्मना प्रशंसति – जीवं वै देवानां हविरमृतमिति। पदद्वयं व्याचष्टे – देवा अमृता अमृतधर्माणः, जीवनमप्यमृतं मृतिरहितम्, अतो योग्यत्वाद्देवानां जीवनं युज्यते। तस्मादमृतानीति देवानां हविरप्यमृतं जीवनयुक्तमेव युक्तम्। यत्पशुं घ्नन्ति संज्ञपयन्ति तद् हननात्मकमेव भवति। अतो हेतोरस्य देवहविषः पशोः प्राणापेक्षणात्, अपाम् 'आपोमयः प्राणः' (छा.उ.६।५।४) इति श्रुत्या प्राणरूपत्वाद् मुखादिच्छिद्रेष्वपां क्षेपेण प्राणधारणं सम्पद्यते, ततश्चामृतानां देवानां सजीवनं हविर्दत्तं भवति। अपामुपस्पर्शनं प्रशस्य तस्य पत्नीकर्तृकत्वं प्रशंसति – 'अथ यत्पत्न्युपस्पृशति। योषा वै पत्नी योषायै वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते तदेनमेतस्यै योषायै प्रजनयति तस्मात् पत्न्युपस्पृशति' (श.३।४।२।५)। योषायै योषायाः सकाशाद् इमाः प्रजाः प्रजायन्ते। तस्मात्तस्या योषायाः पत्न्याः सकाशादेव तत्कर्तृकोपस्पर्शनेन पशोरपि जीवनं जायते।

'सोपस्पृशति वाचं ते शुन्धामीति मुखं प्राणं ते शुन्धामीति नासिके चक्षुस्ते शुन्धामीत्यक्ष्यौ श्रोत्रं ते शुन्धामीति कर्णौ नाभिं ते शुन्धामीति योऽयमनिरुक्तः प्राणो मेढ्रं ते शुन्धामीति वा पायुं ते शुन्धामीति योऽयं पश्चात् प्राणस्तत्प्राणान् दधाति तत्समीरयत्यथ सᳬंहृत्य पदश्चरित्रांस्ते शुन्धामीति पद्भिर्वै प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठित्या एव तदेनं प्रतिष्ठापयति' (श.३।४।२।६)। अवयवावयविभेदेनोपस्पर्शनमन्त्रभागमाह – वाचं ते शुन्धामीतीति। मुखं वदनम्। हे पशो, ते प्राणं प्राणनं मुखनासिकाभ्यामुत्पद्यमानं प्राणवायुं शुन्धामि विशुद्धं करोमि। चक्षुःश्रोत्रे दर्शनश्रवणशक्तीन्द्रिये। नाभिं ते शुन्धामीति। योऽयमनिरुक्तोऽनभिव्यक्तप्राणस्तं शुन्धामि। पश्चात् प्राणः, अधस्ताद्वर्तमानोऽपानः, तं तत्र पायौ स्थापयति। अथ संहृत्य पदः पादानेकीकृत्य चरित्रांस्ते शुन्धामीति पादानपि शोधयति। पादशोधनं प्रशंसति – पद्भिरिति। पद्भिर्वै प्रतितिष्ठति। तस्मात् तदुपस्पर्शनेनैनं प्रतिष्ठापयति।

अध्यात्मपक्षे तु – साधकप्रार्थितो भगवानेव साधकमाश्वास्य स्वानुग्रहेण साधकस्य वागादीनि शोधयति शुद्धानि करोति। येन शुद्धान्तर्बाह्यकरणः साधकः परमेश्वरं प्रपद्यते। आचार्योऽप्यभिमन्त्रितजलसिञ्चनेन शिष्यमभिषिच्य वागादीनि शोधयति। मन्त्रव्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

यजमानपत्नी पशु के मुख, नासिका आदि अंगों को जल से शुद्ध करती है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – साधक के द्वारा प्रार्थित भगवान् ही साधक को आश्वस्त करते हुए अपने अनुग्रह के द्वारा साधक की वाणी आदि को शुद्ध करते हैं, जिससे अन्तःकरण तथा बाह्य इन्द्रियों से साधक शुद्ध होकर परमेश्वर को प्राप्त करता है। गुरु भी अभिमन्त्रित जल के सिंचन से शिष्य को अभिषिक्त करते हुए वाणी आदि का शोधन करता है। मन्त्रार्थ तो पूर्व की ही भांति इस प्रकार है – तुम्हारी वाणी, नासिका, नेत्र, नाभि, मेढ्र, गुह्य तथा पैरों को शुद्ध करता हूँ।

दयानन्दस्तु– 'कथं ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया स्वस्वान्तेवासिनं सद्गुणेषु प्रकाशयन्तीत्यनेनोपदिश्यते । हे शिष्य, विविधशिक्षाभिस्तेऽहं वाचं शुन्धामि । प्राणं चक्षुः श्रोत्रं नाभिं मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं तु शुन्धामि' इति, तदपि निर्मूलं निरर्थकं च, शिक्षाभिर्मुखप्राणमेढ्रपाय्वादिशोधनासम्भवात् । दयानन्दस्तु– 'गणानां त्वा गणपतिम्' (वा.सं.२३।१९) इति स्थलीयं मृताश्वशोधनपरं महीधरादिव्याख्यानमश्लीलत्वेन दूषयति । यद्यपि तद् व्याख्यानं ब्राह्मणादिसम्मतमिति भूमिकायां प्रदर्शितम्, परं स्वयं कीदृशं व्याख्यातीति न वेत्ति । अध्यापका अध्यापयित्र्यश्च कथं ब्रह्मचारिब्रह्मचारिणीनां मेढ्रपाय्वादीनि शिक्षया शोधयिष्यन्तीत्यपि तेन वक्तव्यमासीत् । अस्य व्याख्याने श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥१४॥

मनस्त आप्यायतां वाक्त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायताᳪं श्रोत्रं त आप्यायताम् । यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳪं हिᳪंसीः ॥१५॥

'अथ या आपः परिशिष्यन्ते । अर्धा वा यावत्यो वा ताभिरेनं यजमानश्च शीर्षतोऽग्रेऽनुषिञ्चतस्तत्प्राणांश्चैवास्मिस्तत्तौ धत्तस्तच्चैनमतः समीरयतः' (श.३।८।२।७) । परिशिष्टाभिरर्धाभिरल्पीयसीभिर्वाद्भिर्यजमानश्चकाराद‍ध्वर्युश्च पशोः शीर्षाग्रं प्रथमं तदारभ्य निषिञ्चतः । तौ यजमानाध्वर्यू तत् तेन निषिञ्चनेन पशोः प्राणान् धत्तो धारयतः । तत् तेनैनं पशुमतोऽस्मात् स्थानात् समीरयतः सजीवत्वं कुरुतः । कात्यायनोऽपि– 'शेषेण यजमानश्च शिरःप्रभृत्यनुषिञ्चतो मनस्त इति शिरः' (का.श्रौ.६।६।४) । पात्रेजनशेषेण यजमानोऽध्वर्युश्च पशोः शिरःप्रभृत्यङ्गान्यनुषिञ्चेतामिति विलिङ्गत्वादस्य मन्त्रस्योक्तसूत्रेण विनियोगमुक्तवान् । वाक् त आप्यायतामित्यादिमन्त्राणां तु लिङ्गबलादेव विनियोगः सिद्ध इति स सूत्रकृता नोक्त इति । शतपथीयसायणभाष्ये तु पत्नीयजमानौ शिरःप्रभृत्यनुषिञ्चत इत्युक्तम् । काण्वसंहितासायणभाष्ये तु पत्न्या पश्ववयवजातं येनोदकेन शोधितं तेनोदकशेषेणाध्वर्युयजमानौ पशोः शिरआद्यङ्गान्यनुक्रमेण सिञ्चेतामित्युक्तम् । उव्वटमहीधराभ्यामपि तदेवोक्तम् । सूत्रभाष्यकारादयोऽपि तथैव वदन्ति । तस्माच्छतपथीयं व्याख्यानं

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में शिक्षाओं के द्वारा मुख, प्राण आदि की शुद्धि असंभव होने के कारण **निरर्थकता है ।** यद्यपि स्वामी दयानन्द ने 'गणानां त्वा' आदि मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में महीधर आदि आचार्यों के अर्थ **को अश्लील मानते हुए** आलोचना की है । परन्तु उन्होंने स्वयं इस मन्त्र की कैसी व्याख्या की **है** ? अध्यापक तथा अध्यापिकाएं **कैसे ब्रह्मचारी तथा** ब्रह्मचारिणियों के गुह्यादि को शिक्षा के द्वारा शुद्ध करेंगे, यह भी वक्तव्य है ? इस व्याख्या में श्रुति तथा सूत्र का **विरोध तो स्पष्ट** ही है ॥१४॥

मन्त्रार्थ– हे भूतात्मन्, तुम्हारा मन सारूप्य मोक्ष को पाने के लिये समष्टिभाव को प्राणरूप में प्राप्त करे, तुम्हारी वागिन्द्रिय, तुम्हारे प्राण, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय समष्टिभाव को पावें । तुम्हारा कष्टदायक संसारबन्धन शान्त होकर द्वैतभाव-रहित होकर एकीभावरूप ब्रह्मभाव को प्राप्त करे । तुम्हारे देवयान सम्बन्धी दिन कल्याणमय हों । हे इन्द्रियों की शक्तियों, मेरी रक्षा करो, उन्मार्ग में मत जाओ । हे मन, इस भूतात्मा को संसारबन्धन में डाल कर नष्ट मत करो ॥१५॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।६।४-९) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'मनस्ते' इस कण्डिका के मन्त्र यजमान

शोधकप्रमादादशुद्धमेवेति मन्तव्यम् । हे पशो, ते त्वदीयं मन आप्यायतां शाम्यतु । एवं त्वदीयानि वाक्पाणिचक्षुःश्रोत्राणि शाम्यन्तु ।

'तद्यत् क्रूरीकुर्वन्ति यदास्थापयन्ति तदद्भिः शान्त्या शमयत सादं सन्धत्तः' (श.३।८।२।८) । 'तावनुषिञ्चतः मनस्त....' (श.३।८।२।९) । 'यत्ते क्रूरमित्यङ्गानि' (का.श्रौ.६।६।५) । सर्वाण्यङ्गान्यनुषिञ्चतः । हे पशो, ते तव यद्बन्धनमुखनिरोधादिकं क्रूरमस्माभिः कृतम्, यच्च च्छेदादिकमास्थितं कर्तुमास्थितं शमित्रा, तत्सर्वमाप्यायतां शाम्यतु । किञ्च, तत्सर्वं तव निष्ट्यायतां सहतं भवतु । 'ष्ट्यै संघाते' । तत्सर्वं तव शुद्ध्यतु शुद्धं भवतु । 'शमहोभ्य इति जघनेन पशुं निनयतः' (श.३।८।२।११) । शमहोभ्य इति पशोर्जघनप्रदेशं निनयतः । 'शमहोभ्य इति पश्चात् पशोर्निषिञ्चतः' (का.श्रौ.६।८।६) । पशोर्जघनप्रदेशे पान्नेजनशेषमुभावपि निनयतः ।

मन्त्रार्थस्तु – दिवसादिकालविशेषेभ्यः शं सुखमस्माकं पशोश्च भूयात् । 'अथोत्तानं पशुं पर्यस्यन्ति । स तृणमन्तर्दधात्योषधे त्रायस्व उत्तानं पशुं कृत्वाऽग्रेण नाभिं तृणं निदधात्योषध इति । अध्वर्युः पशुमुत्तानं कृत्वा नाभेरग्रतो वपायाः स्थाने अङ्गुलचतुष्टयं त्यक्त्वा प्रागग्रतृणं निदध्यात् । हे ओषधे दर्भतृण, एनं त्रायस्व हननादिदुःखादेनं रक्ष । 'सा या प्रज्ञाताश्रिः । तयाभिनिदधाति सा हि यजुष्कृता मेध्या' (श.३।८।२।१३) । या पूर्वं पश्वञ्जनायासीद् याभिर्निदध्यात् सा यथा पशोरुपरि भवति, तथा स्थापयित्वा छिन्द्यात् । 'स्वधित इति प्रज्ञतयाऽभिनिधाय छित्त्वा' (का.श्रौ.६।६।९) । स्वधित इति मन्त्रेण कृतचिह्नां घृताक्तामसिधारां तृणस्योपरि निधाय तूष्णीं सतृणामुदरत्वचं तिर्यक् पाटयेत्, हे स्वधिते ! एनं मा हिंसीरिति ।

अध्यात्मपक्षे तु – परमेश्वरः प्रसन्न आचार्यो वा साधकं शिष्यमाशीर्भिराप्याययति । हे साधक, ते मन आप्यायतां ज्ञानवैराग्यविवेकादिभिराप्यायताम्, विशिष्टसामर्थ्यशालितामुपगच्छतु । तथैव वाग् हितमितसत्यसूनृतभाषणादिभिराप्यायताम् अवन्ध्यतामुपैतु । प्राणो मुखनासिकाभ्यामुत्पद्यमानः प्रच्छर्दनविधारणादिभिर्विशिष्टशक्तिमत्तामुपगच्छतु । चक्षुः श्रोत्रं च नियन्त्रणजनितलोकोत्तरसामर्थ्यप्राप्त्या दूरदर्शनदूरश्रवणोपेते सम्पद्येताम् । यत्ते प्रमादात् क्रूरं क्रूरभाषणाचरणादि यच्चास्थितं संज्ञपनादिकं तत्सर्वमाप्यायतां शाम्यतु । तादृशक्रौर्यसञ्जातशक्तिक्षयेण परिम्लानस्तवात्मा कार्यकरणसङ्घातः शुभाचरणतपोभिर्गुरुपरमेश्वराशीर्भिश्च पुनराप्यायतां वर्धताम् । निष्ट्यायतां संहतो भवतु । तत्सर्वं ते शुद्ध्यतु । अहोभ्यो दिनोपलक्षितेभ्यः कालविशेषेभ्यस्तव शं कल्याणं भवतु । ओषधे, जातावेकवचनम्, ओषधय एनं साधकं स्वप्रभावैरेनं त्रायन्ताम् ।

के द्वारा पशु के प्रोक्षण, अंगों के प्रोक्षण आदि क्रियाओं में विनियुक्त हैं । शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – परमेश्वर अथवा प्रसन्न गुरु साधक शिष्य को आशीर्वादों से अभिषिक्त करता है कि हे साधक, तुम्हारा मन ज्ञान, वैराग्य आदि से विशिष्ट सामर्थ्य को प्राप्त करे । इसी प्रकार वाणी भी हित, मित, सत्य, सूनृत आदि भाषण से अमोघ हो । मुख, नासिका से उत्पन्न होने वाला प्राणवायु विशिष्ट शक्तिमान् बने । नेत्र तथा कर्ण भी लोकोत्तर सामर्थ्य की प्राप्ति के द्वारा दूरदृष्टि तथा दूरश्रवण के सामर्थ्य से युक्त हों । प्रमाद के कारण तुम्हारा जो क्रूर आचरण तथा हिंसादि व्यापार है, वह सब शान्त हो जाय । शुभ आचरण, तपस्या, गुरु तथा परमेश्वर के आशीर्वाद से तुम्हारी आत्मा पुनः परिवर्धित हो, संहत हो तथा परिशुद्ध हो । दिन आदि समस्त कालों में तुम्हारा कल्याण हो । हे औषधियों, इस साधक को अपने प्रभाव से रक्षित कीजिये । हे शस्त्रास्त्र, अभिचारादि, मेरी आज्ञा से तथा आशीः से इसको हिंसित मत करो । जिस प्रकार वाल्मीकिरामायण

स्वधितयः शस्त्रास्त्राणि पराभिचारादयश्च घातका मदाज्ञयाशीर्भिश्चैनं मा हिंसीर्न घ्नन्तु । यथा 'शीतो भव हनूमतः' (वा.रा.सु.५३।२८) इति सीताया आशिषाज्ञया च दाहकोऽपि वह्निः शीतः सम्पन्न इति तद्वत् ।

दयानन्दस्तु – 'हे शिष्य, मदीयशिक्षणेन ते तव मन आप्यायताम् । ते वाक्....चक्षुः...श्रोत्रं....तद्यत् क्रूरं दुश्चरित्रं तन्निष्ट्यायतां दूरं गच्छतु । यत्ते तवास्थितं निश्चितं तदाप्यायताम् । इत्थं ते सर्वं शुद्ध्यतु । अहोभ्यो दिनेभ्यस्तुभ्यं शमस्तु । अथ स्वस्वामिनि शिष्यलालनापरं गुरुपत्नीवाक्यम् – हे ओषधे विज्ञानवराध्यापक, त्वमेनं शिष्यं त्रायस्व मा हिंसीः । स च स्वपत्नीं प्रत्याह – स्वधितेऽध्यापिके स्त्रि, त्वमेनां त्रायस्व मा हिंसीश्च' इति, तत्सर्वमेव स्वातन्त्र्यमूलकम्, शिक्षणेन मनसि ज्ञानसम्भवेऽपि शुद्धेः शिक्षणजन्यत्वे प्रमाणाभावात्, स्वधर्मानुष्ठानादधर्मपरिवर्जनाच्च शुद्धिसम्भवात् । एवं प्राणचक्षुराद्याप्यायनानामपि शिक्षणजन्यत्वं चिन्त्यम् । क्रूरपदेन दुश्चरित्रग्रहणमपि निष्प्रमाणमेव, अक्रूराणां परस्त्र्यादिसंसर्गिणामपि दुश्चरित्रत्वानपायात् । तथैव 'निष्ट्यायतां दूरीगच्छतु' इत्यपि निर्मूलम् । ओषधिस्वधितिशब्दाभ्यामध्यापकाध्यापिकाग्रहणमपि स्वेच्छामूलकमेव । पदार्थभाष्ये संहन्यतामित्यर्थकरणमपि तत्प्रतिकूलमेव । मैनमिति स्थाने मैनामिति कल्पनमपि स्वैरितैव, विपरिणामस्वातन्त्र्ये वेदार्थेऽनाश्वासप्रसङ्गात् । सनातनिसम्मतेषु भाष्येषु श्रुतिसूत्रानुसारेणैव तत्र तत्र वक्तृश्रोतृकल्पनमिति स्पष्टमेव ॥१५॥

रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳ रक्ष इदमहꣳ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाध इदमहꣳ रक्षोऽधमं तमो नयामि । घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वेस्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम् ॥१६॥

में – 'शीतो भव हनूमतः' माता सीता की इस आज्ञा तथा आशीर्वाद से अग्नि शीतल हो गई ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ स्वच्छन्दतामूलक है । प्राण, चक्षु आदि का आप्यायन शिक्षा से होना शोचनीय है । क्रूर शब्द से 'दुश्चरित्र' अर्थ ग्रहण करना अप्रामाणिक है । क्रूर न होने वाले परस्त्रीसंसर्गादि कर्ताओं का दुश्चरित्रत्व भी संभव ही है । 'निष्ट्यायताम्' का अर्थ 'दूर चला जाय' इस प्रकार करना भी निर्मूल है । ओषधि तथा स्वधिति शब्दों से अध्यापक तथा अध्यापिका अर्थ निकालना भी स्वेच्छाचारिता है । सनातनधर्म-संमत भाष्यों में श्रुति तथा सूत्र के वचनों के अनुसार ही वक्ता तथा श्रोता का निर्देश स्थान-स्थान पर किया गया है ॥१५॥

मन्त्रार्थ– हे क्रोध आदि के समूह, तुम राक्षस के समान काम आदि के भाग हो, योगयज्ञ में विघ्न करने वाला अज्ञान नष्ट हो गया है । मैं इस राक्षस रूप अज्ञान को पावों तले रौंद रहा हूँ, इस अज्ञान को पूरी तरह से नष्ट कर रहा हूँ । मैं इस अज्ञान को उसके अतिनिकृष्ट उत्पत्तिस्थान तमोगुण में पहुँचाता हूँ । हे मेरे हृदय और मन, तुम दोनों इन्द्रियों की शक्ति से अपनी आत्मा को परिपूर्ण करो । हे प्राणवायु, तुम ब्रह्मरन्ध्र से टपकने वाली अमृतरस की बूँदों का पान करो, आत्माग्नि इन्द्रियों की शक्तियों का पान करे, ब्रह्मज्ञान का उपदेश पाकर तुम दोनों व्यष्टि और समष्टि के प्रतिबिम्ब ब्रह्मरन्ध्ररूप आकाश में वर्तमान समष्टि वायु का पान करो ॥१६॥

'तद्यदग्रं तृणस्य तत्सव्ये पाणौ कुरुतेऽथ यद्बुध्नं तद्दक्षिणेनादत्ते' (श.३।८।२।१३)। 'स यत्राच्छ्यति यद् एतल्लोहितमुत्पतति तदुभयतोऽनक्ति रक्षसां भागोऽसीति रक्षसाꣳ ह्येष भागो यदसृक्' (श.३।८।२।१४)। तत् तस्य छिन्नस्य दर्भस्य यदग्रं तत् सव्ये पाणौ गृहीत्वा यन्मूलं तद्दक्षिणेनादाय यत्र यस्मिन् प्रदेशे आच्छ्यति आच्छिनत्ति, तत्र प्रदेशे यतो यस्माल्लोहितमुत्पतति तत्र च मूलतृणस्य उभयतो मूलमग्रं चानक्ति रक्षसामिति मन्त्रेण। कात्यायनोऽपि तथैवाह – 'अग्रꣳ सव्ये कृत्वा दक्षिणेन मूलमुभयतोऽनक्ति लोहितेन रक्षसामिति' (का.श्रौ.६।६।८)। सतृणाया उदरत्वचश्छेदने तृणाग्रपृथग्भूतं सव्ये हस्ते कृत्वा दक्षिणहस्तेन तृणमूलं द्विगुणीकृत्य अग्रे मूले च छेदनस्थाने समुत्पन्नेन पशो रुधिरेणाञ्जयात्। तेनायं मन्त्रार्थः – हे लोहिताक्त तृण, त्वं रक्षसां भागोऽसि। 'तदुपास्याभितिष्ठति। इदमहꣳ रक्षो.....नयामीति' (श.३।८।२।१५)। तद् दर्भाग्रम् इदमहमिति यजमानोऽतिक्रामति। कात्यायनोऽपि – 'निरस्तमित्यपास्यति' (का.श्रौ.६।६।९)। अध्वर्यू रुधिराक्तं तृणमूलमुत्करे प्रक्षिपेत्। 'इदमहमित्यभितिष्ठति यजमानः' (का.श्रौ.६।६।१०)। अध्वर्युणा उत्करे क्षिप्तं तृणमूलं पादेनाक्रमेद् यजमानः। तथा चायं मन्त्रार्थः – तदिदं रक्षः, अहं यजमानोऽभितः पादेनाक्रम्य तिष्ठामि, न केवलं स्थितिमात्रम्, किन्तु अहमिदं रक्षोऽवबाधे, अवाचीनं यथा भवति तथा नाशयामि। अहमिदं रक्षोऽधममत्यन्तं निकृष्टं तमो नयामि नरकं प्रापयामि। निकृष्टमन्धकारं भूमेरधस्ताद्वर्तमानं तम एव प्रापयामि। 'अथ वपामुत्खिदति। तया वपाश्रपण्यौ प्रोर्णौति घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथामिति' (श.३।८।२।१६)। तया उद्धृतया वपया वपाश्रपण्योः शाखयोरुपरि प्रोर्णौति प्रच्छादयेद् घृतेन द्यावापृथिवीति मन्त्रेण। कात्यायनोऽपि – 'वपामुत्खिद्य वपाश्रपण्यौ प्रोर्णौति घृतेन द्यावापृथिवीति' (का.श्रौ.६।६।११)। पाटितात् पशोरुदराद् वपां निष्काश्य तया वपया वपाश्रपण्यौ प्रकर्षेणाच्छादयेद् घृतेनेति। उदरदेशेऽवस्थितो वपाख्यो मांसविशेषः। तां श्रपयतीति वपाश्रपणी। हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ द्युलोकभूलोकसदृश्यौ वपाश्रपण्यौ, भवदीयस्वरूपं घृतेन आज्येन तत्सदृश्या वपया प्रोर्णुवाथामाच्छादयतम्। यद्वा युवां वपाश्रपण्योराच्छादनद्वारा घृतेन दीप्यमानेन वपापदार्थेन प्रोर्णुवाथां प्रकर्षेणाच्छादयेथाम्।

अत्रैव शतपथे देवानां पश्वालम्भे – उदीच आकृष्यमाणस्यावाङ् मेधः पपात स एष वनस्पतिरजायत। यद्यत् कृष्यमाणस्यावाङ्पतनात् तस्य कष्मरीति नामधेयं जातं तेन मेधेन समर्धति कृत्स्नं करोति तस्मात् काष्मर्यमय्यौ वपाश्रपण्यौ भवत इत्युक्तम् – काष्मर्यमय्यौ वपाश्रपण्यौ भवतः' (श.३।८।२।१७)। यद्वा हे द्यावापृथिव्यौ, युवां घृतेनोदकेन आत्मानं प्रोर्णुवाथाम् आच्छादयेथाम्। परस्परम् आहुतिपरिणामाभिप्रायेणैतत्, 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इत्युपक्रम्य 'आहुतिपरिणाममिदं जगत्' इति श्रुतेः। 'तदिमे द्यावापृथिवी उर्जा रसेन मार्जयत्यनयोरूर्जꣳ रसं दधाति ते रसवत्या उपजीवनीये इमाः प्रजा उपजीवन्ति' (श.३।६।१।२१)। घृतेन यद् द्यावापृथिवीपूरणम्, तदूर्ग्ररसेनैव द्यावापृथिवीपूरणं कृतं भवति, तेन द्यावापृथिवी रसवत्यौ उपजीवनीये इमाः प्रजा उपजीवन्तीति। 'तां परिवासयति। तां पशुश्रपणे प्रतपति तथो हास्यात्रापि शृता भवति पुनरुल्मुकमग्नीदादत्ते तेन जघनेन चात्वालं यन्ति ता आयन्त्यागच्छन्त्याहवनीयꣳ स एतत्तृणमध्वर्युराहवनीये प्रास्यति वायो वेः स्तोकानामिति स्तोकानाꣳ ह्येषा समित्' (श.३।८।२।१८)। तां तयोरुपसृतां परिवासयति पशोः सकाशाच्छिनत्ति। छिन्नां तां पशुश्रपणे पशुः श्रप्यतेऽस्मिन्नग्नौ स तत्र प्रतपति। तथा सत्यस्य पशोर्वपाऽत्रापि शृता भवति। अत्रापीत्यत्र अपिशब्द आहवनीयेन समुच्चयार्थः। पुनरुल्मुकमिति। प्रागाहृतमुल्मुकं श्रपणार्थमाहृताङ्गारं पुनरग्नीदादाय सर्वेऽपि चात्वालात् पश्चाद्

भाष्यसार – 'रक्षसां भागः' इस कण्डिका के मन्त्रों के द्वारा कुशा के मूल एवं अग्रभाग का अंजन, उत्कर में प्रक्षेप आदि कार्य

भागादाहवनीयं प्राप्नुयुः । तत्राध्वर्युरेतत्पुरा सव्ये धृतं तृणाग्रमाहवनीये 'वायो वेः' इति प्रास्येत् । तथैव कात्यायनोऽपि – 'परिवास्य चात्वालेऽवसिच्य शामित्रे प्रतपति' (का.श्रौ.६।६।१२) । तां वपामुदरसंलग्नां छेदनेन पृथक्कृत्य चात्वाले वपाश्रपणीस्थामेव वपामुदकेन परिषिच्य शामित्रेऽग्नौ प्रतपति प्रतिप्रस्थाता । 'शामित्रैकदेशमाहवनीये प्रास्यत्यग्नीत्' (का.श्रौ.६।६।१३) । सव्ये हस्ते कृतं तृणाग्रं चाहवनीयेऽधुना प्रक्षिपेदध्वर्युः, स्तोकानामिति मन्त्रशेषः । हे वायो, स्तोकानां वपासम्बन्धिनां विप्रुषां वेः, वपाया उपरि आज्याभिघारणकाले पतिता बिन्दवः स्तोकाः, तेषामाधारत्वेन तृणाग्रं समित्स्थानीयम् । स्तोकान् वपाया विप्रुषो जानीहि ज्ञात्वा च पिबेत्यर्थः । स्तोकानामिति कर्मणि षष्ठी । 'विद् ज्ञाने' इत्यस्य लुङि मध्यमैकवचने दस्य 'दश्च' (पा.सू.८।२।७५) इति रुत्वे कृते रूपमिति । अडभाव आर्ष इत्युव्वटमहीधराचार्यौ ।

'अथोत्तरतस्तिष्ठन् वपां प्रतपति' (श.३।८।२।२०) । 'अथ स्रुवेणोपहत्याज्यमध्वर्युर्वपामभिजुहोत्यग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा' (श.३।८।२।२१) । 'अथाज्यमुपस्तृणीते । अथ हिरण्यशकलमवदधात्यथ वपामवद्यन्नाहाग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपायै मेदसोऽनुब्रूहि' (श.३।८।२।२६) । 'हुत्वा वपाꣳ समीच्यौ । वपाश्रपण्यौ कृत्वाऽनुप्रास्यति.... ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतमिति' (श.३।८।२।२८) । कात्यायनोऽपि – 'उत्तरतस्तिष्ठन् प्रतप्य वपामन्तरा यूपाग्नी हृत्वा दक्षिणतः प्रतिप्रस्थाता श्रपयति परीत्य' (का.श्रौ.६।६।१५) । प्रतिप्रस्थाता आहवनीयादुत्तरे तिष्ठन् वपां प्रतप्य ततोऽग्नियूपयोरन्तरालेन वपां हृत्वा स्वयमपि परीत्य, न तूत्तरस्थित एव, आहवनीयाद्दक्षिणदिश्यासीन आहवनीय एव वपां श्रपयेत् । 'वपाꣳ स्रुवेणाभिघारयत्यग्निराज्यस्येति' (का.श्रौ.६।६।१६) । आहवनीयस्योपरि धृतां वपां स्रुवेणाभिघारयेत् । 'स्तोकेभ्योऽनुवाचयति' (का.श्रौ.६।६।१७) । स्तोकेभ्योऽनुब्रूहीति मैत्रावरुणं प्रेष्येत् । 'शृतायाꣳ शृता प्रचरेत्याह प्रतिप्रस्थाता' (का.श्रौ.६।६।१७) । तत उत्तमप्रयाजप्रैषादिकमङ्गग्रामं निर्वर्त्य 'हुत्वा वपाश्रपण्यावनुप्रास्यति प्राचीं विशाखां प्रतीचीमितराꣳ स्वाहाकृते इति' (का.श्रौ.६।६।२४) । अग्निराहवनीय आज्यस्य वेतु आज्यं पिबतु स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु । वपां हुत्वा वपाश्रपण्यावाहवनीये प्रक्षिपेत् । प्रक्षेपप्रकारमाह – विशाखां द्विशृङ्गां प्रागग्राम्, इतरामेकशृङ्गां प्रत्यगग्रां निक्षिपेत् । स्वाहाकृते उच्चारिते प्रास्यति । तत्र प्रासने मन्त्रः – ऊर्ध्वनभसमिति । ऊर्ध्वमुपरिभूतं नभोऽन्तरिक्षं यस्य वायोः स तथोक्तस्तमूर्ध्वनभसं तं मारुतं वायुं हे वपाश्रपण्यौ, स्वाहाकृते स्वाहाकारेण आहुतिभावमुपगते सत्यौ, हे वपाश्रपण्यौ, युवामागच्छतम् । वायुर्हि प्रतिष्ठा यज्ञस्य । याभ्यां शाखाभ्यां वपामशिश्रियां वपाश्रपणमकार्ष्म, ते इमे अमुका अमुत्र समुच्छ्रयरहितेऽनमिते देशे प्रणष्टे न भवत इत्यभिप्रायेणाग्नौ प्रास्यते । अयं वपायोगो विप्रकृष्टकालीनस्याङ्गयागस्य मध्यवर्तिव्यवधानेन क्षुधार्तया देवताया अवान्तरक्षुन्निवर्तकत्वेन विहितोऽतोऽयं क्रोधशान्तिहेतुर्भवतीति स्पष्टम् । 'तद्यद् द्वयया चरन्ति यस्यै देवतायै पशुमालभन्ते तामेवैतद्देवतामेतेन मेधेन प्रीणाति सैषा देवतैतेन मेधेन प्रीता शान्तोत्तराणि हवींषि श्रप्यमाणान्युपरमति तस्माद्वपया चरन्ति ।'

अध्यात्मपक्षे तु – भगवत्पदप्राप्तिप्रतिबन्धकविघ्नसमूहमनुलक्ष्याह – हे विघ्नसमूह, त्वं रक्षसां विघ्नकारिणां रक्षोजातीयानां भागोंऽशोऽसि । भगवदनुसन्धानेन दिव्यदृष्ट्यवलोकनादिना निरस्तं रक्षो दिव्यान्तरिक्ष तमरक्षसां निरसनेन त्वमपि निरस्तो भवेत्यर्थः । अहं गुरुपरमेश्वरादिकृपापीयूषाप्यायितो रक्षोऽभितिष्ठाम्यतिक्रम्य तिष्ठामि ।

किये जाते हैं । याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।६।८-१८,२५) में उल्लिखित है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

न केवलमेतावदेव, किन्त्वहमिदं रक्षोऽवबाधे समूलमुन्मूलयामि । 'अधममिदं रक्षः । अधमं तमो नयामि निकृष्टं तमो नयामि । हे द्यावापृथिवी, युवां घृतेन प्रोर्णुवाथां मातापितृरूपे दिव्यदम्पती गौरीशङ्करौ सीतारामौ राधाकृष्णौ वा घृतेन स्नेहेन परस्परमात्मानमाच्छादयेथाम्, तदनुभवेनैव भक्तानामभीष्टसिद्धेः । परस्परगौरश्यामतेजःसंवलितं परस्परालिङ्गितं प्रहृष्टं ब्रह्मज्योतिर्भक्तानां सर्वपुरुषार्थसाधकं भवति । हे वायो मत्प्राणभूत, त्वं स्तोकानां दिव्यदम्पत्योः प्रेमबिन्दून् वेः पिब, पीत्वा कृतार्थो भव । अग्निः परमेश्वरः शक्तिमदधिष्ठानचेतनमाज्यस्यआज्यम् , शेषे षष्ठी, त्वद्विषयकं भक्ताश्रयं प्रेम वेतु जानातु । तस्मै स्वाहा सर्वस्वं निवेदितमस्तु । हे दिव्यदम्पती द्यावापृथिव्यौ, युवां स्वाहाकृते परस्परात्मसमर्पणेनान्योन्यात्मतामुपगते । ऊर्ध्वं नभ आकाशो यस्मात् तम् ऊर्ध्वनभसं मारुतं बहिश्चरं प्राणं त्वत्प्रियमुपासकमुपगच्छतम् ।

दयानन्दस्तु – 'शिष्यवर्गेषु यथायोग्योपदेशकरणमनेन मन्त्रेणाह – हे दुष्टकर्मकारिन्, त्वं रक्षसां भागोऽसि, अतो रक्षो निरस्तं भव । अहमिदं रक्षोऽधितिष्ठामि, तिरस्करणाय तदभिमुखमुपविशामि । अहमिदं दुष्टस्वभाविनमवबाधे अर्वाचीनो यथा स्यात्तथा हन्मि । अहमिदं रक्षोऽधमं तमो नयामि दुःसहदुःखं प्रापयामि । श्रेष्ठगुणग्राहिणं शिष्यमुपदिशति – हे वायो गुणग्राहकशिष्य, त्वं स्तोकान् सूक्ष्मेभ्योऽपि सूक्ष्मान् व्यवहारान् वेः विद्धि । त्वद्यज्ञशोधितेन घृतेन द्यावापृथिवी आच्छादयेताम् । अग्निः समस्तविद्यापन्नो विद्वान् , तवाज्यस्य स्नेहद्रव्यं स्वाहा वेतु जानातु । तथा स्वाहाकृते पूर्वोक्ते द्यावापृथिव्यौ ऊर्ध्वनभसं त्वद्यज्ञशोधितजलमूर्ध्वप्रापकं मारुतं गच्छतम्' इति, तदपि बालप्रलपितमेव, विरुद्धत्वात् । नहि रक्षसां भागोऽसीत्युपदेशवचनं सम्भवति, न चामुखस्थितिस्तिरस्कारकारणं भवति, प्रसादनायापि तत्सम्भवात् । न चोपदेष्टॄणां हनने प्रवृत्तिः सम्भवति, तस्य शासनकार्यत्वात्, प्रमादात्तथात्वे दण्ड्यत्वापातात्, स्तोकशब्दस्य स्वल्पार्थत्वे सत्यपि सूक्ष्मार्थत्वाभावाच्च । अत एव 'स्तोकान् विद्धि' इत्यस्य स्वल्पान् विद्धीत्येवार्थः सम्भवति, न तु सूक्ष्मान् , नेतरान् सूक्ष्मेभ्योऽपि सूक्ष्मानिति । त्वद्यज्ञशोधितेन घृतेनेत्यपि निर्मूलम्, शब्दार्थबहिर्भूतत्वात् । न च शोधितेनापि घृतेन द्यावापृथिव्योराच्छादनं सम्भवति । वायुपदस्य गुणग्राहकशिष्योऽर्थ इत्यपि निर्मूलम् , तथैवाग्निपदस्य प्राप्तविद्यो विद्वानर्थ इत्यपि प्रसिद्धिविरुद्धमेव । कथं च द्यावापृथिव्योर्मारुतं प्रति

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – भगवत्पद की प्राप्ति के प्रतिबन्धक विघ्नसमूह को लक्ष्य करके कहा गया है कि हे विघ्नसमूह, तुम विघ्नकारी राक्षसों के अंश हो, भगवदन्वेषण से दिव्य दृष्टि के अवलोकन के द्वारा अन्य राक्षसों के निरास के साथ ही तुम भी निरस्त हो जाओ । मैं गुरु, परमेश्वर आदि की कृपासुधा से सिंचित होकर राक्षसों का अतिक्रमण करके खड़ा हूँ । इतना ही नहीं, मैं राक्षसों को समूल नष्ट करता हूँ । इस अधम राक्षस को निकृष्ट अन्धकार में पहुँचाता हूँ । हे द्यावापृथिवी, मातापितारूपी दिव्यदम्पती गौरीशंकर, अथवा सीताराम या राधाकृष्ण, आप दोनों स्नेह से परस्पर समाच्छादित रहें, क्योंकि इसके अनुभव से ही भक्तों के अभीष्ट की सिद्धि होती है । परस्पर गौरश्याम तेज से संवलित आनन्दरूप ब्रह्मज्योति भक्तों के सम्पूर्ण पुरुषार्थ की साधिका है । ओ मेरे प्राणवायु, तुम दिव्य दम्पती के स्नेहबिन्दुओं को पीकर कृतार्थ होओ । परमेश्वर तुमसे सम्बद्ध भक्ताश्रय प्रेम को जानें । उसके लिये सर्वस्व निवेदित है । हे दिव्यदम्पती, आप दोनों परस्पर आत्मसमर्पण के द्वारा अन्योन्याश्रित हैं । बहिश्चर प्राण आपके उपासक को प्राप्त हों ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ विरुद्ध होने के कारण बालोक्ति की भांति है । 'तुम राक्षसों के भाग हो' उपदेशवचन इस प्रकार होना संभव नहीं है । उपदेशकों की प्रवृत्ति हिंसा में नहीं हो सकती, क्योंकि यह तो शासन का कार्य है । यदि प्रमाद से कोई हिंसा करना है, तो वह दण्ड का भागी हो जाता है । स्तोक शब्द 'स्वल्प' अर्थ का बोधक होने पर भी 'सूक्ष्म' अर्थ का

गमनं सम्भवति ? मूले स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतमित्युक्तम्, त्वया तु तद्यज्ञशोधितजलमूर्ध्वप्रापकं मारुतं गच्छतमित्युच्यते, तच्चाशुद्धमेव ॥१६॥

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् । आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥१७॥

'अथ चात्वाले मार्जयन्ते । क्रूरी वा एतत्कुर्वन्ति यत्संज्ञपयन्ति यद्विशासति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयन्ते तदद्भिः सन्दधते तस्माच्चात्वाले मार्जयन्ते' (श.३।८।२।३०) । कात्यायनोऽपि – 'चात्वाले मार्जयन्ते सपत्नीका इदमापः प्रवहतेति' (का.श्रौ.६।६।२५) । चात्वालसमीपे षड् ऋत्विजो यजमानः पत्नी चाद्भिरात्मानं मार्जयन्ते अभ्युक्षन्ति । मार्जयन्त इति स्वार्थे णिच् । अब्देवत्या त्र्यवसाना महापङ्क्तिः । पावमानश्चान्त्यः पादः । यस्याः षट् पादा अष्टाक्षरा सा महापङ्क्तिः । हे आपः, इदं पशुसंज्ञपनादिनिमित्तं पापं प्रवहत मत्तोऽपनयत । यच्चावद्यमवदनीयमभिशापादि यच्च मलं शरीरलग्नं प्रसिद्धं तच्च प्रवहत । किञ्च, यदहमनृतमसत्यमुक्त्वाऽभिदुद्रोह द्रुग्धवानस्मि 'द्रुह जिघांसायाम्', यच्चाहमभीरुणं बिभेतीति भीरुर्न भीरुरभीरुस्तमभीरुणमनपराधिनम् । अपराधी हि बिभेति नानपराधी । तादृशमनपराधिनं शेपे शपितवानस्मि । अनपराधिनं प्रति मया शापो दत्तः, तस्मादेनसः पापाद् आपो मा मां मुञ्चन्तु पृथक्कुर्वन्तु । पवमानश्च वायुः सोमो वा तस्मादेनसो मां मुञ्चतु ।

अध्यात्मपक्षे – आपो गङ्गादिगता मन्त्रैरभिमन्त्रिता वा । हे आपः, यूयमिदं पापं प्रवहतु, यच्चावदनीयमभिशापादि यच्च मलं प्रमादकृतं शरीरलग्नं यच्चानृतमभिदुद्रोह यच्च शेपेऽभीरुणम्, यद्वा अभितो लुनाति छिनत्ति सत्कर्माणि यदुच्चरितं सत्तदभीरुणम् अनृतभाषणं तस्माद् मां साधकमापो मुञ्चन्तु । पवमानो वायुः सोमो वा नाममात्रेण पवमानो भगवान् परमेश्वरश्च मां सर्वस्मात् पापाद् मुञ्चतु मोचयतु ।

दयानन्दस्तु – 'भो आपः, सर्वविद्याव्यापिनो विपश्चितः, यूयं यथापः शुद्धिकरास्तथा मम यदवद्यं निन्द्यं कर्म यच्च मलमविद्यारूपं तदिदं प्रवहत । यदहमनृतं कञ्चनाभिदुद्रोह यद् अभीरुणमनपराधिनं पुरुषं शेपे, तस्मादेनसो

बोध नहीं करा सकता । वायु शब्द का 'गुणग्राहक शिष्य' अर्थ करना, 'अग्नि' शब्द का अर्थ विद्वान् करना प्रसिद्धि के विरुद्ध है ॥१६॥

मन्त्रार्थ – हे ज्योतिरसामृतरूप जलदेवता, कामनाओं के दाता, हमारे इस अज्ञान को दूर करो, निन्दित विषयभोग, ज्ञान का आवरक मल और अहंकारममकार युक्त मिथ्यामोह, इन सबको आप नष्ट कर दो । अद्वैत आत्मा को ब्रह्म से पृथक् जान कर जो हमने भूल की है, ब्रह्मामृतरूप जल और समष्टि वायु इस अज्ञान से हमें छुड़ावें ॥१७॥

भाष्यसार – 'इदमापः' इस ऋचा के द्वारा सपत्नीक यजमान तथा छः ऋत्विग्गण जल से अपना प्रोक्षण करते हैं । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।६।२७) में उल्लिखित है । शतपथ ब्राह्मण में जल की स्तुति के रूप में मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – गंगा आदि पुण्य नदियों के अथवा अभिमन्त्रित किये गये हे जलदेवता, आप इस पाप को बहा दीजिये, जो अभिशाप आदि के द्वारा और प्रमाद के कारण शरीर में संलग्न हो गया है । अथवा सत्कर्मों को विनष्ट करने वाले उच्चरित असत्यभाषण से मुझ साधक को जल देवता मुक्त करें । नामग्रहण मात्र से पवित्र करने वाले भगवान् परमेश्वर मुझे समस्त पापों से मुक्त करें ।

मां पृथग् रक्षत । यथा पवमानो मालिन्याद् मां सद्यो दूरीकरोति, तथा चान्यानपि पृथक् करोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते लुप्तोपमालङ्कारे मानाभावात् । न च विद्वांसो ब्रह्महत्यादिकं पापमपनयन्ति, तथात्वे प्रायश्चित्तोपदेशवैयर्थ्यापत्तेः । त्वद्रीत्या आपोऽपि न तथा कर्तुं प्रभवन्ति । पवमानः क इति तु अन्वये नोक्तम् । हिन्द्यां तु– 'पवमानः पवित्रकारको व्यवहारः' इत्युक्तम्, तदप्यसम्यक्, अनिन्द्यव्यवहारस्य पापाजनकत्वेऽपि पापनाशकत्वे मानाभावेन तदसङ्गतेः । परोपकारादिस्तु यद्यपि पवित्रकारकस्तथापि स न व्यवहारः, तस्य शास्त्रमात्रैकगम्यत्वात् ॥१७॥

सं ते मनो मन॑सा सं प्राणः प्राणेन॑ गच्छताम् । रेडस्यग्निष्ट्वा॑ श्रीणात्वाप॑स्त्वा सम॑रिणन् वात॑स्य त्वा ध्राज्यै॑ पूष्णो रᳫंह्या॑ ऊष्मणो॑ व्यथिषत् प्रयु॑तं द्वेषः॑ ॥१८॥

'सोऽभिघारयति सं ते मनो स हृदयमेवाग्रेऽभिघारयति । आत्मा वै मनो हृदयं प्राणः पृषदाज्यमात्मन्येवैतन्मनसि प्राणं दधाति तथैतज्जीवमेव देवानाᳫं हविर्भवत्यमृतममृतानाम्.... मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छतामिति न स्वाहा करोति न ह्येषाहुति–रुद्वासयन्ति पशुम्' (श.३।८।३।८-९) । पशुहृदयाभिघारणं प्रशंसति–आत्मा वै मन इति । यदेतद् हृदयाख्यमङ्गं तन्मनआख्यक आत्मा खलु, 'एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति' (तै.उ. २।८) इत्यादौ आत्मत्वव्यवहारात् । यद्वा मनउपाधिक आत्मा परिपूर्णस्य परमात्मनः परिच्छेदेन जीवभावः, मनस उपाधित्वात् पृषदाज्यस्य प्राणत्वमुक्तम् । एतेन हृदयाभिघारणेन आत्मभूते मनसि प्राणं स्थापितवान् भवति । तथा सति हृदयद्वारा प्राणप्रज्ञयोः स्थापितत्वाद् देवानामिदं सजीवं हविः सम्पद्यते, अग्रशब्दश्रुतेः सामर्थ्यादितराण्यङ्गानि पश्चादाज्येनाभिघारयेत् । सं ते मन इत्यभिघारयति । कात्यायनोऽपि – 'सं ते मन इति हृदयमभिघार्य सर्वमिति' (का.श्रौ.६।८।६) । जुहूस्थेन पृषदाज्येन पूर्वं सन्त इति हृदयमभिघार्य ततस्तूष्णी सर्वं पशुमभिघारयेत् । हृदयदेवत्यं यजुः । हे हृदय, ते पशोस्तव मनः पृषदाज्येनाघारितं सद् देवानां मनसा संगच्छताम् । त्वदीयः प्राणोऽपि पृषदाज्येनाघारितः सन् प्राणेन संगच्छताम् । यद्वा हे अभिघार्यमाण हृदय, ते मनः, मनःप्राणयोर्हृद्यवस्थानादाश्रयाश्रयिणोरभेदान्मन इति, स्वस्वामिभावसम्बन्धोपचाराद्वा

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ लुप्तोपमा अलंकार में प्रमाण न होने के कारण अनुचित है । विद्वान् लोग ब्रह्महत्या आदि के पाप को समाप्त नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा होने पर प्रायश्चित्त का निरूपण ही व्यर्थ हो जायगा । आपके मत में तो जल भी पाप का विनाश नहीं कर सकते । पवमान कौन है ? यह भी अन्वय में नहीं कहा गया है । हिन्दी अर्थ में 'पवमान पवित्र करने वाला व्यवहार है' यह कहा गया है । परन्तु यह भी अनुचित है । अनिन्द्य व्यवहार पाप का उत्पादक न होने पर भी पापनाशक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । परोपकार आदि यद्यपि पवित्र करने वाले हैं, परन्तु वे व्यवहार नहीं हैं, क्योंकि वे केवल शास्त्रगम्य ही हैं ॥१७॥

मन्त्रार्थ – हे भूतात्मा के हृदय, तुम्हारा मन समष्टि हृदय से संयुक्त हो, प्राण समष्टि प्राण से संयुक्त हो । हे मानस सूर्य, तुम परिच्छिन्न होकर नष्टप्राय हो गये हो, ब्रह्माग्नि तुम्हारी रक्षा करे । प्राण को दहराकाश में पहुँचाने के लिये और मानस सूर्य की भ्रूकुटि में गति के लिये तुम्हें स्वीकार करता हूँ । ब्रह्माग्नि की क्षुधा वृद्धिगत हो, कामना रूप राक्षस का नाश हो ॥१८॥

भाष्यसार – 'सं ते मनः' इस कण्डिका के मन्त्रों से हविर्द्रव्य का अभिघारण तथा हविर्ग्रहण आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते

मन इति । मनसा पृषदाज्यलक्षणेन, पृषदाज्यस्य मनोलक्षणतया स्तुतत्वात्, प्राणमनसोरवियोगात्, पृषदाज्यमपि मन उच्यते, तेन संगच्छतां संगतं भवति, तथा प्राणः प्राणेन पृषदाज्यलक्षणेन संगतं भवतु । यद्वा हे पशो, ते यौ मनःप्राणावपगतौ ताभ्यां हृदयरूपेणावस्थिताभ्यां संगच्छताम् । तदेषाहुतिरित्यभिघारणरूपत्वेनाहुतिसंस्कारत्वात् स्वत आहुतित्वाभावान्न स्वाहाकुर्यात् । 'अथ वसाहोमं गृह्णाति रेडसीति' (श.३।८।३।२०) 'रेडसीति वसां गृहीत्वा' (का.श्रौ.६।८।११) । वसां मांसपाकरसं वसाहोमहवन्या गृह्णाति । वसादेवत्यं यजुः । हे वसे, त्वं रेडसि रिष्टा हिंसिता इव भवसि, अल्पत्वात् । पूष्णोऽल्पत्वं श्रुतिराह – 'लेलयेव हि यूरिति' (श.३।८।३।२०) लेलयाशब्दोऽल्पवचनः । रिषतिर्हिंसार्थः । कर्मणि विच् । लघूपधगुणे रेडिति रूपम् । तस्मादाहवनीयोऽग्निस्त्वां श्रीणातु श्रपयतु, श्रपयति श्रपयन् भूयसीं करोति । यद्वाग्निस्त्वा श्रीणातु स्वीकरोतु । आपश्च त्वा समरिणन् सम्यक् प्राप्नुवन्तु । अर्थात् तव शोषो मा भूत् । हे वसे, त्वां दधामीति शेषः । किमर्थम् ? वाताय वायोर्ध्राज्यै गत्यै । पूष्ण आदित्यस्य रंह्यै गत्यै । रंहतिर्गतिकर्मा । वाय्वादित्ययोरप्रतिहतगमनसिद्ध्यर्थं त्वां दधामीत्यर्थः । ऊष्मणः, ऊष्मान्तरिक्षम्, तदर्थं त्वां गृह्णामि । विशेषेणाधिक्येन सीदतीति व्यधिषद् वसारूपं हविः, तथाभूतं भवतु । यद्वा हे वसाद्रव्य, त्वं रेट् हिंसकमसि । ब्राह्मणानुगुणं लत्वादिकं कृत्वा लेलयारूपम् । लेलयेवेति द्रवद्रव्यत्वादितस्ततश्चलनं विवक्षित्वा शतपथे व्याख्यातम् । तादृशमाहवनीयोऽग्निः श्रीणातु क्षपयतु । आपस्त्वा समरिणन् 'री गतिरेषणयोः' इत्यस्य लुङि रूपम् । उदकानि त्वां समतरन्, उदकैः सह सर्वाङ्गेभ्यो निःसृतत्वात् । यद्वा 'री वधे गतौ च' क्र्यादिः । अत्र बिभर्त्यर्थः, समभरन्नपुष्यन्नित्यर्थः । वातस्य वायोः, ध्राज्यै गत्यै गृह्णामि । तथा पूष्णः रंह्यै वेगाय गृह्णामि । वाय्वादित्ययोरन्तरिक्षाश्रयत्वाद् ध्राजिरंही अन्तरिक्षपरतया ब्राह्मणेन व्याख्याते । ऊष्मणे व्यथिषद् इति वसाविशेषणम् । ऊष्मान्तरिक्षं ततः सकाशाद् व्यथयतीति व्यथिषत् । अन्तरिक्षं ब्रह्मण ऊष्मेव । ऊष्माणमन्तरिक्षं वसा व्यथयतु, कर्मणि षष्ठी । यद्वा व्यत्ययेन प्रथमार्थे षष्ठी । ऊष्मा व्यथिषद् व्यथताम् । वसां पीत्वा तृष्णाधिक्येन यथा सीदति वसारूपं हविस्तथाविधं भवत्वित्यर्थः । अन्तरिक्षार्थं च वसा गृह्यते, होममन्त्रेऽन्तरिक्षस्य हविरसीति लिङ्गात् । इयं वसा ऊष्मणोऽन्तरिक्षस्य या भोक्त्री शक्तिस्तां व्यथिषद् व्यथतु, तत्तृप्तिं कृत्वातिरिक्ता भवत्वित्यर्थः । अन्तरिक्षे तृप्ते तत्प्रभवत्वाद् वायुसूर्ययोरपि स्वकर्मक्षमता भवति ।

रेट्शब्दस्य शतपथश्रुतिव्याख्यानं यथा – 'रेडसीति लेलयेव हि यूस्तस्मादाह रेडसीत्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वित्यग्निर्ह्येतच्छ्रपयति तस्मादाहाग्निष्ट्वा श्रीणात्वित्यापस्त्वा समरिणन्नित्यापो ह्येतमङ्गेभ्यो रसꣳ सम्भरन्ति तस्मादाहापस्त्वा समरिणन्निति' (श.३।८।३।२०) । रेट्शब्दं व्याचष्ट – यौतीति यूः वसा, सा लेलयेव गमनेनेतस्ततश्चलनमुपमीयते । श्रीणात्वित्यस्य पाकोऽर्थ इति व्याचष्टे – अग्निर्ह्येतत् श्रपयति । आपस्त्वा समरिणन्नित्यापो ह्येत्मङ्गेभ्यो रसं संभरन्ति । अत एव रिणातिर्बिभर्त्यर्थः । आपो हि पच्यमानेभ्यः पश्वङ्गेभ्यो यं रसमाददतेऽसौ वसेत्युच्यते । 'वातस्य त्वा ध्राज्या इति । अन्तरिक्षं वा अयमनुपवते योऽयं पवतेऽन्तरिक्षाय वै गृह्णाति तस्मादाह वातस्य त्वा ध्राज्या इति' (श.३।८।३।२१) । 'पूष्णो रꣳह्या इति । एष वै पूष्णो रꣳहिरेतस्मा उ गृह्णाति....' (श.३।८।३।२२) । वातस्य ध्राजिः पूष्णो रंहिश्चान्तरिक्षपराविति व्याचष्टे, वातपूष्णोरुभयोरन्तरिक्षाश्रयत्वात् । एषोऽन्तरिक्ष एव पूष्णो रंहिर्गतिर्वेगो वा । तस्मात् पूष्णो रंह्याश्रयायान्तरिक्षाय

हैं । कात्यायन श्रौतसूत्र (६।८।६-११) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है । शतपथ श्रुति में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

गृह्णाति । 'ऊष्मणो व्यथिषदिति । एष वा ऊष्मैतस्मा उ हि गृह्णाति तस्मादाहोष्मणो व्यथिषदिति....' (श.३।८।३।२३) । ऊष्मशब्दोऽप्यन्तरिक्षपरः । 'अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्यभिघारयति । अथ पार्श्वेन वासिना वा प्रयौति । प्रयुतं द्वेष इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाᳬस्यतोऽपहन्ति' (श.३।८।३।२३-२४) । कात्यायनोऽपि – 'द्विरभिघार्य प्रयुतमिति पार्श्वेन सᳬसृजत्यसिना वा' (का.श्रौ.६।८।११) । मांसपाकरसं वसाहोमहवन्या गृहीत्वोपरिष्टाद् द्विरभिघार्य पार्श्वेन पार्श्वास्थ्ना असिना, कट्टारिकया वा आज्यं वसां च मिश्रयेत् । अत्र काण्वसंहितायां सायणाचार्यस्तु पार्श्वगतेन मांसेन मिश्रीकुर्यादित्याह, पार्श्वेन वसाहोमं प्रयौतीति श्रुत्यन्तरात् । शतपथीयसायणभाष्ये तु पार्श्वेन पार्श्वास्थिना असिना वेत्युक्तम् । श्रुतौ सूत्रे चासिना वेत्युक्तेर्मिश्रणसाधनत्वेनासेरिव पशोः पार्श्वस्थस्यास्थ्नो ग्रहणं प्रतीयते । सूत्रभाष्यकारा अपि तथैव व्याचक्षते ।

मन्त्रार्थस्तु – द्वेषः अप्रियम्, 'द्विष अप्रीतौ' । सायणीयकाण्वभाष्यरीत्या वसापार्श्वमांसयोः परस्परं मिश्रणेन यदप्रियमस्ति, तदुभयोः सकाशात् प्रयुतं पृथग्भूतं भवतु । महीधररीत्या द्वेषो दौर्भाग्यं प्रयुतं पृथग्भूतं वसायाः सकाशाद् घृतमिश्रणेन । शतपथीयसायणभाष्यरीत्या तु पार्श्वेन मांसास्थिना असिना वा गृहीतां वसां विभजति । द्वेषोऽनिष्टेभ्यः सकाशात् प्रयुतं पृथक्कृतं भवति । तत्र सूत्रस्थैर्द्विरभिघार्य संसृजतीति पदैः श्रुतिस्थद्विराज्यस्याभिघारयति पार्श्वेनासिना वा प्रयौतीति पदैश्च पार्श्वस्थेनास्थ्ना असिना वाज्यवसारसयोर्मिश्रणमेव प्रतीयते । तत एव द्वेषस्य दौर्भाग्यस्य, उभयगतस्याप्रियस्य वा पृथक्करणं सङ्गच्छते ।

अध्यात्मपक्षे – हे भगवत्परायणोपासक, ते तव मनः परमेशमनसा, ते प्राणः परमेशप्राणेन सङ्गच्छताम् । कायानुसारिणी छायेव त्वं प्रियतमस्य भगवतो मनसा स्वं मनः संयोजय, अर्थात् तन्मनसि ते मनः, तत्प्राणे ते प्राणः सङ्गच्छताम्, तदधीनस्थितिगतिप्रवृत्तिर्भवेत्यर्थः । त्वं रेट् कामादिदोषाणां घातकोऽसि । अग्निस्तपोरूपः प्रियविप्रलम्भरूपो वा त्वा श्रीणातु परिपचतु । त्वदीयदेहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादीनां लौकिकत्वं भौतिकत्वं प्राकृतत्वं चापनोद्य तन्मूलतो दहतु, देवत्वं च सम्पादयतु । आपः शमादयः, त्वा त्वां समरिणन् प्राप्नुवन्तु, त्वां देवभावमुपनयन्तु वा । ध्यानप्राप्तभगवत्संश्लेषजनितरसोद्रेको वा त्वां दिव्यं देवभावं प्रापयतु, अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र द्रष्टव्यः । 'अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते दिवम्' (ऋ.सं.९।८३।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'देवो भूत्वा यजेद्देवान्नादेवो देवमर्चयेत्' इत्यादिकारिकाभ्यश्च, 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः । ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्त्या क्षीणमङ्गलाः ॥' (भा.पु.१०।२९।१०) इति श्रीमद्भागवतवचनाच्च । भगवत्पदप्राप्तये त्वां वातस्य सूत्रात्मनो ध्राज्यै गत्यै पूष्णो हिरण्यगर्भस्य रंह्यै वेगाय अहमाचार्यः प्रेरयामि प्रोत्साहयामि वेति शेषः । ऊष्मणोऽनादिकालात् प्रवृत्तान् त्रिविधांस्तापान् भगवत्पदप्राप्त्या व्यथिषद् व्यथयतु, नाशयत्वित्यर्थः । द्वेषे दौर्भाग्यं प्रयुतं त्वत्तः सकाशाद् अनन्तकालाय पृथग्भूतं भवतु ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे भगवत्परायण उपासक, तुम्हारा मन परमेश्वर के मन से तथा तुम्हारा प्राण परमेश्वर के प्राण से संयुक्त हो । शरीर का अनुसरण करने वाली छाया की भाँति तुम प्रियतम भगवान् के मन से अपना मन संयुक्त करो, अर्थात् उसके अधीन स्थिति, गति तथा प्रवृत्ति से युक्त बनो । तुम कामादि दोषों के नाशक हो । तपोरूप अथवा प्रियविप्रलम्भ-स्वरूप अग्नि तुमको परिपक्व करे । तुम्हारे देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का लौकिकत्व, भौतिकत्व और प्राकृतत्व हटाकर उसको दग्ध करे और देवत्व सम्पादित करे । शम, दम आदि तुमको प्राप्त करें तथा देवत्व प्राप्त करावें । अथवा ध्यान से प्राप्त भगवान् के अनुभव से उत्पन्न रसोद्रेक ही तुमको दिव्यभाव प्राप्त करावे । भगवत्पद-प्राप्ति के लिये, सूत्रात्मा की गति के लिये, पूषा हिरण्यगर्भ के वेग के लिये मैं गुरु तुमको प्रोत्साहित अथवा प्रेरित करता हूँ । अनादि काल से प्रवृत्त त्रिविध तापों को भगवत्पदप्राप्ति के द्वारा विनष्ट करे । दौर्भाग्य तुमसे अनन्त काल के लियें दूर हो जाय ।

दयानन्दस्तु – 'हे योद्धः, संग्रामे ते मनो मनसा प्राणः प्राणेन च सङ्गच्छताम् । हे वीर, त्वं रेडसि । त्वामग्निर्युद्धजन्यक्रोधाग्निः श्रीणातु । त्वं प्रयुतं शत्रुसैन्यं प्राप्य तज्जन्यादूष्मणो द्वेषो मा त्वां संव्यथिषत् । वातस्य ध्राज्यै वातस्य गतिरिव युद्धकर्मणि गत्यै, यद्वा पूष्णो रंह्यै सूर्यगतिरिव युद्धभूमिषु गत्यै यथार्थतया युद्धकर्मणि प्रवृत्त्यै आपस्त्वां समरिणन्' इति, तदप्यसङ्गतमस्पष्टं च, योद्धुरन्यस्य वात्र सम्बोधनीयत्वे विनिगमनाभावात् । सायणादिव्याख्यानेषु तु श्रुतिसूत्राणि प्रमाणानि, तथा नात्र किञ्चन प्रमाणमस्ति । किञ्च, मनो मनसा कथं सङ्गतं भवेत्, कथं च प्राणः प्राणेन ? तृतीयान्तयोर्मनःप्राणशब्दयोर्विज्ञानबले अर्थः, इत्यत्रापि न किञ्चिदपि मूलमस्ति । एवमग्निपदेन युद्धाग्निः क्रोधाग्निः कामाग्निर्भौतिको वाग्निरित्यत्र किं गमकम् ? 'श्रीणातु' इत्यस्य दृढीकरोत्वित्यर्थ इति हिन्द्यामुक्तम् । तदपि मूलसापेक्षम्, सति मुख्यार्थसम्भवे गौणार्थाश्रयणायोगात् । तज्जन्यादूष्मणो द्वेषो त्वा मा व्यथिषदित्यपि न सङ्गतम्, मूले मापदस्य अन्यस्य वा निषेधबोधकस्य पदस्याभावात् । युद्धकर्मणि वातस्येव ध्राज्यै पूष्णो रंह्यै नह्यपां प्राप्तिरेव साधनम्, शत्रूणामपि तत्सौलभ्यात् । प्रयुतपदं संख्यापरम्, न तेन शत्रुसैन्यं ग्रहीतुं शक्यते । प्राप्येत्यपि निर्मूलम् । तस्मान्मूर्खजनप्रतारणमात्रमेतत् ॥१८॥

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा । दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा ॥१९॥

'स जुहोति घृतं घृतपावानः.....स्वाहेत्येतेन वैश्वदेवेन यजुषा जुहोति वैश्वदेवं वान्तरिक्षं तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदानत्यश्चान्तरिक्षमनुचरन्ति तेन वैश्वदेवं वषट्कृते जुहोति यानि जुह्वामवदानानि भवन्ति' (श.३।८।३।३२) । वसाहोममन्त्रमाह – 'अर्धर्चान्तरे याज्यायै वसैकदेशं जुहोति घृतं घृतपावानः' (का.श्रौ.६।८।१६) । याज्याया अर्धर्चयोरन्तराले एकस्मिन्नर्धर्चे उक्ते द्वितीये चानुक्ते सति सव्ये स्रुचौ कृत्वा दक्षिणेन वसाहोमहवन्या वसाया एकदेशं जुहुयात् । वैश्वदेवं यजुः । हे घृतपावानः, घृतस्य पातार उपभोक्तारः, यूयं घृतं द्रवरूपं हविः

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ अस्पष्ट तथा असंगत है, क्योंकि यहाँ योद्धा तथा किसी अन्य को सम्बोधित करने में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है । सायण आदि की व्याख्याओं में तो श्रुति तथा सूत्रवाक्य प्रमाण हैं, परन्तु यहाँ कोई प्रमाण नहीं है । 'श्रीणातु' इसका अर्थ हिन्दी में 'दृढ़ करे' इस प्रकार किया गया है, इसमें भी मूल की अपेक्षा है । मुख्यार्थ सम्भव रहने पर गौण अर्थ का अवलम्बन अनुचित है । 'प्रयुत' शब्द संख्यापरक है, उससे शत्रुसेना का ग्रहण नहीं किया जा सकता । 'प्राप्त करके' यह कहना भी निर्मूल ही है, अतः यह व्याख्या केवल अज्ञ जनों को दिग्भ्रान्त करने वाली है ॥१८॥

मन्त्रार्थ – हे इन्द्रियों की शक्तियों को पीने वाले समष्टिरूप मन, बुद्धि और प्राण, तुम सब इन्द्रियों की सकल शक्तियों का पान करो । हे मानससूर्य का पान करने वाले ब्रह्मपरायण नारायण नामक देवताओं, तुम सब मानससूर्य का पान करो । हे मानससूर्य, तुम हार्द अन्तरिक्ष से श्रेष्ठ हवि प्रदान करो, विशेष रूप से ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा तीन प्रकार के हैं– सावित्री का उपदेष्टा, निर्गुण और सगुण ब्रह्म का उपदेष्टा और उत्तम योगमार्ग का उपदेष्टा । ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप ये तीनों प्रकार के गुरु हमें उपदेश करते हैं। इनके लिये हम श्रेष्ठ हवि प्रदान करते हैं ॥१९॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।८।१६-२०,४।४।१८) में निरूपित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'घृतं घृतपावानः' इस

पिबत । हे वसायाः पातारो देवाः, अत्रत्यं वसारूपमिदं हविः पिबत । वसायां द्विरभिघारणस्य विहितत्वाद् घृतस्य विद्यमानत्वाद् घृतपातृत्वं सङ्गच्छते । यद्वा 'घृ क्षरणदीप्त्योः' इत्यनुसारेण क्षरणरूपं रसात्मकमिदं हविः । तेन घृतस्य रसद्रव्यस्य पातारः, अन्तरिक्षस्य सर्वदेवाश्रयत्वादस्यापि तदर्थत्वादन्तरिक्षस्य देवताद्वारा अन्तरिक्षस्यैव हविष्ट्वम् । हे पशो हे वसे वा, त्वमन्तरिक्षवासिनो देवगणस्य हविरसि, स्वाहा सुहुतमस्तु । मन्त्रस्य वैश्वदेवत्वं प्रकृतहोमसङ्गतमित्याह – वैश्वदेवेन यजुषा जुहोतीति । वैश्वदेवं वा अन्तरिक्षम्, तत्रैव समेषां देवानां सत्त्वात् । यदेतेन वैश्वदेवेन इमाः प्रजाः प्राणत्यः प्राणनं कुर्वन्त्यः, उदानत्य उदानं कुर्वन्त्यः, अन्तरिक्षमनुचरन्ति । बहुत्वलिङ्गाद्वैश्वदेवत्वं यजुषः । अन्तरिक्षमपि सर्वासां देवतानां प्राणोदानव्यापाराश्रयत्वेन वैश्वदेवम् । अन्तरिक्षार्थश्च वसाहोमः । तेन होमस्य वैश्वदेवत्वे एतदपि वैश्वदेवं यजुरत्र युज्यते । मन्त्रे होतव्यवसाहोममभिधाय प्रधानहोममाह – 'वषट्कृते जुहोति यानि जुह्वामिति । अथ जुह्वा पृषदाज्यस्योपघ्नन्नाह – वनस्पतयेऽनुब्रूहीति' (श.३।८।३।३३) 'प्रत्येत्य दिशो व्याघारयति वसाशेषेण वाजिनवदिति' (का.श्रौ.६।८।२०) । यजतिस्थानवज्जुहोतिस्थानं प्रत्येत्य स्रुचौ सव्ये कृत्वा वसाशेषेण वाजिनवद् दिग्व्यवघारणं कुर्यात् । वसाहोमानन्तरं जुह्वा पृषदाज्यस्यैकदेशमवद्यन् वनस्पतयेऽनुब्रूहीति होतारं ब्रूयात् । 'अथ यद्वसाहोमस्य परिशिष्यते तेन दिशो व्याघारयति' (श.   ) । दिशो व्याघारयतीति श्रुतेरेकैको मन्त्र एकैकदिगर्थः । दिशः प्राग्दिग्भ्यः स्वाहा, प्रदिशो दक्षिणदिग्भ्यः स्वाहा, आदिशः पश्चिमदिग्भ्यः स्वाहा, विदिश उत्तरदिग्भ्यः स्वाहा, उद्दिश ऊर्ध्वदिग्भ्यः स्वाहा, दिग्भ्यः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः स्वाहा, वसाहोमो रसो वै द्रवद्रव्यात्मकः खलु दिशि सम्भूतो रसोऽभिगम्यते । 'षड् दिग्दैवतानि स्वाहाकारः सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादिति' (का.श्रौ.४।४।१८) 'रसो वै वसाहोमः सर्वास्वेवैतद्दिक्षु रसं दधाति तस्मादयं दिशि दिशि रसोऽभिगम्यते' (श.३।८।३।३५) ।।१९।।

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे॑ अङ्गे निदी॑ध्यदैन्द्र उ॑दानो अङ्गे॑ अङ्गे निधी॑तः । देव॑ त्वष्ट॒र्भूरि॑ ते सꣳ स॑मेतु सल॑क्ष्मा यद्विषु॑रूपं॒ भवा॑ति । दे॒व॒त्रा यन्त॒मव॑से सखा॒योऽनु॑ त्वा मा॒ता पि॒तरो॑ मदन्तु ।।२०।।

कण्डिका के मन्त्रों से होम तथा दिशाओं का व्याघारण किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षीय मन्त्रार्थ का निरूपण अग्रिम मन्त्र के साथ संयुक्त है ।।१९।।

मन्त्रार्थ– **भूतात्मा का प्राण ईश्वर के अंग-अंग में स्थित हुआ, भूतात्मा का उदान ईश्वर के अंगों में निहित हुआ । हे ज्योतिस्वरूप ईश्वर, तुम्हारा विष्णु रूप परिपूर्ण है । हे सर्वव्यापिन्, निवृत्त आत्मा बाणरूप होता है, अतः अंगुष्ठ-प्रमाण आत्मा विष्णु को प्राप्त हो । हे सायुज्य के अधिकारी आत्मा, संसार से त्राण पाने के लिये विष्णुरूप अग्नि में जाने वाले तुमको प्राण आदि अनुमति दें ।।२०।।**

'अथ पशुꣳसंमृशति । एतर्हि संमर्शनस्य कालोऽथ यः पुरा संमृशति य इममुपतिष्ठन्ते ते विमथिष्यन्त इति शङ्कमानो यद्यु विमाथान्न शङ्केतात्रैव संमृशेत' (श.३।८।३।३६) । दिग्घोमानन्तरमेतर्हि एतस्मिन् काले पशुसंमर्शनं कुर्यात् । ये च राक्षसा इमे मदीयं यज्ञमुपतिष्ठन्ति प्राप्नुवन्ति, ते पशुं विमथिष्यन्त इति शङ्कमानश्चेत्, पूर्वस्मिन् काले संमृशेत् । अन्यथा दिग्घोमानन्तरे काले संमृशेत् । 'ऐन्द्रः प्राण इति पशुꣳ संमृशतीति' (का.श्रौ.६।९।१) । अवशिष्टानि पश्ववदानान्यालभते ।

ऐन्द्र इन्द्र आत्मा तस्य सम्बन्धी प्राणवायुः, अङ्गे अङ्गे वीप्सा, पशोः सर्वाङ्गेषु निदीध्यत्, 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' निधीयते निहितः । कर्मणि लकारश्छान्दसः । इन्द्रसम्बन्धी उदानवायुः पशोः सर्वाङ्गेषु निधीतः, निक्षिप्तो भवत्वित्यर्थः । 'धीङ् आदरानादरयोः' । एवं पश्वङ्गेषु प्राणं दत्त्वा त्वष्टारमाह – हे त्वष्टः, त्वष्टृनामकदेव, यत्पशोरङ्गजातं सलक्ष्म समानलक्षणं सत् छेदनेन विषुरूपं सर्वतो नानारूपं भवति, तत्सर्वं तवानुग्रहेण भूरि बहुलमत्यन्तम्, समित्येकीभावे, अत्यन्तमेकीकृत्य समेतु सङ्गच्छताम् । 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा.सू. ८।१।६) इति समित्यस्य द्वित्वम् । हे पशो, प्राणैश्चाङ्गैश्चानेन मन्त्रेण कृत्स्नीकृतं दृढीकृतं सन्तं देवत्रा देवेषु यन्तं गच्छन्तं त्वामवसे अवनाय पशवो मातापितरश्चानुमोदन्तां हर्षं कुर्वन्तु । यद्वा अवसे त्वन्मुखेन स्वर्गप्राप्त्या स्वकुलं सर्वमवितुं प्रीणयितुम्, तुमर्थे असेप्रत्ययः ।

'ऐन्द्रः प्राणोऽङ्गे अङ्गे....निधीत इति यदङ्गशो विकृत्तो भवति तत्प्राणोदानाभ्याꣳ सन्दधाति देव त्वष्टर्भूरिति ते सꣳ समेतु भवातीति कृत्स्नवृतमेवैतत्करोति देवत्रा यन्तमवसे सखायो मदन्त्विति तद्यत्रैनमहौषीत्तदेनं कृत्स्नं कृत्वाऽनुसमस्यति सोऽस्य कृत्स्नोऽमुष्मिंल्लोक आत्मा भवति' (श.३।८।३।३७) इति ब्राह्मणरीत्या त्वयमर्थः – इन्द्रः परमात्मा, तत्सम्बन्धी ऐन्द्रः प्राणः । हे पशो, ते अङ्गे अङ्गे सर्वेष्वङ्गेषु निदीध्यत नितरां दीप्तो भवतु, दीव्यतु वा । एवं व्यानोऽपि । अत्र सर्वत्र व्यानस्थान उदानव्यवहारः । हे त्वष्टः, पशुरूपकर्तः, 'देवस्त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत्' (तै.सं.६।३।३।११) इति श्रुतेः । ते तव पशोर्यदङ्गं छेदनेन सलक्ष्मा (सलक्ष्म), अत एव विषुरूपं भवाति भवति, तत् ते त्वत्सम्बन्धि सं सम्यक् पूर्वस्मादपि भूरि प्रभूतं समेतु संगतो भवतु । पूर्वं यादृशसन्निवेशविशिष्टं तादृशसन्निवेशेनाविशिष्टं भवेदिति, प्रवृद्धं भवत्वित्यर्थः । अस्माकमवसे रक्षणाय देवानां प्रीतये वा देवेषु मध्ये यन्तं त्वां सखायो मातापितरश्च अनुमदन्तु साधु जातमित्यनुमोदन्ताम् । श्रुतिश्च व्याचष्टे – 'यदङ्गशो विकृत्त' इत्यादिना । कृत्स्नमेवैतत्करोतीत्येतत् पशुद्रव्यम् । यद्वा एतद् एतेन देव त्वष्टरिति मन्त्रेण मन्त्रोच्चारणसामर्थ्येन कृत्स्नैरङ्गैर्वृतं व्याप्तं करोति । यत्र यस्मिन् प्रदेशे एनं पशुमहौषीत्, तत् तेन एनं कृत्स्नं कृत्वा विकलं सकलं करोति । अनुसमस्यति गतप्राणेन त्वगस्थिमांसेन सह प्राणान् अङ्गानि चानुक्रमेण संघट्टनं कृतवान् भवति । तेन स पशुरमुष्मिंल्लोके स्वर्गे लोके सात्मा सजीवो भवति ।

अध्यात्मपक्षे तु – घृतं भक्त्याख्यं प्रेमरसं पिबन्ति ये ते घृतपावानो भक्ताः, घृतं प्रेमरसं पिबत, तस्यैवैहिकामुष्मिकाभ्युदयपरमनिःश्रेयसहेतुत्वात् । वसन्ति सर्वे जना यया सा वसा हार्दकला, ताः पिबन्तीति

भाष्यसार – 'ऐन्द्रः प्राणः' इस मन्त्र से अवदान द्रव्य का स्पर्श किया जाता है । कात्यायन श्रौतसूत्र (६।९।१) में यह याज्ञिक विनियोग उल्लिखित है । शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में पूर्व मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है – भक्तिरूपी प्रेमरस का पान करने वाले हे भक्तजनों ! प्रेमरस का पान करो, क्योंकि वही लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय तथा परम मोक्ष का कारण है । हे सांसारिक जनों, आप लोग कामेश्वर एवं कामेश्वरी

वसापावानः संसारिजना भवन्तः सर्वे वसां कामेश्वरकामेश्वरीसम्बन्धिनीं हार्दकलां पिबत । तत्त्वंपदार्थयोरैक्यानुसन्धानेन स्वात्मतादात्म्यमनुभवत । जगत्सम्बन्धिन्या हार्दरूपया स्नेहकलया संसारिणः संसरन्ति, भगवत्सम्बन्धिन्या च विमुच्यन्ते । **हे** जीव, त्वमन्तरिक्षस्य आकाशपदार्थस्य परमेश्वरस्य हविरादातुं योग्यं हविर्भोग्यरूपोऽसि, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र.सू.१।१।२२) इति न्यायात् । तस्मै परमात्मने स्वाहा सर्वं त्वदीयं सुहुतमस्तु । सर्वमिदं दिग्भ्यः सुहुतमस्तु, सर्वस्य दिगन्तर्गतत्वात् । दिशः प्रदिशो विदिश उद्दिशश्च सर्वास्तस्मिन् परमात्मनि सुहुता भवन्तु । दिक्स्थानि वस्तूनि दिक्षु प्रलीनानि विभाव्य दिशश्च सर्वा अन्तरिक्षात्मके परमात्मनि प्रविलाप्य सुखी भवेत्यर्थः ।

ऐन्द्र इति । इन्द्र ऐश्वर्यवान् हिरण्यगर्भः, तस्य स्वांशभूतः प्राणः । हे साधक, ते तव अङ्गमङ्गं यावन्त्यङ्गानि सन्ति, तेषु निदीध्यत नितरां प्रकाशते । प्राणप्रभावादेवेन्द्रियेष्वङ्गेषु च प्रकाशो भवति, प्राणाभावे तदभावात् । ऐन्द्र उदान आत्मसम्बन्धी उदानः, अङ्गेऽङ्गे निधीतो निहितः । हे देव द्योतमान त्वष्टः, विश्वशिल्पिन् हिरण्यगर्भ ! भूरि पूर्वतोऽपि बहुलं यथा स्यात्तथा सम्यक् ते तव विषुरूपं नानारूपं सम्यक् सलक्ष्मा दिव्यलक्षणोपेतं समेतु साधकं प्राप्य शरीरे एकीभवतु । हे साधक, एवं हिरण्यगर्भसम्बन्धिन् , प्राणैश्चाङ्गैश्च कृत्स्नीभूतं सुसम्पन्नं देवत्रा यन्तं देवेषु देवभावान् गच्छन्तं त्वामवसेऽवनाय तव प्रीत्यै सखायो मातापितरः, पूजार्थं बहुवचनम्, अनुमदन्तु अभ्यनुजानन्तु हर्षयन्तु वा । स वै हिरण्यगर्भस्य दिव्यप्राणोदानाभ्यां तदनुग्रहेण दिव्यप्राणाङ्गादिभिरुपेतं देवभावं प्राप्नुवन्तं त्वां सर्वे पूर्वसम्बन्धिनोऽनुमोदन्तु हर्षयन्तु वेति । एवं देवयानेन सगुणब्रह्मानुग्रहेण दिव्यप्राणेन्द्रियविग्रहो भूत्वा साधको ब्रह्मविष्णुरुद्रादिलोकान् गच्छतीति पुराणेषूपनिषत्सु च प्रसिद्धमेव ।

दयानन्दस्तु – 'हे घृतपावानो वीराः, यूयं घृतं पिबत । हे वसापावानः, यूयं वसां पिबत । हे सेनाध्यक्ष चक्रव्यूहादिसेनारचक, त्वं प्रतिवीरमन्तरिक्षस्य हविरसीति स्वाहा । शोभनया वाचा सर्वान् वीरान् प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशश्च सन्ति ताभ्यः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः सेना विभज्य शत्रून् विजयध्वम्' इति, तत्तु केवलं कल्पनामूलकम्,

---

से सम्बद्ध हार्दकला का आस्वादन करो । तत् तथा त्वं पदार्थों के अभेद का अन्वेषण करके स्वात्मतादात्म्य का अनुभव करो । जगत्सम्बन्धी स्नेहकला से प्राणी संसृति में पड़ते हैं, तथा भगवत्सम्बन्धी स्नेहकला से मुक्त होते हैं । हे जीव, तुम आकाशपदार्थ परमेश्वर के हविर्भोग्यरूपी हो । उस परमात्मा के लिये तुम्हारा सर्वस्व समर्पित हो । यह सब दिशाओं में अर्पित हो । समस्त पदार्थों के दिगन्तर्गत होने के कारण दिशाएं, प्रदिशाएं, विदिशाएं तथा उद्दिशाएं सभी उस परमात्मा में समर्पित हों, अर्थात् दिशाओं में स्थित वस्तुओं को दिशाओं में प्रलीन समझ कर तथा दिशाओं को अन्तरिक्षात्मक परमात्मा में विलीन करके सुखी हो जाओ ।

द्वितीय कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है – हे साधक, ऐश्वर्यवान् हिरण्यगर्भ का स्वांशभूत प्राण तुम्हारे प्रत्येक अंग में प्रकाशित हो रहा है । प्राण के प्रभाव से ही इन्द्रियों तथा अंगों में प्रकाश होता है । आत्मसम्बन्धी उदान भी अंग-अंग में अवस्थित है । हे विद्योतमान विश्वनिर्माता हिरण्यगर्भ, पहले से भी विपुल जिस प्रकार होसके, उस प्रकार का आपका वैविध्यपूर्ण दिव्य लक्षणों से सम्पन्न स्वरूप साधक के शरीर को प्राप्त करके एकाकार हो जाय । हे साधक, इस प्रकार हिरण्यगर्भ से सम्बद्ध प्राण तथा अंगों से सुसम्पन्न होकर देवभाव की ओर जाते हुए तुम्हारी रक्षा तथा प्रसन्नता के लिये मित्रगण, माता-पिता आदि अनुज्ञा दें अथवा अभिनन्दित करें । हिरण्यगर्भ के दिव्य प्राण, उदान के द्वारा, उसके अनुग्रह से दिव्य प्राण अंग आदि से युक्त देवभाव को प्राप्त करने वाले तुमको सभी पूर्वोक्त प्रकारों से अनुमोदित करें । इस प्रकार सगुण ब्रह्म की कृपा से साधक दिव्य प्राण, इन्द्रिय से सम्पन्न होकर ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, शिवलोक आदि को जाता है, यह पुराणों तथा उपनिषदों में प्रसिद्ध ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान कल्पनामूलक ही है । 'वसा' का अर्थ 'वीररस नीति' करना निर्मूल है । सेना, विजय

उदकपातृत्वस्य सर्वत्राविशेषात् । यत्तु 'वसा वीररसनीतिः' इति, तत्तु निर्मूलमेव । यदपि वासनहेतुत्वाद् वीररसनीतिरिह ग्राह्या, तथात्वे साक्षाद्वासनहेतुत्वाद्वसतिरेव गृह्यताम्, राजनीतिरेव वा गृह्यताम्, तथात्वेऽपि न तस्याः पानार्हता । वसां निवासं यातीत्यपि निर्मूलम्, वसेति टाबन्तताया नैरर्थक्यात् । अन्तरिक्षस्य हविरसीत्यस्य यदाकाशस्य हविर्हूयत आदीयत इति स्वाहा । युद्धानुकूलं शोभनां वाचमिति यद् व्याख्यानम्, तदपि निर्मूलं निरर्थकं च । एवमेव दिग्भ्यः सर्वाः सेना विभज्य शत्रून् विजयध्वमित्यपि निर्मूलम्, सेनाविजयादिपदानां मूलेऽसत्त्वात् । एवमेव 'हे त्वष्टर्देव सेनापते, भवान् अङ्गे अङ्गे ऐन्द्र इव अवसे सङ्ग्रामे निदीध्यत्, यद्वा अङ्गे ऐन्द्र उदान इव सङ्ग्रामे निधीतो भवति, ते तव विषुरूपं सलक्ष्म भवति, तत्सङ्ग्रामे भूरि यथा स्यात्तथा सं समेतु सखायो मातापितरश्च देवत्रा धर्मयुद्धव्यवहारं यन्तं त्वामनुमदन्तु' इति, तदपि निर्मूलम्, सेनापतिपदाध्याहारे मानाभावात् । इवपदमपि निर्मूलमेव, मूलेऽभावात् । नितरां दीध्यदित्यस्य शत्रून् वञ्चित्वा स्वयं प्रकाशेत्, इत्यपैच्छिकमेव । 'विषुरूपं सलक्ष्म च संग्रामे यथा स्यात्तथा सं समेतु' इत्यपि तथैव निर्मूलम्, मूले संग्रामपदाभावात् । एवं 'धर्मं युद्धव्यवहारं वा यन्तम्' इति च निर्मूलम्, धर्मयुद्धादिपदानामभावात् ॥२०॥

समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा देवꣳ सवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दांꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाऽग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनाऽऽपृण स्वाहा ॥२१॥

'प्रतिप्रस्थातोपयजति गुदतृतीयस्य प्रच्छेदमनुयाजेषु समुद्रं गच्छेति प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.६।९।१०) । अनुयाजेषु हूयमानेषु वेदिश्रोण्यां होतृधिष्ण्ये वा न्युप्तेष्वङ्गारेषु प्रतिप्रस्थाता प्रच्छिद्य प्रच्छिद्य एकादशधा हस्तेन गुदकाण्डं तृतीयं जुहोति । सूत्रार्थस्तु – औपयजेष्वङ्गारेषु पूर्वं स्थापितं वर्षिष्ठं गुदतृतीयमेकादशधा प्रच्छिद्य प्रच्छिद्य

आदि पद भी मूल मन्त्र में नही हैं । इसी प्रकार 'हे सेनापति' इस सम्बोधन पद के अध्याहार करने में भी कोई प्रमाण नहीं है । मन्त्र में संग्राम, धर्मयुद्ध आदि शब्दों के न रहने के कारण यह अर्थ निर्मूल है ॥२०॥

मन्त्रार्थ– **देह के अवयवों में प्रत्येक को उपदेश करती हुई श्रुति कहती है कि हे भूतात्मा के जल, तुम अपने समष्टिरूप समुद्र में लीन हो जाओ । हे भूतात्मा के वायु, तुम अन्तरिक्ष में चले जाओ । हे, आत्मप्रतिबिम्ब, तुम सूर्य देवता में विलीन हो जाओ । हे जीवात्मा, तुम नरनारायण के पास चले जाओ । हे जन्ममरण के काल, तुम अहोरात्रि में विलीन हो जाओ । हे शरीर के अवयवों, तुम समष्टि शरीर के अंगों में विलीन हो जाओ । हे मन (हृदय) आदि के कमलों, तुम पृथ्वी और स्वर्ग के अधिष्ठाता देवों के पास पहुँचो । हे यज्ञक्रियाओं, तुम यज्ञपुरुष विष्णु के पास पहुँचो । हे अन्न-पान आदि भोगों के समूह, तुम सोम देवता के पास पहुँचो । हे भूतात्मा के आकाश, तुम दिव्य आकाश में जा मिलो । हे जठराग्नि, तुम वैश्वानर अग्निदेवता के पास पहुँचो । हे योगशक्ति, तुम मेरे हृदय सम्बन्धी मन को रोको । हे भूतात्मा, तुम्हारा धूम्र स्वर्ग हो जाय, आत्मा रूपी ज्योति स्वर्ग को प्राप्त हो, भस्म के द्वारा पृथ्वी को पूर्ण करो और इस प्रकार उन-उन देवताओं को दी गई इन आहुतियों से यह प्राकृतिक होम सम्पन्न हो ॥२१॥**

भाष्यसार – 'समुद्रं गच्छ' इस कण्डिका के मन्त्रों से प्रतिप्रस्थाता ऋत्विक् हवन करता है तथा 'मनो मे' आदि से मुखस्पर्श

अनुयाजानां वषट्कृते एकैकं गुदकाण्डं प्रतिप्रस्थाता हस्तेन जुहुयात् । अध्वर्युणा एकैकमनुयाजे हूयमाने पश्चात् **प्रतिप्रस्थाता** जुहुयात् । तदेतच्छतपथे स्पष्टम् – 'त्रीणि वै पशोरेकादशानि । एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयजो दश पाण्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा प्राण उदानो व्यान इत्येतावान् वै पुरुषो यः पराद्ध्र्यः पशूनां यꣳ सर्वेऽनुपशवः' (श.३।८।४।१) । अत्र प्राणस्य श्रेष्ठत्वकारणाभिधानमुखेन गुदस्य प्रधानस्विष्टकृदुपदिष्ट्यर्थं त्रेधा विभज्य विनियोगं प्रशंसन् प्रयाजादीनामितराङ्गत्वमाह – प्रयाजा अनुयाजाश्चैकादशैकादश प्रसिद्धाः । एकादशोपयाजा उपरिष्टादाम्नास्यन्ते तदेतदेकादशत्रयं मिलित्वा त्रयस्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते । पशुषूत्कृष्टस्य द्विपात्पशोः पुरुषस्य सप्त शीर्षण्याः प्राणा अवाञ्चौ द्वौ नाभिर्दशमी दश प्राणाः । ते च पाणिपादगतविंशत्यङ्गुलिभिः सहितास्त्रिंशद् भवन्ति । प्राण उदानो व्यान इति त्रयो मुख्यप्राणाः । त्रयस्त्रिंशदेव यज्ञाङ्गानि सम्पद्यन्ते । तत्रायं प्रश्नः – 'तदाहुः किं तद्यज्ञे क्रियते येन प्राणः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः शिव इति' (श.३।८।४।२) । अर्थात् पुरुषपशोर्हस्तपादाङ्गुलयः प्राणरूपाङ्गानि भवन्ति । मुख्यप्राणस्य इतराङ्गुलिवत् साधारण्यमेव न प्राप्तं न श्रेष्ठत्वमतो यज्ञे सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः सकाशात् प्राणस्य श्रेष्ठत्वं केन प्रकारेणेति प्रश्नाभिप्रायः । तस्योत्तरं तु –'यदेव गुदं त्रेधा करोति प्राणो वै गुदः सोऽयं प्राङाततस्तमयं प्राणोऽनुसञ्चरति' (श.३।८।४।३) । 'स यदेव गुदं त्रेधा करोति तृतीयमुपयड्भ्यस्तृतीयं जुह्वां तृतीयमुपभृति तेन प्राणः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः शिवः'(श.३।८।४।४) । प्राणो वै गुदः प्राणसञ्चरणाधिष्ठानत्वात् प्राण एव गुद इत्युक्तम् । कथं गुदस्य प्राणत्वमित्युपपादयति – सोऽयं प्राङातत इति । गुदः प्राङाततः शरीरमध्ये ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तमूर्ध्वं प्रवृत्तः सन् वर्तते, तं गुदमन्वयं प्राणः सञ्चरति, अतः प्राणसञ्चरणाधिष्ठानत्वात् प्राण एव गुदः । तस्य प्रधानस्विष्टकृदुपयड्भेदेन त्रिषु **स्थानेषु** विभज्य विनियोग एव सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः श्रेष्ठत्वकारणम् । तेनैव प्राणस्यापि सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः शिवत्वमिति, गुदस्य प्राणत्वेन श्रेष्ठत्वाभिधानत्वप्रसङ्गात् । यदि कथञ्चित् तत्पशोः कृशत्वं स्यात्, तर्हि गुदस्य सम्पूर्णत्वाय उदर्यं मांसं तेन सह मिश्रणीयमिति । सर्वावयवपूर्णमेव पशुमालभेत न कृशमित्यादिकम्, तथापि तदलाभे कृशस्यापि पशोरुदर्याद् मेदस उद्धृत्य अल्पीयसि गुदे न्यृषेत् निगमयेत् । अनुयाजार्थं पृषदाज्यग्रहणं विधाय प्रशंसति – अथ पृषदाज्यं गृह्णातीति । द्वयं वा इदं सर्पिश्च दधि चेत्यादिना । उपयड्भ्यः पुरस्तादनुयाजेषु पृषदाज्यानुष्ठानेन पुरस्तात् प्राणं मुखस्थप्राणमप्राणे पशौ निहितवान् भवति । पश्चादुपयडनुष्ठानस्य पश्चात् प्राणमुदानाख्यं पशौ स्थापितवान् भवति । तद्वा एतदेको द्वाभ्यां वषट्करोति' (श.३।८।४।११) । उपयष्ट्रे प्रतिप्रस्थात्रे च प्रयाजार्थमुपयाजार्थं च वषट् कुर्यात् ।

काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यस्तु – 'गुदकाण्डस्य तृतीयभागमेकादशधा तिर्यक् छित्त्वा अनुयाजानामेकैकस्मिन् वषट्कारे कृते सति समुद्रं गच्छ स्वाहेत्येतदादिभिरग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा इत्येतदन्तैरेकादशभिर्मन्त्रैरेकैकं गुदकाण्डभागं प्रतिप्रस्थाता जुहुयात् । हे गुदावयवरूप हविस्त्वं समुद्रादिनामकान् देवान् गच्छ प्राप्नुहि सुहुतमस्तु । एवमेव 'देवꣳ सवितारं गच्छ स्वाहा', 'अहोरात्रे गच्छ स्वाहा' अहोरात्राभिमानिदेवते गच्छ, अग्निं वैश्वानरं गच्छ **स्वाहेति शतपथे** । 'समुद्र आपो रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति' (श.३।८।४।११), 'अन्तरिक्षं वा अनु प्रजाः प्रजायन्ते' (श.३।८।४।१२), 'देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एवैतत्प्रजनयति' (श.३।८।४।१३), 'मित्रावरुणौ प्राणोदानावेवैतत्प्रजासु दधाति' (श.३।८।४।१४), 'अहोरात्रे वा अनु प्रजाः प्रजायन्तेऽहोरात्रे एवैतदनु प्रजनयति'

तथा स्वरुहोम करता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (६।९।१०-१२) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट है ।

(श.३।८।४।१५), 'छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा सप्त वै छन्दाꣳसि सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्यास्तेनैवैतदुभयान् प्रजनयति (श.३।८।४।१६), 'द्यावापृथिवी प्रजापतिर्वै प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णात्ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीतास्तथो एवैष एतत्प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति' (श.३।८।४।१७), 'अथात्युपयजति' (श.३।८।४।१८), स यन्नात्युपयजेद्यावत्यो हैवाग्रे प्रजाः सृष्टास्तावत्यो हैव स्युर्न प्रजायेरन्नथ यदत्युपयजति प्रैवैतज्जनयति तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्त प्रजायन्ते। अत्युपाजनामकाश्चत्वार उपयागाः सप्तकानामनन्तरमाधिक्येन यष्टव्याः। विहितानत्युपयागानन्वयव्यतिरेकाभ्यां पुनः पुनः प्रजावृद्धिहेतुतया प्रशंसति – 'सोऽत्युपयजति यज्ञं गच्छ स्वाहेत्यापो वै यज्ञ आपोरेतं एवैतत्सिञ्चति' (श.३।८।५।१)। 'सोमं गच्छेति....सोमो रेतः' (श.३।८।५।२)। 'दिव्यं तमो गच्छेति। आपो वै दिव्यमापो रेत एवैतत्सिञ्चति' (श.३।८।५।३)। 'अग्निं वैश्वानरं गच्छेति। इयं वै पृथिवी अग्निर्वैश्वानरः सेयं प्रतिष्ठे मामेवैतत्प्रतिष्ठामभिजनयति' (श.३।८।५।४)। 'अथ मुखं विमृष्टे' (श.३।८।५।५)। 'प्रतिवषट्कारꣳ हुत्वा मनो म इति मुखोपस्पर्शनम्' (का.श्रौ.६।९।११)। प्रतिप्रस्थाता प्रतिवषट्कारमेकैकं गुदकाण्डं हुत्वा सर्वान्ते मुखमालभते।

मन्त्रार्थस्तु – हे समुद्रादिदेवतासमूह, हार्दि हृदयसम्बन्धि मे मनो यच्छ निबध्नीहि। निबद्धं **मनो हि** स्वादायतनान्न च्यवते। 'तथोप्रयष्टाऽऽत्मानं नानुप्रवृणक्ति' (श.३।८।५।५)। हार्दि हृदये स्थापितस्य **पशोः** प्राणरूपस्य गुदस्य विच्छिद्य विच्छिद्य होमादुपयष्टुर्मनोऽपि प्राणाविनाभूतमपगच्छति। तदेवोक्तम् – तथोप**यष्टात्मानं** नानुप्रवृणक्ति। 'अनुयाजान्ते स्वरुं जुहोति दिवं ते धूम इति' (का.श्रौ.६।९।१२)। अन्तग्रहणाच्च धारा**नुयाजान्ते** जुह्वां स्वरुमवधाय जुहुयात्। हे स्वरो, ते तव सम्बन्धी धूमो दिवं द्युलोकं गच्छतु। तव ज्योतिर्ज्वाला **स्वरादित्यं** गच्छतु, स्वरादित्योऽन्तरिक्षं वा। भस्मना पृथिवीमापृण समन्तात् पूरय। स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे – ब्रह्म प्रविविक्षुः स्वात्मानं तदुपाधींश्च व्यष्टीन् समष्टिषु प्रविलाप्य समष्टीनुपाधीनुपहितांश्च परमात्मनि प्रविलापयति। हे देहाद्युपाधिगत जल, त्वं समुद्रं समष्टिजलं गच्छ, तच्च परमात्मनि स्वाहा समर्पितं प्रविलापितमस्तु। हे व्यष्ट्यवकाश, त्वमन्तरिक्षमाकाशं गच्छ, तच्च परमात्मनि स्वाहा। हे चक्षुः, सवितारं देवं गच्छ तच्च परमात्मनि समर्पितमस्तु। हे प्राणापानद्वय, त्वं मित्रावरुणौ तदधिष्ठातारौ देवौ गच्छ, तौ च स्वाहा परमात्मनि समर्पितौ भवेताम्। हे क्षणमुहूर्तादिसमूह, त्वमहोरात्रे गच्छ ते चेशे स्वाहा। हे व्यष्टिवाक्समूह, त्वं छन्दांसि गच्छ, तानि परमात्मने स्वाहा। हे द्यावापृथिव्योर्विकारसमूह, त्वं स्वोद्गमभूते द्यावापृथिवी गच्छ, ते च परेशाय स्वाहा। हे व्रताद्यनुष्ठानसमूह, त्वं यज्ञं गच्छ, स च परेशाय स्वाहा। हे उपयुज्यमानौषधिसमूह, त्वं सोमं गच्छ, स

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – ब्रह्म में एकत्व प्राप्त करने की इच्छा वाला साधक स्वयं को तथा व्यष्टिगत उपाधियों को समष्टि में एवं समष्टिगत उपाधियों को परमात्मा में विलीन करता है। हे देहादि उपाधियुक्त जल, तुम समष्टि जल में चले जाओ और वह भी परमात्मा मे समर्पित हो जाय। हे व्यष्टि आकाश, तुम अन्तरिक्ष में लीन हो जाओ तथा वह परमात्मा में विलीन हो जाय। हे चक्षु, तुम सविता देवता को प्राप्त करो और वे परमात्मा में विलीन हों। हे प्राण तथा अपान, तुम दोनों मित्रावरुण देवताओं को प्राप्त करो और वे परमात्मा में विलीन हों। हे क्षणादि कालसमूह, तुम अहोरात्र में लीन हो जाओ तथा वे ईश्वर में अर्पित हों। हे वाणीसमूह, तुम छन्दों में लीन हो जाओ। हे द्यावापृथिवी के विकारगण, तुम अपने उद्गम स्थान द्यावापृथिवी को प्राप्त करो। हे व्रतानुष्ठान आदि, तुम यज्ञ में लीन हो जाओ। हे ओषधियों, तुम लोग सोम में लीन हो जाओ। हे दधि-दुग्ध आदि द्रवों, तुम दिव्य जल में लीन हो जाओ। हे विविध ज्योतिःसमूहों, तुम वैश्वानर अग्नि में लीन हो जाओ तथा यह परमात्मा में विलीन हो जाय।

च **परमात्मने** स्वाहा । हे दधिदुग्धाज्यजलादिसमूह, त्वं दिव्यं नभो दिव्या अपो गच्छ, ताश्च परेशाय स्वाहा । हे **विविधज्योतिःसमूह**, त्वं वैश्वानरमग्निं गच्छ, स चेशे स्वाहा । हे परमात्मन्, मे मम हार्दि हृदि भवं हार्दि मनो यच्छ स्वस्वरूपे निबध्नीहि । हे चितास्थ**देह, त्वद्दहनो**त्थो धूमो दिवं गच्छतु, ज्योतिः स्वरादित्यं गच्छतु । त्वदीयभस्मना पृथिवीं पृण पूरय, तानि च सर्वाणि **परमात्मनि** प्रविलापितानि सन्तु, कल्पितानामधिष्ठानसत्तयैव सत्तावत्त्वात्, **सर्वस्यापि** कार्यस्य परमकारणानन्यत्वाच्च ।

दयानन्दस्तु – 'हे धर्मार्थकाममोक्षराजकर्मानुष्ठानार्ह विद्वन्, त्वं समुद्रमुदधिं गच्छ स्वाहा । बृहन्नौकारचनादिविद्यासिद्धेन यानेन अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा । खगोलप्रकाशिकया विद्यया सम्पादितेन विमानेन देवं द्योतमानं सवितारं परमेश्वरं गच्छ जानीहि' इत्यादिकमवोचत्, तदपि निर्मूलं निरर्थकं च । किमर्थं समुद्रं किमर्थं वान्तरिक्षं गच्छेदित्युक्त्यभावात्, स्वाहापदेन तदलाभाच्च । 'बृहन्नौकादिविद्यासिद्धेन यानेन' इत्यादिकमपि निर्मूलम् । **तथैव** स्वाहा वेदवाचा सत्संगसंस्कृतया वा मित्रावरुणौ प्राणापानौ गच्छ विद्धीत्यपि यत्किञ्चित् । 'स्वाहा **प्राणायामा**भ्यासेन योगयुक्तया वाचा' इत्यपि स्वाभ्यूहमात्रम्, निर्मूलत्वात् । अहोरात्रे स्वाहा कालविद्यया **ज्योतिर्बो**धयुक्तया वाचा गच्छ जानीहि याहि वेत्यादि सर्वमेतन्निर्मूलम्, स्वाहापदेन यथेष्टार्थग्रहणे शब्दार्थमर्यादाभङ्गापत्तेः । **एवं** 'छन्दांसि ऋग्युजःसामाथर्वाणश्चतुरो वेदान् गच्छ विजानीहि स्वाहा, पठनपाठनपुरःसरेण **श्रवणमनन**निदिध्यासनसाक्षात्कारेण वेदाङ्गादिविज्ञानसहितया वाचा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदस्य आनुश्रविकत्वेन **गुरुपारम्पर्ये**णैव ज्ञातव्यत्वेन तत्र मनननिदिध्यासनसाक्षात्कारानपेक्षणात् । एवमेव – 'द्यावापृथिवी भूमिसूर्यौ तद्ग**ताभीष्टदेश**देशान्तरौ भूमियानाकाशयानरचनभूगोलभूगर्भखगोलविद्यया जानीहि' इति, तदपि निर्मूलम्, स्वाहा**पदस्य** तादृशेऽर्थे शक्त्यग्रहात्, देशदेशान्तरादिज्ञानस्य रागप्राप्तत्वेन विधानायोगात् । यच्च 'यज्ञमग्निहोत्रं शिल्पं **राज्यव्य**वहारादिकं गच्छ प्राप्नुहि स्वाहा' इति, तथा 'राजनीतिसंस्कृतया वाचा' इत्यपि निर्मूलम्, यज्ञशब्दस्य **तथार्थत्वे बी**जाभावात्, श्रौतसूत्रादिबोधितयागार्थत्यागस्यायुक्तत्वात् । 'सोममोषधिसमूहं गच्छ स्वाहा' इत्यस्य **'वैद्यकशास्त्र**बोधार्हया वाचा' इत्यपि व्याख्यानं निर्मूलम्, प्रस्तुतशब्दयोस्तादृशार्थत्वे प्रमाणाभावात् । 'दिव्यं **व्यवहर्तव्यं** नभो जलं गच्छ, तद्गुणविज्ञापयित्र्या वाचा अग्निविद्युद्वैश्वानरं सर्वत्र प्रकाशमानं गच्छ जानीहि **तद्बो**धयुक्तया वाण्या' इत्यादिकमपि मनःकल्पितमेव, वैश्वानरशब्दस्य सर्वत्र प्रकाशमानमित्यर्थकत्वे प्रमाणस्य वक्तव्यत्वात् । 'मनश्चित्तं मे मम हार्दि हृदयस्यातिशयेन प्रियं यच्छ निधेहि दिवं सूर्यम्' इत्यादिकं तु सर्वथाऽप्यस्पष्टमेव । हिन्दीव्याख्याने तु – 'सत्यधर्मे स्थितो मदुपदेशानुकूलं वर्तताम् । तव धूमशकलानां यज्ञाग्नेर्वा दिवं सूर्यप्रकाशं तथा ज्योतिः स्वरन्तरिक्षं गच्छतु' इति, तदपि निरर्थकमेव, एवमुपदेशमन्तरापि धूमज्योतिषोस्तादृग्गतेः प्राप्तत्वात् । अस्मिन् व्याख्याने शतपथश्रुतिविरोधस्तु स्पष्ट एव ।।२१।।

हे परमात्मा, मेरे हृद्गत मन को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कीजिये । हे चितास्थित शरीर, तुम्हारे दाह से उद्गत हुआ धूम द्युलोक में जाय तथा ज्योति आदित्य को प्राप्त करे । तुम्हारी भस्म से पृथिवी को पूर्ण करो । ये सभी परमात्मा में विलीन हो जाँय ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ निर्मूल है, क्योंकि समुद्र अथवा अन्तरिक्ष में क्यों जाय, इसका निरूपण नहीं किया गया है । स्वाहा शब्द से भी इसका ज्ञान नहीं होता । स्वाहा शब्द का स्वेच्छानुसार अर्थ करने पर शब्दार्थ की मर्यादा का अतिक्रमण होता है । देश-देशान्तर का ज्ञान करना तो रागतः प्राप्त है, इसके लिये विधान करना अयुक्त है । इस व्याख्या में शतपथ श्रुति का विरोध भी स्पष्ट ही है ।।२१।।

माऽपो मौष॑धीर्हिꣳसीर्धाम्नो॑ धाम्नो राज॑ꣳस्ततो॑ वरुण नो मुञ्च । यदा॒हुर॒घ्न्या इति॒ वरु॒णेति॒ शपा॑महे॒ ततो॑ वरुण नो मुञ्च । सु॒मि॒त्रि॒या न॒ आप॒ ओष॑धयः सन्तु दु॒र्मि॒त्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥२२॥

'अथ हृदयशूलेनावभृथं यन्ति । पशोर्ह आलभ्यमानस्य हृदयꣳ शुक् समभ्यवैति हृदयाद्धृदयशूलमथ यच्छृतस्य परितृन्दन्ति तदलञ्जुषं तस्मादु परितृद्यैव शूलाकुर्यात् तत् त्रिः प्रच्युते पशौ हृदयप्रवृह्योत्तमं प्रत्यवदधाति' (श.३।८।५।८) । निरुद्धश्वासस्यालभ्यमानस्य पशोः सुखदुःखयोर्हृदयेऽनुभूयमानत्वात् पशोः शुक् शोको हृदयमभिगच्छति । हृदयाद् हृदयशूलमभिगच्छति । अथ यच्छृतस्य पक्वस्य हृदयस्य पश्चात् शूलेन परितर्दने तद् जोषाय भक्षणाय अलं पर्याप्तं भवति, शुगनुविद्धत्वाद् यागार्हं न स्यादित्यर्थः । तस्मात् पाकात् पूर्वं शूलं परितृद्य पाकं कुर्यात् । अतः पाकात् पूर्वं शूलेन परितर्दनात् शुग् हृदयशूलं प्राप्नोतीत्यर्थः । त्रिः प्रच्युते पशौ पाकोत्तरकालं हृदयं शूलात् प्रवृह्य उत्तमं प्रत्यवदधाति, इतरावयवानामुपरि स्थापयेत् । 'अथ हृदयशूलं प्रयच्छति । तन्न पृथिव्यां परास्येन्नाप्सु स यत्पृथिव्यां परास्येदोषधीश्च वनस्पतींश्चैषा शुक् प्रविशेद्यदप्सु परास्येदप एषा शुक् प्रविशेत् तस्मान्न पृथिव्यां नाप्सु' (श.३।८।५।९) । 'अप एवाभ्यवेत्य । यत्र शुष्कस्य चार्द्रस्य च सन्धिः स्यात् तदुपगूहेद्यद्यु अभ्यवायनाय ग्लायेदग्रेण यूपमुदपात्रं निनीय यत्र शुष्कस्य चार्द्रस्य सन्धिर्भवति तदुपगूहति मापो....यदाहुरघ्न्या इति....मुञ्चेति तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात् प्रमुञ्चति' (श.३।८।५।१०) । यद्यु तत्रैवोक्तदोषाभावायोपापमाद् अपः सम्प्राप्य यत्रातीवारसः सरसश्च न भवति तत्रोपगूहेत् । यदाब्विषये ग्लानिं प्राप्नुयात् तदा यूपस्य प्रागदेशे उदपात्रनिनयनं कृत्वा तत्रापीषदार्द्रप्रदेशे उपगूहेत । तत्रायं मन्त्रः – मापो मौषधीरिति । कात्यायनोऽपि – 'अभ्यवेत्य शुष्कार्द्रसन्धौ हृदयशूलमुपगूहति शुगसि तमभिशोच योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो मापो मौषधीरिति' (का.श्रौ.६।१०।३) । अध्वर्युरुदके प्रविश्य यत्र भूमौ शुष्कस्यार्द्रस्य च सन्धिः स्यात्, तत्र हृदयशूलं भूमिमध्येऽधोमुखं बलात् प्रवेशयेत् । हृदयशूलदैवतं यजुः ।

मन्त्रार्थस्तु – हे हृदयशूल, त्वमपः अब्देवता मा हिंसीः, ओषधीश्च मा हिंसीः । ईषदार्द्रे उपगूहनादपां हिंसाप्रसङ्गः । पृथिव्यामुपगूहनादोषधीनां बाधप्रसङ्गः । अतस्तदुभयहिंसापरिहारः प्रार्थ्यते – 'अथाभिमन्त्रयते । सुमित्रिया' (श.३।८।५।११) । 'धाम्नो धाम्नः सुमित्रिया न इत्युपस्पृशन्त्यपः' (का.श्रौ.६।१०।५) । तडागादिस्थमुदकं

मन्त्रार्थ – हे मन, तुम इन्द्रियाग्नियों के अन्तरिक्ष को नष्ट मत करो, इन्द्रियों की शक्तियों को नष्ट मत करो । हे राजन् मन, अपने पाशरूप प्रत्येक इन्द्रिय से हमें मुक्त करो । ईश्वर के पूजक देह के अवयव अवध्य हैं, ऐसा शास्त्रों का कहना है । हे मन, हम तो इस योग की विधि से इनका वध कर रहे हैं, अतः इस पाप से हमें मुक्त करो । इन्द्रिय स्थित आकाश और इन्द्रियां हमारी श्रेष्ठ मित्र हो । जो काम हमारे प्रतिकूल होता है और जिस कार्य को हम शत्रुदृष्टि से देखते हैं, उस काम के लिये इन्द्रियों का अन्तरिक्ष और इन्द्रियाँ शत्रुरूप हों, अर्थात् हमारी इन्द्रियों में किसी प्रकार की विषयवासना उत्पन्न न हो ॥२२॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (६।१०।३,५) में निरूपित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'माऽपः' इस कण्डिका के मन्त्रों से जलाशय के प्रारम्भिक स्थान पर भूमि में शूल गाड़ कर अध्वर्यु छिपाता है तथा यजमान एवं ऋत्विक् जल का स्पर्श करते हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

यूपं पूर्वेण निषिक्तं वोदकमालभन्ते मन्त्राभ्यां सर्वे ऋत्विग्यजमानाः । तत्र निगूहनस्य बन्धनरूपत्वाद् बन्धनस्य च वरुणाधिष्ठातृकत्वाद् वरुणस्य सम्बोधनम् । हे राजन् वरुण, यस्मिन् पापरूपबन्धनेऽनवस्थाने बद्धाः स्मः, ततस्तस्माद् धाम्नो बन्धनस्थानान्नोऽस्मान् मुञ्च पापेन मुक्तान् कुरु । किञ्च, यस्मिन्नागसि सम्भाविते आगस्कर्तारोऽप्यघ्न्या अहन्तव्या रक्षणीया वयमित्याहुर्मनुष्या इत्येवं प्रकारेणापराधिनोऽप्यघ्न्या वयं किन्तु पालयितव्या इति शपामहे आक्रोशामः, ततोऽपि नोऽस्मान् मुञ्च । तत्तेन धाम्नो धाम्न इति मन्त्रपाठे वरुण्यादिति पुनरभिधानाद् वारुण्यपाशात्तदतिरिक्ताच्च सर्वस्मात् पाशाद् विमोक्षः प्रार्थ्यते । किञ्च, हे वरुण, भवदाद्याः सर्वा देवता अघ्न्या अहन्तव्याः पूजनीया इति यदाहुर्ब्रह्मवादिनो वदन्ति, इत्येवं सत्यस्माकमनिष्टपरिहारार्थं वयं ता देवताः शपामहे ततस्तस्मात् पापान्नोऽस्मान् मुञ्च । यद्वा त्वदीयपाशसमन्वितात् स्थानाद् वयं बिभीमः, तस्मात् स्थानान्नोऽस्मान् मुञ्च मोचय । यदाहुरघ्न्या इति । अघ्न्या इति गवां नाम । प्रकरणादिहानुवध्याविषयं बहुवचनमनुवन्ध्याबहुत्वेऽर्थवत्, एकानुवन्ध्यापक्षे पूजार्थम् । यद्वेदस्मृतिलोकवाक्यान्याहुः – अघ्न्या अहन्तव्या वन्ध्याः पूजनीया इति करणेन वाक्यस्याभिनयं दर्शयति । हे वरुण, वयं तु इति शपामहे, इतिकरणं प्रदर्शनार्थम् । शपतिर्हिंसार्थः । एवमनेन विधिना अघ्न्या हिंस्मः । अत एव त्वां याचामहे । हे वरुण, ततस्तस्मादघ्न्यावधजातादेनसोऽस्मान् मुञ्च मोचय । सुमित्रिया आप ओषधयश्च नोऽस्माकं साधु मित्ररूपाः सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि वयं च यं द्विष्मः, तस्मै शत्रवे आप ओषधयश्च अमित्ररूपा भवन्तु । एवं मन्त्रेण वरुणप्रार्थनया 'सर्वस्माद् वरुणपाशात् सर्वस्माद्वरुण्यात् प्रमुञ्चति' (श.३।८।५।१०) इति श्रुतिरेव तत्फलं दर्शयति – 'यत्र वा एतेन प्रचरन्त्यापश्च ह वा अस्मात्तावदोषधयश्चापक्रम्येव तिष्ठन्ति तदु ताभिर्मित्रधेयं कुरुते तथो हैनं ताः पुनः प्रविशन्त्येषो तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते' (श.३।८।५।११) । एतेन हृदयशूलनिगूहनेन आपश्च ओषधयश्च अस्मात् स्थानाद् अपक्रम्य अपसृत्येव तिष्ठन्ति । तदु तस्मादेव कारणात् ताभिः सह सुमित्रिया इति पाठेन मित्रत्वं कृतवान् भवति । तथा सति ताः पुनः प्रविशन्ति । एषा उ तत्र प्रायश्चित्तिः ।

अध्यात्मपक्षे – हे राजन्, सर्वोपरि दीप्यमान परमेश्वर, अस्माकं दुष्कर्मवशाद् अपामोषधीनां च विनाशे प्राप्ते त्वमस्मासु करुणया ता मा हिंसीः । हे वरुण, धाम्नो धाम्नः स्थानात् स्थानाद् अवरोधकात् तत्स्थानान्नोऽस्मान् मुञ्च मोचय । स्थीयतेऽवरोधपूर्वकमनेनेति स्थानम्, तस्माद् बन्धनरूपात् स्थानाद् नोऽस्मान् मुञ्च मोचय । अन्तर्भावितण्यर्थः। यच्च अघ्न्या इति (अघ्न्या गावः) लोके अहन्तव्या इत्याहुः शिष्टास्तथैव वयमप्यहन्तव्याः पालनीयाः, शरणागतत्वात् । हे वरुण, आश्रयत्वेन रक्षकत्वेन च वरणीय वरीतुं योग्य, शपामहे आक्रोशाम आर्ताः सन्तस्त्वामेवाह्वयामहे । त्वत्कृपया ओषधय आपश्च सुमित्रियाः सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु, त्वद्भक्तविरोधित्वात् ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – सर्वोपरि दीप्यमान हे परमेश्वर, हमारे दुष्कर्मों के कारण जल तथा ओषधियों का विनाश उपस्थित होने पर आप हमारे ऊपर कृपा करके उन्हें विनष्ट न होने दें । हे वरुण, अवरोध करने वाले उन स्थानों से हमें मुक्त कीजिये । जिस प्रकार जगत् में गायें अहन्तव्य कही जाती हैं, उसी प्रकार हम भी शरणागत होने के कारण पालनीय हैं । आश्रय के रूप में तथा रक्षक के रूप में वरणीय हे वरुणदेव, हम आर्त होकर आपको ही पुकारते हैं । आपकी कृपा से ओषधियां तथा जल मित्रभूत हो जाँय । जो हमसे द्वेष करता है तथा जिससे हम द्वेष करते हैं, उसके लिये आपके भक्तों के विरोधी होने के कारण ये सभी अमित्र रूपी रहें ।

दयानन्दस्तु – 'हे राजन्, त्वमप ओषधीश्च न केवलमिदमेव कुर्याः, किन्तु ततो धाम्नो नोऽस्मान् मुञ्च । हे वरुण, अघ्न्या इति यद् भवन्त आहुर्वयं चेति शपामहे ततस्त्वं नोऽस्मान् मा मुञ्च वयमपि न मुञ्चामः । हे वरुण, नोऽस्मभ्यम् आप ओषधयश्च सुमित्रिया सुमित्रवत् सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि....तस्मै दुर्मित्रिया शत्रुवत् सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्ञोऽपामोषधीनां च हिंसने प्रवृत्त्यसम्भवेन तन्निषेधायोगात् । एवं स्थानात् स्थानाद् राजकर्तृकप्रजाकर्मकपरित्यागोऽप्यप्राप्त एवेति तन्निषेधोऽपि व्यर्थ एव । यदपि 'न्याये गवादयः पशवोऽघ्न्या अहन्तव्या इति यद् भवन्त आहुर्वयं च तथैव शपामहे' इति, तदपि न स्पष्टम् । आप ओषधयश्च राजप्रार्थनया कथं सुमित्रवद् भविष्यन्ति, कथं च तया ता एव प्रार्थयितृशत्रूणां कृते दुर्मित्रवद् भविष्यन्तीति सर्वथा युक्तिशून्यं वचः । मन्त्रपाठादिजनितेनादृष्टेन तथा कल्पनमपि सिद्धान्तहानिकरमेव, सामाजिकैस्तथानभ्युपगमात् ॥२२॥

ह॒विष्म॑तीरि॒मा आपो॑ ह॒विष्माँ॑२॥ आ विवा॑सति ।
ह॒विष्मा॑न् दे॒वो अ॑ध्व॒रो ह॒विष्माँ॑२॥ अस्तु॒ सूर्यः॑ ॥२३॥

अथ सोमाभिषवोपयुक्तानां वसतीवरीसंज्ञकानामुपादानं विधीयते – 'यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश तेनैवैतद्रसेनापः स्यन्दन्ते तमेवैतद्रसꣳ स्यन्दमानं मन्यन्ते' (श.३।९।२।१) । यस्मिन् काले यज्ञरूपस्य विष्णोर्देवतानां यश आहृत्य गतवत्यो वधार्थं देवैः प्रेषिता उपदीका धनुर्ज्याछेदनेन तच्छिरश्चिच्छिदुः, स कालोऽत्र यत्रेतिशब्देन विवक्षितः । तस्मिन् काले छिन्नशिरसो यज्ञस्य रसोऽद्रवत्, रसो द्रुत्वा धावित्वा अपउदकानि प्रविवेश । तेनैव रसेनेदानीमपि यथापूर्वं स्यन्दमानस्वभावा आपः स्यन्दन्ते । तमेव रसमिदानीमप्सु स्यन्दमानं मन्यन्तेऽभिज्ञाः । 'स यद्वसतीवरीरच्छैति । तमेवैतद्रसं यज्ञे दधाति रसवन्तं यज्ञं करोति' (श.३।९।२।२) । वसतीवरीग्रहणं विधत्ते – स यदिति । अच्छैति अभिमुखं गच्छति, तमेव रसं पुनराहृत्य यज्ञे सन्दधाति । 'अग्नीषोमीयस्य वपामार्जनान्ते वसतीवरीग्रहणꣳ स्यन्दमानानामनस्तमिते' (का.श्रौ.८।९।६) इति सूत्रे वपाहवनानन्तरं तद्ग्रहणमुक्तम् । अग्नीषोमीयस्य पशोर्वपामार्जनान्ते कर्मणि कृते सत्यनस्तमिते सूर्ये नद्यादौ प्रवहन्तीनामपां वसतीवरीनाम्नां ग्रहणं कुर्यात् कुम्भेषु। अभिषुतस्य सोमस्य वर्धनार्थमिमा आपः सोमरसेन संसृज्यन्ते, ता वसतीवर्य उच्यन्ते । 'ता एव सर्वेषु सवनेषु विभजति' (श.३।९।२।३) । 'गोपीथाय वा एता

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ विसंगत है । जल तथा ओषधियों की हिंसा में राजा की प्रवृत्ति न होने के कारण उसका निषेध करना युक्त नहीं है । राजा की प्रार्थना से जल तथा ओषधियां कैसे सुमित्र की भांति हो जायंगी तथा इसी प्रकार की प्रार्थना करने वाले के शत्रुओं के लिये दुर्मित्र हो जायंगी, यह कथन सर्वथा युक्तिशून्य है । मन्त्रपाठ आदि से उत्पन्न अदृष्ट के द्वारा इस प्रकार कल्पना करना भी उनके मत में हानिप्रद है, क्योंकि आर्यसमाजी अदृष्ट को नहीं मानते ॥२२॥

मन्त्रार्थ – सूर्यास्त से पहले नदी आदि में बहते हुए वसतीवरी नामक जल को ग्रहण कर प्रार्थना की जाती है कि हवि से युक्त यजमान वसतीवरी नामक जल की परिचर्या करता है, अर्थात् जल के समूह से उसे पृथक् करता है । इससे प्रकाशवान् यज्ञ हवि से युक्त हो, सूर्य भी हविष्मान् हो, क्योंकि सूर्य जल को अन्य सब देवताओं के लिये ग्रहण करता है, अतः सब देवता इस विराडात्मक सूर्य की किरणें हैं ॥२३॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (८।९।६-९) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'हविष्मतीरिमाः' इस ऋचा से यजमान

गृह्यन्ते । सर्वं वा इदमन्यदिलयति यदिदं किञ्च योऽयं पवतेऽथैता एव नेलयन्ति' (श.३।९।२।५)। प्रवाहोदकव्यतिरिक्तमुदकमिदं यत्किञ्च इलयति इतस्ततश्चलयति योऽयं वायुः पवते । एतस्यापि चलनं तत्कृतमेव । एताः स्यन्दमाना एवापो नेलयन्ति । 'दिवा गृह्णीयात् । पश्यन् यज्ञस्य रसं गृह्णानीति....य एष तपति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति....' (श.३।९।२।६) ।

दर्शनपूर्वकग्रहणे सति यज्ञरसस्य परिज्ञातत्वात् तथाविधाभिरद्भिः क्रियमाणोऽभिषवः साङ्गो भवतीति । किञ्च, विश्वेभ्यो देवेभ्य एना अपो गृह्णाति । विश्वेदेवाश्च सवितू रश्मिरूपाः । अतो रश्मिरूपाणां विश्वेषां देवानां तदधिपतेः सवितुश्च दिवैव सम्भवाद् दिवैव गृह्णीयात् । 'एतद्ध वै विश्वेदेवाः । यजमानस्य गृहानागच्छन्ति स यः पुरादित्यस्यास्तमयाद् वसतीवरीर्गृह्णाति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपक्लृप्तेनोपासीतैवं तत्त एतद्धविः प्रविशन्ति ता एतासु वसतीवरीषूपविशन्ति स उपवसथः' (श.३।९।२।७) । लोके यथा गुर्वादिः पूज्यस्यागमनात् पूर्वमुपक्लृप्तेनावसथेनोपासीत, एवं तत्तद्यज्ञोपकरणं संस्करोति, तेन संस्कारोचितेन पूजोपकरणेन देवान् सम्भावयति। एतत् खल्वतिथिभूतानां विश्वेषां देवानामागमनात् पूर्वं यद् वसतीवरीणां ग्रहणमस्ति, तत्तत्सम्मानस्थानीयसोमरसेष्वनुप्रवेशाद्धविः सम्पद्यन्ते ता आपः । उपवसन्त्यासु वसतीवरीषु देवा अस्मिन् काले इत्युपवसथः, उपवासकाल इत्यर्थः । 'स यस्यागृहीता अभ्यस्तमियात् । तत्र प्रायश्चित्तिः क्रियते यदि पुरेजानः स्यान्निनाह्याद् गृह्णीयाद् दिवा हि तस्य ताः पुरा गृहीता भवन्ति यद्यु अनीजानः स्याद्य एनमीजान उपावसितो वा पर्यवसितो वा स्यात्तस्य.... ताः पुरा गृहीता भवन्ति' (श.३।९।२।८) । तत्रैव वसतीवरीणां ग्रहणात् प्रागस्तमये सति तद्ग्रहणोपाय उच्यते–स यस्या इति । प्रायश्चित्तिभिर्दिवाग्रहणे दोषस्पर्शाभावोपायः । स यजमानो यदि पुरेजान इष्टप्रथमसोमयागः स्यात्, तदा स निनाह्यात् स्वगृहस्थितप्रभूतघटादेः सकाशाद् गृह्णीयात् । एवंकरणात्तस्य ता आपोऽस्तमयात् पूर्वं गृहीता भवन्ति, प्रथमानुष्ठानेऽस्तमयात् पूर्वं गृहीतत्वादिति । स्वयमनीजानश्चेद् य एनं यजमानमीजान इष्टवानन्य उपावसितः समीपे गृहेऽवस्थितः पर्यवसितो दूरगृहस्थितो वा ईजानः स्यात्, तस्य निनाह्याद् घटादेः सकाशाद् गृह्णीयात् । एवं सत्यपि ता पुरा दिवा गृहीता भवन्ति ।

'यद्यु एतदुभयं न विन्देत् । उल्कुषीमेवादायोपपरेयात्तामुपर्युपरि धारयन् गृह्णीयाद् हिरण्यं वोपर्युपरि धारयन् गृह्णीयात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति' (श.३।९।२।९) । उल्कुषीमुल्कां हिरण्यं वोपर्युपरि धारयन् गृह्णीयात् । उल्काया हिरण्यस्य च सूर्यवर्णसाम्यात् तद्रूपकरणम्। तदेतत्सर्वमुक्तं कात्यायनेनापि – 'अस्तमितश्चेन्निनाह्यात् पुरेजानश्चेत्' (का.श्रौ.८।९।७) । यदिग्रहणात् पूर्वं सोमेनेष्टवान् स्यात् । 'अनीजानोऽन्यस्यापि समीपावसितस्य' (का.श्रौ.८।९।८) । यदि यजमानः स्वयमकृतसोमः स्यात्, तदान्यस्यापि कृतसोमस्य पार्श्ववर्तिनो निनाह्याद् गृह्णीयात् । 'उभयाभाव उल्कुषीँ हिरण्यं वोपर्युपरि धारयन् हविष्मतीरिति' (का.श्रौ.८।९।९) । यदा स्वयं नेष्टवान् समीपवासी च नेष्टवान्, तदा उल्कां हिरण्यं वा स्यन्दमानानामपामुपरि धारयन् वसतीवरीर्गृह्णीयात् । इमाश्च प्रवाहाभिमुखं तिष्ठता ग्रहीतव्याः, 'प्रतीपं तिष्ठन् गृह्णाति' इति तैत्तिरीयसंहितावचनात् ।

अनुष्टुप्, लिङ्गोक्ता देवता । हविष्मतीरभिषूयमाणेन हविषा सोमेन युक्ताः, स्वासु प्रविष्टेन यज्ञरसरूपेण हविषा वा हविष्मत्यः । इमा गृह्यमाणा वसतीवरीरप आविवासति परिचरति । ततो देवो द्योतमानोऽध्वरो यागोऽपि

'वसतीवरी' नामक जल का ग्रहण करता है । शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

स्वशरीरनिष्पत्त्यर्थं हविष्मान् भवतु वसतीवरीभिः । किञ्च, सूर्योऽपि देवो यजमानस्य फलदानाय स्वसन्तृप्त्यर्थं हविष्मान् हविःसम्पन्नो भवतु । एताभिर्निष्पन्नेन सोमेन हविषा हविष्मान् यजमानः । 'यज्ञस्य ह्यासु रसः प्राविशत्....हविष्मान् ह्येना यजमान आविवासति....' (श.३।९।२।१०) इति श्रुत्या यज्ञरसे प्रवेशादपां हविष्मत्त्वमुक्तम् । हविष्मानत्र यजमानो ग्राह्य इत्यपि निगदव्याख्यातम् । 'हविष्मान् देवोऽध्वरः' (श.३।९।२।११) इत्यनया श्रुत्या यज्ञ एवात्र देवोऽध्वरः । 'हविष्माँ अस्तु सूर्य इति । एतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णाति रश्मयो ह्यस्य विश्वे देवाः....' (श.३।९।२।१२) इति श्रुतिः । रश्मिमालिन आदित्याय वसतीवरीर्गृह्णाति । रश्मयश्च सर्वरूपास्ते चांशिनो जगत्स्रष्टुर्भगवतः सूर्यस्यांशरूपा एव । तस्मात् सूर्यस्य हविष्मत्त्वे सर्वदेवानां हविष्मत्त्वं सम्पद्यते ।

अध्यात्मपक्षे – साधको भगवन्तं प्रार्थयते । हे परमेश्वर, त्वत्कृपया इमाः परिदृश्यमाना आपस्त्वदर्थनैवेद्यनिर्माणार्थं समर्पणीयेन हविषा विविधपक्वान्नलक्षणेन हविष्मत्यो भवन्तु । हविष्मान् प्रशस्तविविधसमर्पणीयपक्वान्नादिहविषा हविष्मान् साधकस्त्वामाविवासति परिचरति, तेनैव हविषा देवो द्योतमानो भगवान् हविष्मान् भवतु । त्वदीयः पूजालक्षणोऽध्वरोऽपि स्वस्वरूपनिष्पत्तये हविष्मान् भवतु । सूर्यो भगवान् भास्करः सर्वकर्मसाक्षी हविष्मान् अस्तु, सूर्यादेव पर्जन्यादिक्रमेण हविषामुत्पत्तेः । भगवत्पूजार्थं सूर्योऽपि जन्यजनकभावेन हविष्मान् भवत्वित्यर्थः । भगवतो दिव्यत्वात् पूजापि दिव्या। तदर्थं सूर्यादुत्पन्नानि हवींष्यपि दिव्यानि । तन्निर्माणोपयोगिन्य आपोऽपि दिव्याः । तादृग् दिव्यपक्वान्नादिलक्षणेन हविषा युक्तो यजमानस्त्वां परिचरति, परिचरेदित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – 'हे विद्वांसः, यथेमा आपो हविष्मतीर्हविष्मत्यः स्युरयं वायुर्हविष्मानेवाविवासति सर्वान् परिचरति, देवोऽध्वरो हविष्मान् स्यात्, सूर्यो हविष्मानस्तु, तथा भवन्तो यज्ञेनैतान् शुद्धान् कुर्वन्तु' इति, तदप्यसङ्गतम्, अनुपपत्तेः । यत्तु 'दानादानाभ्यां तासां सुखशुद्धिभ्यामुपकारत्वमेव हविष्मत्त्वम्' इति, तत्तुच्छम्, तद्भिन्नस्य हविष्ट्वेनैव तासां हविष्मत्त्वोपपत्तेः, अन्यथा मतुप आनर्थक्यात् । वायुपदं तु मूले नास्त्येव । 'तथा भवन्तो यज्ञेनैतान् शुद्धान् कुर्वन्तु' इत्यंशस्य सर्वथा निर्मूलत्वमेव ।।२३।।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – साधक भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे परमेश्वर, आपकी कृपा से दृश्यमान जल आपके नैवेद्यनिर्माण के लिये समर्पणीय विविध पक्वान्नरूपी हविर्द्रव्य से हविष्मान् हों । प्रशस्त तथा विविध समर्पणयोग्य पक्वान्न आदि हविर्द्रव्यों से हविष्मान् साधक आपकी परिचर्या करता है । उस हविर्द्रव्य से विद्योतमान भगवान् हविष्मान् हों । आपका पूजारूपी यज्ञ अपने स्वरूप की पूर्णता के लिये हविष्मान् हो । सब कर्मों के साक्षी भगवान् भास्कर हविष्मान् हों, क्योंकि सूर्य से ही पर्जन्य आदि के क्रम से हविर्द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् भगवान् की पूजा के लिये सूर्य भी जन्यजनकभाव से हविष्मान् हों । भगवान् के दिव्य होने के करण पूजा भी दिव्य है । एतदर्थ सूर्य से उत्पन्न हविर्द्रव्य भी दिव्य हैं । उनके निर्माण में उपयोगी जल भी दिव्य हैं । इस प्रकार के दिव्य पक्वान्न आदि हविर्द्रव्यों से युक्त यजमान आपकी परिचर्या करे ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अनुपपन्न होने के कारण अग्राह्य है । वायु शब्द तो मूल मन्त्र में है ही नहीं । 'आप लोग यज्ञ के द्वारा इनको शुद्ध करें' यह अंश तो सर्वथा निर्मूल है ।।२३।।

अ॒ग्नेर्वो॑ऽपन्नगृहस्य॒ सद॑सि सादयामीन्द्रा॒ग्न्योर्भा॑ग॒धेयी॑ स्थ मि॒त्रावरु॑णयोर्भाग॒धेयी॑ स्थ॒ विश्वे॑षां दे॒वानां॑ भाग॒धेयी॑ स्थ। अ॒मूर्या उप॒ सूर्ये॒ याभि॑र्वा॒ सूर्यः॑ स॒ह। ता नो॑ हिन्वन्त्वध्व॒रम् ॥२४॥

'ता आहृत्य जघनेन गार्हपत्यꣳ सादयति। अग्नेर्वोऽपन्न....' (श.३।९।२।१३) इति समन्त्रकं वसतीवरीणामपां गार्हपत्यस्य पश्चाद्भागे सादनं विधत्ते। कात्यायनोऽपि – 'अग्नेर्व इति निदधाति शालाद्वार्यमपरेण' (का.श्रौ.८।९।१०)। ता आनीता वसतीवरीः शालाद्वार्यस्य पश्चिमतो निदध्यात्। हे वसतीवर्यः, वो युष्मान् अपन्नगृहस्य अपतितगृहस्य अशीर्णगृहस्य अविनश्वरगृहस्य शालामुखीयाग्नेः सदसि समीपस्थाने सादयामि स्थापयामि, 'अनार्तगृहस्य सदसि' इति तत्रैव श्रुतेः। 'यदाग्नीषोमीयः पशुः सन्तिष्ठते अथ परिहरति व्युत्क्रामतेत्याहाग्रेण हविर्धाने यजमान आस्ते ता आदत्ते' (श.३।९।२।१३)। अथ यदाग्नीषोमीयः पशुः सन्तिष्ठते पत्नीसंयाजान्तः समाप्तो भवति, वसतीवरीर्वेदेः परितो नयेत्। वेदिमध्ये स्थिता दीक्षिता व्युत्क्रामत इत्याह – अध्वर्युस्त्रिर्ब्रूयाद् हविर्धानस्य पुरो देशे यजमान आस्ते, उत्तरवेदिमपरेण उपस्थे सोमं कृत्वा। 'स दक्षिणेन निष्क्रामति। ता दक्षिणायाꣳ श्रोणौ सादयतीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थेति विश्वेभ्यो ह्येना देवेभ्यो गृह्णातीन्द्राग्नी हि विश्वेदेवास्ताः पुनराहृत्याग्रेण पत्नीं सादयति स जघनेन पत्नीं पर्येत्य ता आदत्ते' (श.३।९।२।१४)। अथ ता अध्वर्युरादाय दक्षिणेन द्वारेण प्राग्वंशान्निष्क्रम्य उत्तरवेद्या दक्षिणश्रोणौ सादयति। इन्द्राग्न्योभार्गधेयी स्थ इति भागधेय्यौ भवथ। 'स उत्तरेण निष्क्रामति। ता उत्तरायाꣳ श्रोणौ सादयति मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थेति नैवꣳ सादयेदतिरिक्तमेतन्नैवꣳ सम्पत् सम्पद्यत इन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थेत्येव ब्रूयात् तदेवानतिरिक्तं तथा संपत् सम्पद्यते' (श.३।९।२।१५)। आदायोत्तरेण मार्गेण निष्क्रामति। निष्क्रम्य उत्तरवेदेरुत्तरश्रोण्यां सादने कश्चिन्मन्त्रं निर्दिश्य तस्य वक्ष्यमाणसप्तपदोपेतशक्वरीच्छन्दःप्राप्तिलक्षणायाः सम्पदोऽतिरेकेणाधिक्येन प्रातिकूल्यमभिधाय दक्षिणवेदिश्रोणिसादनमन्त्रमेव सम्पदनुकूलत्वात् सिद्धान्तयति। 'दक्षिणेन निर्हृत्य दक्षिणस्यामुत्तरवेदिश्रोणौ निदधातीन्द्राग्न्योरिति' (का.श्रौ.८।९।१६)। वसतीवरीरादाय दक्षिणे शालाया निष्काश्य मार्जालीयं दक्षिणेन नीत्वा दक्षिणस्यामुत्तरश्रोणावासादयेत्।

मन्त्रार्थस्तु – हे वसतीवर्यः, यूयमिन्द्राग्न्योर्भागधेय्यो भागरूपाः स्थ भवथ। 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति वार्त्तिकेन स्वार्थे धेयप्रत्ययः। 'केवलमामकभागधेय....' (पा.सू.४।१।३०) इत्यादिना ङीपि भागधेयीति रूपम्। 'ते देवा बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन्, तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवताः' (तै.सं.१।८।१) इति। इन्द्रस्य तु देवाधिपत्वं प्रसिद्धम्। 'उत्तरस्यां पूर्ववन्मित्रवरुणयोरिति वा' (का.श्रौ.८।९।१९-२०)। हे वसतीवर्यः, यूयं मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ भागरूपा भवथ। 'आग्नीध्रे सादयति विश्वेषां भागधेयी स्थेति' (श. ३।९।२।१६)। 'विश्वेषां देवानामित्याग्नीध्रे' (का.श्रौ.८।९।२१)। उत्तरवेदिश्रोणेः सकाशाद् वसतीवरीरादायाग्नीध्रीयस्याग्नेः पश्चान्निदध्यात्।

मन्त्रार्थ – हे वसतीवरी जलों, तुमको अविनश्वर घर वाले अग्नि के निकट स्थापित करता हूँ, तुम इन्द्र और अग्नि देवता के भाग हो, तुम सभी देवताओं के भाग हो। जो जल बहुत काल तक रहने के कारण सूर्य की किरणों में अदृश्य रूप में स्थित है, अथवा जिनके साथ सूर्य गमन करता है, वे जल हमारे यज्ञ को तृप्त करें ॥२४॥

भाष्यसार- 'अग्नेर्वः' इस कण्डिका के मन्त्रों से वसतीवरी जल का स्थापन विविध स्थानों पर किया जाता है। यह याज्ञिक

हे वसतीवर्यः, यूयं सर्वेषां देवानां भागरूपा भवथ । अमूर्या इति ऋग् अब्देवत्या गायत्री । याः प्रसिद्धा **अमूरीदृश्यो** वसतीवरीरूपा आप उपसूर्ये सूर्यसमीपे स्थिताः, विभक्तिव्यत्ययेन याभिर्वा, वाशब्दः समुच्चये, याभिश्च**द्भिः सह** सूर्यो भवति ता आपो नोऽस्माकमध्वरं यज्ञं हिन्वन्तु तर्पयन्तु । सर्वतः परिहरणमुत्तरवेदेश्चापरिहरणं प्रशंसति श्रुतिः – 'गुप्त्यै वा एताः परिह्रियन्ते । अग्निः पुरस्तादथैताः समन्तं पल्यङ्गयन्ते नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपघ्नत्यस्ता आग्नीध्रे सादयति विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थेति तदासु विश्वान् देवान् संवेशयत्येते वै वसतांवरं तस्माद्वसतीवर्यो नाम वसताꣳहि वरं भवति य एवं वेद' (श.३।९।२।१६) । अपां वज्रत्वेन रक्षोविघातकत्वात् सर्वतः परिहरणेन यज्ञस्य रक्षःसकाशात् सर्वतो गुप्तिर्भवति । साक्षाद्रक्षोद्वेषिणोऽग्नेः पुरस्ताद्वर्तमानत्वान्न तदपेक्षा, पुरस्तात् परिहारापेक्षा नास्ति । पल्यङ्गयन्ते परितोऽङ्गयन्ते ह्रियन्ते । ता आग्नीध्रे उत्तरश्रोणितश्चादाय विश्वेषां देवानामिति मन्त्रेण सादयेत् । ततस्तेन विश्वेषां देवानां संवेशनं तत्र भवति । तत्प्रसङ्गेनैव वसतीवरीशब्दं निर्वक्ति – एते वै वसतां वरम्, तस्याद्वसतीवर्यो नामेति । वसतां क्वचित् क्वचित् स्थानेषु निवसतां मध्ये, एते खलु देवा वरम् एतेषां यासो वरं श्रेष्ठः, वसतां देवानां श्रेष्ठत्वापादकत्वाद् वसतीवर्यो नाम सम्पन्नमासामपाम् । यद्वा एतेष्वेता आपो वसतां विश्वेषां देवानां वरमुत्कृष्टं स्थानमिति वसतीवर्य इति नाम । उक्तार्थज्ञं प्रशंसति – वसतां ह वै वरं भवति । 'तानि वा एतानि सप्त यजूꣳषि भवन्ति । चतुर्भिर्गृह्णात्येकेन जघनेन गार्हपत्यꣳ सादयत्येकेन परिहरत्येकेनाग्नीध्रे तानि सप्त यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दाꣳसि सप्तपदा वै तेषां परार्ध्या शक्वर्येतामभिसम्पदं तस्मात् सप्त यजूꣳषि भवन्ति' (श.३।९।२।१७) । वसतीवरीग्रहणप्रभृतीनामाग्नीध्रसादनान्तानां मन्त्राणां या सप्त संख्या, तां शक्वरीत्वसम्पत्त्या प्रशंसति-तानीति । वाच सकाशाच्छन्दसामुत्पत्तिः सोमाहरणप्रस्तावे 'वागेव सुपर्णी' इत्युक्त्वा 'तथेति सा छन्दासि ससृजे' (श.३।६।२।२-८) इत्यत्र प्रतिपादिता । तेषां मध्ये परार्ध्या परार्धे भवा परार्ध्या श्रेष्ठा सप्तपदा शक्वरी । परार्ध्यत्वं प्रधानभूतानां सप्तच्छन्दसामुपरि भावित्वात् । एतां संख्याद्वारा शक्वरीप्राप्तिलक्षणां सम्पदमभिलक्ष्य सप्त मन्त्रा उक्ता भवन्ति ।

अध्यात्मपक्षे – हे पराप्रकृतयो जीवात्मानः, अपन्नगृहस्य अविनश्वरगृहस्य अग्नेः सर्वस्य नेतुः परमेश्वरस्य स एव नित्यगृहो भवति, तस्य स्वात्मप्रतिष्ठत्वात्, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' इति श्रुतेः । सदसि निकटस्थाने सभायां वा युष्मान् सादयामि । यूयम् इन्द्राग्न्योर्भागधेयी भागधेय्यो भागरूपा **भवथ,** देवानामुपकारकत्वेन भोग्यत्वात् । मित्रावरुणयोर्भागरूपा भवथ । न केवलमेतेषामेव, किन्तु विश्वेषां समेषां देवानां भागरूपा भवथ । 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥' (भ.गी.३।११-१२) इति गीतोक्तेः । याः प्रसिद्धा अमूरीदृश्यः पराप्रकृतिरूपा उपसूर्ये सूर्यस्य सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनोऽन्तर्यामिणो हिरण्यकेशस्य हिरण्यश्मश्रोर्हिरण्यमयस्य भगवतः समीपे स्थिताः, याभिश्च सह सूर्यः परमेश्वरः स्थितः 'द्वा सुपर्णा

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (८।९।१०-२१) में प्रतिपादित है । शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे जीवात्माओं, अविनश्वर गृह वाले, सबके नेता परमेश्वर के निकट अथवा सभा में तुमको बैठाता हूँ । तुम लोग इन्द्राग्नी के भागरूप बनो, मित्रावरुणों के भागरूप बनो, समस्त देवताओं के भागरूप बनो । जो इस प्रकार की परा प्रकृतिरूपा हैं, सूर्यमण्डल के अन्तर्वर्ती अन्तर्यामी स्वर्णमय केशश्मश्रु वाले भगवान् के समीप अवस्थित हैं तथा जिनके साथ

सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (ऋ.सं.१।१६४।२०) इत्यादिश्रुतेः, ता नोऽस्माकं वेदानामध्वरम् अध्वरोपलक्षितकर्मोपासनाज्ञानादिरूपान् प्रतिपाद्यानर्थान् हिन्वन्तु प्रेरयन्तु, सर्वहिताय प्रेरयन्तु प्रोत्साहयन्तु वा ।

दयानन्दस्तु – 'हे ब्रह्मचारिण्यः, या अमूः स्वयंवरविवाहं कृतवत्यः सन्ति, तद्वद् या यूयमिन्द्राग्न्योर्भागधेयीः स्थ, सूर्यविद्युतोर्गुणानां विभागज्ञानयुक्ता विश्वेषां देवानां भागधेयीः स्थ, ता वो युष्मान् अपन्नगृहस्याग्नेः सदस्यहं सादयामि, सूर्ये सूर्यगुणेषु उपतिष्ठन्ति वा याभिः सह सूर्यो वर्तते ता नोऽस्माकमध्वरं विवाहं कृत्वा हिन्वन्तु प्रीणन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते ब्रह्मचारिणीनां सम्बोधनीयत्वे प्रमाणाभावात् । तथैवेन्द्राग्निशब्दयोस्तद्गुणपरत्वं च भाक्तमेव, न शाक्तम् । न चात्र गौणार्थग्रहणे बीजमुपलभामहे । सायणादिरीत्या शक्त्यैव निर्वाहसम्भवे भक्त्याश्रयणस्यान्याय्यत्वात् । 'विश्वेषां देवानां विदुषां पृथिव्यादीनां वा विभागविज्ञानयुक्ताः' इत्यपि निर्मूलम्, गौणार्थाश्रयणापत्तेः । सर्वमेतच्छतपथीयश्रुतिव्याख्यानविरुद्धं च ॥२४॥

हृदे त्वा मन॑से त्वा दिवे त्वा सूर्या॑य त्वा । ऊर्ध्वमिमम॑ध्वरं दिवि देवेषु होत्रा॑ यच्छ ॥२५॥

'तान् सम्प्रबोधयन्ति। ते अप उपस्पृश्याग्नीध्रमुपसमायान्ति त आज्यानि गृह्णते गृहीत्वाज्यान्यायान्ति' (श.३।९।३।१) इत्यादिना सुत्यादिवसे प्रातःकालीनं सवनीयपश्वर्थप्रयोगमाह ।प्रबोधिता ऋत्विजो विहितकर्माण्यनुष्ठायोदकोपस्पर्शनं कृत्वा आज्यानि गृहीत्वा उत्तरवेदिसमीपमायान्ति । प्रयोगश्च सूत्रे – शालाद्वार्ये परिस्तरणपात्रसंसादनप्रोक्षणाज्यनिर्वपणाधिश्रयणस्रुक्संमार्जोद्वासनावेक्षणानि कृत्वाग्नीध्र उत्पूय पश्वाज्यग्रहणम् । आज्यान्यादाय सोमं चार्थवच्चाहवनीय इध्मप्रोक्षणादि करोति । अग्नीषोमीयवत् स्तरणम् । 'अथ राजानमुपाहरति' (श.३।९।३।२) । अधिषवणचर्मोपरि प्रदेशं प्रति अधो नयेत् । 'अन्तरेणेषे उपावहरति' (श.३।९।३।३) । इषे आयतौ शकटदण्डौ, यज्ञसादनसोमाश्रयत्वात् । 'यज्ञो वा अनः' । तयोरन्तरालादधः सुप्त्वावरोहणेन यज्ञाद्धविर्धानाद् बाह्यं न कृतवान् भवति । 'ग्राव्सु संमुखेष्वधिनिदधाति' (श.३।९।३।३) । 'स उपावहरति हृदे

साथ परमेश्वर स्थित हैं, वे हमारे वेदों के प्रतिपाद्य कर्म. उपासना, ज्ञानादिरूप यज्ञ आदि पदार्थों को प्रेरित करें अथवा सबके हित के लिये प्रोत्साहित करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ, मन्त्र में ब्रह्मचारिणियों को सम्बोधित करने में प्रमाण न रहने के कारण, असंगत है । इसी प्रकार इन्द्र, अग्नि आदि शब्दों को उनके गुण का वाचक मानना भी शब्द-शक्ति से नहीं सिद्ध होता, अपितु गौण है । इस गौण अर्थ के ग्रहण में कोई मूल हमें नहीं उपलब्ध होता । सायण आदि आचार्यों की रीति से शब्द-शक्ति से ही अर्थ की सिद्धि संभव होने पर भक्ति का आश्रय लेना अनुचित है। यह सब शतपथ श्रुति के विरुद्ध भी है ॥२४॥

मन्त्रार्थ – हे सोम, हृदयवान् मनुष्यों के निमित्त, संकल्प-विकल्पात्मक मन के निमित्त, द्युलोक की प्राप्ति के निमित्त, सूर्य देवता के निमित्त तुम्हारा उपाहरण करता हूँ । इस यज्ञ को उन्नत करके यज्ञ के वषट्कर्ता सात होताओं को देवलोक में देवताओं के मध्य देवत्व प्रदान करो ॥२५॥

भाष्यसार – 'हृदे त्वा' इस ऋचा के द्वारा तृतीय सवन के लिये सोमलता को प्रस्तरखण्ड पर रखा जाता है । कात्यायन श्रौतसूत्र

त्वा' (श.३।९।३।४) इति । उपावहरणप्रकारमभिधायोपावहरणे मन्त्रमाह – हृदे त्वेति । कात्यायनोऽपि – 'आज्यासादनात् कृत्वेषामन्तेरणार्धसोममद्रिषु संमुखेषु निदधाति हृदे त्वेति' (का.श्रौ.९।१।५) । आज्यासादनान्तं कृत्वा सोममादाय हविर्धाने प्रवेश्य दक्षिणस्य हविर्धानस्य ईषान्तरालेन अर्धाधिकं सोमं तृतीयसवनार्थं महांशुसहितं सम्मुखेष्वभिषवार्थपाषाणेषु चर्मण उपरि स्थापितेषु रथादवतार्य सोमोपनहनवाससा सहैवावशिष्टसोमस्य माध्यन्दिनसवनार्थमीषयोरुपर्येवावशेषणम् । तस्य वस्त्रान्तरेण सन्नहनं कर्तव्यम् । अद्रीणां मुखानि स्थवीयांसि भवन्ति । सौम्यनुष्टुप् ।

तथा चायं मन्त्रार्थः – हे सोमराजन्, त्वा त्वां हृदे हृदयवद्भ्यो मनुष्येभ्यो मनसे मनस्विभ्यः पितृभ्यो दिवे द्युलोकनिवासिभ्यो देवेभ्यो विशेषतः सूर्याय चोपहरामि । एवमुपाहृतोऽभिषुतस्त्वमूर्ध्वमुत्कृष्टः सन्नध्वरं मदीयं यज्ञं सम्पाद्य दिवि द्युलोकवासिषु होत्रा वषट्कारवादिनः सप्त होत्रकान् यच्छ निबध्नीहि । यद्वा हे सोम, हृदे निश्चयात्मिकायै एतन्मम स्यादिति कामरूपायै बुद्ध्यै त्वामुपावहरामि । मनसे शुभसङ्कल्पाय दिवे द्युलोकप्राप्तये सूर्याय सूर्यमुखेभ्यो देवेभ्यस्तृप्तये त्वामुपावहरामि । हृदयादिशब्दानां यथोक्तार्थं तित्तिरिर्दर्शयति – 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति स त्वा अध्वर्युः साद्यः सोममुपावहरते सर्वाभ्यो देवताभ्य उपावहरेदिति हृदे त्वेत्याह, मनुष्येभ्य एवैतेन मनसे पितृभ्य एवैतेन करोति, दिवे त्वा सूर्याय त्वेति देवेभ्य एवैतेन करोत्येवं यावतीर्वै देवतास्ताभ्य एवैनं सर्वाभ्य उपावहरति' इति । 'क्षत्रं वै सोमो विशो ग्रावाणः क्षत्रमेवैतद्विश्यध्यूहति तद्यत् संमुखा....क्षत्रियमभ्यविवादिनीं करोति तस्मात् संमुखा भवन्ति' (श.३।९।३।३) । सोमस्य क्षत्रियत्वाद् ग्राव्णां च बहुत्वात् तच्छेषत्वाच्च विशोरूपत्वम् । मध्ये स्थापनेन यत्सर्वग्रावसांमुख्यं तत्प्रशंसति – क्षत्रियमिति । क्षत्रियजातिमभिलक्ष्याविवादिनीमविवादनशीलां करोति । मन्त्रं व्याचष्टे – 'हृदे त्वा मनसे त्वेति यजमानस्यैतत्कामायाह हृदयेन हि मनसा यजमानस्तं कामं कामयते यत्काम्या यजते तस्मादाह हृदे त्वा मनसे त्वेति' (श.३।९।३।४) । हे सोम, त्वा त्वां हृदे हरति दूरस्थं विषयमिति, विषयाभिमुखं स्वोपहितमात्मानं हरतीति वा हृदयमन्तःकरणम्, तद्विशेषरूपं सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः, यजमानसम्बन्धिनोस्तयोरुभयोर्विषयोऽयं कामः, तस्य लाभार्थमुपावहरामि । कर्मकारकस्य द्विराम्नानादुपावहरामीति द्विरभ्यासः । अतो वाक्यद्वयम्, न व्याख्यानव्याख्येयभावः । 'दिवे त्वा सूर्याय त्वेति । देवलोकाय त्वेत्येवैतदाह यदाह दिवे त्वेति सूर्याय त्वेति देवेभ्यस्त्वेत्येवैतदाहोर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छेत्यध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वमिमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहीत्येवैतदाह' (श.३।९।३।५) । दिवे देवलोकाय त्वा सूर्याय त्वेत्येतद्रश्मिभूतानां देवानामुपलक्षणम् । हे सोम, ऊर्ध्वमुपरि तायमानत्वेनोन्नतमिमं सोमयागं दिवि द्युलोके देवेषु यच्छ, होत्रा होत्रकाश्च देवेषु गच्छन्तु ।

अध्यात्मपक्षे – हे परमेश्वर, त्वा त्वामाश्रयामः । किमर्थम् ? हृदे बुद्ध्यै त्वद्विषयकाध्यवसानाय, मनसे त्वद्विषयकसततसङ्कल्पाय, दिवे दिवे द्योतनात्मकाय स्वप्रकाशाय तादृशत्वत्स्वरूपप्राप्तये, सूर्याय हिरण्मयाय मण्डलान्तर्गतपरब्रह्मपुरुषाय तत्प्राप्तये त्वामाश्रयामः, त्वत्कृपयैव तत्प्राप्तिसम्भवात् । इममुपासनालक्षणमध्वरं यज्ञम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टं कृत्वा दिवि देवेषु द्युलोके वर्तमानेषु देवेषु ये होत्राः सर्वस्वात्मसमर्पकास्तान् यच्छ उपरमय । संसाराद्

(९।१।३-४) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्या उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे परमेश्वर, हम आपका आश्रय ग्रहण करते हैं । आपके विषय मेंअध्यवसायात्मिका बुद्धि के लिये, सतत संकल्प के लिये तथा द्योतनात्मक स्वप्रकाश के लिये, इस प्रकार के आपके स्वरूप की प्राप्ति के लिये, हिरण्मय

व्युत्थाप्य सर्वथा स्वस्मिन् योजय। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो.१।२।१५) इति श्रुतिप्रामाण्यात् सर्वेषामपि वेदानां ब्रह्मप्रतिपादकत्वम्।

दयानन्दस्तु – 'हे ब्रह्मचारिणि कन्ये, त्वं यथा वयं सर्वा देवेषु स्वपतिषु समीपवर्तिन्यो होत्रा हवनकर्मानुष्ठात्र्यः स्म, तथा भव। यथा वयं हृदे हृत्सुखाय मनसे सदसन्मननाय दिवे सर्वसुखद्योतनाय सूर्याय सूर्यगुणाय अशिशिष्म, तथा दिवीममध्वरम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टं यच्छ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथातथादिपदानां मूलेऽभावात्। यत्तु कन्यानां सम्बोधनम्, 'देवेषु' इत्यस्य 'स्वपतिषु समीपवर्तिन्यः' इत्यादिव्याख्यानम्, तत्सर्वं निर्मूलम्। 'हृदे' इत्यस्य हृत्सुखाय, 'मनसे' इत्यस्य सदसन्मननाय, दिवे सुखद्योतनाय, सूर्याय सूर्यगुणायेत्यादिकमपि गौणार्थाश्रयणं निर्बीजमेव। अशिशिष्मेत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव। न च दानार्थकस्य दीव्यतेः सुखदायकपत्यर्थकरणं नासङ्गतमिति वाच्यम्, इतरधनादिदानस्यापि सुखदातुर्मात्रादेरपि सम्भवेन तादृशार्थे विनिगमनाविरहात्॥२५॥

सोम॑ राज॒न् विश्वा॒स्त्वं प्र॒जा उ॒पाव॑रो॒ह विश्वा॒स्त्वां प्र॒जा उ॒पाव॑रोहन्तु। शृ॒णोत्व॒ग्निः स॒मिधा॒ हवं॑ मे शृ॒ण्वन्त्वापो॑ धि॒षणा॑श्च दे॒वीः। श्रोता॑ ग्रावाणो वि॒दुषो॒ न य॒ज्ञं शृ॒णोतु॑ दे॒वः स॑वि॒ता हवं॑ मे॒ स्वाहा॑॥२६॥

'अथानुसृज्योपतिष्ठते' (श.३।९।३।७)। 'विश्वास्त्वामिति विसृज्योपतिष्ठते' (का.श्रौ.९।१।६)। यजमानो ग्रावसु स्थापितात् सोमात् स्वहस्तं निष्कृष्य सोममुपतिष्ठतु। विसर्गस्यालम्भपूर्वकत्वाद् आलम्भस्य च याजमानत्वाद् याजमानमिदमुपस्थानम्। हे सोमराजन्, त्वां विश्वाः सर्वाः प्रजा उपावरोहन्तु, त्वं प्रजानामाधिपत्यं कुर्वित्यर्थः। हे सोम, विश्वाः सर्वाः प्रजास्त्वामुपावरोहन्तु प्रत्युत्थानादिभिः प्राप्नुवन्तु। 'अभूदुषा रुशत्पशुरित्युच्यमाने चतुर्गृहीतं प्रचरण्या जुहोति शृणोत्वग्निरिति' (का.श्रौ.९।३।१)। प्रातरनुवाकस्य अन्तिमा ऋग् अभूदुषेति।

मण्डल के अन्तर्वर्ती परब्रह्म पुरुष की प्राप्ति के लिये आपकी शरण लेते हैं, क्योंकि आपकी कृपा से ही उसकी प्राप्ति सम्भव है। इस उपासनात्मक यज्ञ को उत्कृष्ट बना कर द्युलोक में विद्यमान देवों में जो सर्वस्वात्मसमर्पणकर्ता हैं, उसको रखें। संसार से उठा कर अपने में संयुक्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अग्राह्य है। कन्याओं का संबोधन, 'देवेषु' का अर्थ 'अपने पतियों के समीपवर्ती' इत्यादि व्याख्या करना अप्रामाणिक है। 'अशिशिष्म' इस शब्द का अध्याहार करना भी निर्मूल है। दानार्थक 'दिवु' धातु का सुखदायक पति से अर्थ बैठाना असंगत नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्य धनादि का दान सुखदात्री माता आदि से भी संभव है। अतः उपर्युक्त अर्थ में कोई निश्चित युक्ति नहीं है॥२५॥

मन्त्रार्थ– हे राजा सोम, तुम इन सम्पूर्ण ऋत्विग्गणों को अपनी प्रजा जान कर इन पर कृपा करो। हे सोम, यह सम्पूर्ण प्रजा तुमको प्रणाम करती है। अग्निदेवता सुविधापूर्वक मेरी इस आहुति से मेरे बुलावे को सुनें। हे ग्रावासमूह, अभिषव के निमित्त प्राप्त हुए तुम विद्वानों की तरह एकाग्रचित्त हो मेरे यज्ञ के बुलावे को सब तरह से सुनो। सबका प्रेरक परमात्मा मेरे बुलावे को सुने। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो॥२६॥

भाष्यसार – 'सोम राजन्' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों से सोम का उपस्थान तथा घृत का हवन किया जाता है। कात्यायन

तस्मिन् मन्त्रे होत्रा पठ्यमानेऽध्वर्युश्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा प्रचरण्या स्रुचा जुहुयात् । त्रिष्टुप्, लिङ्गोक्तादेवता अग्निः । समिधा समित्पूर्विकयाऽऽहुत्या मे हवं मदीयमाह्वानं शृणोतु । आपश्च मदीयमाह्वानं शृण्वन्तु । कीदृश्यः ? धिषणा विद्योपेताः, देवीः देव्यो देवतारूपाश्च । विदुषो नेत्युपमार्थः । विदुष इति विभक्तिव्यत्ययः । तथा च विद्वांसः प्रत्यक्षतो जानन्त इव । हे ग्रावाणः, अभिषवार्थमिहोपस्थिता यूयं मदीयं यज्ञं श्रोता शृणुत । तथा सविता देवो मदीयमाह्वानं शृणोतु । यद्वा धिषणाश्च वाचः, धीसादिन्यो धियं सन्वन्ति ददतीति धिषणाः । 'षणु दाने' धीमानिन्यो वा (निरु.८।४) । देवीः देव्यः श्रोता ग्रावाणो यूयमपि शृणुत । स्वाहा सुहुतमस्तु, स्वाहा वागाहेति वा ।

अत्र शतपथश्रुतिः – 'विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्त्वित्ययथायथमिव वा एतत्करोति यदाह विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहेति क्षत्रं वै सोमस्तत्पापवस्यसं करोति.... यथापूर्वं यदाह विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्त्विति तदेनमाभिः प्रजाभिः प्रत्यवरोहयति तस्मात् क्षत्रियमायान्तमिमाः प्रजा विशः प्रत्यवरोहन्ति तमधस्तादुपासक उपसन्नो होता प्रातरनुवाकमनुवक्ष्यन् भवति' (श.३।९।३।७) । उपावरोहणे यो विश्वास्त्वामिति मन्त्रशेषः । तत्र विश्वाः प्रजा उद्दिश्य तुच्छजनवत् परिचारकपुरुषनिष्पादितावरोहणमन्तरेण स्वत एवावरोहणस्य प्रजाः प्रति सोमस्यापसर्जनलक्षणस्य च प्रतीतिः । तस्याश्च क्षत्रियभूतस्य सोमस्यानुचितत्वाद् विश्वास्त्वामित्यभिधानेन अयथायथं यथास्वरूपस्य यदुचितं तस्य तद्वैपरीत्यं कृतं भवति, तच्च पापवस्यसं पापं च वसीयश्च पापवस्यसं साध्वसाधुमिश्रणम् । तन्मूलत्वेनेदानीमपि जनैः पापवस्यसं क्रियते । अत उक्तवैलक्षण्येनोपस्थानमन्त्रे विश्वास्त्वामित्यभिधानाद् विश्वाभिः प्रजाभिः सोमोपावरोहणस्य कृतत्वादवतरन्तं प्रति विश्वासां प्रजानां स्वस्वस्थानादवतरणस्योक्तत्वाद्वा नोक्तदोषावकाशः । पूर्वस्मिन् यथा अवरोहन्तु, अवरोहयन्त्वित्यर्थः । तस्मात् त्वमवरोहन्त्विति विधानाद् हेतो राजानं प्रति प्रजानामुपक्षीणत्वसम्पादनादिदानीमपि सम्पादयन्तमवरोहन्तं क्षत्रियं सर्वाः प्रजाः परिवाररूपा अवरोहन्ति । यद्वा आयान्तं प्रति सर्वाः प्रजाः स्वस्वस्थानाद् अवरोहन्ति । तदनन्तरं राजानमुपरि कृत्वा अधस्तादुपासते प्रजाः । यद्वा पृथगेवेदं वाक्यम् । तं तीर्णमधस्तादुपासत ऋत्विजोऽध्वर्युप्रमुखाः । 'स जुहोति । शृणोत्वग्निः समिधा हवं म इति शृणोतु म इदमग्निरनु मे जानात्वित्येवैतदाह शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीरिति शृण्वन्तु म इदमापोऽनु मे जानात्वित्येवैतदाह श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञमिति शृण्वन्तु म इदं ग्रावाणोऽनु मे जानन्त्वित्येवैतदाह विदुषो न यज्ञमिति विद्वाꣳसो हि ग्रावाणः शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहेति....सवितृप्रसूत एवैतद्यज्ञस्य रसमच्छैति' (श.३।९।३।१४) । इमं मन्त्रं विच्छिद्यानूद्य व्याचष्टे – अग्निरापः,धिषणा वाचः, देवीः देव्यः, विदुषो न यज्ञं विद्वांस इव हवं यज्ञमिमं शृण्वन्तु – इति सङ्ग्रहार्थः । सर्वत्र शृणोतु शृण्वन्तु, अनुजानातु अनुजानन्तु इति चार्थपरतया व्याख्यातव्याः । विदुष इति ग्रावविशेषणतया व्याचष्टे – विद्वांसो हि ग्रावाण इति । प्रथमाबहुवचने छान्दसं द्वितीयाबहुवचनम् ।

अध्यात्मपक्षे – हे सोम, उमया सहितो देवः सोमस्तत्संबुद्धौ हे सोम हे राजन्, सर्वत आधिक्येन राजमान, त्वं विश्वाः समस्ताः प्रजा उपावरोह अधितिष्ठस्व । आधिपत्यं कृत्वा पालयस्व, स्वानुग्रहाद्

श्रौतसूत्र (९।१।६,९।३।१) में यह याज्ञिक विनियोग उल्लिखित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे उमासहित सर्वाधिक विद्योतमान देव, आप समस्त प्रजाओं का आधिपत्यपूर्वक पालन

अभ्युदयनिःश्रेयससम्पादनसौविध्यसौकर्यादिकं सम्पादय । विश्वाः प्रजाश्च त्वामुपावरोहन्तु प्रत्युत्थानाभिवादनादिभिस्त्वां प्राप्नुवन्तु । अग्निः परमेश्वरः समिधा समित्पूर्वकयाहुत्या प्रसन्नः सन् हवं मदीयाह्वानं शृणोतु । होमदानादिभिः प्रसन्नो भगवान् भक्तानामाह्वानं शृणोति । तत एव त्वरया भक्तकार्यं सम्पादयति । तदुक्तमभियुक्तैः – 'या त्वरा द्रौपदीत्राणे या त्वरा गजमोक्षणे । मय्यार्तेकरुणामूर्ते सा त्वरा क्व गता हरे ॥' इति । आप आप्नुवन्तीत्यापः, धिषणा विज्ञानाधिष्ठात्र्यो देवीर् देव्यो भगवती उमा तद्गुणशक्तयो दशमहाविद्यारूपा मम हवमाह्वानं शृण्वन्तु । हे ग्रावाणः, द्वादशज्योतिर्लिङ्गरूपा ग्रावाणो लौकिकदृष्ट्या पाषाणवद् भासमानाः, विदुषो न विद्वांस इव यथा विद्वांसः प्रत्यक्षतो जानन्तो यज्ञं शृण्वन्ति, तथा श्रोता शृणुत (श्रोत इत्यत्र संहितायां दीर्घः), मे हवमाह्वानम्, तथा सविता सर्वोत्पत्तिस्थितिलयहेतुर्देवो जगत्क्रीडापरायणो मे मम हवं शृणोतु । स्वाहा तुभ्यं मदीयं सर्वस्वं सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु – 'हे सोम राजन्, त्वं पितेव विश्वाः प्रजा उपावरोह समीपवर्ती भूत्वा रक्ष । त्वां विश्वाः प्रजा अपत्यानीवोपावरोहन्तु आश्रयन्तु । हे सभाध्यक्ष, भवान् समिधाग्निरिव मे मम प्रजाजनस्य हवं प्रगल्भवाणीं शृणोतु । श्रुत्वा प्रदीप्तो भव । आपो धिषणा देवीर् देव्यः पत्न्यश्च मातरमिव स्त्रीन्यायं शृण्वन्तु । हे ग्रावाणः स्तावका विद्वांसः सभासदः, यूयं मम हवं श्रोत । देवः सविता भवान् विदुषो यज्ञं न इव मम हवं स्वाहा शृणोतु' इत्यादिकम्, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते लुप्तोपमालङ्कारसत्त्वे प्रमाणाभावात्, यास्कजैमिनिव्यासकात्यायनादिभिः कैश्चिदपि महर्षिभिस्तथाऽव्याख्यानात्, उपावपूर्वकस्य रोहते रक्षणार्थकताया अप्रामाणिकत्वात् । शृणोत्वित्यस्यास्माकं प्रगल्भवाणीं श्रुत्वा न्यायेन प्रकाशितो भवेत्यर्थोऽपि निर्मूलः । तथैव 'आपो गुणेषु व्याप्ताः' इति कस्य विशेषणम् ? धिषणानां पत्नीनां वा ? नाद्यः, धिषणानां गुणात्मकतया गुणे गुणानङ्गीकारात् । नाप्यन्त्यः पक्षः क्षोदक्षमः, द्रव्यरूपाणां पत्नीनामपि गुणेषु व्याप्त्यसम्भवात् । 'पत्न्यः' इत्यर्थोऽपि निर्मूलः, मूले पत्नीशब्दाभावात् । 'ग्रावाणः सदसद्विवेचका विद्वांसः' इत्यर्थोऽपि निर्मूलः, 'ग्रावाणः' इत्यस्य निघण्टौ (५।३ इत्यत्र) पदनामसु पठितत्वेऽपि सदसद्विवेचकरूपार्थस्याप्रामाणिकत्वात् ॥२६॥

करें। अपनी कृपा से अभ्युदय एवं निःश्रेयस का सम्पादन, सौविध्य आदि करें । समस्त प्रजाएं समादर, नमन आदि के द्वारा आपको प्राप्त करें । परमेश्वर समिधा आदि की आहुति से प्रसन्न होकर मेरा आह्वान सुनें । व्याप्त करने वाली विज्ञानाधिष्ठात्री देवी भगवती उमा तथा दश महाविद्यारूपी उनकी गुणशक्तियाँ मेरा आह्वान सुनें । हे द्वादश ज्योतिलिंगरूपी लौकिक दृष्टि से पाषाणमूर्ति की भाँति प्रतीत होने वाले शिवविग्रह, आप जिस प्रकार विद्वान् लोग प्रत्यक्ष समझते हुए यज्ञ का श्रवण करते हैं, उसी प्रकार मेरा आह्वान सुनें । सबकी उत्पत्ति, स्थिति, संहृति का विधाता जगत्क्रीडा में निरत देव भी मेरा आह्वान सुने । आपके लिये मेरा सर्वस्व समर्पित हो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ मन्त्र में लुप्तोपमा अलंकार के होने में कोई प्रमाण न रहने के कारण अग्राह्य है । यास्क, जैमिनि, व्यास, कात्यायन आदि किन्हीं भी ऋषियों ने इस प्रकार का अर्थ नहीं किया है । उप तथा अव उपसर्गपूर्वक रुह धातु का 'रक्षण' अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है । 'ग्रावाणः' शब्द का 'सदसत् का विवेचन करने वाले विद्वान्' अर्थ करना भी निर्मूल है ॥२६॥

देवीरापो अपांनपाद्यो वं ऊर्मिर्हविष्य इन्द्रियावांन् मदिन्तमः ।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषां भाग स्थ स्वाहा ॥२७॥

'अथापरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा । उदङ् प्रयन्नाहाप इष्य होतरित्यप इच्छ....' (श.३।९।३।१५) । 'अपरं गृहीत्वोदङ् गच्छन्नाहाप इष्य होतरिति' (का.श्रौ.९।३।२) । अपरं चतुर्गृहीतं गृहीत्वा उदङ्मुखं गच्छन् अप इष्य होतः (अपः प्रति गच्छ) इति होतारं प्रत्यध्वर्युर्ब्रूयात् । 'अथ सम्प्रेष्यति । मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवेहि नेष्टः पत्नीरुदानयैकधनिन एताग्नीधात्वाले वसतीवरीभिः प्रत्युपतिष्ठासै होतृचमसेन चेति सम्प्रैषं एवैषः' (श.३।९।३।१६) । 'त उदञ्चो निष्क्रामन्ति । जघनेन चात्वालमग्रेणाग्नीध्रं स यस्यां ततो दिश्यापो भवन्ति तद्यन्ति ते वै सह पत्नीभिर्यन्ति तद्यत् सह पत्नीभिर्यन्ति'(श.३।९।३।१७) । हे नेष्टः, त्वं पत्नीः पान्नेजनोदकाहरणाय उदानय । एकधना उदकानि तेषां धारकाः कुम्भा वा उपतिष्ठेति निर्दिष्टाः । गमनसमये पत्नीसाहित्यं विधाय तदाख्यानमुखेन प्रशंसा – 'यत्र वैः' (श.३।९।३।१८) इत्यादिना । पुरा किल देवैर्यज्ञशिरश्छेदाद्गतो रसः पलाय्याप्सु निविष्टः । तं रसं गन्धर्वाः सोमपालका ररक्षुः । ते देवा ऊचुरिमे गन्धर्वा नाष्ट्राः । कथमनाष्ट्रे देशे रसमाहरेत्येवं विचार्य गन्धर्वा योषित्प्रियास्तद्वयं पत्नीभिः सहिता गच्छामः । गन्धर्वाः पत्नीषु काङ्क्षन्ति, तस्मिन् समये वयमनाष्ट्रेऽभये यज्ञस्य रसमाहरिष्यामः । ते सह पत्नीभिर्गताः । ते च तथैव तास्वाकाङ्क्षां कृतवन्तः । तस्मिन् समये ते रसमाजह्रुः । तथैवेदानीमपि कर्तव्यम् । ते पत्नीष्वेव गन्धर्वा गृध्यन्ति । अथैनमभयेऽनाष्ट्रे यज्ञस्य रसमाहरन्ति ।

'प्रेष्यति च मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवे हि नेष्टः पत्नीरुदानयैकधनिन एता अग्नीधात्वाले वसतीवरीभिः प्रत्युपतिष्ठासै होतृचमसेन चेति' (का.श्रौ.९।३।३) । अध्वर्युरुदङ् गच्छन्नेव मैत्रावरुणस्य चमसाध्वर्यवे हि इति चमसाध्वर्युर्नेष्टः पत्नीरुदानय इति नेष्टारं एकधनिन एत इति निर्व्यापारानृत्विजोऽग्नीधात्वाले वसतीवरीभिः प्रत्युपतिष्ठासै होतृचमसेन इत्यग्नीध्रं प्रेष्येत । 'अपो गत्वा देवीराप इत्यप्सु जुहोति' (का.श्रौ.९।३।४) । यच्चतुर्गृहीतं सह आनीतं तदपः प्रति गत्वा देवीराप इत्युदकमध्ये जुहुयात् । अब्देवत्या पङ्क्तिः । पञ्चपदा चत्वारिंशद्वर्णा पङ्क्तिर्भवति । द्वितीयः सप्ताक्षरः । तुर्यपञ्चमौ नवार्णौ । तेनैकाधिका स्वाहेति । हे आपो देवीः देव्यः, वो युष्माकम् अपान्नपाद् अपत्यरूप ऊर्मिर्देवत्रा देवान् प्रति स्थितोऽप्सङ्घातः कृत्स्नो रसः । तमूर्मिं देवेभ्यो देवार्थं दत्त प्रयच्छत । कीदृश ऊर्मिः ? हविष्यः । हविषे सोमरूपाय हितो यज्ञियः, इन्द्रियावान् इन्द्रियं वीर्यमस्यास्तीति इन्द्रियावान् । दीर्घ आर्षः । पीतः सन्निन्द्रियवृद्धिकारी । मदिन्तमः अतिशयेन मदयतीति मदिन्तमः पीयमानोऽत्यन्तहर्षकारी हर्षयितृतमः । 'नाद्घस्य' (पा.सू.८।२।१७) तमपि नुमागमः । हे आपः, यूयमेषां देवानां भाग स्थ भागधेया भवथ ।

मन्त्रार्थ– हे जलदेवता, तुम्हारे जल की अपत्यरूप ये लहरियां हवियोग्य, वीर्यवान् और तृप्त करने वाली हैं । देवताओं के प्रति जाने वाली ऊर्मियों को सोमग्रह पीने वाले शुक्र आदि देवताओं को प्रदान करो । जिन देवताओं के तुम भाग हो, उन सबके निमित्त तुम्हें हवि देता हूँ । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥२७॥

भाष्यसार – 'देवीरापः' इस ऋचा से अध्वर्यु प्रैषपूर्वक जल के समीप जाकर आज्य की आहुति जल में प्रदान करता है । कात्यायन श्रौतसूत्र (९।३।२-४) में यह याज्ञिक प्रक्रिया प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में भी तदनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

शुक्रपेभ्यः शुक्रं दीप्तं सोमरसं पिबन्तीति शुक्रपास्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदमाज्यं युष्मभ्यं हुतमस्तु। यद्वा शुक्रादीन् सोमग्रहान् पिबन्तीति शुक्रपास्तेभ्यः। शुक्रादिसोमग्रहपातृभ्यो देवेभ्यो येषां च यूयं भागः स्थ तेभ्यो दत्तेति सम्बन्धः। ग्रहीष्यमाणानामपां मूल्यत्वेनेयमाहुतिरिति तित्तिरिः – 'देवीरापो अपांनपादित्याहाहुत्या वै निष्क्रीय गृह्णातीति'। शतपथे च – 'सोऽपोऽभिजुहोति। एताᳬ ह वा आहुतिᳬ हुतामेष यज्ञस्य रसमैति तां प्रत्युत्तिष्ठति तमेवैतदाविष्कृत्य गृह्णाति' (श.३।९।३।२३)। प्रचरणीगृहीतस्याज्यस्याप्सु होमं विधाय प्रशंसति – सोऽप इति। हुतामाहुतिमनुसृत्य एष अनुप्रविष्टो यज्ञरसोऽभिमुखं सम्प्राप्नोति। तमेव रसमेतद्धोमेनाविष्कृत्य गृहीतवान् भवति। 'यद्वैवैतामाहुतिं जुहोति। एतमेवैतद्यज्ञस्य रसमभिप्रस्तृणीते तमारुन्धे तमपो याचति याभ्य उ चैवैतां देवताभ्य आहुतिं जुहोति ता एवैतत्प्रीणाति ता अस्मै तृप्ताः प्रीता एतं यज्ञस्य रसᳬ सन्नमन्ति' (श.३।९।३।२४)। प्रकारान्तरेण स्तौति – यद्वैवैतामाहुतिमिति। किञ्च तमपेक्षितं यज्ञरसमप उदकानि याचति। उ अपि च याभ्यो देवताभ्य एतामाहुतिं जुहोति, ता एव एतद् एतेन प्रीणाति। तृप्ताः प्रीतास्ता अस्मै यजमानाय एतं यज्ञरसं सन्नमयन्ति यजमानाधीनं कुर्वन्ति।

'स जुहोति देवीरापो अपान्नपादिति देव्यो ह्यापस्तस्मादाह देवीरापो अपान्नपादिति यो व ऊर्मिर्हविष्य इति यो व ऊर्मिर्यज्ञिय इत्येवैतदाहेन्द्रियावान् मदिन्तम इति वीर्यवानित्येवैतदाह यदाहेन्द्रियावानिति मदिन्तम इति स्वादिष्ठ इत्येवैतदाह तं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेत्येतदेना अयाचिष्ट यदाह तं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेति शुक्रपेभ्य इति सत्यं वै शुक्रᳬ सत्यपेभ्य इत्येवैतदाह येषां भागः स्थ स्वाहेति तेषामु ह्येष भागः' (श.३।९।३।२५)। मन्त्रं विधाय विच्छिद्य व्याचष्टे – देव्यो ह्याप इति। हविष्य इति पदं व्याचष्टे – यज्ञिय इति। हविःशब्देन तत्साध्यो यज्ञो लभ्यते, द्रव्यदेवतयोर्हि यज्ञस्वरूपत्वात्। इन्द्रियशब्दस्य वीर्यमर्थ इत्याह – वीर्यवानित्येवैतदाहेति। मदिन्तमशब्दस्यार्थमाह – स्वादिष्ठ इति, यत्स्वदन्तमुन्मादयतीति व्याप्तिदर्शनात्। तं देवेभ्य इति भागस्य प्रार्थनायां तात्पर्यम्। एतेन अयाचिष्ट यदाहतं देवेभ्यो देवत्रा दत्तेति। एतद् एतेन मन्त्रभागेन एना अपः, अयाचिष्ट देवतार्थं याचितवान् भवति। शुक्रपेभ्य इत्यस्य तात्पर्यमाह – सत्यं वै शुक्रमिति। सत्यपेभ्य इत्याहेति। शुक्रं दीप्तं रसाख्यं वस्तु तत्सत्यम्। सोमोद्धारेण सत्यस्यामृतत्वधर्मस्य साधनत्वात् सत्यमित्युच्यते। तादृशस्य पातृभ्य इत्येवैतत् शुक्रपेभ्य इति वाक्यमाहेत्यर्थः। येषां भागः स्थ एषाम् अपां शुक्ररसरूपो भागः, तेषामु तेषां शुक्रपानां देवानां भागः प्रतिनियतांशः। तथा च हे देवीर् देव्य आपः, हे अपान्नपात् 'न पातयतीति तत्' (निरु.१०।२)। योऽयं वो युष्माकं सम्बन्धी ऊर्मिः कल्लोलः प्रवृद्धो हविष्यो यज्ञिये रस इन्द्रियावान् वीर्यवान् मदन्तमो मादयितृतमः स्वादिष्ठस्तं रसं देवत्रा देवेषु मध्ये, 'देवमनुष्येभ्यः' (पा.सू.५।६।५६) इति सप्तम्यर्थे प्रत्ययः, देवेषु मध्ये शुक्रपेभ्यो दीप्तरसाख्यं पातृभ्यो देवेभ्यो दत्त प्रयच्छतेति। हे आपः, यूयं येषां देवानां भागः स्थ भवथ, तदर्थं स्वाहा इदं द्रव्यं स्वाहुतमस्त्विति श्रुत्यनुसारी मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे – हे देवीर् देव्य आपो व्यापनशीलाः, वो युष्माकमपान्नपाद् अपत्यरूपो योऽयमूर्मिः कल्लोलसदृशो भोगमोक्षप्राप्तिसामर्थ्यरूपो देवेभ्यो देवभाववद्भ्यः साधकेभ्यस्तं दत्त प्रयच्छत। 'देवो भूत्वा यजेद् देवान्' इति रीत्या ये वैदिकैस्तान्त्रिकैश्च संस्कारैः संस्कृताः सन्तः परमात्मानमुपासते, तेभ्यो यथायोग्यं

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे व्यापनशील देवियों, आप लोगों का जो पुत्ररूपी भोगमोक्षप्राप्ति का सामर्थ्यात्मक **यह कल्लोल है,** उसे देवभाव से युक्त साधकों को प्रदान करें। 'देवो भूत्वा यजेद् देवान्' इस सिद्धान्त के अनुसार जो वैदिक तथा

भोगमोक्षप्राप्तिसामर्थ्यं देव्यो भगवतः पालन्यादिशक्तिरूपा देव्यः प्रयच्छन्ति, बुद्धिलक्ष्मीकान्तिशान्त्यादिरूपेण तासामेवाविर्भावात् । कीदृश ऊर्मिः ? हविष्यः । धर्मोपासनादियोग्येभ्यो हविर्भ्यो हितः । इन्द्रियावान् लौकिकवैदिकदिव्यवीर्योपतः । मदिन्तमः भोगमोक्षप्रदातृत्वेन प्रहर्षयितृतमः । कीदृशेभ्यो देवेभ्यः ? देवत्रा देवेषु मध्ये शुक्रपेभ्यः सत्यशमदमादिदीप्तरसपातृभ्यः । येषां देवानां यूयं भागः, वचनव्यत्ययः, भागरूपा भजनीयरूपाः स्थ भवत, ताभ्यो युष्मभ्यं स्वाहा विविधसमर्चनं समर्पितमस्तु ।

दयानन्दस्तु– 'हे आपो आप्ताः प्रजाः, देवीर्देव्यः प्रजाः, यूयं राजभक्ताः स्थ भवत । शुक्रपेभ्यो देदेभ्यो येषां वो युष्माकं योऽपांनपादविनश्वर ऊर्मिरिन्द्रियावान् मदिन्तमो हविष्यो भागोऽस्ति, तं स्वाहा सद्वाचा गृह्णीत । यथा राजादयः सभ्या जना देवत्रा दिव्यान् भोगान् युष्मभ्यं प्रददति, तथैतेभ्यो यूयमपि दत्त' इति, एवं हिन्यामपि – 'हे श्रेष्ठगुणेषु व्याप्ताः शुभकर्मभिः प्रकाशमानाः प्रजाजनाः, यूयं राजभक्ताः शुक्रपेभ्यः शरीराणामात्मनां च पराक्रमस्य रक्षकेभ्यो देवेभ्यो विद्वद्भ्यः, येषां वो युष्माकं योऽपांनपाद् जलस्य नाशरहितः स्वाभाविक ऊर्मिर्जलतरङ्गसदृशः प्रजारक्षकः, यत्र प्रशस्तानीन्द्रियाणि भवन्ति, यश्चानन्दप्रदो हविष्यो भोगयोग्यपदार्थेभ्यो निष्पन्नो वलिभागः, यूयं तं स्वाहा आदरेण गृह्णीत । यथा राजादयः सभ्या दिव्यान् भोगान् प्रददति, तथैव यूयमेभ्यो दत्त' इति, तत्सर्वमसाधु, स्वेच्छामूलकत्वात्, निर्मूलत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च । आप्तत्वाद् यथा आपो गृह्यन्ते, तथैवाकाशादयः कुतो न गृह्यन्ते ? राजभक्ता इति कस्य पदस्यार्थः ? न च भागपदस्य सोऽर्थः, मानाभावात्, त्वयैव तस्य वलिरूप इति व्याख्यानाच्च । शस्तेन्द्रियवत्त्वं च प्रमाणापेक्षमेव । राजादीनां दिव्यभोगदातृत्वमपि साध्यमेव, नित्यसिद्धत्वे पुरुषार्थवैयर्थ्यापातात् । शतपथे तु पदार्था विशदं व्याख्याताः पूर्वं प्रदर्शिता एव ॥२७॥

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्या उन्नयामि ।
समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः ॥२८॥

तान्त्रिक संस्कारों से संस्कृत होकर परमात्मा की उपासना करते हैं, उनको यथायोग्य भोग, मोक्ष आदि की प्राप्ति का सामर्थ्य भगवान् की पालन आदि शक्तिरूपिणी देवियाँ प्रदान करती हैं, क्योंकि बुद्धि, लक्ष्मी, कान्ति, शान्ति आदि रूपों से उन्हीं का आविर्भाव होता है । यह कल्लोल धर्म, उपासना आदि के योग्य जनों का हितकर है, लौकिक तथा वैदिक शक्ति से सम्पन्न है, भोग तथा मोक्ष प्रदान करने के कारण अत्यन्त आनन्दप्रद है । देवताओं के मध्य सत्य, शम, दम आदि दीप्तिमान् रसों का पान करने वाले तथा जिन देवताओं के आप सेवनीय होते हैं, उन आप लोगों के लिये विविध अर्चना समर्पित हो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ स्वेच्छामूलक, प्रमाणरहित तथा श्रुति से विरुद्ध होने के कारण असमीचीन हैं । आप्तत्व के कारण जैसे जल का ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार आकाश आदि का ग्रहण क्यों नहीं किया जा सकता ! 'राजभक्त' किस शब्द का अर्थ किया गया है ? भाग शब्द का वह अर्थ प्रमाण न रहने के कारण नहीं हो सकता । हिन्दी अर्थ में उसीका अर्थ 'बलिरूप' किया गया है । राजा आदि का दिव्य भोगप्रदाता होना साध्य ही है । नित्यसिद्ध होने पर तो पुरुषार्थ की व्यर्थता हो जायगी ॥२७॥

मन्त्रार्थ– हे घृत, तुम देवोच्छिष्ट पाप को दूर करने वाले हो । हे जलदेवता, वसतीवरी लक्षण वाले सागररूप जल की अक्षीणता के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । हे मित्रावरुण चमस में स्थित जलदेवता, तुम इस वसतीवरी जल के साथ भली प्रकार मिश्रित हो जाओ, सम्पूर्ण ओषधियाँ आपस में भली प्रकार मिश्रित हो जाँय ॥२८॥

'अथ मैत्रावरुणचमसेनैतामाहुतिमपप्लावयति कार्षिरसीति' (श.३।९।३।२६)। 'कार्षिरसीति मैत्रावरुणचमसेनाज्यमपोहति' (का.श्रौ.९।३।५)। अप्सु हुतमाज्यं मैत्रावरुणचमसेन करणभूतेन प्रेर्य दूरीकुर्यात्। कार्षिरिति मन्त्रत्रयं मिलित्वाऽनुष्टुपूछन्दः। आद्यस्याज्यं देवता। हे आज्यपदार्थ, त्वं कार्षिः कर्षणशीलोऽव्रतमलस्यापनेतासि, 'शमलमेवासामपप्लावयतीति' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। यद्वा त्वं कार्षिराकृष्टोऽसि देवतया भक्षितोऽसि, यद्वा कृषेर्देवतायाः कर्षणस्य भक्षणस्य वा सम्बन्धी असि। अतस्त्वां समुद्रस्य समुन्दनस्योदकस्य अक्षित्यै अक्षीणतायै त्वा त्वामपनयामि अपसारयामि। शतपथे स्पष्टीकृतम् – 'यथा वा अङ्गारा अग्निना प्सातः स्यादेवमेषाहुतिरेतया देवतया प्साता भवति राजानं वा एताभिरद्भिरुपस्रक्ष्यन् भवति या एता मैत्रावरुणचमसे वज्रो वा आज्यꣳ रेतः सोमो नेद्वज्रेणाज्येन रेतः सोमꣳ हिनसानीति तस्माद्वा अपप्लावयति' (श.३।९।३।२६)। यथा अग्निना प्सातो भक्षितोऽङ्गारः करीषभावेन त्याज्यो भवत्येवमेषाहुतिरेतया अब्देवतया प्साता भवति। सोमहिंसापरिहारत्वे परित्यक्तव्यमित्याह – मैत्रावरुणचमसे वर्तमाना या एता इदानीं गृह्यमाणा आपः सन्ति, एताभिरद्भिरुपस्रक्ष्यन् अभिषवकाले सोमस्य संसर्गं करिष्यन् भवति, अत एव 'आधवनीये समवनयति' (श.३।९।३।३०) इति वक्ष्यते। आधवनीयसंस्पृष्टस्योदकस्य सोमरसेन संसृज्यमानत्वाद् आज्यस्य वज्ररूपत्वात् तेन सोमहिंसा यथा न स्यात् तथा तदपनयनमपेक्षितम्। 'अथ गृह्णाति। समुद्रस्य त्वाक्षित्या उन्नयामीत्यापो वै समुद्रोऽप्स्वेवैतदक्षितिं दधाति तस्मादाप एतावति भोगे भुज्यमाने न क्षीयन्ते तदन्वेकधनानुन्नयन्ति तदनु पान्नेजनान्' (श.३।९।३।२७)। यद्यपि श्रुतावत्र मैत्रावरुणचमसेनेति श्रुतम्, तथापि 'समुद्रस्य त्वेति तेन गृह्णाति' (का.श्रौ.९।३।६) इति सूत्रानुसारेणाध्वर्युर्मैत्रावरुणचमसे तडागादिस्था अपो गृह्णीयादिति तदवगमः। अपां संघातात्मकत्वात् समुद्रस्य 'आपो वै समुद्रः' इत्युक्तिः। इत्येकदेशस्य कृत्स्नात्मना स्तुतिः। एतेन मन्त्रपाठेन अप्स्वेव अक्षितिमक्षीणत्वं दधाति। तस्माद् एतावति भोगे भुज्यमाने स्थावरजङ्गमात्मकजगत्पर्याप्तेऽपि भोगे सर्वैर्भुज्यमानेऽपि न क्षीयन्ते, किन्त्वजस्रं प्रवहन्त्येव। तदन्विति होतृचमसोन्नयनानन्तरमेकधनानां पान्नेजनानां चानुक्रमेणोन्नयनम्। एकधना सोमरसाभिवृद्ध्यर्था उदकविशेषाः, पाच्छब्देनोरुप्रदेशो लक्ष्यते। पत्नीकर्तृकपशुपादोरुक्षालनसाधनोदकविशेषाः पान्नेजनाः। ताः पत्न्यो गृह्णीयुः। 'पान्नेजनाश्च पत्न्यो द्वौ द्वौ' (का.श्रौ.९।३।८)। पशोः पादौ निज्येते एभिरिति पान्नेजनाः कलशाः। तान् पान्नेजनार्थान् लघुकलशान् सर्वाः पत्न्यः पृथक् पृथग् द्वौ द्वौ पान्नेजनौ अद्भिः पूरयित्वा तूष्णीमेव निष्कासयन्ति। एकः पान्नेजनः पशुप्राणशोधनार्थः, अपर ऊर्वभिषेकार्थः। बहुवचनमविवक्षितम्। समुद्रस्य 'आपो वै समुद्रः' इति श्रुतेर्वसतीवरीलक्षणस्याप्समुद्रस्य अक्षित्यै अक्षीणत्वाय, हे आज्यमिश्रोदक, त्वामुन्नयामि उद्गृह्णामि। वसतीवरीणां वर्धनाय एता आपो गृह्यन्ते। शतपथीयोपपत्तिरुक्तैव।

पुनश्चोच्यते – 'तद्यन्मैत्रावरुणचमसेन गृह्णाति। यत्र वै देवेभ्यो यज्ञोऽपाक्रामत्तमेतद्देवाः प्रैषैरेव प्रैषमैच्छन् पुरोरुग्भिः प्रारोचयन्निविद्भिर्न्यवेदयंस्तस्मान्मैत्रावरुणचमसेन गृह्णाति' (श.३।९।३।२८)। सत्स्वितरेषां चमसेषु किं मैत्रावरुणचमसेनेत्यत आह – मैत्रावरुणेति। यस्माद्देवेभ्योऽपक्रान्तं यज्ञमेतेन मैत्रावरुणाख्येनर्त्विजा

भाष्यसार – 'कार्षिरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से हुत आज्य का दूरीकरण, मैत्रावरुण चमस से जलग्रहण, वसतीवरी जल से उनका सम्मेलन आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (९।३।५-१०) में वर्णित है। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ आदि श्रुतियों में उपदिष्ट है।

प्रैषैस्तत्कृतिगमनसाधनैराह्वानैः प्रैषं यज्ञस्य गमनमैच्छन्, निविद्भिर्निवेदनसाधनैः 'अग्निर्देवेद्धः' (ऐ.ब्रा.२।५।२) इत्यादिवाक्यैर्न्यवेदयन् परस्परं निवेदितवन्तः, पुरोरुग्भिः पुरो याज्यानुवाक्याभ्यां पुरस्ताद् रुचिमिच्छां जनयन्ति देवताया इति पुरोरुचः 'वायुरग्रेगाः' (ऐ.ब्रा.३।१।९) इत्याद्यास्ताभिः प्रारोचयन् प्ररोचनामजनयन्, अतो मैत्रावरुणस्य प्रैषादिसाधनत्वात् तदीयश्चमसः प्रशस्तः। 'त आयान्ति। प्रत्युपतिष्ठतेऽग्नीच्चात्वाले वसतीवरीभिश्च....मैत्रावरुणचमसं च समापो अद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीरिति यश्चासौ पूर्वेद्युराहृतो यज्ञस्य रसो यश्चाद्याहृतस्तमेवैतदुभयꣳ सꣳ सृजति' (श.३।९।३।२९)। अप्सम्भरणानन्तरं त ऋत्विगादयः पुनर्देवयजनमागच्छेयुः। अग्नीच्च निर्गमनकाले सम्प्रेषितप्रकारेण चात्वाले वसतीवरीभिरद्भिर्होतृचमसे च युक्तः सन् प्रत्युपस्थानं कुर्यात्। तदुक्तं कात्यायनेन– 'प्रत्येत्य चात्वालस्योपरि मैत्रावरुणचमसं वसतीवरीभिश्च सꣳस्पर्शयति समाप इति' (का.श्रौ.९।३।९)। जलाशयात् प्रत्यागत्य चात्वालस्योपर्यध्वर्युर्मैत्रावरुणचमसस्था आपोऽद्भिर्वसतीवरीभिः समग्मत सङ्गच्छन्ताम्। गमेर्लुङि तङि प्रथमाबहुवचने शपि लुप्ते 'गमहन....' (पा.सू.६।४।९८) इत्युपधालोपे समग्मतेति रूपम्। तथा ओषधीर् ओषधयो मुद्गमसूरादय ओषधीभिर्व्रीहियवादिभिः सङ्गच्छध्वम्। अपां कारणभूतत्वादोषधीनामपि तथोपयोगो भवत्वित्यभिप्रायः। सूत्रे च श्रुतावन्यपक्षा अप्युक्ताः। 'इतरेतरस्मिन् व्यानयन्त्येके मैत्रावरुणचमसे प्रथमम्' (का.श्रौ.९।३।१०)। एके इतरेतरस्मिन् परस्परस्मिन् सम्मिश्रणं कुर्वन्ति। अस्मिन् पक्षे प्रथमं मैत्रावरुणचमसाद्वसतीवरीषु निनयेत। उभयत्र समाप इत्येव मन्त्रः। पूर्वस्मिन् पक्षे इतरस्य मध्ये इतरस्य निनयनमिति विशेषः। तद्रीत्या आपो मैत्रावरुणचमसगता अद्भिर्होतृचमसस्थाभिर्वसतीवरीभिः सङ्गता अभवन्निति। तथा ओषधीर् ओषधयो वर्धनीया ब्राह्म्यादिरूपा ओषधीभिर्व्रीह्यादिरूपाभिः समग्मत। यद्वा उभयत्र ओषधिशब्देन प्रकृता मैत्रावरुणचमसगता आपो विवक्ष्यन्ते। 'तद्धैके....' (श.३।९।३।३०) इति केषाञ्चित् साक्षादुदकसंसर्जनपक्षमुदाहृत्य तदभिप्रायमुपवर्ण्य तस्यान्यथासिद्धित्वकथनेन निराचष्टे– तद्धैक इति। मैत्रावरुणचमसाद्वसतीवरीषु, उपसर्गवशान्नयन्तीत्यनुषज्यते। एवं कुर्वतां पूर्वेद्युराहृतस्य यज्ञरसस्य अद्याहृतस्य च संसर्ग एवापेक्षितः। स उपरिष्टाद् आधवनीये निनयनाद् भविष्यति, अतस्तदु तथा न कुर्यात्। यदुक्तम्– 'होतृचमसे वसतीवरीः कृत्वा यजमानाय प्रयच्छति निग्राभ्याः' (का.श्रौ.९।३।११)। आग्नीध्रहस्तस्थं होतृचमसमादाय पूर्वेद्युराहृता वसतीवरीरध्वर्युर्गृह्णाति। निग्राभ्याभ्यो होतृचमसे निगृह्यमाणत्वाद् निग्राभ्या इति संज्ञा। निग्राभ्यासु च्यावयति निग्राभ्यासु संसिञ्चतीत्येवमर्थाय। तच्च बहुधा प्रशस्तम्।

अध्यात्मपक्षे तु– हे कृष्ण, त्वं कार्षिर् भक्तानां चित्ताकर्षकः, असि। समुद्रस्य रससमुद्रस्य अक्षित्या अक्षीणतायै त्वा त्वाम् उन्नयामि हृदये ब्रह्मरन्ध्रे धारयामि। त्वदनुग्रहाच्च आपो व्यापनशीलाः, व्यष्टयो विश्वतैजसप्राज्ञा आत्मानोऽद्भिर्व्यापनशीलैर्विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृतैः समग्मत सङ्गच्छन्ताम्। ओषधीर् ओषधयोऽन्नोपलक्षिता व्यष्टय उपाधयः, ओषधीभिः समष्टिभिरुपाधिभिः सङ्गच्छन्ताम्। सर्वे च तेऽधिष्ठानमात्रे पर्यवस्यन्तु।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है– हे कृष्ण, आप भक्तों को आकृष्ट करने वाले हैं। रससमुद्र की अक्षीणता के लिये हृदय में, ब्रह्मरन्ध्र में आपको धारण करता हूँ। आपकी कृपा से व्यापनशील व्यष्टिगत विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ व्यापक विराड्, हिरण्यगर्भ अव्याकृत के साथ संयुक्त हों। अन्न आदि व्यष्टि उपाधियां समष्टि उपाधियों से संगत हों, वे सभी अधिष्ठानमात्र में पर्यवसित हों।

दयानन्दस्तु – 'हे वैश्यजन, त्वं कार्षिरसि । त्वां समुद्रस्य अन्तरिक्षस्याक्षित्यै समुन्नयामि । सर्वे यूयं यज्ञशोधिताभिरद्भिरेवाप ओषधीभिरोषधीः समग्मत' इति, तदपि न किञ्चित्, हलकर्षणेनान्तरिक्षस्य क्षीणतानुपपत्तेः । न चाद्यत्वे व्रीह्याद्यौषधप्रतिलम्भे यज्ञोऽपेक्षितः, विविधैराधुनिकैरुपचारैरेव तत्सिद्धेः ॥२८॥

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः । स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥२९॥

'त आयन्ति । तꣳ होता पृच्छत्यध्वर्योऽवेरपा ३ इत्यविदोऽपा ३ इत्येवैतदाह तं प्रत्याहोतेव नन्नमुरित्यविदमथो मेऽनꣳ सतेत्येवैतदाह' (श.३।९।३।३१) । अथाध्वर्युमुद्दिश्याब्विषयं होतुः प्रश्नमवतारयति – तमध्वर्युं होता पृच्छति, हे अध्वर्यो ! अप उदकानि, अवेर्लब्धवानसि ? प्लुतिः प्रश्नार्थे (पा.सू.८।२।१००) । अवेर् अविदः । अध्वर्योर्होतारं प्रति प्रतिवचनमाह – नन्नमुरिति । वयमिदानीं न केवलमपो लब्धार एव, अपि च नन्नमुरत्यर्थमानता अभवन् । तात्पर्यमाह – अविदमिति । अविदमपो लब्धवानस्मि । अथो अपि च मे आपः, अनंसत आनता आगता अभूवन्, इत्येवोत्तरवाक्यमाह । 'स यद्यग्निष्टोमः स्यात् । यदि प्रचरण्याꣳ सꣳ स्रवः परिशिष्टोऽलꣳ होमाय स्यात् तं जुहुयाद्यद्यु नालꣳ होमाय स्यादपरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोति यमग्ने पृत्सु.... स्वाहेत्याग्नेय्या जुहोत्यग्निर्वा अग्निष्टोमस्तदग्नावग्निष्टोमं प्रतिष्ठापयति मर्त्तवत्या पुरुषसंमितो वा अग्निष्टोम एवं जुहुयाद्यद्यग्निष्टोमः स्यात्' (श.३।९।३।३२) । तथैवोक्तं कात्यायनेन – 'होत्रा पृष्टः प्रत्याहोतेव नंनमुरिति' (का.श्रौ.९।३।१२) । ततः सर्वे चात्वालाद् हविर्धानद्वार्युपविष्टं होतारं प्रत्यागच्छन्ति । ततो होता अध्वर्युं पृच्छति – अध्वर्यो, अवेरपा ३ सोऽध्वर्युर्होत्रैव पृष्ट उतेव नन्नमुरिति प्रत्याह, तस्याभिप्रायस्तूक्त एव । प्रचरणीसꣳ स्रवमग्निष्टोमे जुहोत्यभावे चतुर्गृहीतं यमग्न इति' (का.श्रौ.९।३।१३) । अग्निष्टोमसंस्थे क्रतौ प्रचरणीसंस्रवं चरणीयान्नलिप्तं यमग्न इति जुहुयात् । प्रचरणीसंस्रवस्य होमपर्याप्तस्याभावेऽपरं चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहुयात् । 'उक्थ्ये प्रथमं परिधिमालभते' (का.श्रौ.९।३।१४) । उक्थ्यसंस्थे क्रतौ प्रारब्धे सति प्रथमं परिधिं हस्तेन स्पृशति यमग्न इति मन्त्रेण ।

मन्त्रार्थस्तु – हे अग्ने, पृत्सु संग्रामेषु यं मर्त्यम् अवा रक्षसि, किञ्च वाजेषु अन्ननिमित्तं यं मर्त्यं जुना गच्छसि, हवींषि ग्रहीतुं यस्य सकाशं गच्छसि, जवतिर्गत्यर्थः, प्राप्तवानसि, स उभयविधो जनः शाश्वतीर्नित्यानि इषोऽन्नानि प्राप्तवान् भवति, प्राप्स्यतीत्यर्थः । स्वाहा सुहुतमस्तु । उक्थसंस्थे यमग्न इति मन्त्रेणाद्यं परिधिं स्पृशेत् । षोडशिसंस्थे रराटिं स्पृशेत् । अतिरात्रे छदिं स्पृशेदन्यसंस्थासु हविर्धानं प्रविशेत् । 'प्रविशत्येवान्यत्र' (का.श्रौ.९।३।१५) ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ असंगत है । हल जोतने से अन्तरिक्ष की क्षीणता होना असिद्ध है । आज कल धान आदि अन्नों की उपलब्धि में यज्ञ की अपेक्षा नहीं है । विभिन्न आधुनिक साधनों से ही उसकी प्राप्ति हो जाती है ॥२८॥

मन्त्रार्थ– हे अग्निदेव, बड़े संग्रामों में जिस मनुष्य की तुम रक्षा करते हो, तथा हवि लक्षण वाले अन्न में अन्न के निमित्त जिस मनुष्य के पास तुम हवि ग्रहण करने को उपस्थित होते हो, वह मनुष्य तुम्हारे प्रसाद से निरन्तर अक्षय अन्न और धन का स्वामी हो जाता है । हमारी यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥२९॥

भाष्यसार – 'यमग्ने' इस कण्डिका से अग्निष्टोम संस्था वाले यज्ञ में घृत की आहुति प्रदान की जाती है । उक्थ्यसंस्थ यज्ञ में प्रथम परिधि का स्पर्श, षोडशी में रराटी का स्पर्श, अतिरात्र में छदि का स्पर्श इस कण्डिका के द्वारा विहित है । यह याज्ञिक

अग्निष्टोमोक्थ्याभ्यामन्यत्र षोडशिन्यतिरात्रे च हविर्धानं प्रविशेदेवानेन मन्त्रेण, न होमं नापि परिध्यालम्भनं वा कुर्यात् । तदेवोक्तं श्रुतौ – 'आग्नेय्या जुहोत्यग्निर्वा अग्निष्टोमस्तदग्नावग्निष्टोमं प्रतिष्ठापयति मर्तवत्या पुरुषसम्मितो वा अग्निष्टोम एवं जुहुयाद्यद्यग्निष्टोमः स्यात्' (श.३।९।३।३२) । मन्त्रास्याग्नेयत्वं प्रकृते ज्योतिष्टोमकर्मणि संगतमित्याह – आग्नेय्या जुहोतीति । यज्ञायज्ञियस्यान्तिमस्तोत्रस्याग्निदेवताकत्वादग्निष्टोमोऽग्निः, ततोऽग्न्यात्मकमग्निष्टोममाग्नेय्या होमेनाग्नावेव प्रतिष्ठापितवान् भवति । मन्त्रे यन्मर्त्यलिङ्गकत्वं तत्प्रशंसति – मर्तवत्येति । 'पुरुषसम्मितो वा एष यज्ञः' (तै.सं.७।१।१।१) इति श्रुतत्वात् पुरुषसम्मितत्वमस्य यतः, अत एवैतया मर्तवत्या होमो युक्तः । निगमयति – यद्यग्निष्टोमः स्याद् यद्युक्थ्यः स्यान्मध्यमं परिधिमुपस्पृशेत्, त्रयः परिधयस्त्रीण्युक्थ्यान्येतैरु हि तर्हि यज्ञः प्रतितिष्ठति यद्यु अतिरात्रो वा षोडशी वा स्यान्नैवं जुहुयान्न मध्यमं परिधिमुपस्पृशेत् समुधैव तूष्णीमेत्य प्रपद्येत तद्यथायथं यज्ञक्रतून् व्यावर्तयति' (श.३।९।३।३३) । उक्थ्यसंस्थायां तु कथमित्यत आह – 'यद्युक्थ्यः स्यात् । मध्यमं परिधिमुपस्पृशेत्' इति । अग्नेः परितो निधीयमानाः परिधयः । • प्राच्यां दिशि सूर्यस्यैव परिधित्वात् ते त्रय एवाउक्थ्यान्यग्निष्टोमादुपर्यक्थसंस्थे क्रतौ स्तोतव्यानि त्रीण्युक्थ्यस्तोत्राणि । अस्तु त्रित्वं किं तत्, इत्यत आह – 'एतैरु हि तर्हि यज्ञः प्रतितिष्ठति' इति । यत एतैरुक्थ्यैर्यज्ञः प्रतितिष्ठति, अतस्त्रिषु परिधिषु मध्यमं परिधिं पश्चाद्दिग्गतप्रचरण्या स्पृशेत् प्रकृतमन्त्रेण । अतिरात्रषोडशिनोस्तु होममुपस्पर्शनं च न कुर्यात्, किन्तु समुधैव 'यमग्ने पृत्सु' इति मन्त्रमुक्त्वैव तूष्णीमेत्य देवयजनं प्रपद्येत । तत् तथा सति क्वचिद्धोमः, क्वचिच्च परिधिस्पर्शः, क्वँचित् तूष्णीम्, यथायथं पृथक् पृथक् प्रकारेण यज्ञक्रतून् अग्निष्टोमादिकान् व्यावर्तयति परस्परं व्यावृत्तान् करोति ।तैत्तिरीयकेऽपि –'यद्यग्निष्टोमो जुहोति यद्युक्थः परिधौ निर्मार्ष्टि यद्यतिरात्रं यजुर्वदन् प्रपद्यते यज्ञक्रूतनां व्यावृत्त्यै' (तै.सं.६।४।२।५)। कात्यायनस्तु – 'रराट्यालम्भनं वा षोडशिनि' (का.श्रौ.९।३।१६) इति षोडशिसंस्थे यज्ञे प्रवृत्ते रराट्याः स्पर्शं कुर्यात् प्रवेशनं वा यमग्न इति मन्त्रेण, 'छदिरतिरात्रे' (का.श्रौ.९।३।१७) अथवा रात्रिसंस्थे यज्ञे छदिरालभेत प्रविशेद्वा यमग्न इति मन्त्रेण ।

अध्यात्मपक्षे – हे अग्ने परमेश्वर, यं मर्त्यं त्वं पृत्सु बाह्येषु सङ्ग्रामेषु, आन्तरेषु कामक्रोधादिसंघर्षेषु वा अवा रक्षसि । पञ्चपुरुषं वाजेषु हविर्लक्षणेष्वन्नेषु निवेदनीयेषु बहुविधेषु मधुरमनोहरपक्वान्नादिष्वन्नेष्वभ्युद्यतेषु जुना अभिगच्छसि, स पुरुषस्त्वदनुग्रहेण शाश्वतीर्नित्यानि, इषोऽन्नानि धनानि ज्ञानविज्ञानरूपाणि वा, यन्ता नियंस्यति, प्राप्स्यतीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – हे अग्ने सर्वगुणवर, त्वं पृत्सु सङ्ग्रामेषु मर्त्यम् अवा रक्षेः । वाजेषु अन्ननिमित्तेषु क्षेत्रादिषु यं जुना गमयेः, स शाश्वतीर् इष इष्यन्ते यास्ताः प्रजाः स्वाहा उत्साहिकया वाचा यन्ता नियन्ता स्यात्' इति,

---

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।३।१२-१६) में वर्णित है । शतपथ एवं तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – हे अग्नि परमेश्वर, जिस मानव की आप बाह्य संग्रामों में अथवा काम-क्रोध आदि के आन्तरिक संघर्षों में रक्षा करते हैं, तथा जिस पुरुष के प्रति हवि आदि अन्नों से निवेदन के योग्य नाना प्रकार के मधुर मनोहर पक्वान्न आदि भक्ष्यों के सन्नद्ध होने पर पधारते हैं, वह व्यक्ति आपके अनुग्रह से शाश्वत अन्न को अथवा ज्ञानविज्ञानरूपी धन को प्राप्त करेगा ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ अनिश्चय के कारण अग्राह्य है । वह कौन है, जो संग्रामों में मनुष्य की रक्षा करता है । यदि

तदपि न किञ्चित्, अनिर्धारणात् । कोऽयं गुणवरो यो मर्त्यं सङ्ग्रामेषु रक्षति क्षेत्रादिषु च युनक्ति ? यश्च सङ्ग्रामेषु रक्षितः क्षेत्रादिषु च नियुक्तः, स प्रजा उत्साहिकया वाचा नियच्छतीति सोऽपि कः ? यदि तु भावार्थानुसारेण गुरुः प्रेरकः, यन्ता राजा, तदप्यसम्यक्, सङ्ग्रामेषु तस्य रक्षकत्वानुपपत्तेः । क्षेत्रादिषु तु प्रजा नियुज्यन्ते न राजा । प्रजाश्च कथं प्रजा नियंस्यन्ति ? इष्यन्ते च वस्त्रभूषणादीनि,अन्नपानादीन्यपीति कुतः प्रजा इषः ? ॥२९॥

देवस्यं त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे रावाऽसि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम् । उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा ॥३०॥

'अयुङ्गा अयुङ्गा एकधना भवन्ति' (श.३।९।३।३४) । 'अथाधिषवणे पर्युपविशन्ति' (श.३।९।४।१) । 'अथ ग्रावाणमादत्ते....' (श.३।९।४।२) । 'एकधनस्थान उभयशेषं निधायाधिषवणे पर्युपविशन्ति' (का.श्रौ.९।४।१) । एकधनशेषं वसतीवरीशेषं च उत्तरस्य हविर्धानस्याधस्तादक्षस्य पश्चाद् यत्नेन स्थापयित्वा अधिषवणचर्मणः समीपे सर्वत उपविशेयुरध्वर्यु-प्रतिप्रस्थातृनेष्टृउन्नेतृ-यजमानाः । 'अभिषवणार्थं देवस्य त्वेत्यद्रिमादाय वाचं यच्छति प्राग्घिङ्काराद्' (का.श्रौ.९।४।४) । देवस्य त्वेत्यध्वर्युरश्मानं गृहीत्वा प्राग् हिङ्काराद् वाचं नियच्छति 'दशापवित्रेणाग्रयणमुपगृह्य त्रिर्हिङ्कृत्य सोमः पवते' (का.श्रौ.९।६।१६) । तस्य हिङ्कारस्य प्राग् अध्वर्युर्ग्रावद्वयाहरणम् इतरे त्रयो ग्रावत्रयस्याहरणं कुर्युः । 'स उपांशुसवनः' (का.श्रौ.९।४।५) । यो ग्रावाऽध्वर्युणा गृहीतः स उपांशुसवनसंज्ञको भवति । उपांशुग्रहार्थं सोमः सूयते यस्मिन् सः, हे ग्रावविशेष, सवितुर्देवस्य प्रसवे सवितृप्रसूते जगति, अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे ।

तथैव श्रुतिराह– 'अश्विनावध्वर्यू ततयोरेव बाहुभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघस्तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्ते न स्वाभ्याम्'। कुत एतदित्याह– वज्रो वा एष तस्य न मनुष्यो भर्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते' (श.३।९।४।३) । हे अभिषणवसाधनपाषाण, त्वं रावा 'रा दाने' आहुतीनां दक्षिणानां च रावा दाता भवसि । ततो गभीरमिमं मदीयमध्वरं यज्ञं कृधि कुरु । उत्तमेनोत्कृष्टेन पविना वज्रसदृशेन त्वया अहं सोममिन्द्रायेन्द्रार्थं सुषूतमं सुष्ठु अभिषुततमम्, सुष्ठु सूयत इति सुषुतः, अतिशयेन सुषुतः सुषुततमः, तं सुष्ठु अभिषुतम् । तकारलोपश्छान्दसो दीर्घत्वं च । ऊर्जस्वन्तं मधुमन्तं मधुरस्वादुत्वोपेतं पयस्वन्तं पयोविशेषवन्तं पयः

भावार्थ के अनुसार गुरु प्रेरक, यन्ता राजा है, तो भी असंगति है, क्योंकि संग्राम में उसका रक्षकत्व असिद्ध है । क्षेत्र आदि में तो प्रजाएँ नियुक्त की जाती हैं, राजा नहीं । वस्त्र, आभूषण, अन्न, पान आदि भी अभिलषित होते हैं, अतः केवल प्रजाएँ ही 'इषः' कैसे मानी जा सकती हैं ॥२९॥

मन्त्रार्थ– हे उपांशु सवन, सविता देवता की प्रेरणा से, अश्विनीकुमारों की बाहु तथा पूषा देवता के हाथों से मैं तुमको ग्रहण करता हूँ । तुम अभीष्ट फल देने वाले हो । हमारे इस यज्ञ को महान् बनाओ । तुम वज्रसदृश दृढ़ और श्रेष्ठ हो । तुम्हारे द्वारा इन्द्र देवता के निमित्त प्रीतियुक्त बलवर्धक स्वादिष्ट मधुर रसयुक्त दुग्ध के स्वादुरस से भरे सोम को अभिषुत करते हैं । हे जल देवता, हमने तुमको सम्यक् प्रकार से ग्रहण किया है । तुम देवताओं के मध्य में चिरप्रसिद्ध हो । इस प्रकार बहुत मान से युक्त तुम इस समय इस यज्ञ में हमें तृप्त करो ॥३०॥

भाष्यसार– 'देवस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से सोमाभिषव के लिये पाषाण हाथ में ग्रहण करके अध्वर्यु मौन धारण करता

स्वादुना रसेनोपेतमेवंविधं सोमं त्वयाहं करोमीति शेषः । यद्वा गभीरं महान्तमिममध्वरं यज्ञं कृधि कुरु, इन्द्रार्थं सुषुतम् साधु अभिषुतम्, अतिशयेन उत्तमेन पविना पावनेन सोमेन पवनशीलेन ऊर्जस्वन्तं रसवन्तं मधुमन्तं मधुस्वादुना रसेनोपेतम्, पयस्वन्तं पयःस्वादुना रसेनोपेतम्, अध्वरं कृधीति सम्बन्धः । श्रुतिरपि तथैव व्याख्याति – 'यदा वा एनमेतेनाभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति यदाहुतिं जुहोत्यथ दक्षिणा ददात्येतद्ध्येष द्वयꣳ रासत, आहुतीश्च दक्षिणाश्च तस्मादाह रावासि' (श.३।९।४।४) । गभीरमिममध्वरं कृधीत्यंशोऽपि तथैव श्रुत्या व्याख्यातः – 'अध्वरो वै यज्ञो महान्तमिमं यज्ञं कृधीत्येवैतदाहेन्द्राय सुषूतममितीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्रायेति सुषूतममिति सुसुततममित्येवैतदाहोत्तमेन पविनेत्येष वा उत्तमः पविर्यत्सोमस्तस्मादाहोत्तमेन पविनेत्यूर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तमिति रसवन्तमित्येवैतदाह यदाहोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तमिति' (श.३।९।४।५) । मन्त्रभागं व्याचष्टे – योऽयमध्वरः स यज्ञः । उभौ शब्दौ पर्यायौ । यदतिगुम्फितत्वेन महत् तद् गम्भीरमिति लोके व्यवह्रियते । अतो गम्भीरे महत्त्वदर्शनादिममध्वरं महान्तं कुरु इत्याह मन्त्रः । सुषूतममिति सुसुततममिति वक्तव्ये तकारलोपो दीर्घश्च छान्दसः । पविशब्दस्य वज्रेऽर्थे प्रसिद्धत्वादत्र सोमोऽर्थ इति व्याचष्टे – एष वा उत्तमः पविर्यत्सोम इति । 'पवतिर्गतिकर्मा' (निघ.२।१४।१०८) । अथवा पविवद् बलवत्त्वात् पविः सोमः । पविः खलु सोमपानेन प्रबलस्येन्द्रस्य वृत्रवधादिकर्मश्रवणादत्र मधुररसानां वाचका ये ऊर्जमधुपयःशब्दास्तेषां तात्पर्यतो रस एवार्थ इति व्याचष्टे – ऊर्जस्वन्तमित्यादिना । ननु नैते शब्दा माधुर्यार्थतया प्रसिद्धा इति चेत्तत्राह – यदाहोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तमिति । 'अथ वाचं यच्छति' (श.३।९।४।६) । 'अथ निग्राभ्या आहरति । तास्वेनं वाचयति निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत....' (श.३।९।४।७) । 'निग्राभ्यासु वाचयत्युरस्येना निगृह्य निग्राभ्याः स्थेति' (का.श्रौ.९।४।६) । यजमानः स्वकीयोरस्येना निगृह्य । निधाय आलभ्य च निग्राभ्याः स्थेति मन्त्रं वाचयेदध्वर्युः । अभिषोतव्यस्य सोमस्य सेवनीया आपो निग्राभ्याः, ता निगृह्य आलभ्य च मन्त्रं पठति । मन्त्रार्थस्तु – हे आपः, यूयं निग्राभ्याः स्थ, निग्राह्या अस्माभिर्नितरां ग्रहीतव्याः स्थ भवथ । यस्मादिन्द्रेणोरसि यूयं गृहीतास्ततो निग्राभ्याः, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' । देवश्रुतः देवैः श्रूयन्त इति देवश्रुतः, देवेषु प्रख्याता बहुमानान्विता यूयं मा मां तर्पयत प्रीतं कुरुत ।

अध्यात्मपक्षे – भगवतो दिव्यत्वादलौकिकत्वादप्राकृतत्वाद्रसात्मकत्वात् तदीयार्चनार्थं नैवेद्यादिसामग्र्यापि दिव्यया तादृश्यैव भाव्यम् । तां गृह्णन्नपि न प्राकृताभ्यां स्वाभ्यां बाहुभ्यां हस्ताभ्यां वा स्वाभ्यां न गृह्णाति, किन्तु हे सामग्रि, सवितुर्देवस्य भगवतोऽनुज्ञायामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे । त्वं रावासि, रासीति रावा, भगवदाराधनसम्पत्तिद्वारा भुक्तेर्मुक्तेः प्रीतेश्च दातासि, तस्मादिममध्वरं कौटिल्यरहितं देवयजनरूपं यज्ञं कृधि सम्पादय । इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय । कीदृशमध्वरम् ? गभीरम्, अनन्तब्रह्माण्डाधिष्ठानपरात्परपरब्रह्मगोचरत्वादस्य गभीरत्वं दुरवगाह्यत्वम् । सुषूतमं सुसुततमम्, साधु अभिषुतमतिशयेनोत्तमेन पविना पावनेन पवनशीलेनानुरागेण गङ्गायमुनादिजलेन वाभिषवादियुक्तम् । ऊर्जस्वन्तं

है तथा यजमान मन्त्रवाचन करता है । यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।१-६, ९।६।१६, ९।३।११) में वर्णित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है – भगवान् की दिव्यता, अलौकिकता, अप्राकृतता तथा रसात्मकता के कारण उनकी पूजा के लिये नैवेद्य आदि सामग्रियां भी उसी प्रकार दिव्य होनी चाहिये । उनका ग्रहण भी अपनी लौकिक भुजाओं अथवा हाथों से नहीं होता । अपि तु हे सामग्री, भगवान् सविता देव की आज्ञा से अश्विनी देवों की भुजाओं से तथा पूषा देव के हाथों से तुम्हारा ग्रहण

रसवन्तं विविधान्नादिरसोपेतं प्रेमरसान्वितं वा, मधुमन्तं मधुस्वादुना रसेनोपेतं मधुमयेन प्रेम्णोपेतं वा, पयस्वन्तं पयःस्वादुना रसेनोपेतं सरसेनार्चनेनान्वितम्, यस्मादिन्द्रेण परमात्मना भावग्राहकेण, यूयमिति पूजायां बहुवचनम्, निग्राभ्या नितरामादरेण ग्राह्या देवैश्च श्रुता विश्रुता बहुमानान्वितास्तथाविधा यूयं मम प्रभोराराधनसाधनत्वेन मां तर्पयत कृतार्थं कुरुत ।

दयानन्दस्तु – 'हे प्रजाजन ! यतस्त्वं रावासि, अतोऽहं देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे । त्वमिन्द्राय मह्यमुत्तमेन पविना वचसेमं गभीरं सुषूतममूर्जस्वन्तं पयस्वन्तं करदायमध्वरं कृधि । हे देवश्रुतः प्रजा यूयं निग्राभ्या मया नितरां ग्रहीतुं योग्याः स्थ । मामनेन करदेयधनेन तर्पयत । अत्र राजा करधनप्रदं प्रजापुरुषं कथं स्वीकुर्यादित्युपदिश्यते' इति, तन्न, अनुपपत्तेः । नहि राजा सूर्यचन्द्रयोर्बलपराक्रमाभ्यां न वा सोमाद्योषधिगणस्य रोगनाशकधातुसाम्यापादकगुणाभ्यां हस्ताभ्यां प्रजाजनं गृह्णाति । न वा करधनस्य पविना वाण्या दानं सम्भवति । करधने गम्भीरम् ऊर्जस्वन्तं सुषूतममित्यादिविशेषणान्यपि न सङ्गच्छन्ते । द्वितीयान्तैरेतैः पदैर्निग्राभ्या इत्यनेन सम्बन्धोऽप्यसङ्गतः । तथा एकवचनबहुवचनवैषम्यमपि । 'स्थ' इति मध्यमपुरुषोऽपि चिन्त्यः । न चैतत् प्रजाविशेषणम्, कृधीत्येकवचनविरोधात् । श्रुतिविरोधस्तु दर्शित एव ॥३०॥

मनो॑ मे तर्पयत॒ वाचं॑ मे तर्पयत प्रा॒णं मे॑ तर्पयत॒ चक्षु॑र्मे तर्पयत॒ श्रोत्रं॑ मे तर्पयता॒त्मानं॑ मे तर्पयत प्र॒जां मे॑ तर्पयत प॒शून्मे॑ तर्पयत ग॒णान्मे॑ तर्पयत ग॒णा मे॒ मा वितृ॑षन् ॥३१॥

समासेन तर्पणं प्रार्थ्य व्यासेन तदेवाभिधीयते । हे आपः, मे मम मनो वाचं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं तर्पयत । मदीयानि मनःप्रभृतीनि प्रीतानि कुरुत । एवं व्यासेनोक्त्वा पुनः समासेनाह – आत्मानं शरीरं, प्रजां पुत्रादिसम्पत्तिं पशून् गवादीन् गणान् बन्धुभृत्यादीन् मनुष्यसंघांश्च तर्पयत । मे मदीया गणा मनुष्यसंघा मा वितृषन् युष्माभिस्तर्पिता विवृद्धतृष्णा मा भूवन् । अनुरक्तगणोऽहं भवेयमित्याशास्ते यजमानः । नन्वापः स्वल्पा एव

करता हूँ । तुम भगवदाराधन सम्पत्ति के द्वारा भुक्ति, मुक्ति तथा प्रीति की प्रदात्री हो । अतः इस निश्छल देवार्चनात्मक यज्ञ का सम्पादन करो । परमैश्वर्यवान् परमात्मा के लिये यह यज्ञ ब्रह्मगोचर होने के कारण दुरवगाह्य, पवित्र अनुराग अथवा गंगा आदि पुण्य नदियों के जल से अभिषेचन से युक्त अन्नादि रसों से युक्त अथवा प्रेमरस से अन्वित मधु के समान सुस्वादु रस अथवा प्रेम से युक्त, दुग्ध के समान सुस्वादु अथवा सरस अर्चन से समन्वित है । भाव का ग्रहण करनेवाले परमात्मा के द्वारा अतिशय आदर से ग्राह्य तथा देवताओं के द्वारा बहुत मान से संयुक्त तुम मेरे प्रभु की आराधना के साधन होने के कारण मुझे कृतार्थ करो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ अनुपपन्न है । पवित्र वाणी से ही कर द्वारा प्राप्त धन का दान सम्भव नहीं है । कर के धन में गम्भीर, ऊर्जस्वान् आदि विशेषण भी संगत नहीं होते । इन द्वितीयान्त पदों के साथ 'निग्राभ्याः' शब्द का सम्बन्ध करना भी असंगत है । एकवचन तथा बहुवचन की विषमता भी है । यह प्रजा का विशेषण भी नहीं है, क्योंकि 'कृधि' इस एकवचन से विरोध है । श्रुतिवाक्यों का विरोध तो स्पष्ट प्रदर्शित ही है ॥३०॥

मन्त्रार्थ – हे निग्राभ्य, तुम मेरे मन को तृप्त करो, मेरे प्राण को, मेरी नेत्रेन्द्रिय को, मेरे कानों को, मेरी आत्मा को और मेरी प्रजा को तृप्त करो, मेरे पशुओं को और मेरे आत्मीय जनों को तृप्त करो । मेरे बन्धु-बान्धव किसी प्रकार की तृष्णा से कातर न हों ॥३१॥

भाष्यसार – 'मनो मे' इत्यादि मन्त्र से भी पूर्वोक्त मन्त्र की भांति जल की प्रार्थना की जाती है । शतपथ श्रुति में तदनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

तर्पणीयास्तु बहव इति कथं स्वल्पेन तर्पणसाधनेन बहूनां तर्पणम्, कथं वा तासामपां तादृशी शक्तिरिति चेत्तत्राह श्रुतिः – 'रसो वा आपस्तास्वेवैतामाशिषमाशास्ते सर्वं च म आत्मानं तर्पयत' (श.३।९।४।७) । अपां रसरूपत्वात् तास्वप्स्वेवैतां तृप्तिरूपामाशिषमाशास्ते, अतः सारवतामाशासनं युक्तमेव । मनआदिकं सर्वं संगृह्यानुवदति सर्वं च मे आत्मानं प्रजां चेति विविच्यानुवादः ।

अध्यात्मपक्षे तु – हे पूजासम्भाराः, यूयं परमात्मपूजाङ्गतामुपगता मे ममार्चकस्य मनोवागादीन् **तर्पयत** । स्वसम्भोगबुद्ध्या सेविता विषया अनादिकालादारभ्याद्य यावत्तृष्णावर्धका एव जाताः । त एव भगवदाराधनोपयुक्ताः सन्तः 'मत्प्रसादं तु निर्गुणम्' इति श्रीमद्भागवतोक्तरीत्या स्वयं शुद्धा गुणातीता भूत्वाऽऽराधकानामपि गुणातीततामापाद्य मनोवागादीन् तर्पयन्ति, मनोवागादीनि च प्रीतिकराणि भवन्ति । तदनुसन्धानेन मनः, **वर्णनेन** वाग्, आघ्राणेन प्राणः, दर्शनेन चक्षुः, श्रवणेन श्रोत्रं तत्प्रसादलेशेन प्रजाः पशवो गणाश्च तृप्यन्ति, **गणानां** तृष्णाविवृद्ध्युपशान्तिर्भवति । एवं स्वस्थेन्द्रियमनस्कस्तृप्तप्रजस्तृप्तपशुस्तृप्तगणोऽनुरक्तगणः साधकोऽनायासेन भगवत्समर्पितपूजासम्भारप्रसादात् 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्डको.३।२।८) इति श्रुत्यनुसारेण **परात्परं दिव्यं** पुरुषमुपैति ।

दयानन्दस्तु – 'हे सभाजनाः प्रजाजना वा, यूयं स्वगुणैर्मे मम मनस्तर्पयत वाचं प्राणं चक्षुः **श्रोत्रं म आत्मानं** प्रजां पशून् गणान् तर्पयत । यतो मे गणा मा वितृषन् तृषिता मा भवन्तु'इति, तदपि यत्किञ्चित्, **प्रजानामल्पज्ञानां** तथा शक्त्यभावात् । तथाहि – प्रजा अल्पज्ञा अल्पशक्तयश्च जीवा एव, ते कथं सभापतेर्मनश्चक्षुरादीन् तर्पयितुं शक्ष्यन्ति । गुणैस्तु मनस्तुष्यति । प्रजाश्च गणेष्वेवान्तर्भवन्ति । तथा च कथं गणैरेव **गणतर्पणम् ? किञ्च,** मा वितृषन् गणा मा तृषिता भवन्तु' इति संस्कृतव्याख्याने, हिन्दीव्याख्याने तु 'उदासीना **मा भूवन्' इत्युक्तम्,** तदेतदुभयमप्यसङ्गतम्, विपूर्वस्य तृषेरुदासीनार्थत्वे मानाभावात् । श्रुत्या तु स्पष्टमेवात्राप एव **सम्बोध्यत्वेनाङ्गीकृताः** । तासामेवाल्पशक्तित्वमाशङ्क्य रसरूपत्वेन तत्समाधानमुक्तम् ॥३१॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे पूजा के संभारों, तुम परमात्मा की पूजा के साधन होकर मुझ पूजक के मन, वाणी आदि को तृप्त करो । अपने भोग की बुद्धि से सेवन किये गये विषय अनादि काल से लेकर आज तक केवल तृष्णावर्धक ही हुए हैं । वे ही भगवान् की आराधना में विनियुक्त होने पर स्वयं शुद्ध गुणातीत होकर आराधकों को भी गुणातीत बनाते हुए मन, वाणी आदि को तृप्त करते हैं, मन, वाणी आदि के प्रीतिकारक हो जाते हैं । उसके अन्वेषण से मन, वर्णन से वाणी, आघ्राण से नासिका, दर्शन से नेत्र, श्रवण से कान, उसके प्रसाद - कण से प्रजाएं, पशु तथा गण तृप्त होते हैं , गणों को शान्ति प्राप्त होती है । इस प्रकार स्वस्थ इन्द्रियों तथा मन से युक्त, तृप्त प्रजाओं, पशुओं तथा गणों से अन्वित, अनुरक्त गणों वाला साधक अनायास ही भगवान् को समर्पित पूजा-संभार के प्रसाद से परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ संगत नहीं है । प्रजा तो अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाले जीव ही हैं । वे सभापति के मन, चक्षु आदि को कैसे तृप्त कर सकते हैं ? संस्कृत व्याख्या में 'गण तृषित न हों' तथा उसके ही हिन्दी अर्थ में 'उदासीन न हों' कहा गया है , ये दोनों ही अर्थ असंगत हैं । वि उपसर्ग पूर्वक तृष धातु का औदासीन्य अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है । श्रुति के द्वारा तो जल ही यहाँ संबोधनीय माने गये हैं ॥३१॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इन्द्राय त्वाऽऽदित्यवत इन्द्राय त्वाऽभिमातिघ्ने। श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे ॥३२॥

'स य एष उपांशुसवनः स विवस्वानादित्यो निदानेन सोऽस्यैष व्यानः' (श.३।९।४।७)। उपांशुग्रहार्थं सोमोऽभिषूयते येन स उपांशुसवनः पाषाणो निदानेन विवस्वत्संज्ञक आदित्य एव, तस्यैव तदात्मनावस्थानात्। स एष यज्ञस्य व्यानः, प्राणापानरूपयोरुपांश्वन्तर्यामयोर्मध्ये स्थाप्यत्वात्,'यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः' (छा.उ.५।३।३) इति श्रुतेः। तस्य पाषाणस्योपांशुसवन इति वैदिकी संज्ञा व्यवहारार्था। 'तमभिमिमीते। घ्नन्ति वा एनमेतद् यदभिषुण्वन्ति तमेतेन घ्नन्ति तथात उदेति तथा सञ्जीवति यद्वेव मिमीते तस्मान्मात्रा मनुष्येषु मात्रो यो चाप्यन्या मात्रा' (श.३।९।४।८)। तमुपांशुसवनमभि तस्योपरि सोमं मिमीते क्रयकालिकमानेन सोमं संस्कुर्यात्। घ्नन्तीत्यादिनाभिषवस्य, यद्वेत्यादिना मानस्य च स्तुतिः। उशब्दोऽप्यर्थकः। यापि मात्रा सोमे कृता तस्मात् सोमस्य मितत्वान्मनुष्येषु व्यवहारार्थं प्रस्थकुडवाढकद्रोणखार्यादिरूपा मात्राः प्रसिद्धाः। या चाप्यन्या• एकद्वित्र्यादिसंख्या-प्रयुक्ता सापि मात्रा सोममानप्रयुक्तैव। 'स मिमीते। इन्द्राय त्वा....' (श.३।९।४।९) इत्यादिना सोमोन्माने मन्त्रं विदधाति। तदुक्तं कात्यायनेन – 'उपांशुसवने सोमं मिमीत इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत इति पञ्चकृत्वः प्रतिमन्त्रम्' (का.श्रौ.९।४।७)। अध्वर्युरुपांशुसवनमधिषवणचर्मणि निधाय पञ्चवारं मिमीते सोमस्य मानमियत्तां कुर्यात्। पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमेकैकं सोममुष्टिमुपांशुसवनस्योपरि निक्षिपेदित्यर्थः। पञ्च यजूंषि सौमानि।

तत्र प्रथमम् – हे सोम, त्वा त्वाम् इन्द्राय इन्द्रार्थं मिमे इति शेषः, परिच्छिनद्मीत्यर्थः। कीदृशायेन्द्राय ? वसुमते वसवोऽस्य सन्तीति वसुमान्, तस्मै वसुसंज्ञकप्रातःसवनदेवतावते। रुद्रवते रुद्राः सन्त्यस्येति रुद्रवान्, तस्मै रुद्रनामकमाध्यन्दिनसवनदेवतावते। अथ द्वितीयम् – इन्द्राय त्वादित्यवते आदित्यनामकतृतीयसवनदेवतावते इन्द्राय हे सोम, त्वां मिमे। अथ तृतीयम् – अभिमातिघ्ने अभिमातीन् शत्रून् हन्तीत्यभिमातिहा तस्मै अभिमातिघ्ने शत्रुहन्त्रे, 'सपत्नो वाभिमातिः' इति श्रुतेः। इन्द्राय त्वा त्वां मिमे इयत्तां निर्धारयामि। अथ तुरीयम् – सोमभृते सोमं हरतीति सोमभृत्, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा.सू.८।२।३२) इति हस्य भः। तस्मै सोमाहरणकर्त्रे श्येनाय श्येनपक्षिरूपधारिण्यै गायत्र्यै हे सोम, त्वां मिमे परिच्छिन्नं करोमि, 'गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्' (श.६।९।४।१०) इति श्रुतेः। अथ पञ्चमम् – रायस्पोषदे रा लक्ष्मीस्तस्याः पोषो वृद्धिस्तां ददातीति रायस्पोषदस्तस्मै धनपुष्टिदात्रेऽग्नये त्वा त्वां मिमे परिच्छिनद्मि।

मन्त्रार्थ – **हे सोम, वसुनामक देवता से युक्त माध्यन्दिन सवन के रुद्र देवता से युक्त इन्द्र देवता के निमित्त तुमको परिमित करता हूँ। हे सोम, तीसरे सोम के आदित्य देवता के साथ वर्तमान इन्द्र देवता के निमित्त तुमको परिमित करता हूँ। हे सोम, शत्रुघाती इन्द्र देवता के निमित्त, धन और पुष्टि देने वाले अग्नि देवता के निमित्त तुमको परिमित करता हूँ ॥३२॥**

भाष्यसार – 'इन्द्राय त्वा' इत्यादि पांच मन्त्रों से अध्वर्यु उपांशुसवन पर पांच बार सोमलता को मुष्टिपरिमित नाप कर रखता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।७) में यह याज्ञिक विनियोग निरूपित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

शतपथे विशेषतो व्याख्यानम् । तथाहि – 'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय त्वेति वसुमते रुद्रवत इति तदिन्द्रमेवानु वसूंश्च रुद्रांश्चाभजतीन्द्राय त्वादित्यवत इति तदिन्द्रमेवान्वादित्यानाभजतीतीन्द्राय त्वाभिमातिघ्न इति सपत्नो वाभिमातिरिन्द्राय त्वा सपत्नघ्न इत्येवैतदाह सोऽस्योद्धारो यथा श्रेष्ठस्योद्धार एवमस्यैष ऋते देवेभ्यः' (श.३।९।४।९) । इन्द्रो वै यज्ञस्य सोमस्य देवता – 'प्रातःसुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते । समृभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः ॥' (ऋ.सं.४।३२।७) इत्यादिमन्त्रलिङ्गादिन्द्रस्य सवनत्रये प्राधान्याद् वसुमते रुद्रवत इत्यादौ वस्वादेरिन्द्रशेषत्वप्रतीतेः । इन्द्रं प्रधानभूतं मुख्यं भागिनं कृत्वा वस्वादीनप्यन्वाभजति पश्चाद्भागिनः करोति, इन्द्रस्यानुचरान् कृतवान् भवतीत्यर्थः । अभिमातिशब्दः सपत्नवाची अस्मिन् मन्त्रे । देवतान्तरसम्बन्धवैधुर्यं प्रशंसति – सोऽस्योद्धार इति । यथा धान्यादिविभागसमये मुख्यस्य राज्ञो देयो भागः प्रातिस्विकः । तं प्रथममेवापोद्धृत्य पश्चात् स्वं स्वमंशं विभजन्ति, तथैव रुद्रवस्विन्द्रेभ्यो देवतान्तरसहभावमन्तरेण केवल उद्धारः कृतो भवतीत्यर्थः । श्रेष्ठत्वे बीजं चाभिमातिहन्तृत्वमेव । यतोऽयं सपत्नहन्ता अत उद्धारार्हः । 'श्येनाय त्वा सोमभृत इति । तद् गायत्र्यै मिमीतेऽग्नये त्वा रायस्पोषद इत्यग्निर्वै गायत्री तद् गायत्र्यै मिमीते स यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत् तेन सा श्येनः सोमभृतेनैवास्या एतद्वीर्येण द्वितीयꣳ मिमीते' (श.३।९।४।१०) । 'श्येनाय त्वा, अग्नये त्वा' इति वाक्यद्वयस्य तात्पर्यमाह – सोमभृते श्येनाय । सोमोन्माने कृते कथं गायत्र्यर्थत्वमित्याशङ्क्य तदुपपादयति – यद्गायत्री श्येनो भूत्वेति । 'अग्नेर्गायत्र्यभवत्' इति मन्त्रवर्णाद् गायत्र्या निदानमग्निः । अतो जन्यजनकयोरभेदोपचारेण गायत्र्यर्थतोपपत्तिः । 'अथ यत्पञ्चकृत्वो मिमीते । संवत्सरसम्मितो वै यज्ञः पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य तं पञ्चभिराप्नोति तस्मात् पञ्चकृत्वो मिमीते' (श.३।९।४।११) । एकमन्त्राणि कर्माणीति न्यायस्यौत्सर्गिकत्वान्मन्त्राणां पञ्चत्वान्मानमपि पञ्चकृत्व इत्यर्थसिद्धम् । गवामयनादिसत्रस्य संवत्सरसम्मितयज्ञत्वं प्रसिद्धम् । तस्मात् पञ्चकृत्वो मानं प्रशस्यते ।

अध्यात्मपक्षे – हे सर्वेश्वरसमर्चनसम्भार, इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय त्वा त्वां गृह्णामि । कीदृशाय परमेश्वराय ? वसुमते वसुदेवतायुक्ताय तथा रुद्रवते रुद्रदेवतायुक्ताय श्येनाय श्येनरूपधारिगायत्रीयुक्ताय अग्नये रायस्पोषकाय धनपोषदायाग्नये त्वा गृह्णामि । अभिमातिघ्ने सपत्नघातिने परमात्मने त्वां गृह्णामि । सर्वे देवाः परमेश्वरस्यैवाङ्गोपाङ्गभूता इति तत्तदङ्गविशिष्टायाङ्गिस्वरूपाय परमेश्वराय त्वां गृह्णामि ।

दयानन्दस्तु – 'हे सभापते, वयमिन्द्राय परमैश्वर्याय वसुमते बहवो वसवश्चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यसम्पन्ना विद्वांसो विद्यन्ते यस्मिन् कर्मणि तस्मै कर्मणे, रुद्रवते कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्या वीराः शत्रुरोदयितारो रुद्रा भवन्ति यस्मिन् कर्मणि तस्मै इन्द्राय उत्तमगुणाय त्वा त्वाम्, आदित्याय कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्याः सूर्यवद्विद्वांसो

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे सर्वेश्वर की पूजा के संभार, मैं तुमको परमैश्वर्यवान् वसु देवता से समन्वित, रुद्रदेव से युक्त, श्येनरूप धारण करने वाली गायत्री से अन्वित, धन तथा पुष्टि प्रदान करने वाले अग्निरूपी शत्रुओं को विनष्ट करने वाले परमात्मा के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । सभी देवगण परमेश्वर के ही अंग उपांग हैं, अतः उनके सहित अंगी स्वरूप परमेश्वर के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र में 'वृणुमः' यह शब्द नहीं है । हमारे अर्थ में तो शतपथ श्रुति तथा श्रौतसूत्र के अनुसार वाक्यांग क्रियापद का ज्ञान हो जाता है । श्रुतियों में इस प्रकार के कोई विशेष कर्म भी नहीं उपदिष्ट हैं, जिनमें चौबीस वर्षीय ब्रह्मचर्य आदि से युक्त विद्वानों का ही विनियोग हो । अतः यह अर्थ केवल अज्ञ जनों के बहलाने के लिये

भवन्ति यस्मिन् कर्मणि तस्मै इन्द्राय परमविद्याप्रकाशेनाविद्याविदारकाय त्वां सोमभृतेऽग्नये विद्युदादये वा, धनस्य पुष्टिप्रदे त्वां वृणुमः' इति, तदपि निर्मूलम्, मूले वृणुम इति पदाभावात् । सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रानुसारेण 'मिमे' इति शेषो ज्ञायते । शतपथश्रुत्यैव मन्त्रा व्याख्याता इति तद्विरुद्धमेवेदं व्याख्यानम् । न च श्रुतिषु सूत्रेषु कानिचित्तादृशानि कर्माणि चोदितानि, यत्र चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यसम्पन्नादयो विद्वांसो नियुज्यन्ते । तस्मान्मूढजनप्रतारणमेवैतत् । न च वस्वादिशब्दानां तथाविधार्थाः सम्भवन्ति, तत्र तेषामशक्तेः ॥३२॥

यत्ते॑ सोम दि॒वि ज्योति॒र्यत्पृ॑थि॒व्यां यदु॒राव॒न्तरि॑क्षे ।
तेना॒स्मै यज॑माना॒योरु रा॒ये कृ॒ध्यधि॑ दा॒त्रे वो॑चः ॥३३॥

'तमभिमृशति । यत्ते सोम दिवि....' (श.३।९।४।१२) । मितस्य सोमस्य समन्त्रकमभिमर्शनं विधत्ते । कात्यायनोऽपि तथैवाह – 'यत्त इति मितालम्भनम्' (का.श्रौ.९।४।८) । अध्वर्युरुपांशुसवनं पञ्चवारं प्रक्षिप्तस्य सोमस्य यत्त इति मन्त्रान्ते स्पर्शं कुर्यात् । अत्र क्षुल्लकाभिषवार्थमल्पानामंशूनां मितादपकर्षणं कार्यम् । उपांशुसवनमद्रिं होतृचमसात् पात्रान्तरे स्वल्पा निग्राभ्याश्च पृथक्कृत्वा यत्नेन निदध्याच्च।सोमदेवत्या विपरीतबृहती । यत्राद्यतृतीयौ पादावष्टार्णौ द्वितीयतुरीयौ द्वादशार्णौ सा विपरीतबृहती । मन्त्रार्थस्तु – हे सोम, दिवि द्युलोके ते त्वदीयं ज्योतिर्द्युतिमत्त्वमासीत् । यत्पृथिव्यां वल्लीरूपः सोमः, यदपि उरौ विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे षोडशकलात्मकः सोमः, तेन सर्वेण तव स्वरूपेण सहितः सन्नस्मै अभिषुण्वते यजमानाय राये तस्य धनार्थमुरु कृधि, तव शरीरमिति शेषः । तेन ज्योतिषाऽस्मै यजमानाय राये राया तृतीयार्थे चतुर्थी, समृद्धमुरु विस्तीर्णं स्थानं कृधि । किञ्च, अधिकोऽयं यजमानो भवत्विति दात्रे वोचः फलप्रदायेन्द्राय ब्रूहि । यद्वा विभक्तिव्यत्ययेनास्य यजमानस्य यज्ञे उरु विस्तीर्णं स्वशरीरं कृधि, राये धनाय ऋत्विजां दक्षिणाप्राप्तये उरु शरीरं कृधि । किञ्च, दात्रे यजमानाय अधि वोचः अधिकं ब्रूहि । यजमानाय कृत्स्नशरीरोऽयमागत इति ब्रूहि ।

शतपथेऽस्य मन्त्रस्य निदानमुक्तम् – 'यत्र वा एषोऽग्रे देवानाᳪ हविर्बभूव तद्धेक्षाञ्चक्रे मैव सर्वेणेवात्मना देवानाᳪ हविर्भूवमिति स एतास्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त' (श.३।९।४।१२) । सोमस्य लोकान्तरस्थाय्यंशस्य यत्परिग्रहाभिधानं तदाख्यायिकामुखेन प्रशंसति – यत्र वा एष इति । यत्र काले अग्रे पूर्वं सोमो देवानां हविर्बभूव तत् तदा सर्वेणात्मना देवानां हविर्मा भूवं न भवामीति विचार्य एषु त्रिषु लोकेषु स्वास्तनूर्विन्यधत्त विभज्य

ही हो सकता है । वसु आदि शब्दों का जो अर्थ बताया गया है, वह भी संभव नहीं है, क्योंकि उस अर्थ में उन शब्दों की शक्ति नहीं है ॥३२॥

मन्त्रार्थ – हे सोम, द्युलोक में पृथ्वी पर और विस्तीर्ण अन्तरिक्ष लोक में जो तुम्हारी ज्योति है, उसके प्रभाव से इस यजमान के निमित्त इष्ट धन का विस्तार करो, अथवा इसके यज्ञ में अपने शरीर का विस्तार करो । ऋत्विक् गणों की धनप्राप्ति के निमित्त अपने शरीर का विस्तार करो, दाता यजमान के निमित्त अपनी सम्पूर्ण ज्योति के साथ यहाँ आओ ॥३३॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'यत्ते' इस ऋचा से अध्वर्यु द्वारा रखे गये सोम का स्पर्श किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

स्थापितवान् । एतन्निदानोऽयं मन्त्रः । 'तद्वै देवा अस्पृण्वत । तेऽस्यैतेनैवैतास्तनूराप्नुवन् स कृत्स्न एव देवानाꣳ हविरभवत्तथो एवास्यैष एतेनैवैतास्तनूराप्नोति स कृत्स्न एव देवानाꣳ हविर्भवति तस्मादेवमभिमृशति' (श. ३।९।४।१३) । तद्वै वृत्तान्तं देवा अस्पृण्वत 'स्पृ प्रीतिवलनयोः' बलोपलक्षितं व्यापारं कृतवन्तः, ज्ञातवन्तस्ते देवा अस्याग्नेर्लोकत्रयस्थितास्तनूः, एतेन यत्ते सोम इत्यादिमन्त्रेण आप्नुवन् प्राप्तवन्तः । स कृत्स्नोऽविकलो भवति देवानां हविरभवत्।तथा सति य एतेन मन्त्रेणाभिमृशति स कृत्स्नः सर्व एव देवानां हविर्भवति ।

अध्यात्मपक्षे – हे सोम साम्बसदाशिव, यत्ते दिवि द्युलोके सूर्यात्मकं ज्योतिः, यत्पृथिव्यामग्न्यात्मकं ज्योतिः, यच्चोरौ विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे वाय्वात्मकं ज्योतिः, तेन सर्वरूपेण अस्मै यजमानाय स्वकर्मसमर्पणेन तवाराधकाय तस्य राये भौतिकायाध्यात्मिकाय ज्ञानवैराग्यविवेकरूपाय उरु विस्तीर्णमनुग्रहं कृधि कुरु । दात्रे त्वदर्थं सर्वस्वसमर्पयित्रे यजमानाय अधि अधिकं वोचः प्रभूताभिर्वाग्भिराश्वासयेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – 'हे सोम सभापते, ते यद् दिवि पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे ज्योतिरिव राज्यकर्मास्ति, तेन त्वं दात्रेऽस्मै यजमानायोरु कृधि रायेऽधि वोचश्च' इति, तच्च परस्परं विप्रतिषिद्धमेव, राज्यकर्मणे दिवि सूर्ये विस्तृतेऽन्तरिक्षे सत्त्वे मानाभावात् । मूले तु ज्योतिःपदमस्ति । तस्य ज्योतिरिवेत्यर्थकरणं गौणार्थाश्रयणमेव । तत्रापि राज्यकर्मणो रूपराहित्येन ज्योतिस्तुल्यत्वमपि न सम्भवत्येव । तेन ज्योतिषा दात्रे परोपकारकर्त्रे यजमानाय उरु कृधि अत्यन्तमुपकारं कुरु' इति चासङ्गतम्, 'दात्रे' इत्यनेनैव तदर्थसिद्धौ यजमानपदवैयर्थ्यात्, उरुपदस्यात्यन्तोपकारार्थत्वे मानाभावाच्च । एवमेव 'धनवृद्धये अधिवोचः अधिकराज्यप्रबन्धं कुरु' इत्यपि निर्मूलमेव, अधिपूर्वस्य वचेस्तथार्थत्वे मानाभावात्।तादृशार्थकरणे स्वेच्छाचारित्वमेव । यदुक्तम् – 'मन्त्रोऽयं शतपथे १४-१५ योर्व्याख्यातः' इति तदप्यसङ्गतम्, तयोरस्यासम्बद्धत्वात् ॥३३॥

श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ता अमृतस्य पत्नीः ।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत ॥३४॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है – हे साम्ब सदाशिव, द्युलोक में आपकी जो सूर्यरूपी ज्योति है, पृथिवी में आपकी अग्निरूपी ज्योति है तथा विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में वायुरूपी ज्योति है, उस अपने सम्पूर्ण रूप से सर्वस्व समर्पण के द्वारा आराधना करने वाले यजमान के लिये भौतिक, आध्यात्मिक ज्ञान, वैराग्य, विवेक प्राप्त्यर्थ महान् अनुग्रह करें । आपके लिये सर्वस्व समर्पित करने वाले यजमान के लिये प्रभूत वचनों से आश्वासन प्रदान करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ परस्परविरुद्ध ही है । राज्य कर्म के लिये द्युलोक, सूर्य, विस्तृत अन्तरिक्ष के होने में कोई प्रमाण नहीं है । मूल मन्त्र में ज्योति शब्द है । उसका अर्थ 'ज्योति के समान' करना गौण अर्थ का अवलम्बन ही है । 'उरु' शब्द का 'अत्यन्त उपकार' अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार 'अधिक राज्यप्रबन्ध करो' यह भी निर्मूल है । अधि उपसर्ग सहित वच् धातु का अर्थ इस प्रकार करने में कोई प्रमाण नहीं है । यह स्वेच्छाचारिता ही है ॥३३॥

मन्त्रार्थ – हे जलदेवता, तुम शीघ्र कार्यकारी शत्रुहृदय के मर्दनकारी और इष्ट कामना को देने वाले हो, सोम के पालक हो । हे सम्पूर्ण निग्राभ्य देवताओं, तुम इस यज्ञ के देवताओं के साथ यहाँ आओ, अनुज्ञा प्राप्त कर सोम रस का पान करो ॥३४॥

'अथ निग्राभ्याभिरुपसृजति' (श.३।९।४।१४) । उपसृजतीत्यस्य मिश्रयेदित्यर्थः । मिश्रणमाख्यायिकामुखेन प्रशंसति – आपो ह वै वृत्रं जघ्नुः, तेनैवैतद्वीर्येण केनाप्यवध्यो वृत्रोऽस्माभिर्हत इत्येवमात्मकेन एतद् इदानीमप्यापः स्यन्दन्ते वेगेन गच्छन्ति । तस्मात् स्यन्दमाना एना न किञ्चिदपि वस्तु लोष्टकाष्ठपाषाणादिकं प्रतिधारयति प्रतिबध्नाति, किन्तु ता आपः स्वमेव वशं स्वतन्त्रं यथा स्यात्तथा चेरुरगच्छन् । स्वातन्त्र्ये कारणमाह – कस्मै तु वयं तिष्ठेमहि याभिरस्माभिर्वृत्रो हतः । सर्वस्यापि लोकस्य घातको वृत्र आसीत्, सोऽप्यस्माभिर्हतः, अतो वयं कस्मै अन्यस्मै तिष्ठेमहि आत्मानं प्रकाशयेमेति । इत्थमपां स्वातन्त्र्यं प्रतिपाद्य तासामिन्द्राधीनत्वं प्रतिपादयति – 'सर्वं वा इदमिन्द्राय तस्थानमासेति' (श.३।९।४।१४) । तस्थानमिति तिष्ठतेः कानचि रूपम्, (पा.सू.३।२।१०५-१०६) इति सूत्राभ्यां रूपसिद्धिः । योऽयं दुर्वहत्वेन प्रसिद्धो वायुः सोऽपीन्द्राधीनः स्थितवान्, किमु वक्तव्यं सर्वमेतदिन्द्राधीनं स्थितमिति । 'स इन्द्रोऽब्रवीत् । सर्वं वै म इदं तस्थानं यदिदं किञ्च तिष्ठध्वमेव म इति ता होचुः किं नस्ततः स्यादिति प्रथमभक्ष एव वः सोमस्य राज्ञ इति तथेति ता अस्मा अतिष्ठन्त तास्तस्थाना उरसि न्यगृह्णीत तद्यदेना उरसि न्यगृह्णीत तस्मान्निग्राभ्या नाम तथैवैना एतद्यजमान उरसि निगृह्णीते स आसामेष प्रथमभक्षः सोमस्य राज्ञो यन्निग्राह्याभिरुपसृजति' (श.३।९।४।१५) । स इन्द्र एवमब्रवीत् – यत्किञ्च इदं भूतजातं तन्मदर्थं स्थितम्, अतो यूयमपि तिष्ठध्वं न गच्छत । तथोक्ता आपो वयं तिष्ठेमहि, नोऽस्माकं ततः किं लब्धं स्यादित्यब्रुवन् । अथ तासामिन्द्रः सोमराज्ञः प्रथमभक्षम् इतरेभ्यो देवेभ्यः प्राग् अभिषवकाले एष वोऽस्त्विति प्रादात् । ता अस्तु तथेत्यङ्गीकृत्य इन्द्रायातिष्ठन्त । प्रसङ्गान्निग्राभ्याशब्दनिर्वचनमाह – तास्तस्थाना उरसि न्यगृह्णीत । इन्द्रेणोरसि निगृहीतत्वान्निग्राभ्या इति तासां नाम सम्पन्नम् । कर्मणि कृत्यः । तथैवैता एतद्यजमान उरसि निगृह्णीत इत्यत्र निगृह्णीयादिति विधिरुन्नेयः । न चात्र प्रथमभक्षो न श्रूयते ? इत्याशङ्क्याभिषवकाले ताभिः संसर्ग एव भक्ष इत्याह – स आसामेष प्रथमभक्षः सोमस्य राज्ञो यन्निग्राह्याभिरुपसृजति । तदुक्तं कात्यायनेनापि – 'निग्राभ्यासु वाचयत्युरस्येना निगृह्य निग्राभ्या स्थेति' (का.श्रौ.९।४।६) । यजमानः स्वकीयोरसि निग्राभ्या निधाय आलभ्य च निग्राभ्या स्थेति मन्त्रं पठेत्, अध्वर्युश्च पाठयेत् । 'श्वात्रा स्थेत्यासिञ्चति निग्राभ्या इति' (का.श्रौ.९।४।१०) । अध्वर्युः प्रक्षिप्तेषु सोमेषु निग्राभ्या अपो होतृचमसेन प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः ।

पथ्याबृहती । तृतीयो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयोऽष्टार्णाः पादा यस्याः सा पथ्याबृहती । इयं द्व्यधिका । हे आपः, देवीर्देव्यः । यूयं कीदृश्यः ? श्वात्राः । श्वात्रमिति क्षिप्रनाम । क्षिप्रं कार्यकारिण्यः शिवा वृत्रतुरः, तूर्वतिर्वधकर्मा, वृत्रं दैत्यं तूर्वन्ति हिंसन्तीति वृत्रतुरः, क्विपि 'राल्लोपः' (पा.सू.६।४।२१) इति वलोपः । राधोगूर्ता राधो धनं गुरन्ते उद्यच्छन्ति ददतीति राधोगूर्ताः । 'गुरी उद्यमने' इत्यस्मात् 'न सन्निषत्' (पा.सू.८।२।६१) इत्यादिना कर्तरि निष्ठा नत्वाभावश्च निपात्यते । अमृतस्य सोमस्य पत्नीः पालयित्र्यः । तथाविधा यूयं देवत्रा देवान् प्रतीमं यज्ञं नयत प्रापयत । किञ्च, यूयम् उपहूता अनुज्ञाताः सत्यः सोमस्य सोमं पिबत । अयमेवाभिप्रायः शतपथे व्यक्तः – 'स

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (९।३।११, ९।४।१०) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'श्वात्रा स्थ' इस ऋचा से अध्वर्यु निग्राभ्या संज्ञक जल से सोम का उपसेचन करता है । शतपथ ब्राह्मण में आख्यायिका के द्वारा याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्या उपदिष्ट है ।

उपसृजति । श्वात्रा स्थ वृत्रतुर इति शिवा ह्यापस्तस्मादाह श्वात्रा स्थेति वृत्रतुर इति वृत्रꣳ ह्येता अघ्नन् राधो गूर्ता अमृतस्य पत्नीरित्यमृता ह्यापस्ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतेति नात्र तिरोहितमिवास्त्युपहूताः सोमस्य पिबतेति तदुपहूता एव प्रथमभक्षꣳ सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति' (श.३।९।४।१६) । श्वात्रमिति क्षिप्रनाम (निरु.५।३) । यदि ह्यापो अमृता न भवेयुस्तदा तादृशीनामपां स्वामित्वं नोपपद्येतेत्यनया प्रसिद्ध्या अमृता ह्याप इति ब्राह्मणम् ।

अध्यात्मपक्षे – हे आपः ! पूर्वोक्ता देवताः,यूयं देव्यो द्योतमाना श्वात्रा भक्तानुग्रहार्थं शीघ्रगामिन्यो वृत्रतुरं वृत्रमाच्छादकमज्ञानप्रमादकरं लोभाहङ्कारादिकं तुर्वन्ति हिंसन्तीति वृत्रतुरः, राधोगूर्ता राधो धनमुद्गिरन्तीति तथोक्ताः, अमृतस्य अमृतत्वस्य पालयित्र्यः, तथाविधा यूयम् इममुपासनालक्षणं यज्ञं,देवत्रा तांस्तान् देवान् प्रति नयत । देवानां कृपाशक्त्यैव तेभ्यः समर्पितं वस्तु तान् प्रति प्राप्नोति । तथा उपहूता भक्तैराहूताः सत्यः सोमस्यास्माभिः समर्पितं सोमं प्रेमरसपरिप्लुतं विविधं नैवेद्यं पिबत स्वीकुरुतेत्यर्थः । 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥' (भ.गी.९।२६) इति श्रीमद्भगवद्गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु – 'हे देवीर्देव्यः पत्न्यः स्त्रियः, यूयं वृत्रतुर इव राधोगूर्ता एव सत्यः पत्नीर्यज्ञसहकारिण्यः श्वात्रा स्थ ता देवत्रेमं यज्ञं नयत । उपहूता इवामृतस्य सोमस्यातिस्वादिष्ठं सोमाद्योषधिरसं पिबत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाचकलुप्तोपमालङ्कारस्य प्रकृते निर्मूलत्वात् । स्त्रियः कथं धनवर्धयित्र्यः ? दृष्टान्तभूता विद्युतश्च कथं धनवर्धिका इत्यपि वक्तव्यमासीत् । यज्ञशब्दस्य सिद्धिरर्थ इत्यपि निर्मूलम् । किञ्च, सोमपानाय स्त्रियः पुरुषैराहूताः पिबन्ति ? किं क्वचिदेवं विधानमुपलब्धमायुष्मता ? यदि दैनन्दिनकृत्यवर्णनमिष्टं स्यात्तदा भोजनादिनिर्माणवस्त्रप्रक्षालनादिकमपि वर्णनीयमासीत् । कथं चाज्ञातज्ञापके वेदे तद्वर्णनं स्यात् ? ॥३४॥

मा भेर्मा संविक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम् । पाप्मा हतो न सोमः ॥३५॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है – हे व्यापनशील जल देवताओं, आप लोग विद्योतमान, भक्त पर अनुग्रह करने के लिये शीघ्रगामी, आच्छादक अज्ञान तथा प्रमाद के कारण लोभ, अहंकार आदि को नष्ट करने वाले, धन उगलने वाले एवं अमृतत्व के रक्षक हैं । आप इस उपासना रूपी यज्ञ को उन-उन देवताओं के लिये ले जाइये । देवताओं की कृपाशक्ति से ही उनके लिये समर्पित वस्तु उनके पास पहुँचती है । भक्तों के द्वारा आहूत आप लोग हमारे द्वारा समर्पित प्रेमरस से परिप्लुत नैवेद्य को स्वीकार कीजिये ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार के लिये कोई मूल प्रमाण न होने के कारण अग्राह्यता है । दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत विद्युत् कैसे धन को बढाती हैं, यह भी कहना चाहिये था । यज्ञ शब्द का 'सिद्धि' अर्थ करना भी अप्रामाणिक है । यदि इस मन्त्र में प्रतिदिन के कार्य का ही वर्णन करना अभिप्रेत होता, तो खाना बनाने तथा कपड़ा धोने का भी वर्णन होना चाहिये था । अज्ञात पदार्थ का ज्ञान कराने वाले वेद में वह वर्णन कैसे हो सकता है ॥३४॥

मन्त्रार्थ – हे सोमसमूह, तुम आघात से भयभीत न हो, कम्पित न हो, रस को धारण करो । हे द्यावापृथिवी, दृढ़ता को प्राप्त हुए इस उपांशु सवन के आघात को और सोमसवन को दृढ़ करो । इस सोम के रस में वृद्धि कर बल प्रदान करो । इस वज्राघात से यजमान के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और सोम को कोई हानि नहीं पहुँचती, किन्तु वह संस्कारयुक्त हो जाता है ॥३५॥

'अथ प्रहरिष्यन् । यं द्विष्यात्तं मनसा ध्यायेदमुष्मा अहं प्रहरामि न तुभ्यमिति यो न्वेवेमं मानुषं ब्राह्मणꣳ हन्ति तं न्वेव परिचक्षतेऽथ किं यएतं देवो हि सोमो घ्नन्ति वा एनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तमेतेन घ्नन्ति तथा त उदेति तथा सञ्जीवति तथानेनस्यं भवति यद्यु न द्विष्यादपि तृणमेव मनसा ध्यायेत्तथोऽनेनस्यं भवति' (श.३।९।४।१७) । अथ प्रहरिष्यन् यं द्विष्यात्तं मनसा ध्यायेत् । अत्र द्वेष्टुर्नाम मनसा गृह्णीयात् । प्रहरामि प्रक्षिपामि, पाषाणरूपं वज्रमिति शेषः । हे सोम, न तुभ्यमिति । ननु नैवं प्रहरणं स्यात्तदा को बाध इति चेत्तत्राह – यो न्वेवेमं मानुषं ब्राह्मणमिति । 'मा त्वं भैषीर्मा संविक्था अमुष्मा अहं प्रहरामि न तुभ्यमित्येवैतदाह....धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथामितीमे एवैतत्फलके आहुरित्यु हैक आहुः किं नु तत्र योऽप्येते फलके भिन्द्यादिमे ह वै द्यावा-पृथिवी एतस्माद्वज्रादुद्यतात् सꣳ रेजेते तदाभ्यामेवैनमेतद् द्यावापृथिवीभ्याꣳ शमयति तथेमे शान्तो न हिनस्त्यूर्जं दधाथामि....त्येवैतदाह पाप्मा हतो न सोम इति तदस्य सर्वं पाप्मानꣳ हन्ति' (श.३।९।४।१८) । मा भेरिति पदं व्याकुर्वन् द्वेष्यभावनायां यत्प्रयोजनं प्रागुक्तं तदेव मा भेरिति मन्त्रभागस्यापि तात्पर्यम् । मा त्वं भैषीर्मा संविक्था अमुष्मै अहं प्रहरामि न तुभ्यमित्येवैतदाह, ऊर्क्शब्दस्य अन्ननामसु पाठात् (निघ.२।७।१५) । अत्र अन्नसारो रसो विवक्षित इति व्याचष्टे – रसं धत्स्वेत्येवैतदाह । धिषणे विड्वी इति मन्त्रभागस्य धिषणफलके अर्थ इति केषाञ्चिन्मतमपाकरोति – इमे एवैतत्फलके आहुरित्यु हैक इति । एतद् एतस्मिन् वाक्ये इमे सोमाधारभूते फलके इत्याहुः । तत्र यद्येते च द्वे स्यातां तर्हि कदाचिद् भग्ने स्याताम्, तदा तत्र किं नु स्यादिति । तत्र स्वमतमाह – 'इमे ह वै द्यावापृथिवी' इत्यादिना । अत्र धिषणे अनूद्य तयोर्दार्ढ्यमाशास्यते । तच्च सति शैथिल्यकारणे उपपद्यते, अतस्तत्प्रसक्तिमाह – एतस्माद् वज्राद् उद्यतात् संरेजेते वज्रवद्धिंसकाद् अभिषवायोद्यतशस्त्रसकाशाद् इमे द्यावापृथिवी संरेजेते कम्पेते । द्यावापृथिवीभ्यामिति चतुर्थीद्विवचनम् । एतद् इदानीमाभ्यामर्थाय एनं यज्ञं शमयति शान्तं करोति, यथाऽसौ उत्सेकावक्षेपाभ्यां द्यावापृथिव्यौ न हिनस्ति तथा करोति । तथा सति धिषणे वीड्वी सती वीडयेथाम् इत्यभिधाने सति शान्तोऽसौ यज्ञ इति इमे द्यावापृथिव्यौ न हिनस्ति, प्रोत्साहनेन तयोर्दृढत्वस्य प्राप्तत्वात् । एवमूर्गर्थवादः 'पाप्मा हतो न सोमः' इति । तदस्य सर्वं पाप्मानं हन्तीत्यार्थवादिकं फलं मा मां सन्ताप्समिति च देवताभूतस्य सोमाभिषवरूपो वधोऽध्वर्योरेव सम्भावित इति तस्यैव मन्तव्यम् ।

मन्त्रार्थस्तु – हे सोम, त्वं मा भैः मा भैषीः, मा संविथाः कम्पनं मा कृथाः, 'ओविजी भयचलनयोः' इति धातुः सम्पूर्वकः कम्पनार्थः । यतो देवतातर्पणार्थमहं त्वामभिषुणोमि, अत उर्जं रसं धत्स्व धेहि । एवं सोमं सम्बोध्य द्यावापृथिव्यौ सम्बोधयति – हे धिषणे द्यावापृथिव्यौ, युवां वीड्वी सती, वीलुशब्दो दृढवचनः, अस्माद् ग्राव्ण उद्यताद् दृढे सत्यौ आत्मानं वीडयेथां दृढीकुरुतम् । किञ्च, ऊर्जं रसं दधाथाम् । अनेनैवं वज्रसंस्तुतेन ग्राव्णा यजमानस्य पाप्मा हतो न सोमो हतः ।

अध्यात्मपक्षे – तत्तदङ्गोपाङ्गसहिताय भगवते परमात्मने संस्क्रियमाणः सोमो घृताज्यपरिप्लुतो व्यञ्जनादिः सम्बोध्यते – हे सोम, मा भैर्मा च संविक्थाः कण्डनपेषणपाचनादिभ्यो भयं कम्पनं च मा कृथाः । धिषवणे

भाष्यसार – शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'मा भेः' इत्यादि कण्डिका से सोम के रस को प्राप्त करने के लिये उस पर प्रहार किया जाता है । याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्या भी शतपथ श्रुति में उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है – अंग, उपांगों से समन्वित भगवान् परमात्मा के लिये संस्कृत किये जाने वाले घृतादि से परिप्लुत नैवेद्य को सम्बोधित किया गया है । हे नैवेद्य, प्रहार, पेषण तथा पकाने आदि की क्रियाओं से भयभीत एवं कम्पित मत

द्यावापृथिव्यौ तत्स्थानीयौ दृषदुपलस्थाल्यौ च सम्बोद्धयोच्येते – हे धिषवणे, युवां वीड्वी दृढे सत्यौ ऊर्जं रसं देवतर्पणाय दधाथां धारयेथाम्, आत्मानं दृढे कुरुतम् । पेषणकण्डनादिभिः पाप्मा हत उपासकानाम्, न सोमादिर्हतः । देवतार्थं सोमबीजाद्युपघातेनापि पाप्मैव हन्यते, न सोमबीजाद्युपघातो भवतीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु – हे स्त्रि, त्वं वीड्वी बलवती सती (निघ०२।९) पत्युः सकाशाद् मा मैर्मा संविक्था ऊर्जं स्वशरीरात्मबलं पराक्रमं वा धत्स्व । हे पुरुष, त्वमप्येवं भव, युवां धिषवणे इवोर्जं सन्तानादिभ्यो बलं पराक्रमं वा दधाथां वीडयेथाम् । एवमनुवर्तिनोर्युवयोः पाप्मा हतो भवतु सोमो न चन्द्र इवाह्लादककान्त्यादिवृन्दः प्रकाशितो भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीपुंसयोः सम्बोधने मानाभावात्, स्त्रियाश्च पत्युः सकाशात् कम्पनाद्यसम्भवाच्च । इवादिकल्पनमपि निर्मूलमेव ॥३५॥

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिश आधावन्तु । अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् ॥३६॥

'अथ यन्निग्राभमुपैति ।....स उपैति । प्रागुपागुदगधरेति'(श.३।९।४।२०-२१) 'प्रतिवर्गं निग्राभं वाचयति होतृचमसेऽल्पान शूꣳनवधाय प्रागपागिति' (का.श्रौ.९।४।१७) । प्रतिप्रहारवर्गं होतृचमसमध्येऽल्पानंशून्निधाय प्रागपागिति निग्राभसंज्ञं मन्त्रं यजमानं वाचयेत् । अष्टप्रहारात्मक एको वर्गः । एकादशप्रहारात्मको द्वितीयः । द्वादशप्रहारात्मकस्तृतीयः । द्वाभ्यामृग्भ्यामुष्णिग्बृहतीभ्यां निग्राभं वाचयति । सोमदेवत्योष्णिग् द्वितीया त्वैन्द्री । यत्र वा एषोऽग्रे देवानाꣳ हविर्बभूव तद्धेमा दिशोऽभिदध्यावाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना स स्पर्शयति तमेतद्देवा आभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समस्पर्शयन् यन्निग्राभमुपायंस्त तथा एवैनमेष एतदाभिर्मिथुनेन धाम्ना सꣳ स्पर्शयति यन्निग्राभमुपैति' यत्र काले एषोऽग्रे सोमो देवानां हविर्बभूव तत्तदा इमा दिशोऽभिदध्यौ । अभिध्यानं चेदं मिथुनविषयम् । तत्प्रकारमाह – आभिर्दिग्भिर्मिथुनेन तद्योगेन प्रियेण दिशामभिमतेन धाम्ना मम शरीरेण संस्पृशेयेति । यद्वा दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समस्पर्शयन् संयोगमकारयन् । निग्राभोपायनमेव संस्पर्शः । तथा एवैनमिति दार्ष्टान्तिकवाक्यं दृष्टान्तवद् व्याख्येयम् ।

होना। द्यावापृथिवी तथा तत्स्थानीय दृषद्, उपल (सिल तथा लोढ़ी) को सम्बोधित किया जाता है कि तुम दोनों दृढ़ होती हुई देवताओं की तृप्ति के लिये रस का धारण करो तथा स्वयं को दृढ़ करो । इस पीसने आदि के द्वारा आराधकों का पाप नष्ट हो गया । सोम आदि द्रव्य नहीं हिंसित हुए । देवताओं के लिये सोम, बीज आदि को कूटने पर भी पाप ही नष्ट होता है, सोम, बीज आदि की हिंसा नहीं होती, यह इस मन्त्र का तात्पर्य है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ,स्त्री तथा पुरुष को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण, अग्राह्य है । पति से स्त्री का कम्पित आदि होना अव्यावहारिक, असम्भव है । 'इव' आदि शब्दों के द्वारा कल्पना करना भी अप्रामाणिक ही है ॥३५॥

मन्त्रार्थ – पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि सम्पूर्ण दिशाएँ सब ओर से तुम्हारे संमुख धावमान हों । हे माता, अपने भावों से सोम को पूर्ण करो, सारी प्रजा इस यज्ञ से परिचित हो जाय ॥३६॥

भाष्यसार – कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।१८) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'प्रागपाक्' इस 'निग्राभ' नामक मन्त्र का पाठ अध्वर्यु यजमान से कराता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

मन्त्रार्थस्तु – हे सोम त्वा त्वां प्राक् प्रागञ्चना अपाग् अपागञ्चना दक्षिणाः पश्चिमाश्च उदक् उदगञ्चना उत्तरा अधराक् अधराञ्चनाः, अपाञ्चतीत्यपाक् प्रतीची, अधराग् उदक् प्रतियोगिनी दक्षिणा दिक्। प्रागादयो दिशस्तदभिमानिन्यो देवताः सर्वतः सर्वस्मात् स्वस्वप्रदेशाद् आधावन्तु आभिमुख्येनागच्छन्तु परस्परं भाषमाणाः । किं भाषमाणाः ? हे अम्ब हे योषे, निष्पर स्वैः स्वैर्भोगैः सोमस्य कामं पूरयेति वदन्त्यः । निष्परेति 'पृ पालनपूरणयोः' विकरणव्यत्यये लोटि रूपम् । किञ्च, एवंविधं सोममरीरागच्छन्त्यो दिशः संविदां संविदन्तु सम्यग्जानन्तु, यद्वा अर्यः प्रजाः पुत्रादिरूपाः संविदां विप्रकृष्टमपि सोमं विदन्ताम् । यद्वा किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह – अरीः अर्यः प्रजाः । इयर्ति पुत्रादिप्रवाहरूपेण गच्छन्तीत्यर्यः प्रजाः । उक्तमर्थं व्यवहारप्रसिद्ध्या समर्थयति – तस्मात् पितुर्विदूरमिव दूरदेशेऽपि प्रजा भवन्ति ताः सञ्जानत एव । संविदां संविदताम्, 'प्रजा वा अरीः' (श.३।९।४।२१) इति श्रुतेः। सोमसमागमं नानादिग्वासिनो जना जानन्त्विति भाषमाणास्त्वामागच्छन्तु । 'विद् ज्ञाने' अस्माल्लटि तङि प्रथमाबहुवचने 'आत्मनेपदेष्वनतः' (पा.सू.७।१।५) इति झकारस्याति तकारलोपे सवर्णदीर्घे विदामिति रूपम् । 'समो गम' (पा.सू.१।३।२९) इत्यादिना तङ् । तदेतद् ब्राह्मणं व्याचष्टे – दिश आधावन्त्विति तदेनमाभिर्दिग्भिर्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना सꣳस्पर्शयत्यम्ब निष्पर समरीर्विदामिति योषा वा अम्बा योषा दिशस्तस्मादाहाम्ब निष्परेति समरीर्विदामिति प्रजा वा अरीः सम्प्रजा जानतामित्येवैतदाह तस्माद्या अपि विदूरमिव प्रजा भवन्ति समेव ता जानते' (श.३।९।४।२१) ।

अध्यात्मपक्षे – हे साधक, प्रागादयः सर्वा दिशस्तदभिमानिन्यस्तद्वासिन्यश्च प्रजास्त्वा हे अम्ब निष्पर एतस्य साधकस्य सर्वान् कामान् पूरयेति वदन्त्य आधावन्तु आभिमुख्येनागच्छन्तु । अर्यः सर्वाः प्रजाश्च त्वां संविदां संविदन्तु । यस्य भगवदुपास्तिनिष्ठा सुदृढा भवति, सुरादयस्तत्कामान् पूरयन्ति, सर्वाश्च प्रजास्तं संजानन्ति । 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (भा.पु.५।१८।१२) इति श्रीमद्भागवतवचनात् ।

दयानन्दस्तु – 'हे अम्ब, या अरीः सुखप्रापिकाः प्रजास्ते प्रागपागुदगधराक् सर्वतो दिशस्त्वानुधावन्तु, तास्त्वं निष्पर नितरां रक्ष, ता अपि त्वा संविदां जानन्तु' इति, तदपि श्रुतिविरुद्धमेव, श्रुतौ योषासामान्यस्याम्बपदार्थत्वोक्तेः । किञ्चात्र प्रागादिदिशामाधावनमुक्तं न प्रजानाम्, प्रथमोपस्थितसम्बन्धत्यागे मानाभावात् । श्रुतिसूत्रानुसारेण तु सोमोऽत्र सम्बोधनीयः ॥३६॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है – हे साधक, पूर्व आदि सभी दिशाएँ, तदधिष्ठात्री अथवा उनमें निवास करने वाली प्रजाएं 'हे जननि, इस उपासक की सभी कामनाएं पूरी करो' इस प्रकार आह्वान करती हुई तुम्हारे अभिमुख आवें । समस्त प्रजाएं तुमको अनुमत करें । श्रीमद्भागवत (५।१८।१२) के वचन के अनुसार जिसकी भगवदुपासना तथा निष्ठा सुदृढ़ होती है, उसकी सम्पूर्ण कामनाओं को देवगण पूर्ण करते हैं तथा समस्त प्रजाएं उसको भली भांति जानती हैं ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुतिविरुद्ध ही है, क्योंकि श्रुति में स्त्रीमात्र को 'अम्बा' शब्द से कहा गया है । इसी तरह मन्त्र में पूर्व आदि दिशाओं का धावन कहा गया है, प्रजाओं का नहीं । पूर्व से ही विद्यमान पदार्थ से सम्बन्ध छोड़ने में कोई प्रमाण नहीं है । श्रुति तथा सूत्रवचनों के अनुसार तो यहाँ सोम को सम्बोधित करना चाहिये ॥३६॥

त्वम॒ङ्ग प्रशं॑ꣳसिषो दे॒वः शं॑विष्ठ॒ मर्त्य॑म् ।
न त्वद॒न्यो म॑घवन्नस्ति मर्डि॒तेन्द्र ब्रवी॑मि ते॒ वचः॑ ॥३७॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥

'अथ यस्मात् सोमो नाम' (श.३।९।४।२२) इत्यादि सोमस्य प्रसङ्गात्तन्नामनिर्वचनम् – 'यत्र वा एषोऽग्रे देवानां हविर्बभूव तद्धेक्षाञ्चक्रे मैव सर्वेणेवात्मना देवानां हविर्बभूवमिति तस्य जुष्टतमा तनूरास तामपनिदधे अपगमय्यान्यत्र स्थापितवान् । तद्वै देवा अस्पृण्वत ज्ञातवन्तः । ते होचुः – उपैवैतां प्रबृहस्व एतामपसारितां तनुमुपप्रबृहस्व तव समीपे प्रापय । एतया तन्वा सहैव नो हविरेधि भव । एवमुक्तः सोमस्तां दूरतर इवात्यन्तं दूरदेश एवोपाबृहत उपागमयत् । किं कुर्वन् ? स्वा वै म एषेति वदन् एषा तनूर्मे स्वकीया आत्मीयेति वदन् । स्वा मे इत्युक्तत्वात् सोमनाम सम्पन्नम् । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः । 'अथ यस्माद्यज्ञो नाम' (श.३।९।४।२३) इत्यादिना यज्ञनामनिर्वचनम् । यस्मात् प्रवृत्तिनिमित्ताद् यज्ञस्य यज्ञ इति नामाभूत्, तदप्याह – अभिषवेन हतमेनं सोमं तन्वते सम्भरणग्रहणहोमादिना विस्तारयन्तीत्यर्थः । स सोमस्तायमानः सन् जायते यत्परम्परया आहुतिभावं गच्छन् जायते पुनः पुनः सम्भवति, अतो यन् जायत इति यज्ञः । अतो वस्तुतो यज्ञ इति तस्य नाम तद् यज्ञ इति परोक्षेण व्यवहरति । 'तत्रैतामपि वाचमुवाद त्वमङ्ग' (श.३।९।४।२४) उक्तार्थसंवादत्वेन सोमप्रार्थनारूपं मन्त्रसंवादमाह – तत्र तस्मिन्नभिषवकाले एतां प्रार्थनारूपां वाचमुवाद – हे शविष्ठ अतिशयेन बलवन् अङ्ग हे इन्द्र देव, त्वं मर्त्यं मरणधर्माणं मां सोमं प्रशंसिषः प्रशस्तं कुरु, आहुत्यात्मना विस्तारय, देवात्मना पुनरुत्पादयेत्यर्थः । 'शंसु स्तुतौ' 'सिब्बहुलं लेटि' (पा.सू.३।१।३४) इति सिप आर्धधातुकत्वादिट्, 'इतश्च' (पा.सू.३।४।९७) इतीकारलोपः, 'लेटोऽडाटौ' (पा.सू.३।४।९४) इत्यडागमः । नन्वन्योऽपि देवोऽस्ति, किमिन्द्रप्रार्थनयेति तत्राह – हे मघवन्, त्वत्तोऽन्यो मर्डिता सुखयिता नास्ति, यत एवमतस्ते तुभ्यं वचः प्रशंसा(प्रार्थना)रूपं ब्रवीमि । यद्वा हे इन्द्र, यतस्त्वम् अङ्ग, अङ्गेति क्षिप्रनाम । क्षिप्रं प्रशंसिषः प्रशंससि देवः सन्, शविष्ठं बलिष्ठं मर्त्यं मनुष्यं यजमानं प्रशंससि, अतस्त्वत्तोऽन्यो हे मघवन्, नास्ति न विद्यते मर्डिता सुखयिता, 'मृड सुखने', यजमानानाम् । इन्द्रं ब्रवीमि ते तुभ्यमत्यद्भुतं वचो वचनम् ।

मन्त्रार्थ – हे सर्वत्र व्याप्त अतिशय बलवान् सुखकारी धनवान् परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मन्, आप इस मनुष्य यजमान को प्रशंसा दिलाते हो । आपके सिवाय दूसरा कोई सुख देने वाला नहीं है । केवल आप ही सुखरूप हैं, यह बात मैं आपसे कहता हूँ ॥३७॥

भाष्यसार – 'त्वमङ्ग' इस ऋचा का भी याज्ञिक विनियोग पूर्व ऋचा की भांति ही यजमान को वाचन कराने हेतु किया गया है । शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुरूप व्याख्या वर्णित है ।

अध्यात्मपक्षे – हे इन्द्र परमैश्वर्यपूर्ण परमेश्वर, हे शविष्ठ अतिशयेन बलवन्निन्द्र, मर्त्यं मनुष्यमप्युपासकं प्रशंससि स्तौषि, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ.गी.४।११) इति प्रतिज्ञानात्, भीष्मयुधिष्ठिरार्जुनादीनां तथैव तत्कर्तृकस्तवनदर्शनात् । हे मघवन् ! आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकसर्वविधधनसम्पन्न, त्वत् त्वत्तः सकाशादन्यो मर्डिता सुखयिता जनानां कोऽपि नास्ति, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै.२।७)इति श्रुतेः । हे इन्द्र, त्वमेव सुखयितेत्येवंरूपं ते त्वदीयं वचो वचनमहं ब्रवीमि । अनुपचारेणाध्यात्मपक्ष एवायं मन्त्रः सामञ्जस्यमश्नुते ।

दयानन्दस्तु – 'हे अङ्ग शविष्ठ मघवन्निन्द्र सभापते, त्वं प्रशंसिषः, न त्वदन्यो मर्डिता देवोऽस्त्यतोऽहं तुभ्यं वचो ब्रवीमि' इति, तदपि न किञ्चित्, देवमघवदादिशब्दानां प्रसिद्धार्थपरत्वे सम्भवति गौणार्थाश्रयणे मानाभावात् । तत्र त्वदन्यो मर्डिता देवो नास्तीत्युक्तिः कथं सङ्गच्छते ? तत्कृतप्रशंसाया अपि किं फलमिति नोक्तम् ।।३७।।

इति वेदार्थपारिजाते वाजसनेयिसंहिताभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ।।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है – हे परमैश्वर्य से परिपूर्ण परमेश्वर, हे अतिशय बलसम्पन्न, आप अपने मानव उपासक की भी प्रशंसा करते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता (४।११) की प्रतिज्ञा के अनुसार तथा भीष्म, युधिष्ठिर आदि की भगवान् के द्वारा की गई प्रशंसा दृष्टिगोचर होने के कारण यह सिद्ध है । आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सभी प्रकार के धन से सम्पन्न हे देव, आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्राणियों को सुख देने वाला नहीं है । 'आप ही सुख प्रदान करने वाले हैं' इस प्रकार आपका स्तुतिवचन से मैं गुणगान करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि देव, मघवा आदि शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ के सम्भव रहने पर उनका गौण अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है । उस अर्थ में 'तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा सुख प्रदान करने वाला देव नहीं है' यह कथन कैसे संगत होगा ? इस प्रशंसा का क्या फल है ? यह भी नहीं बताया गया है ।।३७।।

इति षष्ठोऽध्यायः ॥